

‘श्रीसनातनधर्मालोक’ ग्रन्थमालाका चतुर्थं सुमन

(संरक्षक—श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता, कलकत्ता)

सनातनधर्मका विश्वकोष— श्रीसनातनधर्मालोकः

(सनातनधर्मके मुख्य-विषयोंका निरूपण)

प्रणेता—

पं० दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि
[भूतपूर्व प्रिन्सिपल स० ध० सं० कालेज, मुद्रगान]
प्रिन्सिपल सं० हि० महाविद्यालय, रामदल, दरीबाकलां, देहली

प्रकाशक

श्रीनारायण शर्मा शास्त्री०

श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय

C/o रामदल, दरीबाकलां, देहली ।

(अथवा) फ़र्स्ट बी० १६, लाजपतनगर, नई देहली ।

प्रकाशक—

श्रीनारायण शर्मा शास्त्री०

श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय,

C/o रामदल, दरीयाकला, देहली ।

प्रथम-संस्करण

मूल्य सवा चार रुपये

समर्पण

सेवा में :— (सनातनधर्म-संरक्षक—)

महनीय सनातनधर्म ! भगवान् पुराण-गुरुपने सृष्टिकी आदिमें ही तुम्हारी सृष्टि की थी । वेद तुम्हारी ही वन्दना करते हैं, स्मृतियाँ तुम्हें ही स्मरण करती हैं, श्रौत, गृह्य एवं धर्म-सूत्र तुम्हारा ही सेवन करते हैं । तुम्हारी ही कृपच्छायाके आश्रयमें हम जीवन प्राप्त कर रहे हैं, तुम्हारे ही आश्रयणसे हम अपनी सत्ताको रखे हुए हैं । तुम पुराने होते हुए भी सदा नवीन हो । आज इस तुम्हारे ही देशसे, तुम्हारा ही समूलोन्मूलन करनेके लिए, तुम्हारे ही देशके निवासी, कतिपय सुधारकाभास-सम्प्रदायोंकी दुश्चेष्टाएँ दीख रही हैं । उन्हीं दुर्दान्तोंके

उपशमन-द्वारा तुम्हारी सेवा करनेके लिए इस लेखमयी पूजन-सामग्रीको तुम्हारे चरणोंमें समर्पित करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि—इसे स्वीकार करो, और अपने धनी-दानी या स्वयंसेवक सुपुत्रोंको प्रेरित करो कि—वे इस दशसहस्र पृष्ठके 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थको पूर्ण प्रकाशित करने में हमारे सहायक बनें, तथा सनातनधर्मकी सभाओं एवं उनके संस्कृत-हिन्दी विद्यालय-महाविद्यालयों एवं स्कूलोंके अध्यापकोंको प्रेरित करो कि—वे इस ग्रन्थमालाके पुष्पोंको अपनी संस्थाओंमें पाठ्य-पुस्तक रूपमें निर्धारित करें; और समर्थ-विद्वानोंको प्रेरित करो कि—वे तुम्हारी इस ग्रन्थमालाके प्रचार और प्रसारमें हमारे दक्षिण-हस्त बन सकें ।

प्रार्थक, समर्पक एवं तुम्हारा शुद्ध-सेवक—

दीनानाथशर्मा सारस्वतः

C/o रामदत्त, दरौवाकला, देहली ।

‘श्रीसनातनधर्मलोक’-ग्रन्थमालाके सर्व-प्रथम संस्करण



श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता महोदय
(७८ विवेकानन्द रोड, कलकत्ता)

प्रारम्भिक-शब्द

‘वन्दे वन्दारुमन्दारमिन्दुभूपणनन्दनम् ।

अमन्दानन्दसन्दोहबन्धुरं मिथुराननम् ।’

श्रीमनुजीने अपनी स्मृतिमें कहा है कि धर्मकी रक्षा की जाये, तो वह भी रक्षककी रक्षा करता है, धर्मको मारा जाये, तो वह भी मारने वालेको मारता है :—‘धर्म एव एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः’ (८।१५) यह बात सर्वथा सत्य है। अग्नि जब अपने सनातन-धर्म, तापको छोड़ देती है, तब उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है, वह भस्म हो जाती है। इसी प्रकार कोई भी जाति यदि अपने सनातन-धर्मको छोड़ देती है, तो उसका स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। यह स्वाभाविक है। जबसे हिन्दु जातिने अपने सनातन-धर्मको छोड़ना प्रारम्भ कर दिया है, तबसे उसके स्वरूपमें भी विकृति आनी प्रारम्भ हो गई है।

अपने उस सनातन-धर्मका ज्ञान उसके साहित्यसे हुआ करता है, पर हिन्दु-जाति अपनी संस्कृत-भाषाको भुला देनेके कारण अपने उस साहित्यसे भी दूर हो चुकी है। तब उसे अपने सनातन-धर्मका ज्ञान भी कैसे हो ? जब ज्ञान नहीं, तब उसका आचरण भी कैसे हो ? जब आचरण नहीं, तो धर्मका संरक्षण भी नहीं। तब उसी अपने धर्मके नाशमें सहायक होनेसे जो कि हिन्दुजातिका भी स्वरूप नष्ट हो रहा है—यह अत्यन्त स्वाभाविक है। उसमें प्रोत्साहन देने वाले कई अर्वाचीन

सम्प्रदाय वा समाज भी हैं, जो कि उसके धार्मिक-सिद्धान्तों पर उपहास वा आक्षेप करके उससे अपना वह धर्म छुड़वाना चाहते हैं।

अपनी संस्कृत-भाषाका ज्ञान न रखनेसे वा ज्ञान होने पर भी अनवकाशवश प्राचीन साहित्यके अवगाहनका अवसर न होनेसे, वही हिन्दुजाति दूसरोंके दुष्टाचारस्वरूप स्वयं भी अपने धर्मकी सत्यता-विषयमें शङ्कित हो उठी है पर बहुतोंको अपने धर्मकी जिज्ञासा हृदयसे है। यह देखकर मैंने अपने धर्म-ग्रन्थोंके स्वधर्मज्ञानार्थ—जैसा कि मैंने स्वयं समझा—प्राचीन-अर्वाचीन सनातनधर्म-साहित्याखण्डकी मय कर 'श्रीसनातनधर्मालोक' नामक दशसहस्र पृष्ठका महाग्रन्थ संस्कृत-भाषामें तैयार किया, और उतना ही हिन्दीभाषामें भी। संस्कृतमें इसे अपनी की हुई टीकासे स्वयं प्रकाशित करनेका अभिमत सनातन-धर्मके महारथी श्री पं० कालूरामजी शाली शुक्ति-विशारद अमरौधा (कानपुर) ने प्रकट किया, और संस्कृतमें स्वयं प्रकाशित करनेके लिए अयोध्याके 'संस्कृत-कार्यालय' के उत्साही कार्यकर्ता श्री पं० कमला-कान्तजी त्रिपाठीने मांगा; पर दोनों ही महोदयोंका देहान्त-वृत्त सुनकर यह प्रकाशनकी आशा भी लुप्त होगई। तब इस ग्रन्थका अन्य विद्वानों पर पया प्रभाव पड़ता है—इस बातकी परीक्षार्थ मैंने इसी महाग्रन्थके कई निबन्ध संस्कृत तथा हिन्दीके पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित कराये। विद्वानोंके स्वयम् आये हुए पत्रोंसे विदित हुआ कि उन्हें ये मेरे निबन्ध अतिशय रुचिकर प्रतीत हुए हैं। इससे मेरा उत्साह बढ़ा। बहुतोंने उस महाग्रन्थको मुद्रण-द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीमें स्वयं प्रकाशन करने का परामर्श दिया। पर इतने महाग्रन्थका प्रकाशन असम्भव प्रतीत हुआ—क्योंकि श्रीलक्ष्मीदेवीकी कृपापात्रता तो अपने पर थी नहीं। इधरसे देश-भङ्ग हो जानेसे अपना स्थान 'मुल्लतान' पाकिस्तानमें आ गया। उसे छोड़कर खरिदत हुए हिन्दुस्थानमें आना पड़ा। उस समय

तो अपनी जीवननिर्वाह-समस्या भी अतिशयित-जटिल हो उठी। पर परमात्माकी असीम कृपासे कुदृ निर्वहकी प्राप्ति हो गई—अध्यापनका कार्य मिल गया, यद्यपि यह भी स्थायी नहीं है।

अब 'श्रीसनातनधर्मालोक' के प्रकाशनका विचार उठा, पर इतने महाग्रन्थका प्रकाशन जंच सम्भव न दिखाई पड़ा; तब उसे ग्रन्थमालाके रूपमें प्रकाशित करनेका विचार किया। पर प्रकाशनार्थ रुपया कहाँसे आवे ? इस पर मैं विचार कर ही रहा था कि—जायल (मारवाड़) के श्रीदेवदेवश्वर-संस्कृत-महाविद्यालयके मुख्याध्यापक श्रीमान् पं० रामेश्वरजी शास्त्री तथा सहायक श्री पं० देवकृष्णजी शास्त्री सारस्वतने इस विषय में सबसे पूर्व प्रोत्साहन दिया, और रसीदयुक्तोंके प्रकाशनकी सम्मति दी, और स्वयं रुपया संग्रह करनेका वचन भी दिया, बादमें १०१) भेजा भी। फिर प्रथम-पुष्प निकालनेका व्ययभार * 'श्रीस्वाध्याय' के श्रद्धेय सम्पादक श्री पं० हरदेवजी त्रिवेदी-महोदयने स्वयं लिया।

सबसे पूर्व १००) की आर्थिक सहायता श्रीमान् पं० रघुशङ्करमेघजी शास्त्री पुरोहित-महोदय मुख्याध्यापक डी० एल० संस्कृत पाठशाला बम्बईसे प्राप्त हुई और बहुत प्रोत्साहन भी उनसे प्राप्त हुआ। बल्कि इनकी सहायताका वचन तो हमें मुलतानमें ही प्राप्त हुआ कि—'आप अपना ग्रन्थ प्रकाशित करना प्रारम्भ करें और मैं सहायता करूँगा।' इस बार भी इन्होंने १००) भेज दिया है। फिर श्री पं० बलदत्तजी शर्मा सहायकाध्यापक राजकीय संस्कृत-पाठशाला कावेड़ासे भी १०१) प्राप्त हुए; और इस बार भी। बल्कि इन्होंने तो कहा है कि—'मैं यादजीवन 'श्रीसनातनधर्मालोक' की सहायता करता रहूँगा।' फिर पुण्यपाद श्रीमज्जमद्गुरुश्रीशङ्कराचार्य श्रीदारका-शारदापीठाधीश

* 'श्रीस्वाध्याय' पत्र मंगाने योग्य है। मूल्य ४।) मंगानेका पता—
श्रीस्वाध्यायसदन, सोलन (शिमला)।

श्री ११०८ श्री श्री श्री अग्निवसुचिदानन्दतीर्थ-स्वामीजी महाराजने (१०१) भेजकर हमें प्रोत्साहित किया और अन्य पीठाधीशोंके आगे एक आदर्श उपस्थित किया कि—‘श्रीसनातनधर्मका सभीको तन, मन, धनसे सेवन करना चाहिये’ इस बार भी श्रीचरणोंने (२०) भेजे हैं। फिर सनातनधर्मके सुमधुर-व्याख्याता हमारे श्री पं० हरिप्रसादजी शास्त्री पाराशर संस्कृत-मुख्यशिक्षक स० ध० हाईस्कूलने जिन्होंने पठानकोठमें अपने व्याख्यानोके प्रभावसे जनता-द्वारा विशाल सनातनधर्म-भवन बनवा दिया—(१००) भेजकर हमारे शिष्यमण्डलके आगे यह आदर्श रखा कि सभीको इस महाग्रन्थके प्रकाशनार्थ सहायता करनी चाहिये। इन्हीं महोदयोंकी आर्थिक सहायतासे ‘श्रीसनातनधर्मास्तिक’ ग्रन्थमालाके द्वितीय तथा तृतीय पुष्प प्रकाशित हुए। तृतीय-पुष्पकी सहायकसूचीमें जितने नाम लिखे थे, उनमें कई महोदयोंने अपनी पूरी सहायता नहीं भेजी; तब तृतीय-पुष्प पर कुछ अछ हो गया, जो अब तृतीय-पुष्पकी कुछ प्रतियोंके विक्रय जाने तथा कुछ सहायता प्राप्त हो जानेसे उतर चुका है।

सनातनधर्मके सुप्रसिद्ध-सेवक भक्त रामशरणदासजीसे (२१) प्राप्त हुए, हमारे अपने श्री पं० देवेन्द्रकिशोरजी शास्त्री आसुर्वेदाचार्य गाजियाबादसे (२२) तथा श्रीपं० श्यामसुन्दरजी शास्त्री ओ० टी० संस्कृत टीचर टी० बी० मिडल स्कूल सिवानासे भी (२२) मिल चुके हैं; शेष इनसे मिलने वाले हैं। अवशिष्ट सहायकोंके रुपये शीघ्र आजाने चाहिये—यह उन्हें प्रेरणा है। श्री पं० भवानीशङ्करजी शास्त्री संस्कृत-शिक्षक महारानी-गर्ल्स हाईस्कूल जयपुरसे तथा श्री स्वामी पुरुषोत्तम-दासजी वैष्णव यज्ञशालाकी भावद्वी-जयपुरसे भी पच्चीस-पच्चीस रुपये अवाचित सहायता प्राप्त हो चुकी है।

फिर श्रीमान् सेठ छोटेलालजी कानौदिया-महोदय (२०) बड़वत्सवा

स्ट्रीट कलकत्ता)ने २०) सहायता भेजी । इससे पूर्व इन्हीं श्रीमान् ने मेरी एक हो चुकी हुई निजी भारी आर्थिक-कठिनी भी पूर्ति की थी ।

इस बार श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता महोदय (७० विवेकानन्द रोड कलकत्ता) १०००) देकर इस ग्रन्थमालाके सर्वप्रथम संरक्षक बने हैं—इनका अनुकरण करके अन्य महोदयोंको भी इस ग्रन्थमालाके संरक्षक बनकर इसके प्रकाशनमें सहायता करनी चाहिये । इन्हींकी सहायतासे यह चतुर्थ पुष्प प्रकाशित हुआ है । अब तक इस ग्रन्थमालामें सहायता प्रायः ब्राह्मण-महोदयोंने की है । वैश्य-महोदयोंको भी जिनका यह सबसे प्रथम कर्तव्य है—इधर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि—वे हिन्दुधर्मके प्रचार-कार्यालयके कोषाध्यक्ष हैं । इस ग्रन्थमालाके संरक्षक भी उन्हीं श्रीमानोंको बनना चाहिये—जिससे यह ग्रन्थमाला शीघ्र निकल सके । कोई महोदय हमारे निर्वाहकी समस्या हल कर दें, तथा इस ग्रन्थमालाका रूप भी अपने पर ले लें, तो उक्त महाग्रन्थ शीघ्र पूर्ण हो सकता है ।

इस ग्रन्थमालाके हृदयतः सहायक श्री १००८ स्वामी करपात्रीजी महाराज हैं । उन्हींके मण्डलके धर्मनीति एवं राजनीतिके प्रवीण-विद्वान् श्री पं० गङ्गाशंकरजी मिश्र (सम्पादक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी) तथा सनातनधर्मके मर्मज्ञ-विद्वान् श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी (प्रकाशक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी) महोदयोंने इस ग्रन्थमालाके प्रचार-कार्यमें बहुत ही सहयोग दिया है । इनमें श्री त्रिपाठी-महोदयका तो हमें इस देशमें आनेसे ही सर्वविध सहयोग, सहायुभूति तथा सुस्वास्ति आदि प्राप्त होता रहा है । अस्तु ।

तीन पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं—इनमें प्रथम तथा द्वितीय पुष्प तो लघुकाय हैं । प्रथममें 'नमस्ते' के एकपदार्थ पर विचार तथा द्वितीयमें

श्री ११०८ श्री श्री श्री अभिनवसचिदानन्दतीर्थ-स्वामीजी महाराजने १०१) भेजकर हमें प्रोत्साहित किया और अन्य पीठाधीशोंके आगे एक आदर्श उपस्थित किया कि—‘श्रीसनातनधर्मका सभीको तन, मन, धनसे सेवन करना चाहिये’ इस बार भी श्रीचरणोंने २०) भेजे हैं। फिर सनातनधर्मके सुमधुर-व्याख्याता हमारे श्री पं० हरिप्रसादजी शास्त्री पाराशर संस्कृत-मुख्यशिक्षक स० ध० हाईस्कूलने जिन्होंने पठानकोटमें अपने व्याख्यानोंके प्रभावसे जनता-द्वारा विशाल सनातनधर्म-भवन बनवा दिया—१००) भेजकर हमारे शिष्यमण्डलके आगे यह आदर्श रखा कि सभीको इस महाग्रन्थके प्रकाशनार्थ सहायता करनी चाहिये। इन्हीं महोदयोंकी आर्थिक सहायतासे ‘श्रीसनातनधर्मालोक’ ग्रन्थमालाके द्वितीय तथा तृतीय पुष्प प्रकाशित हुए। तृतीय-पुष्पकी सहायकसूचीमें जितने नाम लिखे थे, उनमें कई महोदयोंने अपनी पूरी सहायता नहीं भेजी; तब तृतीय-पुष्प पर कुछ ऋण हो गया, जो अब तृतीय-पुष्पकी कुछ प्रतियोंके विक्रि जाने तथा कुछ सहायता प्राप्त हो जानेसे डतर चुका है।

सनातनधर्मके सुप्रसिद्ध-सेवक भक्त रामशरणदासजीसे २१) प्राप्त हुए, हमारे अपने श्री पं० देवेन्द्रकिशोरजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य गाजियाबादसे २२) तथा श्रीपं० श्यामसुन्दरजी शास्त्री ओ० टी० संस्कृत टीचर डी० बी० मिडल स्कूल सिवानोसे भी २३) मिल चुके हैं; शेष इनसे मिलने वाले हैं। अवशिष्ट सहायकोंके रुपये शीघ्र आजाने चाहिये—यह उन्हें प्रेरणा है। श्री पं० भवानीशङ्करजी शास्त्री संस्कृत-शिक्षक महारानी-गर्ल्स हाईस्कूल जयपुरसे तथा श्री स्वामी पुरुषोत्तम-दामजी वैष्णव यज्ञशालाकी बावड़ी-जयपुरसे भी पच्चीस-पच्चीस रुपये अयाचित सहायता प्राप्त हो चुकी है।

फिर श्रीमान् सेठ छोटेलालजी कानौड़िया-महोदय (२० बदतल्ला

स्ट्रीट कलकत्ता)ने ५०) सहायता भेजी । इससे पूर्व इन्हीं श्रीमान् ने मेरी एक हो चुकी हुई निजी भारी आर्थिक-क्षतिकी भी पूर्ति की थी ।

इस बार श्रीमान् पं० मुरारीलालजी मेहता महोदय (७० विवेकानन्द रोड कलकत्ता) १०००) देकर इस ग्रन्थमालाके सर्वप्रथम संरक्षक बने हैं—इनका अनुकरण करके अन्य महोदयोंको भी इस ग्रन्थमालाके संरक्षक बनकर इसके प्रकाशनमें सहायता करनी चाहिये । इन्हींकी सहायतासे यह चतुर्थ पुष्प प्रकाशित हुआ है । अब तक इस ग्रन्थमालामें सहायता प्रायः ब्राह्मण-महोदयोंने की है । वैश्य-महोदयोंको भी जिनका यह सबसे प्रथम कर्त्तव्य है—इधर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि—वे हिन्दुधर्मके प्रचार-कार्यालयके कोषाध्यक्ष हैं । इस ग्रन्थमालाके संरक्षक भी उन्हीं श्रीमानोंको बनना चाहिये—जिससे यह ग्रन्थमाला शीघ्र निकल सके । कोई महोदय हमारे निर्वाहकी समस्या हल कर दें, तथा इस ग्रन्थमालाका व्यय भी अपने पर ले लें, तो उक्त महाग्रन्थ शीघ्र पूर्ण हो सकता है ।

इस ग्रन्थमालाके हृदयतः सहायक श्री १००८ स्वामी करपात्रीजी महाराज हैं । उन्हींके मण्डलके धर्मनीति एवं राजनीतिके प्रवीण-विद्वान् श्री पं० गङ्गाशङ्करजी मिश्र (सम्पादक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी) तथा सनातनधर्मके भ्रमंश-विद्वान् श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठी (प्रकाशक दैनिक 'सन्मार्ग' काशी) महोदयोंने इस ग्रन्थमालाके प्रचार-कार्यमें बहुत ही सहयोग दिया है । इनमें श्री त्रिपाठी-महोदयका तो हमें इस देशमें आनेसे ही सर्वविध सहयोग, सहानुभूति तथा सुझाव आदि प्राप्त होता रहा है । अस्तु ।

तीन पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं—इनमें प्रथम तथा द्वितीय पुष्प तो लघुकाय हैं । प्रथममें 'नमस्ते' के एकपदत्व पर विचार तथा द्वितीयमें

‘नमस्ते’ के निपातत्व पर विचार तथा ‘श्रीसंगाननधर्मांलोक’ महाग्रन्थ-की सम्पूर्ण विषय-सूची दी गई है। तृतीय-पुष्पसे आकार भी पुस्तकका प्रारम्भ किया गया है, यह पुष्प है भी महत्त्वपूर्ण, पृष्ठ-संख्या भी पर्याप्त है, और यारीक टाइप होनेसे उसमें सामग्री भी पर्याप्त है। इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर दिये जाने वाले वेदादिशास्त्रोंके प्रमाणों पर खूब विचार किया गया है। उसमें प्रसिद्ध मन्त्र ‘यथेमां वाचं कल्वाणीम्’ के अर्थ पर तो बहुत विस्तारसे विचार किया गया है—प्रतिवादिषोंकी सुर्माँ पर भी आलोचना की गई है। गेहरेय-महिदास, कथप-पुल्लव, औशिज-कक्षीवान्, सत्यकाम जायाल, श्रीशाल्मीकि, शबरी, वसिष्ठ आदिको जो शूद्र, दासीपुत्र, वेश्यापुत्र आदि बताया जाता है—उम पर भी सम्यक् विचार प्रदर्शित किया गया है। अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण रखने वालोंके लिए तो यह तृतीय-पुष्प अवश्य ही द्रष्टव्य तथा उपादेय है। सहायता उसमें पूर्ण प्राप्त न होनेसे कागज साधारण लगाना पड़ा।

चतुर्थ पुष्प तो पाठकोंके समक्ष उपस्थित है ही। इसमें श्रीमहताजी की सहायता प्राप्त हो जानेसे कागज मध्यम लगाया गया है। आदिम दो-तीन फार्मोंमें संस्कृतज्ञ-कम्पोज़ीटर नहीं मिल सके; अतः कुछ शुटियाँ रह गईं, और कुछ देरी भी बहुत हुई; आगे श्रीरघुवरदयाल तथा श्रीरामदेव नामक योग्य कम्पोज़ीटर प्राप्त हो गये, छपाई शीघ्र हुई, प्रायः शुद्ध भी हुई। इस पुष्पमें सनातनधर्मके मुख्य विषयों पर बीस निबन्धोंमें विचार किया गया है, अन्तर्-विषय भी इसमें बहुत आ गये हैं। आशा है—यह पुष्प भी पाठकोंको अतिशय-लाभप्रद प्रमाणित होगा। इसे वे क्रमसे और ध्यानसे पढ़ें। ये पुष्प प्रत्येक उपदेशक तथा कथावाचकको अपने पास अवश्य रखने चाहियें। पुस्तकालय तथा विद्यालयोंमें भी इसका संग्रह अनन्त तथा अध्यापकों एवं छात्रोंके

लाभार्थं नितराम् आवश्यक है। श्व अग्रिम पुष्पके लिए संरक्षक, सहायक, प्रेरक एवं प्रचारकोंकी आवश्यकता है। जितनी शीघ्र सहायता प्राप्त होगी, उतना ही शीघ्र ग्रन्थमालाका प्रकाशन होगा। प्रेरक महोदय ध्यान दें।

अमूल्य कोई भी न ले

इस ग्रन्थमालामें जो भी साहाय्य वा मूल्य प्राप्त होता है; वह सप आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है; उसे अपने काममें नहीं लगाया जाता; अतः कोई भी महोदय इन ग्रन्थोंको बिना मूल्य न लें। यदि अधिक-सहायता कोई महोदय न कर सकें; तो ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें, और इन ग्रन्थोंके प्रचारमें अवश्य सहायक बनें। संरक्षकका एक-हज़ार रुपया नियत है, और सहायकोंका न्यूनसे न्यून १००) रुपया है, वह सबको स्मरण रखना चाहिये। संरक्षक-महोदयका चित्र भी प्रकाशित होगा और सब प्रकाशनों पर नाम भी। स्थायी ग्राहकोंके लिए यह सुविधा रखी गई है कि—वे २) जमा करा दें, फिर उन्हें सभी पुष्प पीने मूल्य पर दिये जावेंगे। उन्हें सब प्रकाशित पुष्प लेने पड़ेंगे।

इस पुष्पमें जिन महाशयोंके सनातनधर्म-विरुद्ध मतको आलोचित किया है, उसमें कोई ईर्ष्या-द्वेष कारण नहीं, किन्तु शास्त्रका वास्तविक अभिप्राय-प्रदर्शन ही वहाँ मुख्य-लक्ष्य है। फिर भी यदि किसी महोदयका मनः-सोभ हुआ हो, तो वे हमारे हृदयको जानते हुए हमें समा करेंगे। विचारमें जो ग़ुटि रह गई हो, विद्वान् हमें उसकी सूचना दें, इन शब्दोंके साथ यह भूमिका समाप्त है।

श्रीग्यासपूणिमा

शुद्धार

सं० २०११

निवेदकः—

दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः विद्यावांगीशः,

C/o रामदल, दरीबाकलां, देहली

‘नमस्ते’ के निपातत्व पर विचार तथा ‘श्रीसनातनधर्मालोक’ महाग्रन्थ-की सम्पूर्ण विषय-सूची दी गई है। तृतीय-पुष्पमें आकर भी पुस्तकका प्रारम्भ किया गया है, यह पुष्प है भी महत्त्वपूर्ण, दृष्ट-संख्या भी पर्याप्त है, और बारीक टाढ़प होनेसे उसमें सामग्री भी पर्याप्त है। इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर दिये जाने वाले वेदादिशास्त्रोंके प्रमाणों पर खूब विचार किया गया है। उसमें प्रसिद्ध मन्त्र ‘यथेमां वाचं कल्याणीम्’ के अर्थ पर तो बहुत विस्तारसे विचार किया गया है—प्रतिवादियोंकी सूझों पर भी आलोचना की गई है। मेवरेय-महिदास, कवच-पेलूप, औशिज-कशीवान्, सत्यकाम जायाज, श्रीवाल्मीकि, शबरी, वसिष्ठ आदिको जो शूद्र, दासीपुत्र, वेश्यापुत्र आदि बताया जाता है—उस पर भी सम्यक् विचार प्रदर्शित किया गया है। अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण रखने वालोंके लिए तो यह तृतीय-पुष्प अवश्य ही द्रष्टव्य तथा उपादेय है। सहायता इसमें पूर्ण प्राप्त न होनेसे कागज साधारण लगाना पड़ा।

चतुर्थ पुष्प तो पाठकोंके समक्ष उपस्थित है ही। इसमें श्रीमेहताजी की सहायता प्राप्त हो जानेसे कागज मध्यम लगाया गया है। आदिम दो-तीन फार्मोंमें संस्कृतज्ञ-कम्पोज़ीटर नहीं मिल सके; अतः कुछ त्रुटियाँ रह गई, और कुछ देरी भी बहुत हुई; आगे श्रीरघुवरदयाल तथा श्रीरामदेव नामक योग्य कम्पोज़ीटर प्राप्त हो गये, छपाई शीघ्र हुई, प्रायः शुद्ध भी हुई। इस पुष्पमें सनातनधर्मके मुख्य विषयों पर बीस नियन्धोंमें विचार किया गया है, अवान्तर-विषय भी इसमें बहुत आ गये हैं। आशा है—यह पुष्प भी पाठकोंको अतिशय-लाभप्रद प्रमाणित होगा। इसे वे क्रमसे और ध्यानसे पढ़ें। ये पुष्प प्रत्येक उपदेशक तथा कथावाचकको अपने पास अवश्य रखने चाहियें। पुस्तकालय तथा विद्यालयोंमें भी इसका संग्रह अनन्त तथा अध्यापकों एवं छात्रोंके

लाभार्थ नितराम् आवश्यक है। अब अग्रिम पुष्पके लिए संरक्षक, सहायक, प्रेरक एवं प्रचारकोंकी आवश्यकता है। जितनी शीघ्र सहायता प्राप्त होगी, उतना ही शीघ्र ग्रन्थमालाका प्रकाशन होगा। प्रेरक महोदय ध्यान दें।

अमूल्य कोई भी न ले

हमें इस ग्रन्थमालामें जो भी साहाय्य या मूल्य प्राप्त होता है; वह सब आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है, उसे अपने काममें नहीं लगाया जाता; अतः कोई भी महोदय इन ग्रन्थोंको बिना मूल्य न ले। यदि अधिक-सहायता कोई महोदय न कर सकें; तो ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें, और इन ग्रन्थोंके प्रचारमें अवश्य सहायक बनें। संरक्षकका एक-द्वज्जार रूपया नियत है, और सहायकोंका न्यूनसे न्यून १००) रूपया है, यह सबकी स्मरण रखना चाहिये। संरक्षक-महोदयका चित्र भी प्रकाशित होगा और सब प्रकाशनों पर नाम भी। स्थायी ग्राहकोंके लिए यह सुविधा रखी गई है कि—वे २) जमा करा दें, फिर उन्हें सभी पुष्प पीने मूल्य पर दिये जावेंगे। उन्हें सब प्रकाशित पुष्प लेने पड़ेंगे।

इस पुष्पमें जिन महाशयोंके सनातनधर्म-विरुद्ध मतको आलोचित किया है, उसमें कोई ईर्ष्या-द्वेष कारण नहीं, किन्तु शास्त्रका वास्तविक अभिप्राय-प्रदर्शन ही वहाँ मुख्य-लक्ष्य है। फिर भी यदि किसी महोदयका मनः-सोम हुआ हो, तो वे हमारे हृदयको जानते हुए हमें क्षमा करेंगे। विचारमें जो त्रुटि रह गई हो, विद्वान् हमें उसकी सूचना दें, इन शब्दोंके साथ यह भूमिका समाप्त है।

श्रीग्यासपूर्णिमा

गुरुवार

सं० २०११

निवेदकः—

दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः विद्यावागीशः,

C/o रामदल, दरीयाकलां, देहली

‘श्रीसनातनधर्मालोक (३)’ के सम्बन्धमें

विद्वानोंके कुछ भाव

(१) सनातनधर्मके बिखरे हुए एक-एक विषयको शृङ्खलाबद्ध एक पुस्तकमें संगृहीत कर ठसे विस्तृत-व्याख्याके साथ धार्मिक-जनताके समस्त रखनेके ध्येयसे विद्वद्दय पं० दोनानाथजी शर्मा शास्त्रीने ‘श्रीसनातनधर्मालोक’ ग्रन्थमालाका प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इस मालाका तृतीय-पुष्प उक्त पुस्तक है। पण्डितजीने इस ग्रन्थमें स्त्री-शुद्धीके वेदाधिकारानधिकार विषय पर शास्त्रीय एवं लौकिक दृष्टिसे साहोपाद-विवेचन किया है। साथ ही महिदास, कवय, जायल, वांसिष्ठ, व्यास, पाराशर, सूत, शबरी, वाल्मीकि आदि की जातीय-उत्पत्तिके सम्बन्धमें सप्रमाण विश्लेषण किया है, ऐसे उत्तम ग्रन्थसे जनता अवश्य लाभ उठावेगी—ऐसी पूर्ण आशा है। एतदर्थ वह उक्त ग्रन्थमालाके प्रत्येक पुष्पको खरीदकर धार्मिक-संसाहित्यके प्रकाशनार्थ ग्रन्थमालाको अर्थ-साहाय्य प्रदान करे। श्री शास्त्रीजी द्वारा लिखित उक्त-ग्रन्थ अत्यन्त गवेषणापूर्ण, पठनीय, विचारणीय एवं संग्रहणीय है।

—देवेन्द्र शर्मा शास्त्री, सम्पादक श्रीवेङ्कटेश्वर—समाचार, बम्बई
(२०१४०) १-२-११।

(२) 'श्रीशारदापीठाधीश्वर अने श्रीकरपात्रीजी. महाराज यादि आचार्यों अने महात्माओं द्वारा मुक्तकंठयी प्रशंसित आ एकज ग्रन्थना अवलोकनधी धर्म-बाबतनी समस्त शंकाओंनु समाधान यह जशे । एना-कर्ता सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत छे । देश-विभाजनध्या ते ओ मुखतान बादना सनातन-धर्म संस्कृत-कालेजना अध्यय हता । विभाजनध्या बाद देहलीना हिन्दी संस्कृत-कालेजना अध्यय यया छे । ते ओ श्रीदयानन्दजी मत-खण्डन करवामां घणाय होशियार विद्वान् छे ।

ते ओ ए महान् ग्रन्थ छे । ग्रन्थमालां रूपमां आ महाग्रन्थ-प्रकाश शुरू भई गया छे । आ पुस्तक घणुज उपादेय हो वायी । दरेक व्यक्ति तथा पुस्तकालयों, विद्यालयों माटे संपाद छे ।

—श्रीमहाबलभट्ट वेदान्तशिरोमणि, सम्पादक 'नवभारती' (गुजराती) राजकोट (सौराष्ट्र) (६।५।५४) ।



(३) परम पूज्यपाद, भारतकी महान् विभूति श्री पं० दीनानाथजी शास्त्री सनातनधर्मी जगत्के माने हुए अद्भुत रत्न हैं । ... मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि—यह ३० करोड़ हिन्दुओं पर भगवान्‌की असीम कृपा है कि जो आप—जैसा अभूतपूर्व, महान् धुरन्धर-विद्वान् प्राप्त हुआ है । ... आपके खोजपूर्ण, शास्त्रीय लेखोंको पाकर नास्तिकोंकी बोलती बन्द हो जाती है, और काशी तकके बड़े-बड़े विद्वान् तक आपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते और आपकी धाक मानते हैं । ... हमारी प्रत्येक सनातनधर्मीमात्रसे प्रार्थना है कि वह शास्त्रीजी महाराजके ग्रन्थोंको अवश्य ही पढ़ें और तन, मन, धनसे सहायता कर महान् पुण्यके भागी बनें ।

—भक्त रामशरणदास, पिलखुआ, ७-६-५३



(४) 'श्रीपूज्य शास्त्रीजीके प्रमाण, तर्क और लेखशैलीमें तो किसी प्रकारकी न्यूनता ही नहीं रहती । क्यों न हो ? आपकी विद्वत्ता ही सर्वतोमुखी है । भाषा आपको यही गम्भीर और शिष्ट होती है । परन्तु प्रमाण और तर्ककी प्रयत्नता और निःशेषतासे विरोधीको आप पीस डालते हैं । आपके लेखोंसे बड़ी ज्ञानवृद्धि और आनन्द मिलता है ।...

—विष्णुदत्त शर्मा बी० ए० बालचन्द्र पाषा, बूँदी (राजपूताना)



(५) 'विद्वन्मार्तण्ड, शास्त्रार्थमहास्वामी श्रीशास्त्रीजीसे प्रणीत 'श्रीसनातनधर्मालोक' ३५ पुष्प दत्तचित्त होकर पढ़ा, प्रति-प्रसन्नता हुई । आपके लेख रत्नतुल्य, अक्रान्त, सयुक्तिक रहते हैं । ... आप जैसे समय-विद्वानोंका मूल्य भविष्यमें अवश्य होगा । आपके लेख और पुस्तकोंका खण्डन करनेकी शक्ति आधुनिकोंमें नहीं है । आपने सनातनधर्मको यही भारी सेवा की है ।

—देवाशङ्कर मेघजी शास्त्री, मुरूप्याप्यापक डी० एल० संस्कृत पाठशाला, १२२ गुजालवादी बम्बई ४ (१४।६ २३)



पुस्तकादिक अमाचित सम्मतिवां बहुत अधिक आई हुई हैं, पर स्थानाभावसे प्रकाशित नहीं की जा सकीं । 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थ माला स्वयं खरीद कर तथा दूसरोंसे खरीदवाकर सनातनधर्मके प्रचारमें तथा अग्रिम पुष्पोंके विकासमें सहयोग दें ।

निवेदक—

नारायण शर्मा सारस्वत शास्त्री०

(प्रकाशक)

विषय-सूची

विषय

पृष्ठ

प्रारम्भिक शब्द

१ संक्षिप्त सनातनधर्म	१-१६
२ सनातनधर्मके सिद्धान्तोंका संक्षेप	१७-२२
३ हिन्दु-शब्दका महाभाष्य	२३-१०४
४ वेदविषयमें भारी भूल	१०५-१२०
५ वेदस्वरूप-निरूपण (श्रीपतञ्जलि एवं शन्नोदेवी मन्त्र)	१२१-१६६
६ वेदादिशास्त्रोंमें जन्मना वर्ण-व्यवस्था	१६७-१७६
७ जन्मना वर्ण-व्यवस्था (ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् [क])	१८०-२०२
८ जन्मना वर्ण-व्यवस्था (ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् [ख])	२०३-२२७
९ गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था पर विचार	२२८-२८३
१० वर्ण व्यवस्था-विषयक कुछ भ्रमोंका परिहार	२८४-३२६
११ मृतकश्चात् और ब्राह्मणभोजन	३३०-३४४
१२ परलोक-विषय	३४५-३५६
१३ मृतकश्चात्-विषयक कुछ शङ्काएँ	३५७-३७४
१४ मूर्तिपूजा-रहस्य और परापूजा-स्तोत्र	३७५-३८७
१५ वेदमें प्रतिमोपासना	३८८-३९३
१६ अवतारवाद-रहस्य	३९४-४०४
१७ मनुष्ययोनिसे देवयोनिकी भिन्नता	४०५-४२०
१८ क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं ?	४२१-४३७
१९ नयग्रहोंके वैदिक-मन्त्र	४३८-४७७
२० ग्रहण और उसका सूतक	४७८-५०६
विशेष-सूचना	५१०-५११

[इन विषयोंमें सनातनधर्मके अन्तर्गत-विषय भी बहुतसे आगये हैं । स्थान न होनेसे उनका पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता]

पुष्पोंका परिचय

प्रथम पुष्प—इसमें श्रीरामेश्वरानन्दजी द्वारा माने हुई ‘नमस्ते’ की एकपदता आलोचित की गई है, मूल्य ६) ।

द्वितीय पुष्प—इसमें ‘नमस्ते’ के निपात हानेकी आलोचना की गई है । फिर ‘श्रीसनातनधर्मालोक’ महाग्रन्थकी सम्पूर्ण विषय-सूची तथा उस पर प्रसिद्ध-विद्वानोंकी सम्मतियां भी दी गई हैं । मूल्य १) ।

तृतीय पुष्प—इसमें स्त्री एवं शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार किया गया है । ‘यथेमां वाचं वृथाखीम्’ का वास्तविक अर्थ बताकर हारीतकी ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू, गोभिल सूत्रका ‘यज्ञोपवीतिनी’ शब्द, शत-पथका ‘दुहिता मे पचिदता जायेत्’ पञ्चजना मम होत्रं शुपध्वम्, वेद परन्तु प्रदाय वाचयेत्, ब्रह्मचर्येण कन्या, पवनोंको वेद पढ़ाना, वेदकी श्रृंगिकाएं ह्यादि बहुत विषयों पर सर्वांगीण विवेचना दी गई है, जिसे पढ़कर विद्वानोंका हृदय लिल उड़ेगा । लौकिक-दृष्टिकोण भी सांभ रखा दिया है । साथ ही देवरेय महिदास, ऐतरेय ब्रह्म, कवीशान्, पौराणिक सूत, शबरी, धीवाहमीकि आदि शूद्र थे या अशूद्र—इस पर भी स्पष्ट विचार दिखाया गया है । अनुसन्धानके दृष्टिकोण रखने वाले सभी विद्वानों, उपदेशकों तथा शास्त्रार्थी पचिदतोंको यह पुष्प अवश्य मंगाना चाहिये । पृष्ठसंख्या साढ़े तीनसौके लगभग । इसके मंगाने पर प्रथम राया द्वितीय पुष्प अमूल्य भेजे जाते हैं । मूल्य ३)

चतुर्थ पुष्प—यह आपके सम्पन्न है । मूल्य ४)

मंगानेका पता—

श्रीदीनानाथ शास्त्री सारस्वतः

C/o रामदत्त, दरीया-कलां, देहली ।

‘श्रीमन्नाथभर्मालोक’ — परेता



श्रीदीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः
 विद्यावागीशः, विद्याभूषणः, विद्यानिधिः,
 ट्रिभुवन सं० हि० महाविद्यालय, रामदल, दरीयाकलां, देहली

श्रीसनातनधर्मालोकः (४)

हिन्दु-धर्मके मूल सूत्र

अथवा

संक्षिप्त सनातन धर्म

‘धरति धिखम् इति धर्मः’ । जो जगत्को धारण करे, वह धर्म होता है । ‘धृज् धारणे’ (भव० उ० से०) धातुको ‘अनिस्तुसुहुसृष्ट’ (१ । १४०) इस उणादि सूत्रसे मन् प्रत्यय होकर ‘धर्म’ शब्द बनता है । ‘सना-सदा भवः सनातनः’ जो सदा रहे वह ‘सनातन’ । ‘सायं-चिरं प्राह्णे-प्रणे-अध्ययेभ्यः ट्युट्युलौ तुट् च’ (पा० ४ । ३ । २३) इस सूत्रसे ‘मना’ शब्दसे ट्युल् प्रत्यय होकर अनुबन्धका लोप ‘युवोरनाकौ’ (पा० ७ । १ । १) इस सूत्रसे ‘यु’ को ‘अन’ आदेश और तुट्का आगम होकर ‘सनातन’ शब्दकी सिद्धि होती है । ‘सनातनश्चासौ धर्मश्च’—इस कर्मधारय समासके विग्रहमें ‘सनातन धर्म’ शब्द बनता है—जिसका अर्थ है सदा होने वाला धर्म । अथवा सनातनका धर्म । ‘सनातन’ परमात्मा को कहते हैं । उसका धर्म । जैसे कि ‘सनातनमेनमाहुः’ (अथर्व० शौ० सं० १० । ८ । २३) ‘यो देवमुत्तराचन्तमुपासातै सनातनम्’ (अ० १० । ८ । २२) ‘स्वमध्ययः शाश्वतधर्म-नोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे’ (भगवद्गीता ११ । १८) ‘स्वतः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुमिस्तव’ (श्रीमद्भागवत ३ । १६ । १८) ‘सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्’ (महाभारत आश्वमेधिक (११ । ३४) इत्यादि इस विषयमें बहुत प्रमाण है; जो मिश्र निबन्धमें बताये जायेंगे । जो शक्ति पृथिवीमें

व्यापक होकर उसके पृथिवीत्व की; जलमें स्थित होकर उसके जलत्व की, तेज आदिमें स्थित होकर उसके तेजस्व आदिको रक्षा करती है; जिसके कारणसे सूर्य-चन्द्र आदि अपने स्थानमें रहते हैं; जो शक्ति जीवको निम्नकोटिसे उठा कर क्रमसे उन्नत करती हुई उत्तम कोटिमें ले जाती है, वह शक्ति धर्म है।

(१) सनातन धर्म—जो धर्म हिन्दु जातिमें बनादि काल से प्रवृत्त है; जिसके कारणसे यह जाति जीती है; आगे भी जो धर्म अनन्त काल तक रहेगा; वह सदाका धर्म सनातनधर्म है। इस पृथिवीमें कई धर्माभास उत्पन्न होते हैं; परन्तु कृत्रिम होनेसे वे फिर विनष्ट हो जाया करते हैं; क्योंकि 'जातस्य हि भ्रूवो मृत्युः' (गीता २।२७) उक्त्यर्थ हुआ नाश प्राकृतिक है। पारसीधर्म ज़रदुष्ट द्वारा ईरान में, बौद्ध धर्म गौतम बुद्ध द्वारा कपिलवस्तु में, जैन धर्म महावीर स्वामी द्वारा वैशालीमें, ईसाई धर्म ईशु द्वारा यूरोपमें, इस्लाम धर्म मुहम्मद द्वारा अरब देशमें, कबीर मत कबीर द्वारा काशीमें, बालसा सम्प्रदाय गुरु नानक द्वारा ननकावा (पंजाब) में, ब्रह्मसमाज राजा राममोहनद्वारा कलकत्तामें, देवसमाज सत्यानन्द द्वारा उत्तर प्रदेशमें, आर्य समाज सम्प्रदाय स्वामी दयानन्द द्वारा टंकारा ग्राम में, इस प्रकार प्रार्थना समाज आदि बहुतसे सम्प्रदाय हैं—जिनका तिथि-वंत् निश्चित है; अतएव यह सब आदिमान् हैं; पर सनातन धर्मका कोई पुरुष जन्मदाता नहीं। जिसका जन्म होता है; उसकी मृत्यु भी होती है। सनातन-धर्मका किसी विशेष तिथिमें जन्म नहीं हुआ; इस कारण वह अनादि और अनन्त है। यह धर्म भगवान् की शक्ति है। जब भगवान् सनातन हैं; तब यह धर्म भी सनातन एवं अनादिक है। इसके हस्त करने पर हिन्दु जाति स्वयं ही और अपने स्वयंसे व्युत्पन्न हो सकती है। उस सनातन धर्मका यद्यपि

सर्वांशमें वर्णित नहीं हो सकता; तथापि उसे इस निबन्धमें सूत्र रूपसे वर्णित किया जाता है। त्रिसीका भाष्य-स्वरूप हमारा दश सहस्र पृष्ठका 'श्री सनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ है।

(२) सनातनधर्मका साहित्य—सनातनधर्मके मुख्य ग्रन्थ वेद हैं। वेद संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदोंका समुच्चय हुआ करता है। फिर आयुर्वेद आदि उपवेद हैं। व्याकरण आदि वेदके अंग होते हैं। वेदके सांख्य आदि उपांग हुआ करते हैं। इसीमें धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस समस्त साहित्यसे सनातन धर्मकी व्याख्या हो जाती है।

(३) वेद—वेद भगवान्का वाक्य है और अनादि है, इस कारण अप्रौक्तेय है। ब्रह्माने अग्नि, वायु, सूर्य इन तीन देवताओं द्वारा वेदकी दुहा। कई सहस्र ऋषियोंने ब्रह्मके अवसानमें समधि द्वारा भिन्नभिन्न मन्त्र रूपसे प्रकट किया। श्री वेदव्यासने उस एक वेदकी यज्ञोपयुक्त चार भेदसे वेदका संकेत देखा कर ही विभक्त किया।

वेद के दो भाग हैं—एक मन्त्र भाग, दूसरा ब्राह्मण भाग। मन्त्र भाग चार प्रकार का है—ऋक्, यजुः, साम और तीनों का समुच्चय। ऋचाओं (पद्यमय मन्त्रों) का संग्रह ऋग्वेद है। प्रायः यजुषों (गद्यमय मन्त्रों) का संग्रह यजुर्वेद है। प्रायः सामों (गीतिमय मन्त्रों) का संग्रह सामवेद है। ऋक् (पद्य), यजुः (गद्य), साम (गीति) तीनों प्रकारके मन्त्रोंका संग्रह अथर्ववेद है।

जैसे—वेद ऋग्वेदादिसे पृथक् ग्रन्थरूपसे कोई नहीं मिलता; वैसे ही ऋग्वेद आदि भी संहिता एवं ब्राह्मणोंसे पृथक् नहीं मिलते। उसमें ऋग्वेदकी संहिताएं २१ हैं, यजुर्वेद की १०१ हैं, सामवेद की १००० एक सहस्र हैं, और अथर्ववेद की संहिताएं ६ हैं।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि ऋग्वेदादि संहिता आदिसे मिलन नहीं मिलते। ऋग्वेद कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, ऋग्वेदकी संहिताएँ ही मिलकर या मिल-मिल होकर ऋग्वेद हैं; अर्थात् ऋग्वेद की २१ संहिताओंमें कोई भी संहिता ऋग्वेद है। आज कल उसकी संहिताओं में एक शाकल संहिता ही मिलती है, अतः वह ऋग्वेदकी संहिता होने से ऋग्वेद है। यजुर्वेद कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता; उसकी संहिताएँ ही यजुर्वेद हैं। यजुर्वेद के दो भाग हैं—एक कृष्ण, दूसरा शुक्ल। संहिता और ब्राह्मणोंके मिले-जुले होनेसे दुर्ज्ञेयतावश कृष्ण होता है, और दूसरा ब्राह्मणसे भिन्न शुद्ध होने से शुक्ल कहलाता है। कुछ थोड़े से ब्राह्मण इसमें भी हैं, जो धियाए हैं। कृष्ण यजुर्वेद की ८६ संहिता हैं, उनमें आजकल १ तैत्तिरीय संहिता, २ काठकसंहिता, ३ मैत्रायणी ४ कठकपिण्डल संहिता—यह चार संहिता मिलती हैं। शुक्ल यजुर्वेद की १२ संहिताएँ हैं। उनमें आजकल १ कंठक संहिता, २ वाजसनेयी संहिता मिलती है। इस प्रकार यजुर्वेदकी सभी १०१ संहिताओं में छः संहिताएँ मिलती हैं। यह सभी यजुर्वेदकी संहिताएँ होनेसे यजुर्वेद है। संहिता एवं ब्राह्मणोंसे श्रुति कोई भी वेद भूमण्डलमें नहीं मिलता—यह पहले संकेत दिया ही जा चुका है।

इस प्रकार सामवेद भी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता; उसकी संहिताएँ ही सामवेद हैं। सामवेदकी एक सहस्र संहिताओं में १ कौथुम संहिता, २ जैमिनीय संहिता—यह दो संहिता पूर्ण और रागायनीय संहिता अंशतः मिलती हैं। सामवेद की संहिता होने से यह सामवेद है। इस प्रकार अथर्ववेद भी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ कहीं से नहीं मिलता; अथर्ववेदकी संहिताएँ ही अथर्ववेद हैं। उसकी ६ संहिताओं में १ शौनकी संहिता, २ वैष्णवादि संहिता यह दो संहिता मिलती हैं। अथर्ववेदकी संहिता होने से यह अथर्ववेद है। सबकी कुल २२

म्परासे प्रचलित चारों वेदोंकी एक-एक ही संहिता हुआ करती है; जिस कुलको वह नहीं मिलती; वह प्राप्त संहिताको ही स्वीकृत करता है।

इस प्रकार यह ११३१ संहिताएं ही चारों वेदोंका मन्त्र भाग है। संहिता और शाखा एक ही बात है, इन्हें चरण भी कहा जाता है। वेदका दूसरा भाग है ब्राह्मण भाग। यह भी उतना ही हुआ करता है। जितनी संहिता, उतने ही ब्राह्मण। ब्राह्मण भाग संहिताका विनियोग पद्यम् अर्थ रूप होता है। शब्द और अर्थका सम्यन्ध नित्य हुआ करता है। इसलिये ११३१ संहिताओंके ब्राह्मण भी उतने ही होते हैं। ऋग्वेदके आजकल 'ऐतरेय, कौशीतकी, शाङ्खायन आदि ब्राह्मण मिलते हैं। ऋग्वेदकी शाकल्य संहिताका ब्राह्मण नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण तो ऋ० की आश्वलायन संहिताका मिलता है; परन्तु वह संहिता उपलब्ध नहीं। शाङ्खायनीय संहिता तो नहीं मिलती; पर उसका 'शाङ्खायन ब्राह्मण' मिलता है। यजुर्वेदकी वाजसनेयी संहिता का शतपथ ब्राह्मण और काण्व संहिताका शतपथ-ब्राह्मण भी मिलता है। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिताका तैत्तिरीय ब्राह्मण भी प्राप्त है; अन्य यजुर्वेद संहिताओंके ब्राह्मण उपलब्ध नहीं।

सामवेदकी कौथुमी संहिताका 'ताण्ड्य महाब्राह्मण' मिलता है, जैमिनीयसंहिता का जैमिनिब्राह्मण भी मिलता है। इस प्रकार षट्विंश तथा दैवत ब्राह्मण भी मिलते हैं, पर यह गवेषणीय है कि वे सामवेद की किस-किस संहिता के हैं। अन्य संहिता तथा ब्राह्मण उपलब्ध नहीं।

वेद का अन्य भाग होता है उपनिषद् और आरण्यक। उसमें मन्त्रभाग की भी कई उपनिषदे तथा आरण्यक होते हैं, ब्राह्मणभागके भी। तब ११३१ मन्त्रोपनिषद् और ११३१ ब्राह्मणोपनिषद् होते हैं। इस

प्रकार ११३१ मन्त्रारण्यक होते हैं और ११३१ ब्राह्मणारण्यक होते हैं। इनमें आजकल ११२ उपनिषदें मिलती हैं, तथा कुछ आरण्यक मिलते हैं; पर थोड़ोंके अतिरिक्त इसका पता नहीं चलता कि वे वेद की किस-किस संहिता वा किस-किस ब्राह्मणके हैं। इंशोपनिषद् यजुर्वेद की काण्व संहिताकी भी मिलती है, वाजसनेयी संहिताकी भी। साम-वेदकी कौथुमीसंहिता का आरण्यक उसके साथही पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिताका तैत्तिरीयारण्यक भी मिलता है। एतदादिक यद्यन 'संक्षिप्त वेद वेदाङ्गपरिचय' नामक भिन्न नियन्त्रमें होंगे। यह सारा साहित्य वेद है। वेदका विषय यज्ञ है। सनातन धर्मके सब नियम और सब रहस्य इस सम्पूर्ण वेदमें वर्णित हैं। वेद भगवद्-वाणी है। वेदके तीन काण्ड हैं—१ कर्मकाण्ड, २ उपासनाकाण्ड, ३ ज्ञान काण्ड। कर्मकाण्ड प्रायः ब्राह्मणभागमें है, उपासनाकाण्ड प्रायः मन्त्र-संहिताभाग में है, ज्ञानकाण्ड प्रायः आरण्यक-उपनिषद् भागमें है। इति वेदाः।

(२) उपवेदः—जैसे वेद चार प्रकारका है, वैसे उपवेद भी

चार प्रकारका है—१ आयुर्वेद, २ धनुर्वेद, ३ गान्धर्ववेद, ४ अथर्ववेद अथवा स्थापत्यवेद। उसमें १ आयुर्वेद अथर्ववेदसे सम्बन्ध रखता है, कई लोग इसे ऋग्वेद का उपवेद मानते हैं २ धनुर्वेद यजुर्वेदका उपवेद कहा जाता है। ३ सामवेदका उपवेद गान्धर्ववेद है। ऋग्वेदका उपवेद अथर्ववेद है, कई लोग इसे अथर्ववेदका उपवेद कहते हैं।

१ आयुर्वेद में शारीरिक व्याधियोंका दूर करना, शरीरशास्त्र, वैद्योपचार, औषधोपचार, प्रणादिच्छेदन, ओषधिका सूचीविध (इन्जेक्शन) द्वारा अथवा कबले आदिके द्वारा भीतर प्रवेश कराना इसमें वर्णित किया गया है। इस आयुर्वेदमें निघण्टु तथा धन्वन्तरि औषधि द्वारा प्रकटित सुश्रुत, चरक, भैक्ष, हारीत, वाग्भट आदियों की संहिताएं हैं।

२ धनुर्वेदमें युद्ध विद्याका विषय, बाण-विद्या तथा अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्र वर्णित हैं, इसके आविष्कारक विश्वामित्र आदि ऋषि हैं। इसकी भी संहिताएँ हैं, जो कि मिलती नहीं। ३ गान्धर्ववेद में अनेक तरहके स्वर, गान आदि का वर्णन है। नारद आदियोंने इनकी संहिताओं को प्रकट किया है। ४ अथर्ववेद वा स्यापत्य वेदमें अनेक प्रकारके यान वा विमान आदियोंका, भूगर्भ आदि विद्याओंका, तथा राजनीति आदि साधनोंका, वास्तुविद्या तथा वस्त्र-व्यवहारका वर्णन है। इसकी भी विश्वकर्मा, त्वष्टा, मय आदिने संहिताएँ प्रकट की हैं। इसीमें राजनीतिके प्रतिपादक अर्थनीति शास्त्रों का अन्तर्भाव है। इति उपवेदाः।

(५) वेदाङ्ग—वेदके छः अङ्ग होते हैं। इनके बिना वेद का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये पहले वेदाङ्ग पढ़ने पढ़ते हैं। १ शिखा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ छन्द ६ ज्योतिष यह वेद के छः अङ्ग हैं।

१ शिखा—ऋग्वेदकी पाणिनीय शिखा, २ कृष्ण-यजुर्वेदकी व्यासशिखा, शुक्लयजुर्वेदकी याज्ञवल्क्य आदिकी शिखा, सामवेद की गौतमी आदि शिखाएँ, अथर्ववेद की माण्डूकी शिखा आदि हैं। इनमें वेदके वर्णोच्चारण आदिका प्रकार सिखलाया गया है। पाणिनि, याज्ञवल्क्य आदि इनके आविष्कारक हैं। इसमें यह अन्वेष्टव्य है कि किस-किस संहिताकी कौन-कौन सी शिखा है।

२ कल्प—इसमें वेदकी मन्त्र-मन्त्र संहिताओंके मन्त्रों का विनियोग, तथा यज्ञविधियों एवम् अनुष्ठान-विशेष बनाये गये हैं। इनमें नक्षत्रकल्प, वेदकल्प, संहिताकल्प, आह्निरसकल्प, शान्तिकल्प आदि ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त इसमें आश्वलायन, शाङ्खायन (ऋग्वेद) पारस्कर (शुक्लयजुर्वेद) आपस्तम्ब, मानव, हिरण्यकेशी, बोधायन

(कृष्णयजुर्वेद) जैमिनि, वैखानस, गोभिल (सामवेद) कौशिक (अथर्ववेद) द्राक्षायण अग्निवेश, भारद्वाज आदि गृह्यसूत्र, बोधायन, आपस्तम्ब, सत्यापाद, आश्वलायन, आदि श्रौतसूत्र अन्तर्भूत हो जाते हैं। यह भिन्न-भिन्न संहिताओं के मन्त्रोंका विनियोग तथा कर्तव्यता बताते हैं। इसमें उन-उन संहिताओंके मन्त्रोंके देवता-श्रुति आदि ज्ञानमें बृहद्देवता, आपानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी, सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थ भी सहायक होते हैं। यह भिन्न-भिन्न संहिताओंके भिन्न-भिन्न होते हैं।

३ व्याकरण—व्याकरणमें वैदिक और लौकिक शब्दोंकी सिद्धि और स्वर-परिचय बताये गये हैं। इनमें पाणिनीय व्याकरण प्रसिद्ध है। प्रत्येक शास्त्रका व्याकरण आतिशय्य नाम से प्रसिद्ध है इसीमें अन्तर्भूत होता है। अन्य ऐन्द्र, शाकल्य, स्फोटायन आदिके व्याकरण अस्त हो गये हैं। अष्टाध्यायी, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन, उणादि पंचपादी, दशपादी लौकिक और वैदिक व्याकरणके परिचायक हैं।

४ निरुक्त—इसमें वैदिक शब्द संग्रहकोष रूप निघण्टुके निर्गन्धन तथा निगम और माध्य निरूपित किये गये हैं। यास्क आदि इनके प्रवक्ता हैं। शाकल्य आदियों के निरुक्त इस समय उपलब्ध नहीं। यह निरुक्त भी भिन्न-भिन्न संहिताओं के भिन्न-भिन्न होते हैं।

५ छन्द—इसमें वैदिक एवं लौकिक छन्द बताये गये हैं। पिङ्गल आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थों में इनका निरूपण किया है। वृत्तरत्नाकर आदिमें लौकिक छन्द बताये जाते हैं।

(६) ज्योतिष—इसमें गणित एवं फलित विषय होता है। वैदिक ग्रन्थोंके काल आदिके प्रतिपादनार्थ इसका उपयोग होता है। फलित, गणितका ही फल हुआ करता है। गणितसे ग्रहोंका राशि आदियों में घूमना, तथा राशि-परिवर्तनके समय का पता लगता है।

फलितके द्वारा ग्रहोंका हमारे शरीरमें प्रभाव जाना जाता है। सूर्य आदि इस शास्त्रके ग्रन्थों हैं और मय आदि वक्ता हैं। इनमें सूर्य-सिद्धान्त, सिद्धान्त शिरोमणि आदि गणितके और ऋगुत्साहिता आदि ग्रन्थ फलित के प्रसिद्ध हैं। इति षडङ्गानि।

(७) वेद के उपाङ्ग—उपाङ्ग भी वेदार्थके ज्ञानमें सहायक हुआ करते हैं। वेदके उपाङ्ग—(१) पुराण, (२) न्याय, (३) मीमांसा, (४) धर्म-शास्त्र, यह चार हैं। (१) पुराणसे पुराण, उपपुराण, तथा औपपुराण तन्त्रग्रन्थ और रामायण एवं महाभारत—यह इतिहास गृहीत होते हैं। (२) न्याय—शब्द से न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, योगदर्शन—यह दर्शन तथा (३) मीमांसा शब्द से पूर्वमीमांसा मीमांसादर्शन, उसमें भी कर्ममीमांसा तथा दैवतमीमांसा, उत्तरमीमांसा से वेदान्तदर्शन—यह छः दर्शन गृहीत होते हैं। (४) धर्म-शास्त्र शब्दसे धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ गृहीत होती हैं।

(८) पुराण (क) जिनमें ऋषि-मुनियोंने वेदके कठिन विषय गाथा, इतिहास आदिके द्वारा बहुत सरल कर दिये हैं, वे पुराण होते हैं। पुराणों के प्रवक्ता श्रीमान् व्यास हैं। पुराणोंका ज्ञान तो अनारि है। पुराण अठारह होते हैं—(१) ब्रह्मपुराण (ब्रह्मा वक्ता मरीचि श्रोता) (२) पद्मपुराण (हिरण्यमय पद्मपर रहने वाले स्वयम्भू वक्ता हैं, श्रोता ब्रह्मा हैं) (३) विष्णुपुराण (परमात्मा वक्ता हैं)। (४) शिव पुराण (वासु पुराण— शिव वक्ता और वायु श्रोता हैं) (५, लिङ्गपुराण (महेश्वर वक्ता हैं) (६) गरुडपुराण (विष्णु वक्ता और गरुड श्रोता हैं)। (७) नारद पुराण (नारद आदि वक्ता हैं, नारद श्रोता हैं)। (८) भागवतपुराण (श्रीमद्भागवत में विष्णु वक्ता हैं और ब्रह्मा श्रोता हैं, देवी भागवत में ब्रह्मा वक्ता हैं)। (९) अग्नि पुराण (अग्नि वक्ता

हैं, वसिष्ठ श्रोता हैं) (१०) स्कन्दपुराण (वसुदेव वक्ता हैं) । (११) भविष्य पुराण (ब्रह्मा वक्ता है, मनु श्रोता है) । (१२) ब्रह्म-वैवर्त पुराण (सावित्रि वक्ता है, नारद श्रोता है) । (१३) मार्कण्डेय पुराण (मार्कण्डेय वक्ता है, जैमिनि श्रोता है) । (१४) वामनपुराण (ब्रह्मा वक्ता, पुलस्त्य श्रोता और पुलस्त्य वक्ता, नारद श्रोता है) (१५) वाराह पुराण (विष्णु वक्ता और पृथिवी श्रोत्री) (१६) मात्स्य पुराण (मात्स्य वक्ता और मनु श्रोता) । (१७) कूर्मपुराण (कूर्म वक्ता है) । (१८) ब्रह्माण्डपुराण (ब्रह्मा वक्ता) (धर्मशास्त्रावत १२।७।२३-२४) ।

पुराण वेदके सूत्रोंकी व्याख्या है । जिस प्रकार सूत्रकी व्याख्या में उदाहरण और प्रत्युदाहरण हुआ करते हैं, वैसे पुराणोंमें भी वैदिक सिद्धान्त-सूत्रोंके उदाहरण और प्रत्युदाहरण होते हैं । पुराण शिक्षाके भाष्यकार हैं । इनमें कर्म, भक्ति, ज्ञान, मोति, उपदेश, इतिहास, चिकित्सा, लोक-परलोक रहस्य, सगुण-निर्गुण-उपासना, अवतार, जीवब्रह्मतत्त्व, राजवंश, सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट किये गये हैं । इन्हींसे आजतक हिन्दु जाति अपने धर्ममें स्थिर रही है । पुराण न होते, तो आज कोई वेदका नाम भी न जानता । सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित, मन्वन्तर आदियोंका वर्णन करना इनका विषय है । उनमें ईश्वरके स्वरूपका निरूपण मूर्तिपूजा, ईश्वरावतार, स्त्रियोंका पतिव्रत धर्म, निष्कर्म आदि धर्मोंका विषय, मानसिक सृष्टि, भौतिक सृष्टि, कामसे अपने बचावका उद्यम, स्त्रियोंकी मोहकता से अपना बचाव करना, स्त्रियोंके विषयमें किसी देवतातकका भी विश्वास न कर डालना, आत्म संयम- इत्यादि वर्णित किया गया है । वेदके कठिन विषय कहीं आलङ्कारिक भाषामें, कहीं सरस कथाओं या गाथाओंके द्वारा कहे गये हैं । पुराण में समाधि भाषा, लौकिक भाषा, और परकीया भाषा यह तीन भाषाएँ यत्र-तत्र उपयुक्त की गई हैं । इनमें समाधिभाषा वह है जहाँ कठिन ज्ञानकी भाषाके द्वारा निरूपण

हो, लौकिक भाषा प्रसिद्ध इतिहासके द्वारा निरूपित की जाती है और परकीया भाषा गाथा रूपक आदिके द्वारा वेदार्थके वर्णनमें ली जाती है। इन भाषाओं के ज्ञानके बिना पुराण सर्वसाधारणके ज्ञानमें उपस्थित नहीं हो सकते।

(ख) उपपुराण—उपपुराण भी अठारह होते हैं— १. आदि पुराण, (सनत्कुमार से प्रणीत)। २. नरसिंह पुराण, ३. स्कन्द पुराण ४. शिव-धर्म पुराण (नन्दीश कृत) ५. दुर्वासः पुराण, ६. नारदीय पुराण ७. कपिल पुराण, ८. वामन पुराण, ९. शौशनस पुराण, १०. महामाण्ड पुराण, ११. वसुध पुराण, १२. कालिका पुराण, १३. महेश्वर पुराण, १४. साम्भपुराण, १५. सौर पुराण, १६. पाराशर पुराण, १७. मारीच पुराण, १८. भास्कर पुराण।

(ग) औपपुराण—औपपुराण भी अठारह होते हैं— १. सनत्कुमारपुराण, २. बृहन्नारदीयपुराण, ३. आदित्यपुराण, ४. मानवपुराण, ५. नन्दिकेश्वरपुराण, ६. कौर्मपुराण, ७. भागवतपुराण, ८. वसिष्ठपुराण, ९. भागवतपुराण, १०. मुद्गल पुराण ११. कलि पुराण, १२. देवीपुराण, १३. महाभागवत पुराण, १४. बृहद्धर्म पुराण, १५. परानन्द पुराण, १६. पशुपति पुराण, १७. बन्धि पुराण, १८. हरिवंश पुराण, (बृहद्विषेक ३।३७—३८-३९)।

(घ) तन्त्रग्रन्थ—पुराणोंमें ही तन्त्रग्रन्थोंका भी अन्तर्भाव हो जाता है। तन्त्रशास्त्रमें भी वेदोक्त विषय विभिन्न-विभिन्न अधिकारियों के लिये बताये गए हैं जिनमें आचार, उपासना, ज्ञान, मन्त्र, हठ लय आदि योग, आयुर्वेदके गुप्त योग, भूत विद्या, रसायन आदि सभी विद्याएँ और ज्योतिषके रहस्य स्पष्ट किये गये हैं। तन्त्रके परोक्ष रूपसे कहे हुए कई तत्त्व अतिशयित गूढ़ हैं। वे उनकी परिभाषाओं के ज्ञानके बिना भीढ़ा, जुगुप्सा, अमंगल अश्लीलमयसे प्रतीत होते हैं,

इन स्मृतियोंसे धर्म-धर्म, धर्मकी तथा, लोकव्यवहारकी व्यवस्था होती है। वेद और स्मृतिके विरोधमें जैसे वेद अधिक माननीय है, वैसे ही स्मृति और पुराणके विरोधमें स्मृति अधिक माननीय है, क्योंकि पुराण प्रधानतासे लोकवृत्त ही प्रतिपादन करते हैं। लोक व्यवहार की व्यवस्थापना करना उनका प्रधान विषय नहीं। गृहसूत्र, धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ यह धर्मशास्त्रमें अन्तर्भूत माने जाते हैं। स्मृतियोंमें भी मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति तथा पराशरस्मृति अधिक मान्य है। इति वेदस्य उपाङ्गानि। यह सनातन धर्म का साहित्य है। वेदके अङ्ग तथा उपाङ्ग वेदभोक्त सनातन धर्मके व्याख्यान रूप हैं—इनमें कहे हुए धर्म ही सनातन धर्मके सिद्धान्त हैं।

(७) सनातनधर्मके सिद्धान्त—१ मन्त्रभाग और २ ग्राह-

यभाग—यह दोनों मिलकर वेद कहाता है। उसमें मन्त्रभाग ११३१ संहितारूप है। ग्राहयभाग ग्राहण, आरण्यक और उपनिषद् रूप है। यह सप्त वेद है। शेष पूर्व वर्णित साहित्य उसका व्याख्यान रूप है। उस वेद के सूक्त सिद्धान्त यह है—

१ ईश्वर निराकार एवं साकार स्वरूप, २ ईश्वर का अवतार, ३ देवता, ऋषि तथा पितर मनुष्यसे भिन्न यौनिविशेष। ४ देव पूजा एवं मूर्तिपूजा, ५ उपासना, ६ भूतप्रेत आदिकी योनियाँ, ७ तीर्थ यात्रा, ८ पञ्चमहापशुपुष्टान, ९ त्रिकालसन्ध्या आदि नित्यकर्म, १० गो-पूजन, ११ मृतक पितृ आदि, १२ सोलह संस्कार, १३ जन्मसे वर्ण व्यवस्था, १४ वर्ण धर्म-आश्रम धर्म, १५ लोक-परलोक, १६ गृहपूजा, १७ नक्षत्रादिविचार, १८ यज्ञ, १९ दैवादितैवादि, २० वेदमें द्विज पुरुष का अधिकार, २१ कन्याओंका ऋतु कालसे पूर्व विवाह, २२ ग्रहणा-

इस विषयमें कि—‘स्त्रीगृहोंका वेदमें अधिकार है या नहीं—’

‘श्रीसनातनधर्माङ्क’ का तृतीय पुण्य मंगलम् । मूल्य ३)

दिका अशौच, २३ स्त्रियोंकी आवरण-प्रथा, २४ पतिव्रत धर्म, २५ विधवाविवाह का अभाव, २६ नियोग कलिवर्ज्य, २७ चन्दनादिका अनुलेपन, २८ स्पर्शास्पर्श, २९ अन्त्यज आदियोंकी अस्मृत्यता, ३० वैध-शुद्धि, ३१ युग व्यवस्था, ३२-बुकादशी आदि व्रत, ३३ सवर्णा-विवाह, ३४ शिल्पाचार, ३५ पापके प्रायश्चित्त ३६ लोक - लोकान्तर, ३७ धर्म-कर्म-भेद, ३८ व्रत-उपवास, ३९ हिन्दुत्वकी प्रतिष्ठा और हिन्दुस्थानकी रक्षा, ४० राजभक्ति, ४१ विविध आचार-विचार ।

इन सबका सर्वाङ्गीण वर्णन हमने 'श्रीसनातनधर्मालोक' महा-ग्रन्थमें किया है । पहले यहां पर कई आचार-विचारों का नाम निर्देश करके—क्योंकि—'आचार' परमो धर्मः' मनु० १।१०८) फिर पूर्व सिद्धांतोंमें कहेयोंका संक्षिप्त वर्णन किया जायगा, और कई आचारों का भी । कई अकथित विषय भी कहे जायेंगे ।

(८) सनातनधर्मके आचार-विचार— १ ब्राह्ममुहूर्तमें

उठना, २ भूमि चन्दन, ३ भूमिमें पादस्थापननिषेध, ४ मलत्याग और मृत्तिकासे हस्तशुद्धि, ५ कुस्ला करना, ६ दन्तधावन, ७ स्नान, ८ सम्भ्या, ९ देवमन्दिरमें जाना, १० मूर्तिपूजा, ११ चरणामृत-ग्रहण, १२ चन्दन तिलक, १३ भस्म धारण, १४ मार्जन, १५ अभिषेक, १६ प्राणायाम १७ सूर्योपस्थान, १८ जप, १९ मालाकी मणियाँ १०८।२० गंत्र और सिद्धियाँ, २१ जपन १०८ बार, २२ परिक्रमा, २३ शङ्खनाद, २४ तुलसी पूजन, २५ तुलसीके खानेका निषेध, २६ पञ्चगव्यका उपयोग २७ गोमूत्रमें गङ्गानिवास, २८ गोशरमें लक्ष्मीका निवास, २९ सोलह संस्कार, ३० अपने नामको गुप्त रखना, ३१ पर्गमें गर्भ का निषेध, ३२ व्रत और उपवास, ३३ आहार-शुद्धि ३४ भोजनसे पहले प्रासका रखना, अग्निमें डालना, काक-बलि ३५ दूकानोंके अन्न खानेका निषेध, ३६ घृतपक्वकी शुद्धता, ३७ ग्रहणमें भोजनका

के हितके लिए तथा उनके उपदेशार्थ जेलखानेमें अपनी इच्छानुसार जाता है।

ईश्वरके अवतार तो असीम होते हैं, पर उसमें २४ प्रसिद्ध हैं, और १० बहुत प्रसिद्ध हैं। १ मत्स्य, २ कच्छप, ३ वराह, ४ नृसिंह ५ वामन, ६ परशुराम, ७ श्रीरामचन्द्र, ८ श्रीकृष्णचन्द्र, ९ बुद्ध, १० कल्की (यह अवतार आने होगा।) यह दश अवतार बहुत प्रसिद्ध हैं। बुद्धने जो वेदोंका खण्डन किया, उसमें उसकी नीति थी। वेदके अनधिकारी शूद्र आदियोंने भी तब बाह्यणोंके वेपकी धारण कर वेदोंक कर्मकलाप करना शुरू कर दिया था, और वेदके नामसे अनर्गल हिंसा शुरू कर दी थी। उनसे वेदोंके आकर्षणार्थ 'स्वजातिदुरतिक्रमा' जातिका स्वभाव कभी जा नहीं सकता—उनको वेदसे घृणा कराने के लिए नीति अपना ली थी।

इनके साथ अन्य अवतार ११ नारायण, १२ हंस, १३ हयग्रीव, १४ नारद, १५ नर, १६ दत्तात्रेय, १७ यज्ञ, १८ अयम, १९ पृथु, २० कपिल, २१ धन्वन्तरि, २२ मोहनी, २३ वेदव्यास, २४ शङ्कराचार्य यह भी अवतार हैं। अवतार तीन प्रकारके होते हैं। १ पूर्णावतार, २ कलावतार, ३ छायावतार। श्रीकृष्ण और श्रीराम पूर्णावतार हैं। श्रीकृष्ण चन्द्रवंशके होनेसे सोझह कलाके थे—इसलिए पूर्ण थे। सोलह कलाका चन्द्र पूर्ण हुआ करता है। श्रीराम सूर्यवंशके होने से बारह कलाके थे; इसलिए पूर्ण थे। द्वादशगंगा सूर्य पूर्ण हुआ करता है। मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, बुद्ध, कल्की कलावतार हैं। नारायण, हंस, हयग्रीव, नारद, नर, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु धन्वन्तरि, मोहिनी, व्यास, कपिल, यह छायावतार हैं। पूर्णावतार होने पर भगवान्की पूर्ण शक्ति प्रकट होती है; अवशिष्ट अवतारोंमें उसकी थोड़ी शक्ति प्रादुर्भूत होती है, कलावतार छायावतार, अंशवतार भी कहे जाते हैं।

(३) देव, ऋषि, पितर—सनातनधर्ममें देवपूजा, ऋषि पूजा तथा पितृपूजा सब कार्योंमें व्याप्त है। उसमें कारण यह है कि यह तीनों ब्रह्माण्डके कामके सञ्चालनमें परमात्मा द्वारा नियुक्त हुए योनिविशेष हैं। ब्रह्माण्डके सब कार्य तीन भागमें विभक्त हैं; उसमें एक है ज्ञानका विस्तार, दूसरा कर्म में प्रवृत्त करना और कर्म-फल देना, तीसरा ब्रह्माण्डकी स्थूल व्यवस्थामें सामञ्जस्य करना। उसमें ऋषि लोग सृष्टिकी आदमें अवतीर्ण होकर सुप्त वेदराशिका पुनरुद्धार करके, फिर वेदके विशद करने वाले धर्मशास्त्रोंको बना कर जगत्में ज्ञानका विस्तार करते हैं। देव लोग जगत्के सब कामों को प्रचलित करते हैं। देवोंके प्रार्थनी असुर भी होते हैं जो उनके कार्यों में अन्तराय किया करते हैं। निरय पितर वसु, रुद्र, आदित्य ऋतुओंको यथासमय करना, ऋतुके अनुसार जल बरसाना, कृषिके उत्पादनमें सहायता देनी, देशसे दुर्भिक्ष हटाना, इस प्रकार देशके स्वास्थ्य-स्थापन रूप कार्यको किया करते हैं। यह तीनों ही देव-विशेष हैं।

इन में ऋषियोंका तर्पण तथा स्वाध्याय आदिसे, देवोंका यज्ञ आदिसे तथा निरय पितरोंका निरय हवन आदि तर्पण-आदिसे पूजन करने पर यह सब जगत्के सहायक सिद्ध होते हैं। निरय पितरों की सहायतासे ही हमारे ऋतुक पितर भी हमसे प्रति अमावास्याको दिये हुए आन्धकी खाते हैं। निरय पितर भी जो कार्य ब्रह्माण्डका किया करते हैं; नैमित्तिक पितर भी वही हमारे वंशका करते हैं, अतः उनका मासिक एवं वार्षिक आन्धादि भी आवश्यक है।

(४) देवपूजा एवं मूर्तिपूजा—जिस पुरुषके पास जो वस्तु नहीं होती, वह उसे चाहता है। पुरुष चाहता है कि मैं बड़ी आयु प्राप्त करूं, अभिलषित धनको प्राप्त करूं, बड़ी शक्तिको प्राप्त

करूं, अपनी शक्तिके अनुसार उन-उन वस्तुओंको वह पुरुषार्थमें प्राप्त कर भी लेता है, परन्तु उसका उनपर सर्वात्मता से स्वामित्व नहीं हो जाता करता, तब वह अपनी अपेक्षा महत्तर शक्तिका आश्रय लेता है; वह महान्शक्ति परमात्मा है। वह परमात्माकी उपासना करना चाहता है; परन्तु परमात्माके निराकार रूपकी उपासना उसके बशकी बात नहीं होती; और अहम्मी की उपासना, बिना अहम् के हो भी नहीं सकती, अतः उस परमात्माकी पान्च शक्तियोंमें, पांच प्रमुख अहम्में उपासना की जाती है। वे पांच अहम् विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य हैं, उनकी उपासनासे उस तत्त्वी परमात्माकी उपासना हो जाती है।

जैसे जड़ प्रकृतिके प्रवर्तक भगवान् चेतन हैं, जो कि समस्त प्रकृतिमें तीनों गुणोंका भ्रमण करवा कर संसारके उत्पत्ति, स्थिति, लयोंको करते हैं, वैसे ही प्रकृतिके पृथक्-पृथक् विभागोंके प्रवर्तनार्थ भी परमात्माकी ओरसे उसीकी बहुत सी चेतन शक्तियाँ हैं, उन्हींको 'देव' नाम से कहा जाता है। संसारमें देखा जाता है कि कोई भी जड़ वस्तु स्वयं कुछ भी नहीं कर सकती; किसी चेतनके द्वारा ही वह चेष्टा करती है। जड़ मत्त स्वयं चेष्टा नहीं कर सकती, चेतन मनुष्यादिद्वारा हिलानेसे ही हिलती है। इसी प्रकार जड़ पुरतक आदि भी गमनागमन नहीं कर सकते, किन्तु चेतन पुरुषके द्वारा ही, वैसे ही प्रकृतिमें भी जड़ जल, वायु आदि स्वयं प्रगति नहीं कर सकते, वे चित्ति शक्ति द्वारा चलाने पर ही विभिन्न-दिशाओंसे आते हैं, और घूर्णित आदि होती हैं। इनकी प्रवर्तक चेतन शक्तियाँ ही 'देवता' कही जाती हैं। जैसे किसी राज्य को चलाने के लिए राज्य के अधिपति राजाकी ही शक्तिको लेकर राजप्रतिनिधि, वाइसरॉय, गवर्नर, कमिश्नर, जज, सिपाही आदि राज्य का प्रबन्ध करते हैं, वैसे ही इस

ब्रह्माण्ड के चलाने के लिए ब्रह्माण्ड-पति श्रीभगवान् की ही शक्ति स्वरूप सभी देवता लोक में रहते हुए भी इस पृथिवी का भी प्रबन्ध किया करते हैं। सब ३३ कोटि देवता हैं, उनमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र आदि मुख्य देव हैं। इनमें दण्डाधिपति यमराज हैं, जलाधिपति वरुण हैं, कोपाध्यक्ष कुबेर हैं, हवा के अध्यक्ष वायुदेव हैं, जलाने के अध्यक्ष अग्नि हैं, चिकित्सक अश्विनीकुमार हैं। ब्रह्माण्ड के ऊपर के सात लोकों में देवताओं का अधिकार हुआ करता है, नीचे के सात लोकों में असुरों का अधिकार होता है।

देवताओं के यह भी परमात्मा की पूजा के अङ्ग हैं, परन्तु उनमें वैदिक अनुष्ठानों की कठिनाई से साधारण लोगों की स्वर-वर्ण दीप के कारण हानि की आशङ्का रहती है, सब सुगम देवपूजायज्ञ वेदों में मूर्तिपूजारूप में आदिष्ट किया। वेदमन्त्रों से घातु, मट्टी, पत्थर आदि मूर्तियों में भी वेद के इज्जत से देव-देवको प्रतिष्ठापित किया जाता है, अथवा उसकी शक्ति किसी देवको प्रतिष्ठापित किया जाता है। उस पूजा का लक्ष्य भी वही देव या देवदेव हुआ करता है, इस कारण पुत्प की उससे इष्टि सिद्धि भी हो जाती है। मूर्तिको आधार बनाकर पूजन से चित्त स्थिर भी हो जाता है। देव मन्दिरों में प्रतिमों में देव-दर्शन के अतिरिक्त अन्य भी चिरायुष्य बलप्राप्ति आदि लाभ हुआ करते हैं। उसमें परकी अपेक्षा दिव्य शक्तिके सञ्चार की अधिकता से अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। धूप-दीप आदि सुगन्धित द्रव्यों के समन्वय से घबटा आदि के तुमुल शब्द आदि से हमारे शरीर को कोटाणु दूषित नहीं कर सकते, इससे स्वस्थ शरीर की हमारी मानसिक वृत्तियों में भी विशिष्ट प्रभाव पड़ा करता है, चित्त शान्त हो जाता है, और आत्मा की उन्नति हो जाया करती है।

इस प्रकार ईश्वर के अवतारों की भी मूर्ति में पूजा की जाती है। मूर्तिका ईश्वररूप देखना उत्तम है, मूर्ति में ईश्वर का ज्ञान मध्यम कोटि

है और मूर्तिसे ईश्वर का स्मरण साधारण कीटि है। ईश्वरके चेतने होने से और उसके मूर्ति में व्यापक होनेसे मूर्ति जोकि चेतन नहीं मौलम होती उसका कारण स्थूल इन्द्रिय आदि विकारोंमें उभय संयोग न होना ही है।

(५) उपासना ।—ध्यान, पूजा, पाठ, नामजप, भक्ति आदि द्वारा अपने इष्टदेवकी समीपता करनेका नाम उपासना है। मनुष्य ध्यान आदि द्वारा मनसे इष्टदेवको अपने निकट करता है, पूजादि के द्वारा इष्टको अपने शरीरके निकट करता है, स्तोत्रपाठादि द्वारा बाणीके निकट करता है, इससे इष्टदेव उसपर कृपा करता है, उसे शक्ति, भक्ति एवं ज्ञान देता है, उसे पाप से दूर रखता है। अन्तमें अपने आपमें मिला लेता है। उपासना का फल भी यही होता है। अतः पुरुषको अपने अधिकारानुसार स्वनिश्चित उपासना नियमसे करनी चाहिये। भक्ति और अतन्म्यनिष्ठा यह उपासनाका प्राण है।

आजकल चारों ओरसे आध्यात्मिक रोगसे पीड़ित पुरुषोंका आर्तनाद सुनाई पड़ता है, उसमें कारण कई प्रकारके अर्वाचीन सम्प्रदायों की अयैष उपासना ही है। आजके सम्प्रदाय, बिना योग्यताकी परीचाके प्रत्येक को समान उपासना बताते हैं। शूद्र हो या ब्राह्मण, स्त्री हो या पुरुष, सभीको एक ही उपासना-लाठी से होंका जाता है। जो डाक्टर विविध रोगियों के आँख, कान, या पेटके शूलमें दुःख, हैजा, निमोनिया आदि विविध रोगोंमें एक ही 'कुनाइनमिस्तचर' दवाई को पिलाता है, यह बीमारों को कैसे स्वस्थ कर सकता है? यही दुरा है आजके अर्वाचीन सम्प्रदाय वालोंकी। पर मनातनधर्म तो योग्यतानुसार महापूज, यज्ञ, जप, पाठ, मूर्तिपूजन, ध्यान, योग, व्रतोपवास, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों, विविध उपस्याओं तथा स्वस्व-वर्णाश्रमकर्मों द्वारा परमात्माकी पत्नीके लिये प्रेरणा करता है।

उसमें भी देश, काल, पात्र आदिका विचार करता है । गरीब पुरुष कौड़ीके, ब्ययसे भी उसी द्वारको प्राप्त होता है, जिसे लाख स्वयंका ब्यय करके धनी प्राप्त करता है । विशिष्ट पात्रको वेदके पारायण द्वारा यह परमात्माकी उपासना बताता है, दूसरे पात्रको यह नामकीर्तन-मात्रका आदेश देता है । भक्तिके भी यह धर्म श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवन, मूर्ति-अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन यह भी भेद बताता है, जिसकी जिसमें शक्ति हो जिसमें प्रियता हो, वह उसे ही स्वीकार करे । परमात्माके निराकार स्वरूपकी उपासना बहुत कठिन होती है, अतः यह धर्म उसकी विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य इन पांच सगुण रूपोंमें यथाधिकार उपासना बताता है । अथवा राम कृष्ण आदि अवतारोंकी भी उपासना की जा सकती है । पत्थर आदि पीठोंमें तत्तद्देवको प्रतिष्ठापित करके की जाने वाली पूजा मूर्ति-पूजा होती है, षोडशोपचार वा अशक्तिमें पञ्चोपचार पूजन किया जाता है । आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि योगाक्रियाओंसे उस समय चित्तकी स्थिरता तथा सूर्यसे विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है ।

यह उपासना प्रथम कोटिकी होती है । मध्यम उपासना है ऋषि, देवताओं तथा पितरोंकी पूजा । इसमें लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों की, इन्द्रादि देवोंकी पूजा की जा सकती है । यह सकाम पूजा होती है । भूत, प्रेत आदिकी उपासना अधम कोटिकी होती है ।

(६) भूत-प्रेत आदिकी योनियाँ—जैसे देव, असुर, ऋषि तथा पितर योनिविशेष हैं वैसे ही भूत, प्रेत, पिशाच आदि भी योनि-विशेष हैं । यदि मनुष्य मृत्युके समय मोह, धन, लोभ आदि किसी भावमें मुग्ध होकर मूर्छित की तरह, प्राणोंको छोड़ दे, अथवा बन्दूक तोप, तलवार, परमाणुअस्त्र, बिजुली गिरना, घरका गिरना—आदि द्वारा जिसकी अतर्कित मृत्यु होती है, अथवा जिसने आवेशमें आकर

आत्महत्या कर ली है;—उसकी यदि प्रेत-कृत्य आदिसे सद्गति न कराई जाए, तो अन्य जन्ममें उसे प्रेतकी योनि मिलती है। जिस वस्तुमें आसक्त होकर उसने देह छोड़ी, प्रेतत्वमें वह उसीमें आसक्त रहा करता है। प्रेतलोक हमारे लोकके साथ है। प्रेतोंके साथ संवाद भी हो सकता है।

(ख)—योनियाँ अनन्त होती हैं, जीव मनुष्य योनिमें आनेसे पृथ ८४ लाख योनिमें घूमा करता है। वृष आदि भी योनि हैं, इसमें २० लाख बार जन्म होता है। फिर ११ लाख बार स्वेदज कीट पतङ्ग आदियोंकी योनियाँ मिलती हैं। फिर ११ लाख बार अण्डज मछली पक्षी आदि योनियों में घूमना पड़ता है। फिर ३४ लाख बार जीवकी पशु योनि मिलती है। इस प्रकार ८४ लाख योनियोंमें चकर लगाकर जीव उसके बाद मनुष्य योनिमें आता है। इस मनुष्य योनिमें सुकर्म वा कुकर्म करके उनके अनुसार उच्चयोनियों वा निम्न योनियोंमें जाता है। यदि सुकर्मोंको करके यदि मनुष्य योनिसे गिरता है, तो फिर ८४ लाख की पूर्वोक्त योनियोंके चकरको प्राप्त करता है। साधारण सुकर्मोंको करता हुआ अम्यजशूद्रआदिकी योनिको प्राप्त होता है। उत्तरोत्तर सुन्दर आचरण करता हुआ क्रमशः अन्य जन्मोंमें अम्यज से शूद्र, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय और क्षत्रियसे ब्राह्मण जातिको प्राप्त करता है। उसमें भी अच्छे कर्म करता हुआ विद्वान् ब्राह्मण, फिर उससे भी आगे इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवयोनि, गन्धर्व किन्नर, यक्ष आदि देवयोनि विशेषको वा अपि योनि वा पितृयोनि, को प्राप्त करता है। जैसे ही मन्दकर्मोंको करता हुआ असुर, राक्षस, भूत प्रेत पिशाच आदि योनिको प्राप्त होता है। यह सब योनियाँ कर्मानुसार होती हैं। हाँ, पशुयोनिमें हुए सुकर्म-कुकर्म कोई लाभ-हानि नहीं देते। वे भोग्ययोनि होने से स्वयं ही प्रकृतिके नियमसे क्रमशः

अपनेसे उन्नत शुद्ध योनिको प्राप्त होते जाते हैं। इसलिये अन्य शुद्धयोनिमें पशुत्व का अंश भी रह जाने से उसमें अपवित्रता एवं धर्म-न्यूनता होती है। इसी प्रकार देवयोनिमें भी दुष् सुकर्म-कुर्म विशेष लाभ-हानि देने वाले नहीं होते। उसमें भी प्रकृतिके क्रमसे स्वयं ही देव योनियां मिलती रहती हैं। पशुयोनिके चक्कर समाप्त होते ही फिर जीव स्वयं ही मनुष्य योनिमें अन्यजादियको प्राप्त करता है। देवयोनिके क्रम समाप्त होते ही जीव स्वयं ही मनुष्ययोनि में ब्राह्मणादि जातिमें आता है। इसलिये ब्राह्मण जातिमें देवत्व का अंश होनेसे उसे भूदेव कहा जाता है। मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है, देवयोनि और पशुपक्षियोनि तो भोगयोनियां हैं। कर्म का फल तदनुसार उन्नति-अवनति मनुष्ययोनि में ही मिलती है। इस कारण अच्छे जन्मको चाहने वाले पुरुषको सदा शास्त्रोक्त सुकर्म ही करने चाहियें।

(७) तीर्थयात्रा—‘तीर्थैस्तरन्ति’ (ऋग्वे० १८।४।७) ‘सर्वा तीर्थानि पुण्यानि पापघ्नानि सदा भूयाम्।’ (शङ्खस्मृति ८।१३)। भारतदेश धर्मभूमि है, उस धर्मके केन्द्रस्थान ही तीर्थ हैं। ‘तीर्थे ते ऽनेन इति तीर्थम्’ यह इसका विग्रह है। जैसे इधर-उधर बिखरी हुई सूर्यकी किरणें सूर्यकान्तमणिमें इकट्ठी हो कर जला भी सकती हैं, वैसे ही भगवान्की शक्ति विशिष्ट केन्द्रों-प्रतिमा, तीर्थ आदि में इकट्ठी होकर लोगों के पाप भी जला सकती हैं। इससे उनका पुण्य बढ़ता है, शरीर, मन तथा बुद्धिकी उन्नति हो जाती है। गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सरयु, नर्मदा आदि नदियां, काशी, काञ्ची, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, सैतुबन्ध रामेश्वर, जगन्नाथ, बदरीनारायण, कुरुक्षेत्र आदि स्थल तीर्थ हैं। बदरीनारायण उत्तर दिशामें भारतके परले तट पर है, उसमें श्रीनारायणकी मूर्ति विराजमान है। द्वारका पश्चिम दिशामें भारतके परले तट पर है। उसमें श्रीकृष्णजीका मन्दिर

है। सेतुबन्ध रामेश्वर दक्षिण दिशामें भारतके परसे तट पर विराजमान है। श्रीरामने उसमें सेतु बन्धनेके समय शिवलिंगकी पूजा की थी। श्रीवाल्मीकिरामायण में उस तीर्थको 'पवित्रं महापातक नाशमम्' (युद्ध० १२५।२१) कहा है। श्रीजगन्नाथ पूर्ण दिशामें भारतके अन्तिम कोनेमें विराजमान है।

हरद्वारमें गङ्गा आदि जलावतार तीर्थ हैं। धार्मिकों रामायण के बालकाण्ड ३२ वें सर्गमें गङ्गाको 'सर्गलोकनमस्कृता', और 'स्वर्गदायिनी' माना है। श्रीसोताने उससे चर भी मांगा था (अयोध्या० ५२ सर्ग)। 'लौकिक दृष्टिसे भी गङ्गामें अन्य नदियोंसे विशेषता है। गङ्गाजल वर्षों तक रखा हुआ भी विकृत नहीं होता। उसमें हैजा, प्लेग, मलेरिया आदिके कीटाणु कभी भी उत्पन्न नहीं होते। बल्कि उक्त कीटाणु गङ्गाजलमें डाले हुए नष्ट हो जाते हैं। इसलिये गङ्गा स्नान तथा गङ्गाजलपान बहुत फल देने वाला होता है। उससे कठिन रोग भी शान्त हो जाते हैं। गङ्गाकी वायु संयन करनेमें तो शरीर स्वस्थ रहता है। गङ्गाकी मही मलनेसे शरीरमें कोई भी धर्म-रोग नहीं होता। इन्हीं शक्तियोंसे गङ्गा देवी है।

प्रयागराज और पुष्करराज आदि तीर्थराज हैं। प्रयागराज प्रयाग (इलाहाबाद) में है; उसमें गङ्गा, यमुना, सरस्वतीका मङ्गल होनेमें त्रिवेणी-स्नान होता है। पुष्करराज अजमेरके पास है, उसमें श्रीब्रह्मा जीमें यज्ञ किया था। काशी भी महान् तीर्थ है, उसमें श्रीविष्णुनाथ का दर्शन है। तीर्थयात्रा करनेसे; तीर्थेजलके स्पर्शसे पाप नष्ट होते हैं, तीर्थ स्थित तपस्वी तथा विद्वानोंका दर्शन कल्याण कारक होता है। 'पुराणे' को श्रीमद्भगवद्गीता में 'धर्म-क्षेत्र' (१, १) कहा गया है।

(२) पञ्च महायज्ञ—१ यज्ञ (श्रृष्टि) यज्ञ, २ देवयज्ञ ३ पितृयज्ञ, ४ भूतयज्ञ, ५ अतिथि (नृ) यज्ञ—यह ५ महायज्ञ हैं। घर

में १ चूल्हा (रसोई), २ चक्की, ३ काढ़, ४ ऊखल-भूसल, ५ जल का घड़ा—यह पांच अग्निचार्य हिंसास्थान होते हैं। इनसे उपन्न होने वाले पापोंकी निवृत्त्यर्थ उक्त पांच यज्ञ किये जाते हैं। १ वेद, शास्त्र, पुराण आदियों का यथाधिकार पढ़ना-पढ़ाना, यथवा स्वाधिकृत सन्ध्या में जप करना, या स्वाधिकृत ग्रन्थका पाठ करना—यह ब्रह्मयज्ञ वा ऋषियज्ञ है। २ पके हुए हविष्यान्नकी अग्निमें आहुति देनी देवयज्ञ है। ३ यज्ञोपवीतको धागुं करके दक्षिणाभिमुख पितृतीर्थसे मृत पितरोंके नामसे जल देना या ग्रास रखना पितृयज्ञ है। ४ पूर्ण आदि दिशाओंमें पशु-पक्षी आदि प्राणियोंके नामसे बलि रखना भूतयज्ञ है। ५ अपने भोजनसे पहले ब्राह्मण आदि अतिथियोंको भोजन प्रदान करना अतिथियज्ञ होता है। ऋषियोंने हमें वेद पुराण आदि शास्त्रों का ज्ञान दिया है—जिससे हम पाप-पुण्य और कर्तव्य-अकर्तव्य जानते हैं, देवता हमारी रक्षा करते हैं, हमें शक्ति, धन, सुख-सम्पत्ति देते हैं, असुरों से हमारी रक्षा करके हमें सुमति देते हैं, हमें भगवान् की ओर प्रवृत्त करते हैं। पितृगण हमें स्वास्थ्य, बल, वीर्य, सुमति देते हैं, जिससे हमारा सांसारिक जीवन सुखमय होता है। सब कीटादि प्राणी अपने प्राणोंको देकर हमें पालते हैं, कई साँप, ततैया आदि विषाक्त वायुको पीछर वायु-शुद्ध करते हैं, विविध शुद्धता किया करते हैं। वृक्ष, फल आदि तथा अन्न आदि देकर, धर्मोपदेश देकर हमारा उपकार करते हैं, इन पांच शक्तियोंके ऋणसे विमुक्तिके लिए पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान हमारा कर्तव्य है। इससे ये शक्तियाँ प्रसन्न हो जाती हैं इससे पूर्वोक्त सूना (हिंसास्थान) दोष हट जाया करते हैं। यदि अनवकाशविश हम अन्य कुछ न कर सकें, तो पांच ग्रास भोजनसे पूर्ण रख देने चाहियें।

(६) त्रिकालसन्ध्या आदि नित्यकर्म—सन्ध्या तीन प्रकार की होती है, १ प्रातः सन्ध्या, २ मध्याह्न सन्ध्या, ३ सायं-

सन्ध्या । मुख्य सन्ध्याएं दो हैं पूर्वा और पश्चिमा । इन्हीं दोमें प्रकाश और तमकी सन्धि होती है । मध्याह्न में भी तम और प्रकाशरूप शीत-उष्णकालकी सन्धि हो जाती है । सन्ध्यामें मार्जन, संकल्प, आसन-शुद्धि, शिखाबन्धन, आचमन, प्राणायाम, सूर्योपस्थान, जप, परिष्कृता यह अधिकारियोंके लिए समन्विक क्रियाएं होती हैं । सन्ध्या—मन्त्रों का विनियोग-ज्ञान भी आवश्यक है । सन्ध्यामें मार्जनसे बाह्य शुद्धि, आचमनसे अन्त-शुद्धि प्राणायामसे शरीर-शुद्धि और आपुष्टि, मन्त्रपाठसे मनकी तथा वाणीकी शुद्धि, जपसे शरीरकी शुद्धि और अन्तःकरणकी शुद्धि-इसी प्रकार यह आत्मशुद्धि हो जाया करती है । प्रिकालसन्ध्या करनेसे पूर्वकालके किये हुए पापकर्म नष्ट हो जाया करते हैं, और पुण्यका लाभ हो जाया करता है, और चित्तवृत्ति भगवान्‌के अभिमुख प्रवृत्त होती है । प्रातः बाह्य मुहूर्तमें, चार घंटे) उठ कर ईश्वरके नामको स्मरण करके शय्याको छोड़कर, माता-पिता एवं गुरुओंको नमस्कार करके, 'सम्भव हो तो शहरसे बाहर जाकर शीचादि करके, गुदादि प्रक्षालन करके, विधि-अनुसार जल-मट्टी से हाथोंकी शुद्धि करके, पायोंको धोकर, वस्त्रधावन करके स्नान करना चाहिये, फिर सन्ध्योपासन करे । द्विज पृथग् उपनीत यथाविधि मन्ध्या करे; अनुपनीत एवं शुद्ध हरिनाम-कीर्तनात्मक सन्ध्या करे । फिर तर्पणादि करे । इसके बाद पूर्वोक्त पञ्चवयस करे ।

(१०) गोपूजन—गाय के रोम-रोममें धनेक देवता रहते हैं, इस कारण गोपूजासे देवताओं सहित भगवान् प्रसन्न होते हैं । गाय का दूध भी बहुत सात्विक होता है, उसको पीनेसे शरीर और मन पवित्र हो जाते हैं । गोमूत्र और गोमयमें भी बड़ी शक्ति है, उससे रोग-कोटालु नष्ट हो जाते हैं । बड़े-बड़े वैद्य ऋषयोंने सिद्ध कर दिया है कि जितने रोग या कोटालुओंके नाशक त । वायुसंशोध्यक पदार्थ हैं, उनसे गोघरका बीका लगाना अधिक उपयोगी होता है । जिसके

मूत्र वा गोबरमें भी इतनी शक्ति है, उसके अन्य अङ्गोंका क्या कहना ? इस कारण दूध न होने पर भी गाय का पालन भाररूप नहीं होता ? गायके पालन-पूजनसे घरमें रोग हट जाते हैं ।

(११) मृतकपितृश्राद्ध—श्रद्धाके साथ मन्त्रका उच्चारण करके इस लोकसे मृतक हुए निर्य पितृ, नैमित्तिक पितृ, प्रेत आदि की योनि प्राप्त पिता, पितामह आदि कुटुम्बीकी तृप्त्यर्थ शास्त्रनिधि के अनुसार जो क्रियाकी जाती है, उसका नाम मृतक पितृश्राद्ध है । हिन्दुजाति इस लोकके साथ ही साथ परलोकपर भी दृष्टि रखती है, इसलिए ही इसमें पिता, पितामह, और प्रपितामहकी सद्गत्यर्थ तथा तृप्त्यर्थ श्राद्धक्रिया नियत की हुई है । जीवित पितरोंकी तो 'सेवा' ही हुआ करती है, उनमें हमारी श्रद्धा भी होती है, पर 'श्राद्ध' शब्द तो पारिभाषिक होता है । इसमें श्रद्धाका मधुरभाव निहित होता है अपने जिन पिता आदिसे हमें देह प्राप्त हुआ, हमारा सालन-पालन हुआ, यदि उनके नामसे हम एक विशेष पात्रका संस्कार न करें, तो यह हमारी कृतघ्नता होगी । उनके नामसे दान करने पर परलोकगत उनका आत्मा तृप्त हो जाता है, शान्तिको प्राप्ति करता है, और उन्नत पाता है । श्राद्धा-नुष्ठानके यथावत् होने पर प्रेतयोनि-प्राप्तका भी प्रेतत्व हट जाया करता है, उसे पिण्डदानसे मुक्ति हो जाया करती है । जैसे हज़ारों कोसका शब्द रेडियो द्वारा तत्क्षण सर्वत्र प्राप्त हो जाता है, उस यन्त्र-द्वारा उसे दुहा जा सकता है, वैसे ही मनःसंकल्पद्वारा विधिले एवं श्रद्धा-से की हुई श्राद्ध आदि क्रियाएँ भी चन्द्रलोकस्थित पितरोंको प्रसन्न कर दिया करती हैं, ऐसा वेदका आदेश है । चन्द्र मनका अधिष्ठाता है, यह हमारी मनके सङ्कल्पसे की हुई क्रियाको वसु, रुद्र, आदित्य इन निर्य पितरोंके द्वारा सूक्ष्मतासे अपने लोकमें खींचकर हमारे पितरोंकी तृप्त कर दिया करता है । मनद्वारा दिये हुए अन्न वा मलको वह सूक्ष्म रूपसे आकृष्ट करता है । श्राद्ध पिता, पितामह, प्रपितामह इन तीन

पुरुषोंका होता है। हमारा अनुभूत पुरुष पितृ - कोटिसे अग्रिम कोटिके प्राप्त हो जाता है, तदर्थ आदिकी सहायता आवश्यक नहीं होती। आदिम तीन पितृ-श्रेणियोंमें ही मृतक हमारी सहायता चाहता है। आदिके सदाचारी, 'तपस्वी, विद्वान्, स्वाध्यायशील' सद्ब्राह्मणको ही भोजन कराना मनुस्मृति आदिमें प्रसिद्ध है, क्योंकि—उस ब्राह्मणकी प्रसन्नतासे प्रेतयोनिप्राप्त जीवकी सद्गति होती है।

(१२) सोलह संस्कार—संस्कार १६ हैं, १ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूड़ाकर्म, ९ कर्णवेध, १० उपनयन, एवं वेदारम्भ, ११ केरान्त, १२ समावर्तन, १३ विवाह एवं विवाहाग्निपरिमृद (गृहाश्रम)। १४ वानप्रस्थाश्रम, १५ परिमज्या (संन्यासाश्रम)। १६ अन्य कर्म (पितृमेध)।

संस्कारोंसे शरीर तथा अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे 'आत्माकी शुद्धि होती है। १ गर्भाधान—विवाह संस्कारसे तीन दिनके बाद चतुर्थीकर्म करके स्त्रीके अतुल्यकालके समय गर्भकी योग्यतामें करना चाहिये, इसमें कामभाव न रहे, धर्मभाव रहे, जिससे सन्तान शुद्ध विचारों वाली हो—एतदर्थ इसे विधिसे करना चाहिये। २ पुंसवन—गर्भाधानके दूसरे वा तीसरे मासमें पुत्रोत्पत्तिके लिए किया जाता है। ३ सीमन्तोन्नयनम्—गर्भसे छठे वा आठवें मासमें करना पड़ता है। ४ जातकर्म—जन्मसमय नालच्छेदनसे पूर्व करना चाहिये, इसमें सुवर्ण-शलाकासे बच्चे की मधु-घृत घटाया जाता है। ५ नामकरण—पहला जन्मनाम जातकर्मके समय तारकालिक नक्षत्रके पादानुसार, दूसरा ध्यावहारिक नाम ब्राह्मणका ११ वें दिन, क्षत्रियका १३ वें दिन, वैश्यका १६ वें दिन करना चाहिये। ६ निष्क्रमण—जन्मसे चौथे महीने शिशुको सूर्यदर्शन कराना पड़ता है। ७ अन्नप्राशन—छठे मासमें बालकके भोजन-स्वातन्त्र्यार्थ इसे करना पड़ता है। ८ चूड़ाकरण—पहले वा तीसरे वर्ष

में शिशुका मुण्डन हों। ६ कर्णवेध—जन्मसे पांच वर्षके बाद कानमें छिद्र करके उनमें सुवर्ण-कुण्डल पहरावे। १० उपनयन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को ११।१२ वर्षों में ब्रह्मसूत्र पहरना पड़ता है, तभी आचार्यकुलमें गायत्री मन्त्रके प्रदान द्वारा वेदारम्भ होता है। उससे बुद्धिकी वृद्धिसे वेदाङ्गोंको पहले पढ़कर फिर वेद पढ़ना पड़ता है। यही ब्रह्मचर्याश्रम संस्कार होता है। इसमें आचार्यकी सेवा तथा उनकी अग्नि में समिदाधान करना पड़ता है। ११ केशान्त—ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका १६-२२-२४ वर्ष में द्वितीय मुण्डन होता है। इसे गोदान भी कहा जाता है। १२ समावर्तन—इसे वेदविद्याकी समाप्तिमें प्रायः २४ वर्षकी आयु में करना पड़ता है—इसमें ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त हो जाता है। १३ विवाह—शिक्षाकी समाप्तिके बाद प्रायः २५ वर्षकी आयुमें कमसे कम १८ वर्षकी आयुमें, और कन्याका श्रुतकालकी निकटतामें करना पड़ता है। इसीमें विवाहाग्निपरिग्रह और श्रौताग्याधान करना पड़ता है। यही गृहाश्रम है, इसकी अवधि ५० वर्ष तक है। इसमें माता-पिता की सेवा, श्रुतकालमें स्त्रीगमन, सन्तान उत्पन्न करना और उसे पालना पड़ता है। १४ यानप्रस्थाश्रम—इसे ५१ वें वर्ष में ७५ वर्ष तक करना पड़ता है। इसमें शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंको सहकर मुनिवृत्ति एवं तपस्या करना पड़ती है। इसमें भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करना पड़ता है। इसमें अपनी भावनाके अनुसार ग्रन्थ-निर्माण भी करना चाहिये। १५ संन्यासाश्रम—इसमें सर्व कर्मोंका या कर्मफलका त्याग करके ईश्वरमें श्रद्धैतभाव, प्राणियोंको सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिए उपदेश करना पड़ता है। समदृष्टि रखनी पड़ती है। ७६ वर्षसे १०० वर्ष मृत्यु तक इसका सेवन करना पड़ता है। आजकल मरनेके समय जो भूशय्या करानी पड़ती है—यह संन्यासाश्रमका ही अभिनय है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, यानप्रस्थ, संन्यास—यह चार आश्रम हुआ करते हैं। चार वर्ष और चार आश्रमोंके धर्मका ही नाम वर्णाश्रमधर्म होता है। वर्णा-

धर्मधर्म ही सनातनधर्म है । १६. अन्त्यकर्म—देहान्त हो जाने पर यह संस्कार होता है । संस्कृत विवाहाग्नि से मृतकका दाह करना पड़ता है । फिर उसकी दशगात्र आदि क्रियाएं तथा सपिण्डन, णकोद्विष्ट आदि आदि करना पड़ता है ।

सारे संस्कार द्विजके होते हैं, स्त्रियोंका विवाह ही उपनयन है, इस कारण उपनयन सम्बन्धी केशान्त, समावर्तन, संन्यास आदि उनके नहीं होते । गर्माधान, पुंसन, सोमन्त, विवाह आदि स्त्रियोंके संस्कार हैं, वैश्य ही उनका संन्यास है । शूद्रोंका थिना मन्त्रके विवाह तथा अग्नय यही दो संस्कार हैं । वैश्य संस्कार उनका कोई भी नहीं । संस्कार-से द्विजोंकी उदता, हीनांग पूर्ति, और अतिशयाधान होता है ।

(१३) जन्मसे वर्णव्यवस्था—जैसे हमें अपनी रक्षा के लिए घरका निर्माण या अपना सेवक, अपने पोषणार्थ धनोपार्जन, तथा उसकी रक्षार्थ पहरेदार या घल, चित्तकी कुत्सित कर्ममें प्रवृत्ति न हो, भगवान्में ही सक्ति हो, एतदर्थ कलाकौशल, सेवा, धन, बल और ज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही समाजकी रक्षाके लिए भी शिष्य-सेवा, धन, बल तथा ज्ञानविभागके अन्वेष निपाद सहित चार वर्णोंकी अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है । उनमें चार वर्ण होते हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पांचवाँ अवर्ण होता है । इनमें भी आदिम तीन वर्ण द्विज, उपनयन तथा वेदके अधिकारी होते हैं । शूद्र एकज होता है । इसमें माक्षिका वेदाभ्ययन, दान, यजन यह तीन कर्म होते हैं, अद्यापन, याजन, प्रतिग्रह तीन जीविकाकर्म होते हैं, शान्ति, इन्द्रियमनोनिग्रह, कष्टसहन, बाल-याम्यन्तरिक शुद्धि, सहनशक्ति, मन्वाणी-शरीरकी सखता, वेदादिका ज्ञान, परलोकदि विशिष्ट विद्याका प्राविष्कार तथा देव, पितरोंका आह्वानरूप विज्ञान, आस्तित्व आदि नौ गुण अवलम्बनीय होते हैं । ब्रह्मको कुत्सितकर्मसे बचाना उन्हें ज्ञान देना, सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होनेके लिए उपदेश देना, सुख-शान्ति

की ओर प्रवृत्त करना, एवं तिथि आदिका यत्न करना यह उनका कर्तव्य है। क्षत्रियका यजन, अध्ययन और दान—यह तीन कर्म हैं। राज्य, एवं प्रजाका भोक्तृ तथा बाहरी शत्रुओंसे रक्षण, यह वृत्तिकर्म है। विपयों में अप्रसक्ति, शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धमें भागना नहीं, स्वामित्व—यह मात गुण अनुसर्तव्य होते हैं। शत्रुओंके आक्रमणसे देश तथा धर्मकी रक्षा करना उनका कर्तव्य हो जाता है। वैश्यका दान, अध्ययन, यज्ञ करना—यह तीन कर्तव्य हैं। गौ आदि पशुओंका संरक्षण करना, वाणिज्य, कुम्भीद, खेती—इन चार जीविकाके कर्मोंसे समाजको धनी बनाना उनका कर्तव्यमें आता है। साथ व्यवहार आदि उनके गुण होते हैं। शूद्रका चार वर्ण वालोंकी सेवा करना—यह एकही कर्म है। इन वर्णों की सङ्ग्रहणमें अथर्व-अन्वय-निपाद आदि जातियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके बहुतसे भेद तथा भिन्न-भिन्न कर्म कला-कौशल, कपड, बुनना, गृहनिर्माण, मलशोधन आदि निबन्ध हैं।

यथा-व्यवस्था जन्मसे होती है और कर्ममें मन्मान होता है, अपने गुण-कर्मके अवलम्बनसे उत्तमता, और अपने गुणकर्मोंको अंशतः अवलम्बन करनेसे मध्यमता, दूसरेके गुण-कर्म अवलम्बनसे अधमता, अपने कर्मोंके त्यागमें पतितता होती है, वर्ण-परिवर्तन नहीं। जैसे मानव-शरीरकी मुख्यवस्थाके लिए जन्मसे ही उत्पन्न (न कि कृत्रिम) मुख, हाथ, कमर और पैरोंकी आवश्यकता होती है। कृत्रिम यंत्रोंसे उतनी स्वाभाविकतासे उतना काम नहीं होता, वैसे चार वर्ण भी जन्मसे ही सम्राज-शरीरके मुख-आहु-ऊरु-चरणस्थानीय हैं। उन-उनके कर्मोंका उत्तरदायित्व भी जन्मजात ही वर्णोंमें हो सकता है, जब-तब जहाँ-तहाँमें आये हुएोंमें नहीं। मुखका कार्य, हाथ, कमर, पैर, हाथका काम मुख, कमर, पैर, कमरका काम, मुख, हाथ, पैर, और पैरका कार्य मुख, हाथ, कमर नहीं कर सकते। इस प्रकार कराने पर अव्यवस्था होती है। अपने-

अपने वर्णधर्मके म करने और परधर्मका अवलम्बन करने पर अन्यवस्था वा उच्छृङ्खलता पांव रख देती है, इससे युद्ध वा परस्पर-विनाश जारी हो जाते हैं। इस कारण पञ्चवर्णोंका खान-पान और विवाह आदि अपनी-अपनी जातिमें ही रहे, इनमें जाति-सङ्करता तथा आश्रम-संकरता न हो सके, तदर्थ अपना कर्म अवश्य-कर्तव्य है, नहीं तो वर्णसङ्करता हो जाने पर उसका नाश ही हो जाता है। जैसे घोड़ा और गधोंके मङ्करसे उत्पन्न गधघर स्वजातिका नाश हो कर देता है, वैसे ही वर्ण-सङ्करता होने पर जातिका विनाश और कर्मकी सङ्करता होने पर फिर ध्वकर्ममें प्रवृत्ति ही नहीं होती।

जन्मसिद्ध वर्णान्यवस्थारूप दुर्गमे और अपने वर्ण-धर्मका अवलम्बन करनेसे आज तक हिन्दुजाति जीवित रही, अब उसमें उच्छृङ्खलताके आरम्भसे उसमें भी अन्यवस्था हो रही है। पूर्ण जन्मके कर्मसे इस जन्ममें उस-उस वर्ण वाले पिताके घरमें जन्म होता है, इस कारण उस वर्णके कर्मसे उसमें शीघ्र ही उन्नति तथा साफल्य-लाभ पूर्ण मन्तोष-लाभ हो जाता है। इसी उद्देश्यसे विवाह भी सवर्ण स्त्रीके साथ किया जाता है कि:-सन्तान भी सवर्ण हो, क्योंकि 'सवर्णोभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि मजातयः' (याज्ञवल्क्य १।४।६०) ऐसा नियम है। वर्णसङ्करता में तो 'दूतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' इस प्रकार दोनों वर्णोंके धर्म-सङ्करता वाली सन्तान लक्ष्मभ्रष्ट हुई-हुई 'इच्छति शतो सहस्रं', सहस्री लक्ष्मीहते' इस प्रकार उत्कर्षकी प्राप्तिकी दौड़में लगी हुई, अमन्तोष को धारण करती हुई विवाद और कलहोंको अपना लेती है। इस सङ्करतासे समाजको दशा विष-मिश्र होकर संसारमें विप्लव हो जाता है। सदा अशान्ति ही रहती है। इस प्रकारके देगमें दूसरोंका अधिकार भी जाया करता है।

(१४) वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म—वर्णधर्म पहले बतलाये जा चुके हैं आश्रमोंके चमोटा निरूपण संस्थाओंमें रुद्ध था चुका है।

वर्णधर्मकी तरह आश्रमधर्म भी आवश्यक है। ब्रह्मचर्यआश्रममें महा-चर्य रूप तपस्या करके शरीर और मनको उन्नत किया जाता है। आचार्य-सेवासे विद्या पढ़कर आत्माको उन्नत किया जाता है। गृहस्थाश्रममें धार्मिक कर्मोंसे संसार-व्यवहार करके अवैध विषय-वासनाको दूरकर के मनको भगवान्‌के प्रति लगाया जाता है। वानप्रस्थाश्रममें वन, वा वन के प्रतिनिधिभूत तीर्थ, वा ऐकान्तिक शुद्ध स्थान में रहकर प्रत एषं तपस्याद्वारा शरीर, वाणी एवं बुद्धिको निर्मल किया जाता है। इनकी निर्मलतामें ही मन विशुद्ध हो जाता है। तब भगवान्‌की पूजामें मन तृप्त लगता है। अन्तिम संन्यास आश्रममें जिसमें ब्राह्मणका ही अधिकार है—सब कुछ छोड़कर, परमात्मामें मनको खीन करके, सारे संसार को परमात्मारूप मानकर, उसकी सेवामें चित्तको जोड़ा जाता है। परि-ग्रज्या (परिभ्रमण) करके संसारको पापसे दूर हटवाकर उसकी धार्मिक प्रवृत्ति बढाई जाती है। इसमें जीवका संसारी बन्धन टूट जाता है।

(१५) शिष्टाचार—अपनेसे उत्तमों वा बड़ोंको प्रणाम, समानोंसे कुशल-समाचार-प्रश्न, अपनेसे छोटों वा छोटी श्रेणी वालोंको आशीः, यह शिष्टाचार कहा जाता है। परमात्मा वा उसके अवतार रामकृष्ण आदिको, देवताओंको भी प्रणाम आवश्यक है। लोकव्यवहारमें माता, पिता तथा गुरु भी प्रणामयोग्य हैं। बूढ़ोंको अभिवादन करने वालोंको आयु, विद्या, यश तथा बलकी प्राप्ति मानी गई है। भगवान्‌ की विभूतिरूप गङ्गा, यमुना आदि नदियों, समुद्र, विशेष पर्वत, तथा अग्नि, सूर्य, चन्द्रादि देवता भी प्रणामयोग्य हैं। अपनेसे छोटेको आशीर्वाद ही देना चाहिये। इस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करना ही शिष्टाचार है। छोटे-बड़े सबको 'नमस्ते' कहना ठीक नहीं—इसे भिन्न नियन्धने बताया जायगा। सबके साथ समान व्यवहार शिष्टाचार नहीं हुआ करना। छोटेको प्रणाम वा उसका चरण-स्पर्श नहीं किया जाता।

(१६) पातिव्रत्य—पतिसेवा ही पातिव्रत्य है। पतिसे भिन्न पुरुषमें कूटस्थ न डाले। पतिकी मृत्युमें जो स्त्री ब्रह्मचर्य करती हुई, श्रृंगार, हासविज्ञासादिको छोड़ती हुई, व्रत उपस्था आदिसे अपने शरीरको वीण कर दे, वही पतिव्रता है। पतिव्रता स्त्री पतिके जीत ली या विधवा होनेपर पुनर्विवाह नहीं चाहती। कन्यादात होनेपर वह जिसे दी गई है, उसीको रहती है; दूसरेकी नहीं होना चाहती। पिता आदि द्वारा कन्या का पुरुषको दान करना ही विवाह होता है। उसका दान करके फिर दाताका भी उसमें पुनर्दान करनेका अधिकार नहीं रह जाता। तब उसका पुनर्विवाह भी कैसे हो? यद्यपि पतिका उसपर अधिकार होता है, परन्तु उसका भी उसे दूसरेको देनेका अधिकार कहीं भी नहीं कहा गया। पिता द्वारा कन्याका दान ही कन्याविवाह होता है, पति द्वारा पत्नी को देना कहीं भी 'विवाह' शब्दसे नहीं कहा गया। वह स्वयं भी स्वतन्त्र नहीं होती, अतः वह भी स्वयं अपनेको पुनः किसीकी नहीं दे सकती। पतिकी मृत्युमें भी पत्नी परतन्त्र ही रहती है। पति अपनी सन्तानार्थ उसके घरमें आकर उससे विवाह करता है, उसे वहाँसे ले जाता है। जो अपनी सन्तानकेलिए पुरुषके घर नहीं जाती, या उसे उसके घरसे अपने घर नहीं लाती। तब सन्तान न होनेपर पुरुष दूसरी कन्यासे विवाह कर सकता है। स्त्री अपनी सन्तानार्थ अन्य पुरुषसे विवाह नहीं करती। क्योंकि—स्वतन्त्रता और परतन्त्रताका आपसमें विरोध है। पुरुष स्वतन्त्र है, स्त्री परतन्त्र। पति-तन्त्रता ही पातिव्रत्य होता है, पुरुषको स्त्रीव्रत नहीं होता। पतिव्रता स्त्री पतिकी मृत्युमें उसका अनुसरण करती है, पुरुष स्त्रीकी मृत्युमें अनुसरण नहीं करता। प्रकृति भी इस विषयमें पुरुषका पक्षपात करती है। एक पुरुष एक वर्षमें अनेक स्त्रियोंसे संयोग करके अनेक सन्तानें उत्पन्न कर सकता है, पर एक स्त्री एक वर्षमें अनेक पुरुषोंसे संयोग करके एकही भ्रूणको पैदा कर सकती है। इस कारण स्त्रीका एक ही

विवाह, और पुरुषके सन्तानके प्रयोजनकेलिए अनेक विवाह भी हो सकते हैं। हाँ, कामभोगार्थ पुरुषका भी पुनर्विवाह निन्दित ही है।

(१७) विधवाधर्म—द्विज विधवाओंका पुनर्विवाह वैध नहीं है। 'मृते भर्तरे ब्रह्मवर्षे तदन्वारोहणं वा' (बृहद्विष्णुस्मृति २५।१४) यहाँ पर विधवाओंका ब्रह्मवर्ष प्रथम श्रेणीका सतीधर्म मना गया है। मृतपतिके साथ अनुमरण द्वितीय श्रेणीका सतीधर्म कहा गया है। वैधव्य स्त्रियोंका एक प्रकारका संन्यास है, तब वह सर्व-पूजनीय हो जाती है। सर्वपूजनीया भला फिर किसकी अकूशायिनी बने? जो किसी अन्यकी अकूशायिनी बनती है, वह सर्वपूजनीय भी नहीं होती। स्त्रियोंका वैधव्य एक बड़ी तपस्या है, तपस्या यह संन्यासीका धर्म है। पूर्ण समयमें किसी भी विधवाने पुनर्विवाह नहीं किया। सावित्रीने तो पतिवरण-समय (सगाई) में पति की अल्पायु सुनकर भी अन्य पतिका विचार नहीं किया। सुलोचनाका भी मेघनादके पीछे मरना प्रसिद्ध है। अभिमन्युकी १३-१४ वर्षकी भी विधवा उत्तराने वैधव्य का सहन ही किया। इस प्रकार महाभारतयुद्धमें हुई विधवाओंका भी विवाह कहीं भी नहीं सुना गया। वैधव्य वा सधवात्वमें पर-पुरुष का नाम भी ब्राह्म नहीं होता। वैधव्यमें धर्मपालनसे इस लोकमें देश का सुख उज्ज्वल और अपना भारी यश, तथा परलोकमें सद्गति होती है।

(१८) लोक-लोकान्तर—जहाँ हम अब हैं, वह इहलोक है, उससे भिन्न परलोक होता है। परलोकमें सुलोक, पाताललोक आदि लोक आजाते हैं। सुलोकमें स्वर्गलोक, यमलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और रुद्रलोक आदि प्रसिद्ध हैं। इससे भिन्न लोक नरक आदि प्रसिद्ध हैं। पुण्यारमा, सात्त्विक जन स्वर्गलोकमें जाते हैं। स्वर्गलोकमें अमृत-भक्षक देवताओं तथा उनके अधिपति इन्द्रका निवास है। ३३ कोटि देवता इन्द्रके अनुचर हैं, ४६ महर्षय उसके सहायक होते हैं। पापी,

विरासघाती और व्यभिचारी यमलोकमें जाते हैं, उसमें धर्मराज यम पापिपुरुष और धर्मात्माओंका न्याय करते हैं। धर्मात्माको स्वर्गमें भेजते हैं, पापियोंको नरकमें। दोनों प्रकारके पुरुषोंको कुछ समय तक परलोकमें रखकर सूक्ष्म पाप-पुण्योंका फल देकर अवशिष्टसे उसे मनुष्यलोकमें भेजते हैं; वह तब तक वहां रहता है, जब तक कि उसके प्रारब्धकर्म बचे हुए हैं। उनके समाप्त हो जाने पर पुरुष एक कला भी नहीं जीता।

विष्णु आदिके लोकमें उस-उस देवकी प्रधानता रहा करती है। वैकुण्ठ लोकमें पाप-पुण्यरहित पुरुषोंका गमन होता है। ब्रह्माण्डमें मुकपतया १४ लोक हैं, भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तप, सत्य, यह सान लोक ऊर्ध्वलोक है, तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, पाताल—यह सान अधोलोक है। भूलोकमें रजोगुण अधिक है, उसमें ऊर्ध्वलोकमें उत्तरोत्तर सत्वगुण अधिक है। निम्नलोकोंमें तमोगुण अधिक है। ऊर्ध्वलोकोंमें देवता रहते हैं। ब्रह्म, देवता, असुर, गन्धर्व, प्रेत, पितर भूलोकसे ऊर्ध्वलोकोंमें रहते हैं, भूलोकमें मनुष्य और पशुपक्षी कीट आदि रहते हैं। निम्नलोकोंमें दैत्य रहते हैं। भूलोकके संहचारी प्रेत-लोकमें प्रेतयोनि वाले निवास करते हैं, नरकलोकमें दण्डनीय पापी रहते हैं। पितृलोकमें हमारे मृत पितर रहते हैं। इस प्रकार अनन्त योनियोंके जीव इस सारे ब्रह्माण्डमें रहते हैं। आकाश लोकमें ऊपर ब्रह्म सारे आदि जो दीख रहे हैं, वह भाग ध्रुवलोक (स्वर्ग) है, मनुष्य लोक स्वर्ग-नरक नहीं हो सकता। 'हमारी जन्मभूमि कश्मीर है', कह देने में कश्मीर हमारी जन्मभूमिसे अलग हो जाता है, 'यह पृथिवीलोक ही स्वर्ग-नरक है'—इस वाक्यसे भी स्वर्ग-नरकलोककी भिन्नता हो जाती है।

(१६) कर्मोंके भेद—१ सञ्चित, २ प्रारब्ध, ३ क्रियमाण भेदमे कर्म तीन प्रकारके होते हैं। अनन्त जन्मोंसे लेकर आज तक

इकट्ठे हुप-हुप कर्म सञ्चित कहाते हैं। मनुष्य मन, वाणो एवं शरीर से जो कुछ भी करता है; जब तक वह क्रियारूपमें है, तब तक क्रियमाण होना है। क्रिया समाप्त हो जाने पर वह स्थायिकोपमें सञ्चित हो जाता है। मनुष्यके इस अनन्त स्थायिकोपरूप सृष्टितकोपसे पुण्य और पापकी महान् राशिसे कुछ-कुछ अंश लेकर उससे जो शरीर बनाया जाता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। जब तक सञ्चित कर्म अवशिष्ट हैं, तब तक प्रारब्धकर्म बनता ही रहता है। जब तक इस अनेक-जन्माजित कर्मसञ्चयका मर्बधा नाश न हो जाय; तब तक जीव कौ मुक्ति नहीं होनी।

सञ्चित कर्मों से वर्तमानमें स्फुरणा, और स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे फिर सञ्चित और सञ्चितके अंशसे प्रारब्धकर्म बनता है। इस प्रकार जीव कर्म-प्रवाहमें निरन्तर बहता ही रहता है। प्रारब्धकर्मके अनुसार ही पुद्भि होती है, प्रारब्धकर्मोंका ही तदनुकूलकर्मवेलिए हृदयमें प्रेरणा होती है। साधिक, राजमिक, नाममिक समस्त स्फुरणाओं वा कर्मप्रेरणाओंका कारण यही होना है। वह केवल स्फुरणा करता है, कर्म करनेमें प्रधान कारण पुरुषार्थ कहा जाने वाला क्रियमाण कर्मही है। ज्ञान उत्पन्न होने पर और भगवद्-दर्शन होने पर सञ्चित कर्म तथा क्रियमाण कर्म सभी नष्ट हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म, बिना भोगके नहीं जाता। उसके भोग हो जाने तथा मयीन कर्मोंकी उत्पत्ति न होने पर मुक्ति हो जाती है।

कर्म में यदि वामना-एव है, तो वह कर्म भी अकर्म हो जाता है तब कर्मकी बन्धकता नष्ट हो जाती है। शास्त्रानुमारी कर्म सुकर्म होता है। उससे विरुद्ध कर्म कुकर्म हो जाता है।

(२०) धर्मों के भेद।—धर्म तीन प्रकार के होते हैं—

१ साधारण धर्म, २ विशिष्ट धर्म और ३ आपद्धर्म। इनमें साधारण धर्म, मनुष्यमात्रका हितकारक होता है। इसकी महायत्नासे समारमात्र

के व्यक्ति अपनी उन्नति कर सकते हैं। 'अहिंसा, सत्यमस्तेयं, शौच-
मिन्द्रियनिग्रहः। [आन्तर्कर्मातिथेयञ्च दानमस्तेयमार्जवम्। प्रजन स्वेपु-
दोषेषु तथा चैवानुसूयता] एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽवधीन्मनुः,
(१०।६३)। अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। दानं दया दमः
शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्, (याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२२) सत्य भाषण,
सत्य व्यवहार, किसी भी प्राणीको बलेश न देना, अपने धर्मका आच-
रण करना, अपने धर्मग्रन्थ पढ़ना, न्याय-व्यवहार, बड़ोंमें श्रद्धा,
समानोंमें प्रेम, छोटोंमें स्नेह, माता-पिता तथा गुरुकी सेवा, अतिथि
सेवा, निर्दल व्यवहार, दम्भ न करना, पति-पत्नी में एक दूसरेसे अनु-
राग, व्यभिचार न करना, चोरी वा चोरबाजारी न करना, भाइयोंका
आपस में प्रेम, बहनोंका आपसमें प्रेम, भाई-बहनोंका परस्पर
स्नेह, सरलता, जुआ न खेलना, दूसरोंकी स्त्रियोंमें कुदृष्टि न करना,
मांस न खाना, मद्य न पीना, दूसरेके धनमें गर्वा न करना, कृतज्ञता,
इन्द्रियोंका संयम, मनका दमन, क्रोध न करना, सुपात्रका दान देना,
दया, शान्ति, क्षमा, धैर्य, पवित्रता रखना, यह साधारण धर्म हैं।

विशिष्ट धर्मः—विशेष अधिकारियोंके उपयोगी, पृथक्-पृथक्
देश, काल, पात्रोंकी उन्नति करने वाले नियम विशिष्टधर्म कहलाते हैं
जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदियोंके वर्ण-धर्म, अन्त्यज आदियों
के जाति-धर्म, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी इनके आश्रम-
धर्म, स्त्री-धर्म, पुरुष-धर्म इनके पृथक्-पृथक् धर्म विशिष्टधर्म कहाते हैं।
इनमें एकके धर्म को दूसरा कर ले, तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा वा
भाहम है। कर्म-संकरता भी अच्छा काम नहीं। इनमें व्यक्तिविशेषों
के धर्म व्यक्ति-धर्म कहलाते हैं।

आपद्धर्मः—‘यन्मायुना राजपथे हि पिच्छिले क्वचिद् भुधै-
रप्यपथेन गम्यते’ (नैषध चरित ६।३६) इस प्रकार कहा हुआ, आपत्तिमें
अपवादरूप से गम्यनुज्ञात धर्म आपद्धर्म होता है। उसे आपत्तिमें

ही करना चाहिए, जब-तब नहीं । श्री मनुजीने कहा है—‘आपत्कल्पे-
न यो धर्मः कुरुतेऽनापदि द्विजः । स नाप्नोति फलं तस्य परश्वेति विचा-
रितम् (११।२८) विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद् भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः । (११।२९) प्रभुः प्रथम-
कल्पस्य योनुकल्पेन वर्तते । न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विशते फलम् ।
(११।३०) ।

उक्त आपद्-धर्मका मनुजीने इस प्रकार वर्णन किया है—
‘अजीयंस्तु यथोक्तेन आत्मणः स्येन कर्मणा । जीदेत् क्षत्रिय-धर्मेण स
हस्य प्रम्यनन्तरः ॥ (१०।८१) उभाभ्यामप्यजीवेस्तु कथं स्यादिति चेद्
भवेत् । कृपिगोरक्षमारथाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम्’ (१०।८२)
इत्यादि । यहां पर ब्राह्मणको आपत्कालमें क्षत्रिय वैश्यकी जीविका
करनेके लिए अभ्यनुज्ञा दी गई है । इस प्रकार श्रीमद्भागवत में—
‘सीदन् विप्रो वशिष्ठोऽप्यपश्येत्परां तरेत् । गङ्गेन वाऽऽपदफ्रान्तो न
श्वशुर्या कदाचन । वैश्यवृत्त्या तु राजन्या जीवेन्मृगययाऽऽपदि । शूरेद्
वा विप्ररूपेण न श्वशुर्या कथञ्चन । शूद्रवृत्तं भजेद् वैश्यः शूद्रः
कारुकट क्रियाम् । कृष्णान्मुक्तो न गह्वरेण वृत्तिं लिप्सेत् कर्मणा’
(११।१०।४७-४९) इत्यादि ।

पहले कहे हुए सत्य आदि धर्म भी कभी हानि-जनक हो जाते
हैं । द्विजको आगे भागी जा रही गायका वृत्त कहना अधर्म है, वहां
असत्य भी सत्य हो जाता है—इत्यादि भी यहां जान लेना चाहिए,
इस विषय में ‘गोकुले कन्दशालायां तैलचक्रेषु यन्त्रयोः । अमीमांस्या-
नि शीतानि स्त्रीणां च व्याधितस्य च । (१८९) गोदोहने घर्मपुटे च
तोयं यन्त्राकरे कारुकशिल्पिहस्ते । स्त्रीबालवृद्धाचरितानि यान्यप्रत्यक्ष-
दृष्टानि शुचीनि तानि, (२२८) प्राकाररोधे भवनस्य दाहे, सेनानिवेशे
विषमप्रदेशे । आवास्ययज्ञेषु महोत्सवेषु तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः’
(२३०) चर्मभाण्डैस्तु दाराभिस्तथा यन्त्रोद्धृतं जलम् । आकरोद्गत-

यस्तूनि नाशुचीनि कदाचन, (२३६) इत्यादि अग्निस्मृतिके तथा 'दिव-
यात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च । उत्सवेषु च मर्चेषु स्पृष्टास्पृष्टं न
विद्यते' (बृहत्पराशर० ६।२२७) इत्यादि वचनोंका मारवाड़ आदि
विशेष देशों, तथा कुर्छ आदिकी सुविधाके अभाव-स्थलोंमें यथा-
योग्य उपयोग किया जा सकता है ।

(२१) व्रत-उपवासः—शरीर, इन्द्रिय तथा मन के वर्गाकर-
णार्थ पृथं शोधनार्थ व्रत-उपवास रामदास्य औपधि है । वेदादि शास्त्रोंमें
व्रत की आज्ञा है, 'अथ वधमादिभ्य ! व्रते तव' (श्रु० सं० १।२४।१२)
यहां सूर्य या धरुणका व्रत कहा गया है । 'विषया विनिवर्गन्ते निराहार-
स्य देहिनाः । (गीता २।४६) यहां पर निराहार होने में विषयनिवृत्ति
सूचित की गई है । यथाविधि व्रतके अनुष्ठानमें लौकिक पृथं शास्त्रीय
लाभ हुआ करता है । व्रत आत्मशुद्धिका सर्वधेनु उपाय है । बाल-
वृद्ध, बीमार, मगर्भा स्त्रीके लिए व्रत आदिकी शक्ति न होने पर
आप्यता नहीं है ।

(२२) सृष्टि, स्थिति, प्रलयका विषयः—सृष्टिकी रचना

रजोगुणधर्मगुणी ब्रह्मा करते हैं, मत्स्य, रज, तम इन गुणोंकी साम्याव-
स्थान्प प्रकृति से, पृथिवी अप्, तेज, वायु, आकाश इन पांच भूतोंमें
पूर्वकर्मानुकूल सृष्टिका मर्जन होना है । मत्स्यगुणधारी विष्णु सृष्टिकी
स्थिति (पालन) करते हैं । तमोगुणधारी रुद्र प्रलय करके सृष्टिका संहार
करते हैं । ४, ३२, ००, ००, ००० वर्षोंके लिए ब्रह्मा, विष्णु, सृष्टिकी
रचना और स्थिति करते हैं । इतना समय ब्रह्माका एक दिन ॥ । ब्रह्मा
की रात्रि में रुद्र सृष्टि का संहार करते हैं । ब्रह्माकी रात्रि भी ४, ३२, ००,
००, ००, ००० वर्षोंकी होती है । यह प्रलयका समय है । ब्रह्माके
दिन में चार युग एक सहस्र बार आवृत्ति करते हैं । ब्रह्माकी रात्रिमें
सृष्टि अपने कर्मोंके अनुसार ब्रह्माके मुख, बाहु ऊरु और पैरोंमें तीन

हो जाती है। फिर ब्रह्माका दिन शुरू होनेपर ब्रह्मा-मुखसे माहर्ण वर्षको, बाहुमे सत्रिय वर्षको, कमर वा ऊरुमे वैश्य वर्ष को, और पांव से शूद्र वर्ष को, अपान आदि संकर अंगसे अवर्ण अन्यज जाति को, दाहिने अंग से पुरुष को तथा बाएं अंगसे स्त्रीको, दाहिने और बाएं के संकरसे नपुंसकको उत्पन्न करते हैं। और उनके कर्मोंको जन्मसे ही नियमित करते हैं।

(२३) सृष्टि, स्थिति, प्रलय, युग कालकी व्यवस्था।

ब्रह्माजीकी आयु अपने परिमाणमे एक सौ सास्रकी होती है, उनके एक दिनकल्प में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। ब्रह्माके एक दिन में चार युगोंकी एक हजार बार आवृत्ति होती है। इनमें १४ मन्वन्तर हुआ करते हैं। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि नामके चार युग होते हैं। इनमें कलियुग के दिव्य वर्ष १२०४ तथा मनुष्य वर्ष ४,३२,००० हैं। द्वापरके कलिसे हुगने दिव्य वर्ष २४०० तथा मनुष्य वर्ष ८,६४,००० हैं। त्रेताके कलिमे तिगुने दिव्य वर्ष ३६०० तथा मनुष्य वर्ष १२,९६,००० हैं। सत्ययुगके कलियुगसे चौगुने दिव्य वर्ष ४८०० तथा मनुष्य वर्ष १७,२८,००० हैं। एक चतुर्युग के मय मिल कर १२,००० दिव्य वर्ष तथा ४३,२०,००० मानुष वर्ष हैं। इनमें ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरके वर्ष ३०,६७,२०,००० होते हैं। ब्रह्माके एक दिनकल्पमे १४ मन्वन्तर होते हैं उनके वर्ष ४,२६,४०, ८०,००० होते हैं। १४ मन्वन्तरों में ६६४ चतुर्युग होते हैं। इनमें १७,२८,००० वर्षकी प्रत्येक सन्धिके अनुसार १५ सन्धियां होती हैं। १५ सन्धियोंके २,४६,२०,००० वर्ष होते हैं। यह संख्या छः चतुर्युगों की है। तब १४ मन्वन्तरोंके ६६४ चतुर्युगोंके ४,२६,४०,८०,००० वर्षोंमें १५ सन्धियों अर्थात् छः चतुर्युगोंके २,४६,२०,००० वर्ष मिलानेसे एक हजार चतुर्युगके वर्ष ४,३२,००,००,००० पूर्ण हो जाते हैं।

वस्तूनि नाशुचीनि कदाचन, (२३६) इत्यादि अग्निस्मृतिके तथा 'देव-
यात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च । उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न
विद्यते' (बृहत्संपराशर० ६।२६०) इत्यादि वचनोंका भारवाह आदि
विशेष देशों, तथा कुण्ड आदिकी सुविधाके अभाव-स्थलोंमें यथा-
योग्य उपयोग किया जा सकता है ।

(२१) व्रत-उपवासः—शरीर, इन्द्रिय तथा मन के वशीकर-
णार्थ एवं शोधनार्थ व्रत-उपवास रामदास ओपधि है । वेदादि शास्त्रोंमें
व्रतकी आज्ञा है, 'अग वयमादिष्य ! वने तव' (ऋ०सं० १।२४।१५)
यहां सूर्य या बरुणका व्रत कहा गया है । 'त्रिपथा विनिवर्तन्ते निराहार-
स्य देहिनः । (गीता २।५६) यहां पर निराहार होने से त्रिपथनिवृत्ति
सूचित की गई है । यथाविधि व्रतके अनुष्ठानसे लौकिक एवं शास्त्रीय
लाभ हुआ करता है । व्रत आत्मशुद्धिका सर्वधेनु उपाय है । बाल-
शुद्ध, बीमार, सगर्भा स्त्रियोंके लिए वन आदिकी शक्ति न होने पर
वाप्यता नहीं है ।

(२२) सृष्टि, स्थिति, प्रलयका विषयः—सृष्टिकी रचना
रजोगुणाबलम्बी ब्रह्मा करने हैं, मत्स्य, रज, तम इन गुणोंकी साम्याव-
स्थान्तर प्रकृति से, पृथिवी अप, तेज, वायु, आकाश इन पांच भूतोंसे
पूर्वकर्मानुवृत्त सृष्टिका मज्जन होता है । मत्स्यगुणधारी विष्णु सृष्टिकी
स्थिति (पालन) करते हैं । तमोगुणधारी रुद्र प्रलय करके सृष्टिका संहार
करते हैं । ४, ३२,००,००,००० वर्षोंके लिए ब्रह्मा, विष्णु, सृष्टिकी
रचना और स्थिति करते हैं । इतना समय ब्रह्माका एक दिन है । ब्रह्मा
की रात्रि में रुद्र सृष्टि का संहार करते हैं । ब्रह्माकी रात्रि भी ४, ३२,०-
०,००,००० वर्षकी होती है । यह प्रलयका समय है । ब्रह्माके
दिन में चार युग एक सहस्र बार आवृत्ति करते हैं । ब्रह्माकी रात्रिमें
सृष्टि अपने कर्मोंके अनुसार ब्रह्माके मुख, बाहु ऊरु और पैरोंमें तीन

हो जाती है। फिर ब्रह्माका दिन शुरू होनेपर ब्रह्मा मुखसे घ्राहण वर्षाको, दाहसे सत्रिय वर्षाको, कमर वा ऊरुसे वैश्य वर्षा को, और पांव से शूद्र वर्षा को, घषान आदि संकर अंगसे अथर्व अन्त्यज जानि को, दाहिने अंग से पुरुष को तथा बाएं अंगसे स्त्रीको, दाहिने और बाएं के संकरसे नपुंसकको उत्पन्न करते हैं। और उनके कर्मोंको जन्मसे ही नियमित करते हैं।

(२३) सृष्टि, स्थिति, प्रलय, युग कालकी व्यवस्था।

ब्रह्माजीकी आयु अपने परिमाणसे एक सौ सालकी होती है, उनके एक दिनकल्प में ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। ब्रह्माके एक दिन में चार युगोंकी एक हजार बार आवृत्ति होती है। इसमें १४ मन्वन्तर हुआ करते हैं। मय, त्रेता, द्वापर, कलि नामके चार युग होते हैं। इनमें कलियुग के दिव्य वर्ष १२०४ तथा मनुष्य वर्ष ४,३२,००० हैं। द्वापरके कलिसे हुगने दिव्य वर्ष २४०० तथा मनुष्य वर्ष ८,६४,००० हैं। त्रेताके कलिसे तिगुने दिव्य वर्ष ३६०० तथा मनुष्य वर्ष १२,९६,००० हैं। सत्ययुगके कलियुगसे चौगुने दिव्य वर्ष ४८०० तथा मनुष्य वर्ष १७,२८,००० हैं। एक चतुर्युग के सब मिल कर १२,००० दिव्य वर्ष तथा ४३,२०,००० मानुष वर्ष हैं। इनमें ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरके वर्ष ३०,६७,२०,००० होते हैं। ब्रह्माके एक दिनकल्पमें १४ मन्वन्तर होते हैं उनके वर्ष ४,२९, ४०, ८०,००० होते हैं। १४ मन्वन्तरों में ६६४ चतुर्युग होते हैं। इनमें १७,२८,००० वर्षकी प्रत्येक सन्धिके अनुसार १५ सन्धियां होती हैं। १६ सन्धियोंके २,४६,२०,००० वर्ष होते हैं। यह संख्या छः चतुर्युगों की है। तब १४ मन्वन्तरोंके ६६४ चतुर्युगोंके ४,२९,४०,८०,००० वर्षोंमें ६६ सन्धियां अर्थात् छः चतुर्युगोंके २,४६,२०,००० वर्ष मिलानेसे एक हजार चतुर्युगके वर्ष ४,३२,००,००,००० पूर्ण हो जाते हैं।

में सहायता करता है, वह हिन्दुस्थानका शत्रु है, हिन्दुस्थानके नाशार्थ उसका यत्न है। यहाँ-वो इस प्रकारको भारतधर्मकी दृढ़ता करनी चाहिये, जिससे शत्रुदेश उससे दूरे, और इस देश के हिन्दुओंमें भेद या अनैक्य न करा सकें।

हम विदेशोंसे नहीं आये कि-विदेशियोंके आचार वा धर्मोंको स्वीकार करें। हमारा यही आदि-देश है। इसीके सनातनमे आये हुए धर्मका अनुष्ठान हमारा कर्तव्य हो जाता है। इस देशका धर्म इस देशके पूर्व-वर्षित साहित्यके अक्षर-अक्षरमें व्याप्त है। इसे हमने इस नियन्धमें सत्प्रेमसे दिव्यता ही दिया है। इसका महाभाष्य 'श्री-सनातनधर्मालोक' के अन्य नियन्धोंमें लिखा जायगा। उसके धर्ममें दृढ़ता ही देशी, विदेशियोंकी दृष्टिमें इसकी दृढ़ता दिखलाना है और इसका गौरव बढ़ाना है। सिधिल धर्म वाले दूसरोंकी दृष्टिमें निरुद्ध माने जाते हैं। उनका प्रभाव भी दूसरों पर नहीं पड़ता; और उनका कथन भी कोई दूसरा नहीं मानता।

इसी भारत देशमें आदि-सृष्टि हुई। हमारे अवतार भी यही हुए हैं। हमारे तीर्थ भी यहीं हैं। भारतकी भाग्यी संस्कृतभाषा ही है। इस कारण उसका पढ़ना-पढ़ाना भी हमारे लिए आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। इसी भाषासे हमारे हिन्दुत्वकी तथा हमारे देशकी रक्षा होगी। स्वदेशकी भाषाकी सुलाने तथा विदेशकी भाषा स्वीकार करनेसे विदेशियोंकी भी स्वदेशमें आधिपत्य हो जाता है। वेप भी स्वदेशी ही पहरेना चाहिये। स्वदेशी वस्त्र तथा स्वदेशी वस्तुओंमें ही प्रेम रखना चाहिये, तभी देशका धन देशमें रहता है, और देशभक्ति भी बढ़ती है। इसी देशकी रक्षाके लिए प्राणोंकी भी बाजी लगा देनी चाहिये।

(२५) राजभक्ति—राजभक्ति भी हमारा कर्तव्य है। 'नराणां च नराधिपम्' (गीता १०।२७) यहाँ श्रीकृष्णभगवान् ने राजाको अपनी विभूति माना है, परन्तु भारतराजका भी कर्तव्य है कि—वह

भारतधर्मकी रक्षा करे, भारतीय साहित्य तथा भारतीय भाषा को उन्नत करे । जो भारतका राजा भी भारतसे गुप्त विद्वेष करता है, उसके धर्मको हटवाना चाहता है, विदेशोंके ही धर्मको प्रचलित करता है, अपने धार्मिक नियमों को कानून बनाकर हटवाता है; अपने देशवालोंकी तथा धर्मके परिदृष्टियोंकी नहीं सुनता, उसका भयङ्कर विरोध करना चाहिये । उसमें राजा बेनकी भांति दानववृत्ति रहती है—यह जानकर उसे राज्यसे अन्तार देना चाहिये । भारतीयताके भक्त राजाका ही अभिप्रेक्ष्य करना चाहिये ।

(२६) विविध वाद—वेदान्तदर्शन पुराणसम्पादक श्रीवेदव्यास जीसे बनाया गया है पुराणोंमें वेदमें जो दर्शनशास्त्र आया है, पुराण-प्रवक्ताने उसेही ब्रह्मसूत्रोंके सूत्रोंमें व्यवस्थापित किया है । उसी ब्रह्मसूत्र का नाम उत्तरमीमांसा कहा जाता है । यही अन्तिम दर्शन है । इसीमें भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपने दृष्टिकोणसे भाष्य किया है । तत्त्व सम्प्रदायों वा वादोंकी प्रतिष्ठा उन्हीं भाष्योंके आधारपर है । ब्रह्मसूत्र (न्यायप्रस्थान), प्रसिद्ध उपनिषद् (श्रुतिप्रस्थान), भगवद्गीता (स्मृतिप्रस्थान) यह तीन ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी नामसे प्रसिद्ध हैं । इन्हींके भाष्योंसे ही अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद; शुद्धाद्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद—यह सम्प्रदाय अथवा वाद जारी हुए हैं । अद्वैतवादसे अतिरिक्त शेष वाद वैष्णव सम्प्रदाय उपासना-सिद्धयर्थ हैं । इस कारण उनमें जगत्की सत्यता तथा ब्रह्मके सविशेषरूपका प्रतिपादन है । इस कारण वे सम्प्रदाय उपासनाकारण्डकी मिदिके लिए हैं, अद्वैतवाद अन्तिम सम्प्रदाय ज्ञानकारण्ड की पुष्टि के लिए है ।

अब इन वादोंका 'कल्याण' की रीतिमें 'निरूपण करके 'संक्षिप्त सनातनधर्म' विषयका उपसंहार किया जाता है । शेष विषय 'श्रीसनातनधर्मांश' ग्रन्थमालामें यथामय निकलने रहेंगे । इस प्रकाशनमें हिन्दु-जनताका सहयोग अपेक्षित है ।

१ अद्वैतवाद—यह दीया रहा हुआ जगत् केवल प्रतीतिमात्र है, यह प्रतीति भी अज्ञानसे है। एकही निर्गुण, निराकार, निर्विकार, चेतनसत्ता वास्तविक है, यह दृश्य जगत् उससे भिन्न नहीं है। समस्त दृश्य परिणामी और अनित्य है। नाम और रूप मनकी वृत्तियाँ हैं। जगत् नाम एवं रूपसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं। उस नाम और रूपकी प्रतीति भी मायासे है। माया अनिर्वचनीय और अनादि है। तथापि ज्ञान द्वारा उसका भी अन्त होनेसे उसकी भी सत्ता नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। अज्ञान विज्ञातीय, सजानीय एवं स्वयं कोई भी भेद नहीं है।

यह वाद भगवान् श्रीशङ्कराचार्यस्वामीने उपजात है। उन्होंने व्यापहारिकता और पारमार्थिकतामें भेद माना है। आचार्यवरणोंने व्यवहारमें उपासना, भक्ति तथा आचारको महत्त्व दिया है। इनसे चित्तकी शुद्धि तथा ज्ञानप्राप्ति प्रतिपादित की है। श्रीशङ्कराचार्य प्रवृत्त बौद्ध थे—यह साहित्यिक उक्ति ही है। इस मतमें धृति, शास्त्र, तथा आस्तिकताकी प्रतिष्ठाके साथ ज्ञानको भी महत्त्व दिया गया है, बौद्ध सम्प्रदायमें ऐसा नहीं है।

२ विशिष्टाद्वैतवाद—यह वाद महाप्रभु श्रीरामानुजाचार्यस्वामीसे प्रवर्तित किया गया है। इसमें चिदचिद्विशिष्ट समग्र तत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्मके चेतन अंशसे चित् जीव है, और अचित् अंशसे जड़ प्रकृति हुई है। ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। जीव ब्रह्मकाही अंश है। भगवान् नारायण ही इस समस्त जड़-चेतनके स्वामी हैं। वे समस्त गुणगणोंके एक धाम हैं, और नित्य वैकुण्ठविहारी हैं। उनकी प्रपत्ति (शरणागति) ही जीवकी मुक्तिका माधन है। जीव ज्ञाता है, ज्ञान जीवका धर्म है। जीव और ईश्वर नित्य भिन्न हैं।

ब्रह्म समुण्य तथा सविशेष है। जगत् ब्रह्म का परिणाम है। उपासनासे अज्ञानकी निवृत्तिही जीवका प्रयोजन है। ब्रह्म श्रीनारायण

अपनी योगमाया शक्तिसे युक्त होकर कर्मफलदाता ईश्वर रूपसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहारका कारण है। अन्तर्यामी अर्चा आदि विग्रहोंमें जीवको उसकी प्राप्ति होती है। जीव चेतन तथा अणुरूप एवं ब्रह्मका शरीर है। जीव और ब्रह्ममें स्वगत भेद है। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन तथा स्वप्रकाश हैं, ज्ञानके आश्रय हैं, नित्य हैं, और देहादिसे भिन्न हैं। जीव कर्ता, भोक्ता तथा ब्रह्मका दास है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न कभी भी नहीं होना। अवाकृत चिन्मय शरीरसे वैकुण्ठ धाममें निवासकी प्राप्ति ही जीवकी मुक्ति होती है, वह ब्रह्मकी शरणागति द्वारा प्राप्त होती है। शास्त्रमें विपरीत मय कर्म त्याग्य हैं।

३ द्वैतवाद—इसे श्रीमद्वाचायस्यामीने प्रवृत्त किया है। इस सम्प्रदायमें जीव और ब्रह्म दोनों नित्य एवं पृथक् सत्ताएं हैं। जीव अणु है दास है, और ब्रह्म सगुण, सविशेष एवं स्वतन्त्र है। जीवका सालोक्य आदियोंमें एक मुक्तिकी पालेना ही परमपुरुषार्थ है। जीव और ब्रह्मका साम्यबोध भ्रम एवं अपराध है। इत्य जगत् सत्य है, विकारी और परिचर्तनशील भी वह मिथ्या नहीं है। ब्रह्म केवल शास्त्रमें ही गम्भ है, और वाणीका अगोचर है। परमस्वरूप ब्रह्म भगवान् विष्णु हैं। भक्ति, त्याग और ध्यान जीवकी मुक्तिके लिए साधन हैं। आर्यसमाजका द्वैतवाद इस द्वैतवादसे स्वतन्त्र है और स्वेच्छाकलित है।

४ द्वैताद्वैतवाद— यह वाद द्वैत एवम् अद्वैतका सामञ्जस्यकर्ता है, श्रीनिष्कार्काचार्यसे प्रारब्ध किया गया है। इसमें जगत् ब्रह्मका परिणाम है। ब्रह्म में परिणाम होने पर भी विकार नहीं होता, जीव और जगत् ब्रह्मके ही परिणाम हैं। दोनों, ब्रह्मसे पृथक् भी हैं, मिलित भी हैं। ब्रह्मका सगुणभाव मुख्य है, जगदतीतरूपमें ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। जीव ब्रह्मका अंश है, उससे भिन्न भी है, अभिन्न भी। जीव अणु है। मुक्त जीव आत्मा तथा

जगत्में भिन्नता और ब्रह्मसे अभिन्नताका अनुभव करता है। मुक्तिका साधन उपासना है।

५ शुद्धाद्वैतवाद—इसे श्रीमान् बल्लभाचार्य गोस्वामीने प्रसारित किया है। जगत्के मिथ्यात्वकी हटाकर इसमें उपासनाको प्रतिष्ठापित किया गया है। श्रीकृष्ण ही इसमें ब्रह्म हैं। वे निर्गुण निर्विशेष, कर्ता, भोक्ता निर्विकार, गुणातीत, विरुद्धभर्माश्रय, सत्ताधर्मसे रहित, तथा जगत्का उपादान हैं। जगत् सत्य है और कार्य है। उसका परिणाम ब्रह्मसे अभिन्न है। जगत्में पदार्थोंके आविर्भाव-तिरोभाव होते रहते हैं। जीव शुद्ध है और अणुरूप है। जीवके लिए ब्रह्म की प्रीति ही सुमार्ग है। इसका परिणाम श्रीकृष्णमें प्रतिभावकी प्राप्ति है। वह पुष्टिमात्र (भगवद्गुण) से प्राप्त होती है।

६ अचिन्त्यभेदाभेदवाद—यह चैतन्यदेव प्रभुसे प्रसारित किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण सत्य हैं—यही ज्ञान जीवके लिए पर्याप्त है। इसमें श्रीमद्भागवतकी ही भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदोंका भाष्य स्वीकृत किया जाता है। इसमें ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म यह पांच सत्य हैं। शास्त्र वाचक है और ईश्वर वाच्य है। ब्रह्मका सत्य संगुण, सविशेष श्रीकृष्ण ही है। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञतादि गुणोंसे युक्त, जीवोंकी मुक्ति और मुक्ति देने वाले हैं। प्राकृतगुणोंके अभावमें वे निर्गुण हैं। उनकी संवित्, सन्धिनी, इत्यादीनी यह तीन शक्तियाँ हैं। जगत् ब्रह्मका परिणाम है वह सत्य है, और अनित्य है। ईश्वर, जीव, काल, प्रकृति यह चार नित्य सत्य हैं। प्रकृति ब्रह्मकी शक्ति है, त्रिगुणात्मक है, नित्य है। कर्म जड़ है। जीव अणु है, वह ब्रह्मसे भोग्य है। प्रेमद्वारा श्रीकृष्णकी समीपता प्राप्त होना ही जीवकी मुक्ति है।

निष्कर्ष—अद्वैतवाद ज्ञानयोगकी और शेष वाद उपासनाकी दुष्टार्थ है। यह सभी वाद उक्त प्रस्थानत्रयी के भाष्यरूप हैं। माया-

शक्ति अचिन्त्यरूप है, परमतत्त्व वाङ्मनसगोचर नहीं—यह सर्वसम्मत है। इसकी उपलब्धि और अनुभूतिमार्ग यथाधिकार होते हैं। जैसे अधिकारभेदसे यने हुए पुराणोंमें परतत्त्व कहीं विष्णुरूपमें, कहीं शिवरूपमें, कहीं शक्ति आदि रूपमें प्रतिपादित है, वैसे ही उक्त आचार्यों का सिद्धान्तभेद भी विभिन्न अधिकारियोंकेलिए है। अद्वैतवाद परमार्थवाद है और अन्तिम कोटिका है, उसका व्यवहारमें आना कठिन है, शेष वाद व्यावहारिक हैं। भक्तिके प्रसारार्थ हैं।

(२६) उपसंहार—इस वर्णित प्रकारसे सनातनधर्म सर्वोपकारक दहरता है। यही वेदका सगत् सुनाता है, भगवद्गीतारूप भाषने खिलाता है, शरणागतोंको अभयदान देता है। धनी इससे लाख रूप्यों को खर्च करके जो फल प्राप्त करते हैं, दरिद्र उसीको कौड़ी से प्राप्त कर सकता है। यह धर्म अग्निको जलवा कर जल बरसाता है, मरने से अमरत्व दिलाता है, पत्थरसे प्रभुको प्रकट करता है—इसके विलक्षण प्रकार हैं। यह त्याग बढ़वाता है, लोभको नहीं। यह कलहका नहीं, किन्तु प्रेमका पांठ पढ़ाता है। यह क्रान्तिको नहीं, किन्तु शान्तिको बढ़ाता है। अमत्को नहीं, किन्तु सत्को पुष्ट करता है। किसी धर्ममें परमात्माका दूत यहाँ आता है, किसीमें परमात्माका पुत्र; पर इस धर्मकी रक्षाके लिए तो भगवान् स्वयं ही अवतीर्ण (प्रकट) होते हैं। कोई-कोई धर्म तो अभी तकभी परीक्षार्थ कसौटीपर कसा जा रहा है, कोई केवल मुखमें है, पर यह सनातनधर्म तो शिखामणि है। इसे गुरोंने अपना सिर देकर अपनाया है, सतियोंने जलकर इसे अपनी छातीसे युक्त किया है, धीरोंने घैर्यसे इसका धारण किया है। खण्डनके व्यसनी इसके खण्डनमें मफल नहीं हो सके यती इस धर्मको संयमसे प्राप्त करते हैं, पुत्र पिताकी सेवासे, पत्नी पतिव्रतसे इसे अनायास पा लेते हैं। इस प्रकार के सनातनधर्मसे घृणा करनेवाला अपने आत्मासे घृणा करता है—यह निश्चय है।

हमें जानना चाहिये तथा प्रातिज्ञा करनी चाहिये कि—'हम अपने इसी सनातनधर्मकी सेवा करेंगे। इसकी रक्षा, मृत्युको भी स्वीकार कर अपने यशको फैलावेंगे। मरनेके समय तन, धन, जन यहीं रह जाते हैं, हमारे साथ नहीं जाते, केवल यही धर्म ही हमारे साथ जाएगा। हम अपने देशके इसी धर्मके लिए जीवेंगे, इसीके हितार्थ मरेंगे। यदि हमारी मृत्युसे देशका यह धर्म बचता है, तो हम सामने मरकर तर जायेंगे। जहाँ भी हम रहेंगे, वहीं अपने इस धर्मका तथा इसके प्राचीन पुराण अर्वाचीन साहित्यका प्रचार करेंगे। ज्ञान, भक्ति, सत्कर्म, नीति तथा सत्यके मार्गसे कदापि नहीं फिसलेंगे। भारत ही हिन्दुस्थान है, हम हिन्दुओंका अविदेश है यह जानकर भारतीय साहित्यसे प्रोक्त इस धर्मको पालेंगे। धातुस्य सोदकर, उद्यम अपनाकर हम धर्मोद्धारक तथा देशोद्धारक एवं जगद्गुद्धारक होंगे। दीनोंके नाश कर सनातनधर्मका आलोक फैला देंगे।

यह है 'संक्षिप्त सनातनधर्म' जिसे हमने सनातनधर्म सम्बन्धी प्राचीन अर्वाचीन पुस्तकोंसे जुड़ा है। उसके भिन्न भिन्न पुष्पोंसे रससूच्य करनेमें हम भ्रमर बने हैं। इसीका महाभाष्य हमारा 'श्रीसनातनधर्माश्लोक' महाग्रन्थ है जिसकी यह ग्रन्थमाला आप खोंगोके आश्रयसे निकल रही है। यह ग्रन्थ समा राज्याक्रान्त जन की राज्याओंके आतङ्कको दूर करेगा, और अपने स्वरूपको भी स्पष्ट करेगा। भारतधर्मके उपासकोंका इसका प्रचार और प्रसार करना तथा इसके प्रकाशनमें पूर्ण सहायता करना कर्तव्यमें आ यचना है। 'हिन्दुधर्मके मूल सूत्र बतला दिए गये। अब 'हिन्दु ग्रन्थ' की प्राचीनता के विषयमें आगे कहा जाता है।

हिन्दु शब्द की वैदिकता

अथवा

हिन्दु शब्द का महाभाष्य

‘हिन्दुधर्म’ का निरूपण हो चुका है, अथ हिन्दु शब्दकी वैदिकता या प्राचीनता पर प्रकाश डाला जाता है।

भारतका नाम वेदमें ‘सप्तसिन्धु’या सप्तसिन्धु’ आया है, आर्यावर्त या भारतवर्ष नहीं। इसी ‘सिन्धु’ का दूसरा रूप ‘हिन्दु’ है। यहाँ पर ‘स’ को ‘ह’ वैदेशिक या असंस्कृत न समझना चाहिए। ‘स’ को ‘ह’ पढ़ना अस्मद्देशीय भी है, हिन्दीभाषिक तथा संस्कृत भाषिक भी है। प्रायुक्त वेङ्कालीन भी है। ‘श्रीमन्नानन्दधर्मालोक’ के पाठकगण इस पर निम्न पक्षिया देखें—

१—मुलतानी भाषा में ‘सर्वे’ का अपभ्रंश ‘सर्वे’ भी है ‘हर्वे’ भी। ‘आपाठ’ का उच्चारण वहाँ पहले ‘आसाठ’ हुआ फिर ‘हाठ’ हुआ। ‘पौष’ का अपभ्रंश वहाँ पूर्व ‘पोस’ हुआ, फिर ‘पोह’। ‘मास’ कहकर उच्चारण वहाँ ‘मास’ होकर फिर ‘मोह’ हुआ। स्वसुर का मुलतानी भाषा में ‘सोहरा’ कहा जाता है, यहाँ पर ‘स’ का ही विपरिणाम ‘ह’ है। ‘पाश’ को ‘फाही’ कहते हैं, ‘श’ को ‘स’ फिर ‘ह’ हुआ। मुलतानी भाषा संस्कृत भाषासे हिन्दी भाषाकी अवस्था अधिक मिलती है—यह कमी फिर लिखा जायगा। दश’ का मुलतानी उच्चारण ‘दस’ होकर फिर ‘टह’ हुआ। ‘विराति’ का उच्चारण वहाँ ‘वीस’ होकर फिर ‘वीह’ हुआ। वही ‘स्तुपा’ को ‘नूह’ कहा जाता है, यहाँ पर ‘न’ तो पूर्व आ-गया, और ‘स’ अक्षर ‘ह’ होकर पीछे चला गया। इससे सिद्ध होता है कि—‘स’ का ‘ह’ उच्चारण ‘देशी’ भी है।

२—कई विद्वान् वेदों का आविर्भाव ‘सिन्धु’ तट पर मानते हैं, उनके देश ‘सिन्धु’ की भाषा के भी कई शब्द देखिए—‘स्वसुर’ को सिन्ध

देश में 'सहुरो' कहते हैं, 'विरास' को 'बेसाह' तथा 'प्रविरा' को 'पहु' कहते हैं। 'उ' को पीछे जोड़ना मिथी शैली है; इन मिथी शब्दों में 'स' को 'ह' बोला जाता है। इससे स्पष्ट है कि—वहाँ पर भी 'स' का 'ह' उच्चारण वेदके प्रभावसे हुआ।

३—पञ्जाबी भाषा लाहौर आदिमें 'पैसा' को 'पैहा' इस रूप में कहा जाता है। इस प्रकार 'एषः' का वहाँ पर 'एसो' होकर 'एहो' इस रूप में विररिखाम होगया। इस प्रकार 'पञ्जाबी' के अन्य शब्द भी सम्भव हैं। करनाल, रोहतक आदिके ग्रामोंमें 'है' को 'सै' कहा जाता है। राजपूताना में 'सागर' को 'हागर' कहा जाता है। जोधपुर (मारवाड़) में 'सुनो' के स्थान में 'हुनो' कहा जाता है। इसी तरह वहाँ 'सीरा' साग, सीरा, सालगराम, सरी, सीता, आदि को हारा, हाग, हीरा, आदि रूप में पका जाता है। इनका उच्चारण वहाँ आधा हकार तथा अस्पष्ट सकार किया जाता है। 'एन इन्डोइकन डू कम्पेरेटिव फिलोलॉजी' इस पी० डी० गुण से बनाई हुई ग्रंथि पुस्तक (१९१८ के ३३ पृष्ठ में लिखा है) —'सप्त' यह संस्कृतमें है, 'सात' यह मराठी भाषा में है, 'हात' यह गुजराती भाषा में है। 'सार्ध' यह संस्कृत भाषा में है। 'साढे' यह मराठी भाषा में है, 'हाडा' यह गुजराती भाषा में है। महाराष्ट्र शब्दके अपभ्रंशमें 'महा' का रह गया 'म' राष्ट्र का होगया 'रहया'। मरहटी में यह 'ह' 'प' के 'स' का है इस प्रकार सकारका हकार उच्चारण देरी सिद्ध हुआ।

४—अब प्राचीन हिन्दीभाषाको देखिए—'तुलसी रामायण' (राम-चरितमानस) में लिखा है—'केहरि कन्धर बाहु विशाला' (बाबकाण्ड, छठा विभाम, २ वीं चौपाई) वहाँ पर 'बेसरी' का ही दूसरा रूप 'केहरी' है। सूरदास आदि 'पाषाण' को 'पाहन' लिखते हैं। वहाँ पर 'ब' का 'स' होकर 'स' को 'ह' हुआ। इसी प्रकार एक स्थानमें 'अनुसारी' के स्थान में 'अनुहारी' लिखा है। इसी प्रकार 'अधी मन

तो एकै आहि' यहाँ पर 'आहि' यह 'आमीत्' वा अस्ति का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ 'है' अथवा 'या' है। इसी प्रकार पदमावतने 'सृष्टि' के स्थान 'सिंहिति' का प्रयोग किया है। 'स' का सो होकर विपरीतता में 'ओह' बना पुरानी हिन्दी में। पुत्रादिक स्थलों में 'स' वा 'प' का 'स' होकर फिर 'ह' उच्चारण हुआ है।

५ अथ आज कलकी हिन्दी देखिए—इसमें 'ज्ञान' का 'महाना' हो गया है। यहाँ पर 'स' 'ह' रूपमें परिणत होकर 'न' के पीछे हो गया। इसी हिन्दी भाषामें 'मास' को 'माह' अथवा 'महीना' कहा जाता है। एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश, पंचदश, षोडश, सप्तदश, अष्टादश, इन शब्दों में 'श' का 'स' और फिर 'ह' होकर ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह यह विपरिणाम हो गया है, इससे 'स' के 'ह' उच्चारण में वैदिकता स्पष्ट प्रतीत हो रही है। 'अस्ति' स्कारमांतष्ठते इस महाभाष्यके सिद्धान्तके अनुसार 'अस्ति' 'स' रूप है। उसी 'स' रूप 'अस्' के स्थान में 'है' पड़ा जाता है। 'पुष्प' के स्थान में हिन्दी में कहीं 'पुष्प' शब्द टीसता है। यहाँ 'प' का 'स' होकर 'स' फिर 'ह' हो गया। 'अस्मान्' का विकृत 'हमें' है; यह 'ह' 'स' का है। 'सः' का 'वह' 'सन्ति' का 'हैं' 'संग्राम' का 'हंगामा' यह सब 'स' का 'ह' होजाना सिद्ध कर रहे हैं। छानने वाले भी 'स' के स्थान 'ह' जाप दिया करते हैं। ये सब 'स' के 'ह' रूपमें विपरिणाम हैं।

६--अथ प्राकृत भाषाकी ओर आइए। उसमें भी कहीं-कहीं 'स' का 'ह' देखा जाता है। 'चतुर्दश' शब्द में 'श' का 'स' उच्चारण प्रसिद्ध ही है। युक्तप्रान्त तो इस उच्चारणकेलिए प्रसिद्ध ही है। उसीका प्राकृत में 'चउदह' इस प्रकार 'स' के स्थान में 'ह' उच्चारण मिलता है। इस प्रकार 'अस्ति' के स्थान पर प्राकृतमें 'सि' प्रयुक्त होता है, यह 'ह' X स्पष्ट ही 'स' का विपरिणाम है। ध्वनिकार आतन्वर्धनाचार्यसे

X इसी तरह 'ग्रना' का 'ग्रहण' का विष्णुका 'विष्णु' विस्मय-का 'विम्हय' 'असौ' का 'अह' अस्मान् का अहमे, 'दिवस' का दिव हो।

प्रणीत 'देवीशक्त' में संस्कृत-प्राकृत उभय भाषारूपके उदाहरणरूपक
 'पद्यमें 'मह देसु रसं धमे' यहां पर 'मम देहि रसं धमे' यह संस्कृत पाठ
 है। यहां पर 'देसु' का 'देहि' यह दिखलाई देता है यहां भी 'स' का
 'ह' उच्चारण स्पष्ट ही है। इसी प्रकार 'अस्माद्यानाम्' की प्राकृत
 'अह्मारिमाणं' तथा 'युष्माकम्' की 'नुद्याणं' एवं 'अस्माकम्' की प्राकृत
 'अह्माणम्' है। मृच्छकटिकमें 'स्नातोहम्' की प्राकृत 'ह्लादेहम्' (६।१) है।
 शाकुन्तलमें ७म अंक में तापसी 'विस्मितास्मि' के स्थान 'विह्वितास्मि', यह
 प्राकृत बोलती है। 'उष्णं' की प्राकृत 'उह्ण' (२।१) नागानन्दमें है। यहां
 'प' के 'स' का ही 'ह' है। श्रीधर्मकी प्राकृत शाकुन्तलके ३अंकमें 'गिह्मे' अ है
 है। स्वप्नवासयदत्तमें ४अंक में 'चेटी' 'स्मः' के स्थान 'हः' कहती
 है। ३अंक में 'स्नायति' के स्थान में 'ह्नायति' कहती है। ४ अंक
 में 'स्नात' की प्राकृत 'ह्लाद' आई है। द्वितीयांक में वासवदत्ता, दुष्णीका
 के स्थान 'तुह्नीका' कहती है। ५ अंक में 'उदक स्नान' के स्थान में
 उदक हाण कहा है। यहां सर्वत्र 'स' को 'ह' दीखता है।

७-अब 'श्रीलोक' के पाठकण्ठ संस्कृतके व्याकरणकी ओर आएँ।
 'स' और 'ह' ये दो अक्षर बाह्य प्रयत्नोंमें 'महा-प्राण' समान हैं।
 आन्तरिक प्रयत्न भी दोनोंका 'ह्रस्वविवृत' समान ही है। वर्णमालामें
 श, ष, स, ह, यहां पर 'स' और 'ह' का 'साहचर्य' तो प्रत्यक्ष ही है।
 व्याकरण में 'सेह'पिब' (पा० ३।४।८०) इस सूत्रमें भी 'सि' को 'हि'
 देखा गया है। 'ह' गति (पा० ७।४।१२) सूत्रमें भी 'स' को 'ह' देखा
 गया है। अस्मद् शब्द के मु में 'त्वाहौ सौ' से 'अस्म' को 'अह' हो
 गया है। यहां 'स' को 'ह' करना स्पष्ट है, जिसका 'अहम्' बना और
 हिन्दी में 'अ' हट कर 'हम' रह गया। इसीलिए 'अभिज्ञान शाकुन्तल'
 नाटक के 'त्वमहंतां प्राप्रहरः' (१।१६) इस पद्य में 'प्राप्रहरः' इस प्रकार
 'स' के स्थान में 'ह' का पाठभेद मिलता है।

८-अब वेदकी ओर आना चाहिए। वेदमें भी कहीं 'स' को 'ह'
 दीखता है। 'निषेद्ध' (३।१२) में 'सरिता' वह नाम नदीका है; वैसे

ही 'हरितः' भी नदी का नाम माना गया है। वेदमें भी उसका प्रयोग मिलता है—'हरितो न रंछाः' (अथर्व० २०।३०।४) 'यं वहन्ति हरितः-मत्त' (अथर्व० १३।२।२५)। इस प्रकार 'हरितः' सरितः, में अर्थभेद नहीं। इसी प्रकार 'निघण्टु' (१।१३) में 'सरस्वत्यः' भी नदियोंके नामों में आया है 'हरस्वत्यः' भी। अब 'हरस्वती' शब्द को देखिये—'त-ममनु' दुष्पुना हरस्वती' ऋ० २।२३।६। इसी प्रकार वेदमें 'तिरा' का 'धमनी' (नल-नाडी) अर्थ है। इसी अर्थमें 'हिराः' यह पाठ भी दीखता है। जैसे कि 'इमा यास्ते शतं हिराः' (अथर्व० ७।३५२) हिराः-नाडियों। 'शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्' (अथर्व० १।१७।३)। 'अमूर्या यन्ति योषितो हिरा सोहितवाससः' (अथर्व० १।१७।१) यहाँ पर 'निरुक्त' (पं० शिवदत्त सम्पादित) के १८० पृष्ठ की टिप्पणी में 'हिराः-तिराः', यह पाठ भी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि 'सिन्धु' में 'स' के स्थानमें हकारघटित 'हिन्दु' यह पाठ भी वैदिक कालसे चला हुआ है; मुसलमानी कालसे नहीं।

'हीरच ते लक्ष्मीरच पान्यौ' (३।१.२-) यह मन्त्र शुक्लयजुर्वेद में है। 'र' का उच्चारण 'स' और 'भी' का उच्चारण 'ली' इस रूप में उत्तर प्रदेश तथा देहली प्रान्त आदिमें सुप्रसिद्ध ही है। उस 'स' का अन्य वेदमें 'ह' भी पाठ दिखलाई देता है। एक मन्त्र 'कृष्ययजुर्वेद' के 'तैत्तिरीयारण्यक' में 'हीरच ते लक्ष्मीरच पान्यौ'। (३।१३) इस रूप में आया है। तब 'स' को 'ह' पढ़ने में जहाँ देशभेदता, हिन्दी-भाषिकता, प्राकृतिकता, सांस्कृतिकता सिद्ध है; वहाँ पर वैदिकता भी सिद्ध हुई। हाँ, इतना अवश्य है कि 'स' को 'ह' पढ़ना भी ब्याचिच्छ है, सार्वत्रिक नहीं। कहीं उसकी व्यवस्था है, कहीं नहीं। इसी कारण 'सत्यं' के स्थानपर 'हृष्य' आदि नहीं पढ़ा जाता। वेद की सभी ११३१ संहिताओं में ६-१० संहिताओं के अतिरिक्त अन्य संहिताएं प्राप्त नहीं होतीं, अन्यथा वहाँ 'सिन्धु' के स्थान में कहीं 'हिन्दु' पाठ भी मिल

जाता, क्योंकि—‘नह्यमूला जनश्रुतिः, । फिर ‘हिन्दु’ के स्थान में ‘हिन्दु’ यह पाठ तो लोक-प्रसिद्धि है, ‘पुणाचरन्याय’ से वह भी संस्कृत होगई । जैसे कि ‘प्रह्लाद’ की प्रसिद्धि ‘प्रह्लाद’ इस प्रकार लकार घटित होगई, जब कि-रेफ-घटित ही उसका नाम प्राचीन पुस्तकों में आता है । +

६ इधर वादियों के अनुसार भी जब सृष्टिके आदिमें हिन्दु जातिके अतिरिक्त कोई जानि नहीं थी, यह कारण, घरघर आदि के मुसलमान भी पहले हिन्दु ही थे; फिर मतभेदके कारण, वा धर्मभ्रष्टासे अथवा अपमान-पूर्ण रूप भ्रष्टासे वे मुसलमान होगये; तब उन्होंने भी जो ‘मिन्धु’ में ‘स’ तो ह’ कहा, उनमें हिन्दुप्रभाव ही मूल समझना चाहिये । उनका स्वतन्त्र प्रभाव इसमें नहीं माना जा सकता । जब वे अपनी प्रत्यक्ष सत्ता नहीं रखते थे; तो ‘स’ के स्थान ‘ह’ भी नूतन रूपसे कहाँसे ला सकते थे, अतः स्पष्ट है कि ‘हिन्दु’ शब्द वैदेशिकोंकी स्वतन्त्र कृति नहीं ।

१०—जो कि, यह कहा जाता है कि- भारतीय तो अब भी ‘सिन्धु’ को ‘सिन्ध’ और ‘मिन्ध’ देश के निवासियोंको ‘सिन्धो’ कहते हैं । यदि यह हमारा ही अवशेष होता, तो इन्हें ‘हिन्दी’ तो कहते; अतः यह वैदेशिक है यह वादियोंकी युक्ति वादियोंके पक्षको स्वयं काट रही है । यदि वे

+ जैसे कि- ‘अथर्ववेद’ में ‘शिरोचनः प्राहादिः’ (८।१०।१।२) श्रीमद्भागवतमें ‘प्रह्लादोभून्नोर्होस्तेषाम्’ (७।४।३०) परन्तु तल्लोकमें ‘प्रह्लाद’ इस प्रकार लकार-घटित प्रसिद्धि हो गई । वह भी पुणाचरन्याय से संस्कृत होने से परिवर्तित नहीं की जाती । इसी प्रकार वेदके मन्त्रभाग में ‘येन’ के पुत्र का नाम ‘शुयी’ (अथर्व० ८।१०।१।१) मिलता है; परन्तु वेदके माह्यण भाग में ‘शुयु’- (शतपथ २।३।५।४) तथा पुराणोंमें भी ‘शुयु’ (श्रीमद्भागवत ४।१३।२०) मिलता है । इस प्रकार ‘हिन्दु’ यह नाम भारतवर्ष का है । इसे ह्रस्व लिखना चाहिये—‘हिन्दु’ दीर्घ हिन्दू नहीं । मूलशब्द ‘सिन्धु’ है ।

‘सिन्धु’ का स्थानी ‘हिन्दु’ वैदेशिक मानते हैं; तो वैदेशिक लोगोंने भी ‘सिन्धु अहाता’ तथा ‘सिन्धी’को ‘हिन्द अहाता’ तथा ‘हिन्दी’ क्यों नहीं कहा ? ‘स्थान’ को आपके अनुसार ‘द्वान’ न कहकर ‘स्तान’ क्यों कहा इससे स्पष्ट है कि- ‘स’ को ‘ह’ इस शब्दमें वैदेशिक नहीं । यदि ‘स’ को ‘ह’ कहना वैदेशिकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है; तो उन्होंने ‘ईसामसीह’ को ‘ईहामसीह’ क्यों नहीं कहा ? ‘मूसा पैगम्बर’ को ‘मूहा’ क्यों नहीं कहा ? वे ‘संस्कारविधि’ को हंस्कारविधि, क्यों नहीं कहते ? ‘सिन्धु दरिया’ को ‘हिन्दु दरिया’ क्यों नहीं कहते ? अतः स्पष्ट है कि- यह युक्ति इस विषय में सङ्गत नहीं । इसी प्रकार ‘मालकसन’ से बनाई ‘अकबर’ पुस्तकके शीर्ष पृष्ठमें ‘ये बाबर ! तुम्हें सिन्धु और हिन्द राज्य दिये हैं’ और ‘तारीख फिरोज शाही’ ग्रन्थमें हिन्दु और सिन्धुके सारे मुल्कें यह पाठ कैसे आया ? अतः यादियों की उक्त युक्ति व्यर्थ है ।

अन्य अकार ।

११—अथवा इस विषयमें यह भी कहा जा सकता है कि ‘सिन्धु’ ‘सिन्’ शब्द से बना है ‘सिन्’ का अर्थ ‘इन्दु’ अर्थात् चन्द्रमा है । इसलिपि ‘सा इन्दु सिनीवाली, (अमरकोष १।४।६. इस ग्रन्थमें इष्टचन्द्रा अमावास्याकानाम ‘सिनीवाली’ है; जिसका वेदके ‘सिनीवालि ! पृथुष्टके’ (ऋ० २।३२।६) ‘तस्मै हविः सिनीवात्यै जुहोतम’ (२।३२।७) ‘वा सिनीवाली वा राका’ (ऋ० २।३२।८) इन मन्त्रोंमें निरूपण है । इष्टचन्द्राऽमावास्या सिनीवाली’ यह सायण (२।३२।६) में लिखता है ‘सिनीवाली’ की व्युत्पत्ति करते हुए ‘अमर कोष’ की व्याख्यासुधामें कहा है-‘एन-विष्णुना सह वर्तते सा सा लक्ष्मीतद्योगात्सनी-चन्द्रकला’ । इसी प्रकार मुकुटनेमो ‘सिनी’ का अर्थ ‘चन्द्रकला’ लिखा है । निरुक्तकार श्री-भास्क भी ‘सिनीवाली’ का ‘चानेनेव अस्यामणुष्यात् चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा’ (१।३।२) यह कहकर ‘सिन्’ का अर्थ ‘इन्दु’ ‘चन्द्रमा’ बताते हैं । सिन्धु नाम भी समुद्र का चन्द्रमा धारण करनेसे सम्भव है- ‘सिन्-धुः’ । अमृतमंथन के समय उस (चन्द्रमा) की उत्पत्ति

जाता, क्योंकि—‘नहामूला जनश्रुतिः’ । फिर ‘हिन्दु’ के स्थान में ‘हिन्दु’ यह पाठ तो लोक-प्रसिद्धि है, ‘घुणापरन्याय’ से यह भी संस्कृत होगई। जैसे कि ‘प्रह्लाद’ की प्रसिद्धि ‘प्रह्लाद’ इस प्रकार लकार घटित होगई, जब कि-रेफ-घटित ही उसका नाम प्राचीन पुस्तकों में आता है । +

६ इधर वादियों के अनुसार भी जब सृष्टिके आदिमें हिन्दु जातिके अतिरिक्त कोई जानि नहीं थी। यह काल, धरम आदि के मुसलमान भी पहले हिन्दु ही थे; फिर मतभेदके कारण, वा धर्मभ्रष्टतासे अथवा अपमान रूप भेदभावसे वे मुसलमान होगये; तब उन्होंने भी जो ‘हिन्दु’ में ‘स’ को ‘ह’ कहा, उसमें हिन्दुत्वभाव ही मूल समझना चाहिये। उनका स्वतन्त्र प्रभाव इसमें नहीं माना जा सकता। जब वे अपनी प्रत्यक्ष सत्ता नहीं रखते थे; तो ‘स’ के स्थान ‘ह’ भी नूतन रूपसे कहाँसे ला सकते थे, अतः स्पष्ट है कि ‘हिन्दु’ शब्द वैदेशिकोंकी स्वतन्त्र कृति नहीं ।

१०—जो कि, यह कहा जाता है कि, भारतीय तो अब भी ‘सिन्धु’ को ‘सिन्ध’ और ‘सिन्ध’ देश के निवासियोंको ‘सिन्धी’ कहते हैं। यदि यह हमारा ही अपभ्रंश होता, तो इन्हें ‘हिन्दी’ तो कहते; अतः यह वैदेशिक है। यह वादियोंकी युक्ति वादियोंके पक्षको स्वयं काट रही है। यदि वे

+ जैसे कि- ‘अथर्ववेद’ में ‘विरोचनः प्राहादिः’ (८/१०/४/२), श्रीमद्भागवतमें ‘प्रह्लादो भूनाहोस्तेषाम्’ (७/४/३०) परन्तु लोकमें ‘प्रह्लाद’ इस प्रकार लकार-घटित प्रसिद्धि हो गई। यह भी घुणापरन्याय से संस्कृत होने से परिवर्तित नहीं हो जाती। इसी प्रकार वेदके मन्त्रभाग में ‘वेन’ के पुत्र का नाम ‘पृथी’ (अथर्व० ८/१०+४/११) मिलता है; परन्तु वेदके ब्राह्मण भाग में ‘पृथु’- (शतपथ २/३/५/४) तथा पुराणोंमें भी ‘पृथु’ (श्रीमद्भागवत ४/१३/२०) मिलता है। इस प्रकार ‘हिन्दु’ यह नाम भारतवर्ष का है। इसे हस्त लिखना चाहिये—‘हिन्दु’ दीर्घ हिन्दू नहीं। मूलशब्द ‘सिन्धु’ है ।

‘सिन्धु’ का स्थानी ‘हिन्दु’ वैदेशिक मानते हैं; तो वैदेशिक लोगोंने भी ‘सिन्धु अहाता’ तथा ‘सिन्धी’को ‘हिन्द अहाता’ तथा ‘हिन्दी’ क्यों नहीं कहा ? ‘स्थान’ को आपके अनुसार ‘हूनान’ न कहकर ‘स्तान’ क्यों कहा इससे स्पष्ट है कि- ‘स’ को ‘ह’ इस शब्दमें वैदेशिक नहीं। यदि ‘स’ को ‘ह’ कहना वैदेशिकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है; तो उन्होंने ‘ईसामसीह’को ‘ईहामसीह’ क्यों नहीं कहा ? ‘मूसा पैगम्बर’को ‘मूहा’ क्यों नहीं कहा ? वे ‘संस्कारविधि’ को हंस्कारविधि, क्यों नहीं कहते ? ‘सिन्धु दरिया’ को ‘हिन्दु दरिया’ क्यों नहीं कहते ? अतः स्पष्ट है कि- यह युक्ति इस विषय में सङ्गत नहीं। इसी प्रकार ‘माल्कसन’ से बनाई ‘अकबर’ पुस्तकके शब्दोंमें ‘दे बाबर ? तुम्हे सिन्धु और हिन्द राज्य दिये हैं’ और ‘तारीख किरोज शाही’ ग्रन्थमें हिन्द और सिन्धुके सारे मुल्क’ यह पाठ कैसे आया ? अतः वादियों की उक्त युक्ति व्यर्थ है।

अन्य अक्षर ।

११—अथवा इस विषयमें यह भी कहा जा सकता है कि ‘सिन्धु’ ‘सिन्’ शब्द से बना है ‘सिन्’ का अर्थ ‘इन्दु’ अर्थात् चन्द्रमा है। इसलिये ‘सा रथेन्दु सिनीवाली, (अमरकोष १।४।६) इस प्रमाणमें रथेचन्द्रा प्रमायास्याकानाम ‘सिनीवाली’ है; जिसका वेदके ‘सिनीवालि ! पृथुष्टके’ (ऋ० २।३२।६) ‘तस्मै हविः सिनीवात्यै जुहोतन’ (२।३२।७) ‘या सिनीवाली या राका’ (ऋ० २।३२।८) इन मन्त्रोंमें निरूपण है। रथेचन्द्राऽमावास्या सिनीवाली यह सायण (२३२।६) में लिखता है ‘सिनीवाली’ की व्युत्पत्ति करते हुए ‘अमर कोष’ की व्याख्यासुधामें कहा है ‘एन-विष्णुना सह वर्तते सा सा लक्ष्मीतद्योगात्सिनी-चन्द्रकला’। इसी प्रकार मुकुटने भी ‘सिनी’ का अर्थ ‘चन्द्रकला’ लिखा है। निरुक्तकार श्री-पास्क भी ‘सिनीवाली’ का ‘वानेनेष अस्यामणुष्यात् चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा’ (११३१।२) यह कहकर ‘सिन्’ का अर्थ ‘इन्दु’ ‘चन्द्रमा’ बताते हैं। सिन्धु नाम भी समुद्र का चन्द्रमा धारण करनेसे सम्भव है- ‘सिन्-धुः’। अमृतमंथन के समय उस (चन्द्रमा) की उत्पत्ति

समुद्रसे प्रसिद्ध है। समुद्र चन्द्रमा को देखा उड़लता भी है। 'सिन्धु' यह नदीविशेष का नाम भी समुद्र जैसी विशालता वा दुरन्तता देस कर रहा हो यह भी सम्भव है। इस देश के लोग सिन् (इन्दु) के बंती भी थे, चान्द्रायण मत हमारे देश में बहुत प्रसिद्ध रहा है चन्द्र-दशान पर चन्द्रमा को हिन्दु नमस्कार भी करते हैं। इसी 'सिन्' (इन्दु) को चान्द्रायण आदि ग्रन्थ द्वारा धारण करने से इस देश को 'सिन्धु' (सिन्-धु) अथवा (इन्दु) भी कहा जाना रहा। चीनी छेनसांग ने भी 'भारत' का पुराना नाम 'इन्दु' माना है। 'बालमीकिरामायण' में सिन्धु नदीका नाम भी 'इन्दुमती' लिखा है। इसी इन्दु को पिगाद कर यूनानियों ने 'सिन्धु' का नाम 'इण्डस्' और हमारा नाम 'इण्डियन' रखा।

१२—इस प्रकार 'सिन्धु' वा 'इन्दु' से भी इस देशका 'हिन्दु' बनना स्वाभाविक है। देशके नामसे ही जातिका नाम होने से हमारी जातिका नाम भी 'हिन्दु' हुआ। इसी जातिके उपास्य देव महादेव उस 'इन्दु' को माथे पर रखते हैं। 'सिन्धु' शब्द नदीका पर्यायवाचक भी हुआ करता है। वे महादेव 'सिन्धु' (गंगा) को भी सिर में रखते हैं। 'देवो भूत्वा देवान् पति' (शतपथ १४.६।१०.४) इस सिद्धान्तसे महादेवकी उपासक जातिने (मुहंजोदारी और हड़प्पाकी खुदाई में शिपलिग बहुत मिले, यह सम्भ्यता वैदिककालसे भी प्राचीन मानी जाती है) अपने उपास्यदेवके सिर-माथे में ठहरे 'सिन्धु इन्दु' का आयश्चित्तों के लिए गंगानदीके जलका उपयोग करके तथा चंद्र-रात्रि आदिमें नमस्कार आदिसे जहाँ आदर करना जारी रखा, वहाँ उसके नाम 'इन्दु' वा 'सिन्-धु' को अपने सिर-माथे रखा। उसी 'इन्दु' वा 'सिन्धु' का दूसरा रूप 'हिंदु' हुआ। अथवा ऋग्वेदानुसार 'इन्दु' सोमका नाम है। हिन्दु जहाँ चन्द्र प्रेमी थे वहाँ यज्ञिक तथा सोमरस के प्रेमी भी थे। सोमयज्ञ - प्रेमी होने

से भी उनका नाम 'इन्दु, तथा फिर 'हिन्दु' हो गया। 'इन्दु' में पहला अक्षर 'इ, ई। 'इ, में 'अ' अक्षर भी ध्याप्त है। माण्डूक्योपनिषद् (१ में 'ओम्' की व्याख्या करते हुए 'अ, को सय में प्राप्त व्याप्त तथा स्वकी आदि माना है। ऐतरेयारण्यकमें भी कहा है; अकारो वै सर्वा वाक्, (२।३।६) तथा 'इन्दु, में 'अ, इन्दु, समझना चाहिये। इस लिए महाराष्ट्र आदिमें इ, को 'अि, इस प्रकार लिखते हैं। 'अकुहविसर्जनी-यानां कण्ठः, से, 'अ, और 'ह, में कण्ठ स्थानका साम्य है तो 'इन्दु' का 'अिन्दु' होकर 'हिन्दु, हुआ। वैदिक कालमें भी 'सिन्' के 'हिन्' वा 'हिं' उच्चारण का मूल 'शतपथ ब्राह्मण' में भी मिलता है। यहाँ लिखा है—'हिं कृथा अम्वाह, न असामा यशोस्ति इति वै आहुः। न वा अ हिं कृत्य साम गीयते' प्राणो वै हिंकारः (१।४।३।१-२)। यहाँ 'हिं, को यज्ञका प्राण-जीवनाधायक माना गया है। इस प्रकार याज्ञिक इस हिंदु जातिने भी इस 'हिं' को जीवनाधायक होनेमें अपनाया। पदार्थके सिद्ध प्राणप्रद धर्मका नाम ही 'काश्यप्रकारा' आदि में 'जानि' कहा है। 'हिं' का उच्चारण बिना किष् वे सामवेद का उच्चारण नहीं करते थे, और बिना सामवेदके गाये यज्ञ नहीं होता था, तथा याज्ञिक जातिका नाम भी 'सिन्' वा 'हिं' धारण करने में 'सिन्धु' वा 'हिन्धु' वा 'हिंदु' हुआ। 'दा' धातु का भी 'धारण' अर्थ होता है, जैसे कि 'निरुक्त' में लिखा है—दण्डो ददते धारयतिकर्मणः। 'अक्रूरो ददते मणिम् इत्यभिभाषन्ते (२।१।११) 'चतुरश्चिद् ददमानाव' (निरुक्त ३।१।६।१) यहाँ पर भी 'दद' का 'धारण' अर्थ किया गया है। 'हिं' को 'हुं' धारण करने वाली जाति 'हिन्दु' कहलाई।

अन्य प्रकार

१३—इधर उस 'हिं' को गाय भी कहती है। यह हिंदु जाति वैदिककालमें गायकी भक्त बली आरही है। गायका 'हिं' करनेको बतलाने वाला एक मन्त्र वेदमें इस प्रकार आया है—

‘दृष्टवती वसुपत्नी वसुनां वत्समिचन्ती मनसाभ्यागात् ।

दुहाम श्वभ्यां पयो अघ्या इयं सा वर्धता महते सौमगाय’ ॥

(ऋ० १६४।२७, अथर्व० ६।१।१५)

इस गोवर्णनपरक मन्त्र में पृथार्थ का आदिम वर्ण ‘हिं’ है, यही यज्ञका जीवनाधायक है, यह पूर्ण कहा जा चुका है, गाय भी यज्ञका अङ्ग है, अतः उसने भी ‘हिं’ को धारण किया। इस मन्त्रके उत्तरार्थ का आदि वर्ण ‘दु’ है। ये ही दो वर्ण ‘हिं-दु’ यज्ञभक्त एवं गोभक्त इस जातिने प्रतीकरूपमें स्वीकृत किये। जैसे यज्ञ साम के बिना नहीं किया जाता, और साम ‘हिं’ के बिना नहीं गाया जाता, अतः इस पार्श्विक जातिने ‘हिं’ को धारण किया, वैसे ही इस जातिका काम भी गाय के बिना नहीं चलता। अतः इस जातिने यज्ञ तथा गाय दोनोंका चिह्न होने से ‘हिं’ शब्दको धारण किया, प्रत्युत यह जाति उस ‘हिं’ के सस्कारको अपने छोटे बच्चोंके कानमें भी जन्म से डालती है। जैसे कि—‘प्रजापतेष्वं हिंकारेण अरजिष्मामि, गवां त्वा हिं कारेण, सहस्रायुषा जीव, शरदः सतम् (पारस्कर गृह्यसूत्र १।१८।३-४)।

इस जातिका गोप्रेम देखिये—जब यह जाति भोजन करने बैठती है; तो गोम्रास सबसे पूर्व रखता है। मरनेके समय बैतरणीपारथ गांधान वा गोपूजन प्रसिद्ध है। पहला श्राद्ध भी गायको ही सिलाया जाता है। इस जातिमें ‘गोस्वामियोकी’ उच्चता तथा भगवान् कृष्णकी उपासना भी गीर्षोके कारणसे है। ‘गोलोक’ हिन्दुओंके लिए पृथ्व्य लोक है। शुद्ध प्रायश्चित्त आदिमें ‘गाय’ के ‘पंचगव्य’ का ही उपयोग होता है। दूसरे पशुओंको अहम्तम्ये न कह कर गायको ही ‘अध्या’ कहा जाता है। इसी लिए ही हिन्दुओंके मुमलमानोंमें मगदे होते हैं। गोशब्द आदि वाली सच्चियाँ भी प्रायः नहीं खाई जातीं। अन्यभी हिन्दु जातिमें गायके विषयमें बहुत ही श्रद्धा है; जैसे कि—दूसरेका का खेत वा रही गायका दूसरेको वृत्त न कहना आदि। इन बातोंको ध्याये,

हिन्दुओंकी स्थिरताकी मुख्य वस्तु वर्ण या जाति है, जिसका विचार कर विवाह वा उपनयन आदि हुआ करते हैं; उस जाति वा वर्णका सङ्केत सूचक शब्द 'गोत्र' भी इस प्रकार गायके नामसे रखा गया है।

तब उसी गायके मन्त्रके पूर्वार्ध-उत्तरार्धके आरम्भिक वर्णोंको प्रतीकरूपसे स्वीकार कर गोभक्त तथा वेदभक्त 'हिन्दु', जातिने वेदके एक एक अक्षरके स्वीकार कर लेनेमें भी अपनी श्रद्धा दिखला दी है। ठीक भी है- 'सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक् सं याश्च निर्मने, (मनु १।२।) इस पद्यसे प्रतीत होता है कि- परमात्माने वेदके शब्दोंसे ही सब जातियोंके नाम, कर्म तथा आकृतियाँ बनाई; क्योंकि वेदका एक-एक अक्षर भी अमर्य है। जैसे तीन वेदोंसे एक-एक अक्षर लेकर परमात्माने 'धोम्' (ध, उ, म् बनाया; एक-एक शब्द लेकर तीन व्याहृतियाँ- एक-एक- पाद लेकर गायत्री बनाई। इसके लिए देखिए 'मनुस्मृति २।७६' ऐतरेय ब्राह्मण २। ३२' गोपथ ब्राह्मण ६ १।६) इस प्रकार 'अस्यां वाय विद्यायां सर्वाणि भूतानि, शतपथ ० १०.४२ २०) के अनुसार, हिन्दु, शब्दकी निष्पत्ति भी वैदिक जाननी चाहिये।

१४—इस दोनों वर्णों (हि--दु) में उक्त मंत्रके अवशिष्ट वर्णों का व्यवधान भी नहीं जानना चाहिए। 'न्यायदर्शने' में कहा है— 'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्। (१।-१६) जिससे जिनका अर्थसम्बन्ध होता है; वह दूरस्थित (व्यवहित) का भी हो जाता है। जिनका आपस में सम्बन्ध नहीं, उनकी निकटता भी सम्बन्ध करनेवाली नहीं होती। जैसे कि 'मीमांसादर्शन' के शास्त्र भाष्यमें भी कहा है—'असत्यां हि आकांक्षायां सन्निधानमकारणं भवति, यथा—नार्यो राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य (६।४।३३) यहां पर 'राज्ञः पुरुषः' की निकटता होती हुए भी अर्थ सम्बन्ध न होने से समास नहीं होता। इस प्रकार इस अर्थान्ति

से सिद्ध हुआ कि—‘सत्या हि आकाशायाम् असन्निधानमपि सम्यन्ध-
कारणं भवति’ ।

इस प्रकार ‘हिन्दु’ इन दो अक्षरोंके ‘अ, उ, म्’ के इकट्ठा करनेसे बने हुए ‘ओम्’ की तरह, इकट्ठे बने हुए ‘हिन्दु’ शब्द का प्रामाण्य भी सिद्ध हुआ । वैदिक साहित्यमें ऐसे शब्दोंकी कमी नहीं । जहाँ पर इत्याद् अकृत, नीनात् (एतेरकारः, अनक्तेर्गकारः, नीजो-
निकारः) (निरुक्त ७।१४।१) इन तीन धातुओंके एक एक अक्षरसे ‘अग्नि’ शब्द व्युत्पादित किया जाता है, जिस वैदिक साहित्य में ‘भर्ग’ का ‘भ’ इति भासयति इमान् लोकान्, ‘र’ इति रंजयति इमानि भूतानि, ‘ग’ इति गच्छामिम्भन् । आगच्छन्ति अस्माद् इमाः प्रजाः, तस्माद् भ-र-
गत्याद् भर्गः, (मंत्रायणी-प्रारण्यक १।७) इस प्रकार अक्षरार्थ किया जाता है, जिस वैदिक साहित्यमें ‘मख’ शब्दका अक्षरार्थ या व्यु-
त्पत्ति ‘मख इत्येतद् यज्ञनामधेयम्, विद्रप्रतिषेध सामर्थ्यात् विद्र म्नि-
त्युक्तम्, तस्य मा-इति प्रतिषेधः, मा यज्ञे विद्रं करिष्यति’ (गोपथ
ब्रा० २।२।२) इस प्रकार दीखती है और समुचित करके सिद्ध होती है; उसी प्रकार वेदके एक मन्त्रके पूर्वार्ध-उत्तरार्धके आदिम एक-एक से निष्पन्न उक्तमन्त्रके प्रतीक ‘हिन्दु’ शब्दके विषयमें भी जान लेना चाहिए ।

ऐसी बात कालिदासके विषयमें भी प्रसिद्ध है । उसने ‘अ’ प्र, शि, ख’ का अनेन तव पुत्रस्य, प्रमुप्तस्य वनाम्भरे । शिखामादाय वहसा खड्गेनोपहतं शिरः’ इस प्रकार अर्थ निकाला था । आजकल भी ऐसी परिपाटी मिलती है । जैसे एन्, डबल्, चार, ई. पी. आर, ई. आई. आर, टी. टी. डी. टी. एस्, डी. सी, आदि । मुसलमानोंने भी ‘पाकिस्तान’ यह शब्द भिन्न-भिन्न अक्षरों (पंजाब, कश्मीर आदि) को मिलाकर रखा था । यू. पी. सी, पी, आदि शब्द भी इसी तरह के हैं । जिस प्रकार ‘उपनिषद्’ में भी ‘द, द, द’ के ‘दाम्पत्य, दत्त, दय-
ध्वम्’ (बृहदारण्यक ७।१।२।१-३) एक-एक अक्षरके भिन्न-भिन्न शब्दोंमें

बनाये गये। 'हृदय' शब्द 'हरन्ति ददति, याति' के आद्यक्षरोंसे बना; देवो शतपथ १४।८।४।१ बृहदा० ७।२।३।१ जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणमें 'उद्गीय' इन तीन अक्षरोंका 'सामान्येव उद्, अच एव गी, यजूंष्येव थम्' (२१।२७।७—८ , इत्यादि अर्थ बनाये गये हैं। 'माण्डूक्योपनिषद्' के अनुसार 'ओम्' शब्द 'आप्तेरादिमत्वाद् (अ) उक्कर्पात्वाद् उभयात्वाद् वा (उ), मिते' (म्) (१।१०।१४) इन समुदायोंके आद्यक्षरोंसे बनाया गया, जिस प्रकार लौकिक साहित्यमें 'होरा' शब्द 'अहोरात्र' के आपन्तिम वर्णको छोड़कर बीचके दो अक्षरोंसे बनाया गया। जिस प्रकार अंग्रेजीका *News* (न्यूज़) शब्द *North* (उत्तर) *East* (पूर्व) *West* (पश्चिम) *South* (दक्षिण) इन चारों दिशाओं के आद्यक्षरोंसे 'चारों दिशाओंका वृत्तान्त' इस अर्थमें बना; जैसेकि सारे व्यञ्जन 'हल्' तथा सारे स्वर 'अच्' नाममें संक्षिप्त हैं, इसी प्रकार 'हिन्दु' शब्दके विषयमें भी जान लेना चाहिये। यह भी उक्त मन्त्रके पूर्वार्ध-तत्पराद्ध का प्रतीक, संक्षिप्त नाम है। ऐसा प्रकार प्राचीन आर्य शैली है। प्रायुक्त यही गोपरेक उक्त मन्त्र 'हिन्दुजाति' के अर्थमें समन्वित भी हो सकता है, यह सूक्ष्म विचारसे स्फुट हो सकता है; क्योंकि स्व-स्वामीका भी अभेद-सम्बन्ध हो जाता हुआ देखा गया है।

१२ जैसे तीन वेदोंके एक-एक अक्षरत्रयसे त्रिपिण्ड भी 'ओम्' की 'अयतीति ओम्' यह व्युत्पत्ति तथा 'अयतेष्टिलोपश्च' (उणादि १।१६६) इस प्रकार सिद्धि भी पैदाकरणों द्वारा की जाती है, वैसे ही पूर्व कहे प्रकारसे सिद्ध हुए 'हिन्दु' शब्दकी प्रकारान्तरसे भी सिद्धि होती ॥ जैसे कि—'हिनस्तीति हिन् (हिंसे: क्विप्, 'संयोगान्तस्य लोपः') हिंसं घति—अयड्यति—इति हिन्दुः। 'उणादयो बहुलम्' (३।१।८) इस सूत्रसे बाहुल्यसे 'हु' प्रत्यय तथा टि का लोप हो जाता है। स्वा० दयानन्दजीने 'आध्यात्मिक' में उक्त सूत्र पर ३६२ पृष्ठमें टिप्पणी दी है—'बहुवचनसे यह समझना चाहिये कि जो उणादिगणमें प्रायय नहीं कहे गये हैं; वे भी होते हैं'।

अन्य प्रकार

१६ अथवा 'हिमालय' पर्वतके 'हि' को तथा 'इन्दु' सरोवर (कुमारी अन्तरीप) के 'न्दु' को लेकर पूर्व प्रकारसे 'हिन्दु' बना है। इस प्रकारकी रीतिषी भी प्राचीन हैं। जैसे कि—'गम्' यह गणपतिका बीज-मन्त्र प्रसिद्ध है। यह बीजमन्त्र 'गणानां त्वा... सीद् सादतम्' (ऋ० २।२३।१) अथवा 'गणानां त्वा... गर्भधम्' (शुक्लयजुः वा० सं० २३।१६) इस मन्त्रके आदिस तथा अन्तिम अक्षरको लेकर बना है, इस प्रकार 'हिन्दु' शब्दकी भी बीजमन्त्रकी तरह द्वयसंरामक जानना चाहिये। बीजमन्त्रोंमें बड़ी शक्ति वा बड़ा रहस्य सन्निहित होता है। इस प्रकार उक्त गोमन्त्रके सकेतित हो अक्षरोंसे इस जातिका गायके संरक्षण—वर्धनादिसे सीमाय बढ सकता है। अथवा हिमालयसे लेकर इन्दु सरोवर तक हमारे 'हिन्दुस्थान' की सीमा है। यह रहस्य निकलता है—यह 'हिन्दु' को ध्यान रखना चाहिये।

विशेष रहस्य

१७ अथवा 'सिन्धु' इस (पश्चिमी पंजाबकी) नदी-विशेषके नामसे भी हमारा नाम 'सिन्धु' वा हिन्दु हुआ, यह नदी हमारी स्वाभाविक सीमा थी, इसी प्रकार 'सिन्धु' समुद्र भी हमारी स्वाभाविक सीमा था। इसीसे आकर हम लोगोंके पूर्वज विदेशों पर आधिपत्य करके हमारे देशकी वा अपनी जातिकी कीर्तिकी उज्ज्वल करते थे; और इन्हीं सीमाओंसे वैदेशिकोंका भी हमारे देश पर आक्रमण करनेका मार्ग था, अतः हमारी जाति इस यातको मखीभांति याद रखे कि इन्हीं सीमाओं को काट करके अपने आप पर आक्रमण न होने दे, अब पश्चिमी सिन्धु (अरबीका समुद्र) तथा फिर उसके साथकी सिन्धु नदी पर आधिपत्य कर लिया जावे, तो पाकिस्तान शीघ्र मर सकता है।

इसी बात पर ध्यान रखनेके लिए हमारी जातिका नाम 'सिन्धु' रखा गया। इसीलिए 'सिन्धु' को ही हमारे सम्पूर्ण देश का जातिका प्रतिनिधि मानकर उससे अपना या अपने देशका नाम रखा गया।

इस प्रकार सिद्ध है कि ब्राह्मणसे लेकर अन्यग्रन्थ जातियोंका नाम 'हिन्दु' है। यदि अन्य पुस्तकोंमें 'हिंदु' शब्द नहीं मिलता, तो 'आर्य' शब्द भी उन सभी (अन्यग्रन्थ) जातियोंका नाम कहीं नहीं मिलता। वैदेशिक जातियों अपने आपको 'आर्य' कहती हैं—यह बात भी ठीक नहीं। वे अपने आपको 'अर्यन' कहती हैं, 'अर्यन' का भाव वे 'ईरान' से आया हुआ मानती हैं, जो हमें कभी इष्ट नहीं होसकता। हिन्दुस्थान ही हमारा आदि देश है—ईरान आदि नहीं।

कई साक्षियाँ

१८ (क) 'आर्यावर्त' शब्द वेदादिमें कहीं नहीं आता। श्रीसायणत सामश्रमीने आर्यावर्त के विषयमें यह लिखा है—'अथैतद् आर्यावर्ताभिधानं न भवदपि संहितायां ब्राह्मणे वा श्रुतमस्ति' (ऐतरेयाब्रह्मण पृ० २०) उक्त पुस्तकके ३० पृष्ठमें श्रीसामश्रमीजीने लिखा है—'तत्रवत्सु तत्र त्रिसप्तनदीपरिप्लवः 'सिन्धु-मध्य' एव आसीत् पूर्वकालिक आर्यावर्तः'। अर्थात्—आर्यावर्त नाम किसी भी संहिता या ब्राह्मणमें नहीं है, २१ नदियोंसे घिरा हुआ 'सिन्धु' का मध्य ही वेदकालीन आर्यावर्त था।

(ख) 'अन्तर्जाला' पुस्तकमें 'अखण्ड भारत' निबन्धमें श्री चन्द्र-गुप्त विद्यालङ्कार महारायने लिखा है कि—'वैदिक कालसे 'सिन्धु' शब्द 'हिन्दुस्तान' की स्वामाविक सीमाओं 'सिन्धु' नदीसे सिन्धु (समुद्र) पर्यन्तके लिये व्यवहृत होता आया है। 'सप्तसिन्धु' नाम इस देशकी सात नदियोंके कारण रखा गया था और इसी नामसे वेदकालीन भारतको स्मरण किया जाता है'। (पृष्ठ १०)

(ग) 'हिन्दुत्व' पुस्तकमें वीर सावरकरने लिखा है—'जहां उनकी राष्ट्रियता और संस्कृतिने सर्वप्रथम विकास पाया था; उनके प्रति वृत्त-ज्ञताभावसे उन्हें इस देशका नाम 'सप्तसिन्धु' रखनेकी प्रेरित किया (पृ० ७) 'आर्य लोग उसी (वेदके) समयसे 'सिन्धु' कहलाने लगे' (पृ० ८)। 'हमारे पूर्व पुरुषोंने ही 'हिन्दु' नाम तो आदि (वैदिक) कालसे ही अपना लिया था, और संसारके अन्य राष्ट्र भी हमारे देशको 'सप्तसिन्धु' या 'हप्तहिन्दु' और हमें 'सिन्धु' या 'हिन्दु' नामसे जानते थे' (पृ० १-१०)। 'यह सच हो तो मानना पड़ेगा कि—'हिन्दु' नाम 'आर्योंसे भी पूर्वका है। आदिनिवासी भी अपने को 'हिन्दु' कहते थे। संस्कृतमें 'ह' को 'स' होजानेके कारण आर्यलोग इसे 'सिन्धु' कहने लगे। मूलनाम 'हिन्दु' ही है। 'हिन्दु' शब्दको अर्वाचीन माननेवालोंके पास इस युक्तिका कोई उत्तर नहीं है।' (हिन्दुत्व पृ० ११)

(घ) 'प्रोफेसर मेकडोनेल्ड' ने भी 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' नामक अपनी पुस्तकमें लिखा है कि—'उधरसे आनेमें इनके समुख सबसे पहले 'सिन्धु' ही पड़ती थी। इसलिये उपलब्धसे यही नाम भारतवर्षका रखा, प्रौढ लोग सिन्धुनदीसे उपलब्ध प्रदेशको 'इन्दोस' कहते थे, आगे चलकर भारतवर्षका नाम 'इण्डिया' होनेमें यही कारण हुआ। .. 'ऋग्वेद' में 'सप्तसिन्धु' का कई स्थानोंपर निर्देश है। उसमेंसे एक मन्त्रमें तो यह आर्योंवासका वाचक है।' (श्री शं० नरदेव शास्त्री आचार्य गुरुकुल ज्वालापुरसे प्रणीत 'ऋग्वेदालोचन' पुस्तकके १२८-१२९ पृष्ठमें)।

(ङ) भूतपूर्व शिक्षामन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्दजीसे प्रणीत 'आर्योंका आदिदेश' पुस्तकमें लिखा है—'वेदोंमें तो 'सप्तसिन्धु' देशकी महिमा गापी है। यह देश सिन्धुनदीसे लेकर सरस्वती तक था। इन दोनों नदियोंके बीचमें काश्मीर और पञ्जाब आंगये' (पृ० १२)। 'इससे यह निश्चित है कि- वेदोंके आधार पर आर्योंका अर्थात् आर्य संस्कृति

आदिमस्थान 'सप्तसिन्धु' हो था' (नवम अध्याय ८० पृष्ठ)। 'वेदोंमें सप्तसिन्धु' देशके अतिरिक्त और किसी देशका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।' (१४८०)

(च) श्रीअविनाशचन्द्रदास एम्. ए. बी. एल. लैक्चरर कलकत्ता विश्वविद्यालयने भी 'ऋग्वेदिक इण्डिया' पुस्तकमें लिखा है—'आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश' के निवासी थे।' आजकलके वेदमें रिसर्च करनेवाले विद्वानोंकी मयेपण्यासे भी यही सिद्ध होता है कि—हमारे देशकी 'सिन्धु' यह संज्ञा वेदकालसे ही है। तब उस देशकी जातिकी भी संज्ञा वैदिककालसे 'सिन्धु' ही सिद्ध हुई। उसमें 'स' को 'ह' की देशिकता वा वैदिकता हम सिद्ध कर ही चुके हैं।

अखण्ड हिन्दुस्थान

१६—वे सातों नदियाँ अखण्ड हिन्दुस्थानकी परिचायित करती हैं—'गङ्गे य यमुने चैव गोदावरि ! सरस्वति ! नर्मदे ! सिन्धुकावेरि ! जलेऽस्मिन् सल्लिधिं कुरु' ये भारतकी सात नदियाँ (सिन्धुवः) हैं। गङ्गा-यमुना, सरस्वती ये तीन पूर्वीय भारतकी नदियाँ हैं। 'गोदावरी' पश्चिम भारतकी नदी है। 'नर्मदा' मध्यभारतकी नदी है। 'सिन्धु' पश्चिमोत्तर भारतकी नदी है। 'कावेरी' दक्षिण भारतकी नदी है। इन सात नदियोंका वैदिक नाम 'सप्तसिन्धु' है, संक्षिप्त नाम 'सिन्धु' है। उसीके आश्रयसे हमारी जातिका नाम भी 'सिन्धु' है।

२०—'यह 'हिन्दुनाम' मुसलमानोंने रखा, या दासमनोवृत्तिका सूचक है वा मुसलमान आदिने धृणासे रखा, मुसलमानोंके अत्याचारसे हमने 'हिन्दु' नाम स्वीकृत किया।' यह किन्हींका कथन निस्मार है। 'मुहम्मदी' धर्म १३०० सालोंसे पहले नहीं था, (स० प्र० १४ समु० ३४६ पृष्ठ) परन्तु 'हिन्दु' शब्द उससे भी पूर्व मिलता है। 'जिन्दा-वस्ता' पुस्तकमें जिसे आजकलके भाषातत्त्वामिज्ञ 'ऋग्वेद' के कुछ

समयके बाद बनाया हुआ मानते हैं... 'हिन्दु' शब्द मिलता है। उसी 'शाहीर' या 'जिन्दायस्ता' पुस्तकमें हमारे देशका नाम 'हिंद' कहा है। जैसे कि—'अकमनू' बिरहमने ब्यासनाम अज हिन्द आमद बस जाना कि अकलचुना नस्त।' यहाँ पर ब्यासजीका हिंद (भारतवर्ष) से जाना कहा है। यदि मुसलमानोंसे हमें यह नाम मिलता, तो उनसे कई हजार वर्ष पूर्वकी पुस्तकमें 'हिंद' यह नाम न मिलता। इससे स्पष्ट है कि—मुसलमानोंकी उत्पत्तिसे कई सहस्र वर्ष पूर्व भी 'हिंद' आदि शब्द प्रचलित थे। श्रीसत्त्ववत सामग्रमी महाशयने 'निष्कालोचन' में लिखा है—'यथा इह भारते महमदीय-राज्यस्थापनात् प्रागपि अपरदेशे 'हिंदु' रिति व्यवहार आसीदेव अधार्मिकेषु। तत उत्तरं सैव (हिंदुरिति) समाख्या सदाक्रोशकृतापचरितैव अस्मासु च। ततो वयमपि 'हीनं च दूषयत्यस्माद् हिंदुः' इति 'मैस्त्रन्व ध्युत्पादनमभिमुख 'हिंदु' नाम-कथनेपि गौरवमेव मन्यामहे।' (पृष्ठ ७०)

२१—'मुसलमानोंके अत्याचारसे हमने 'हिंदु' नाम स्वीकृत किया' ऐसा आरोप भी ठीक नहीं। भारतमें मुसलमानों राज्यका मूलारोपक शहाबुद्दीन महमूद गोरी था; परन्तु इन लोगोंके अत्याचार तो दूर रहे, जब उनके पैर भी भारतमें नहीं पड़े थे और 'गोरी' पृथिवीराजके व्यवहारोंसे ठग हो रहा था; तभी पृथिवीराजके सभाकवि आदिकवि चन्दबरदाईने अपने कविता ग्रंथमें इस देशको 'हिंदय' इस नामसे तथा इस जातिको सर्वत्र 'हिंदु' नामसे कहा है। 'हम हिंदु लजवान' 'गति हिंदू पर साहि सज्जि' इत्यादि 'पृथिवीराजरासो' नामक उसके ग्रन्थके उद्धरण हैं। 'भारतवर्षका घृहद् इतिहास' प्रथम भाग ३० पृष्ठमें श्रीभगवद्भक्तजीने लिखा है—'उस कालमें पृथिवीराज चौहान (सं० १२३०) के सखा और सामन्त चन्दबरदाईने अपना ग्रन्थ 'पृथिवीराजरासो' लिखा'।

२२--'दासमनोवृत्तिसे हमने मुसलमानोंसे दिये 'हिन्दु' नामको स्वीकृत किया—' ऐसी सम्भावना भी निर्मूल है। यह बात श्रद्धा नहीं कि— अपने देश तथा अपनी जातिके नामपर मर मिटने वाली राजपूत सद्यः वीर जातिके आश्रित कविगण तथा इस देशकी विशाल जनता दास-मनोवृत्ति वाली थी; तथा उसने मुसलमानों द्वारा जिनके साथ उनकी बड़ी शत्रुता बढ़ चुकी थी, जिनका इस देशमें अभी बहुत प्रभाव भी नहीं पड़ा था—प्रणाम दिये हुए 'हिन्दु' नामको अनायास स्वीकार कर लिया। शिवाजी मुसलमानोंके कट्टर शत्रु रहे; परन्तु उनके आश्रित कवि भूपणने भी अपनी कवितामें 'हिन्दु' शब्दका बड़े गौरवसे प्रयोग किया है—इससे स्पष्ट है कि—'हिन्दु' शब्द हमें मुसलमानोंसे नहीं मिला, किन्तु यह हमारा ही शब्द है। यह देशके नामके कारण जाति-का नाम है। यदि 'हिन्दु' को मुसलमानी अपभ्रंश भी माना जावे; तो भी मूल शब्द तो मुसलमानी नहीं; तब यह वैदेशिक कैसे हुआ? 'प्रेतरेपालोचन' में श्रीसायप्रतप्तामश्रमोने भी लिखा है—'तद् इत्यमर्या यतस्व अयं सिन्धुमेरुदण्ड इवासीत्'। 'सिन्धु' वह हमारे देश वा नदी-का नाम फारसवाले वा मुसलमानोंने नहीं रखा, किन्तु वह वैदिककालमें ही प्रसिद्ध रहा। पीछे चार वर्णोंसे अपना परिचय देनेकी शैली प्रचलित होगई; अतः इस 'सिन्धु' वा 'हिन्दु' शब्दका प्रचार ढीला पड़ गया।

२३--'इससे स्पष्ट है कि—हमारे देशका वैदिक अनुसार भी नाम 'सिन्धु' है। उसीके प्रधानवर्त, आर्यावर्त आदि भिन्न-भिन्न भाग हैं। 'ऋग्वेद' के १० वें मण्डलके ७२ वें सूक्तका ऋषि 'सिन्धुक्षित् प्रियमेध' माना गया है; उसका यही अर्थ है कि—सिन्धु देशका शासक वा 'सिन्धुदेश' में रहनेवाला। उस सूक्तके 'इमं मे गङ्गे ! यमुने ! सरस्वति ! शुतुद्रि ! स्तोमं सचता परुषया । अस्तिवन्त्या मरुद्वृधे ! वितस्तयाजी-कीये ! शृणुहि आ सुपोमया' (ऋ० १०।७२।२) वृष्टामया प्रयमं यातवे

सहः सुमत्या रसया श्वेत्या त्या । एवं सिन्धो ! कुमया गोमती कुमु
मेहान्वा मरथं याभिरीयसे (ऋ० १०।७२।६) इन मन्त्रोंसे सिन्धु देशकी
सोमा पर प्रकाश पड़ता है । यह याद रखना चाहिये कि—ऋग्वेदमें
नदियोंके नामोंसे देशोंको सूचित किया गया है, यही प्राचीन प्रथा है ।
'पंचनद' का अर्थ 'पञ्जाब—पांच नदियाँ' हैं; जब कि यह बड़े भारी
प्रान्तका नाम है । इसी प्रकार वेदमें 'सप्त-सिन्धु' से नदियोंके नामोंसे—
'देशोंको सूचित किया है । ऋग्वेदके अनुसार सिन्धु देशमें या सिन्धु
स्थानमें निम्नलिखित देश थे—

(१) सिन्धुदेश, तिब्बतसे लेकर कराची तक सिन्धु नदीके किनारेके
सम्पूर्ण देश । (२) हिन्दुकुश पर्वतमाला, (३) हिन्दुकुशके उत्तरीय
पारगंसे उत्तरमें रहनेवाली रसा तथा श्वेत्या नामक दोनों नदियाँ तथा
उनके चारों ओरके देश । (४) कुमा-काबुलदेशकी नदी, गोमती (गोमल)
नदी तथा कुमु (कुर्रम) नदीके चारों ओरके सम्पूर्ण देश । (५) गङ्गा,
यमुनाका द्वीप तथा साराका सारा पञ्जाब तथा सिन्ध प्रदेश, उक्त देशों-
को वेद 'सिन्धु' शब्दसे लेता है । वेदमें तरीकेसे 'हिन्दुस्थान' का यह
भूगोल वर्णित कर दिया है; तब इस देशकी जातिका नाम भी 'सिन्धु'
यही स्वाभाविक है ।

२४-'सिन्धौ अधिचियतः ऋ० १।१२६।१) इस मन्त्रमें भी 'सिन्धौ-
सिन्धुदेशे अधिचियतः-निवसतः' (सि-निवास्तगावोः) इस प्रकार 'सिन्धु'
'देश बतलाया गया है । श्रीपाणिनिने भी वेदाङ्ग व्याकरणमें (अष्टाध्यायी
४।३।=३) 'सिन्धु' देश माना है । तब सदासे 'सिन्धु' देशमें रहनेवाली
जातिका नाम भी 'सिन्धु' हो सकता है; क्योंकि उस-उस देशकी जाति
का नाम भी उस-उस देशके नामसे ही हुआ करता है, जैसेकि—जर्मन,
इंग्लिश, फ्रेंच, अरब, पौण्ड्रक, द्रविड, चीन आदि जातियाँ देशके
नामसे ही प्रसिद्ध हैं । ठीक भी यही होता है । देशके नामसे जातिका

नाम रहनेसे उस जातिके हृदयमें अपने उस देशका प्रेम और उसका अभिमान रहता है। उस देशके नाम वाली जाति उस देशकी रक्षाके लिये सदा अपने प्राणोंकी आहुति देनेको सज्जद रहती है। देशसे भिन्न जातिका नाम रखनेसे उस जातिका देश पर मोह या प्रेम नहीं रह सकता।

जब ऐसा है, हमारे देशका वैदिक नाम 'सिन्धु' है, 'सिन्धु' का ही दूसरा देशी रूप 'हिन्दु' है, उसकी जातिका नाम भी 'हिन्दु' है; तब "हिन्दुस्थान हिन्दुओंका, हिन्दु हिन्दुस्थानके" यह नारा सिद्ध हो गया। जबसे अंग्रेजीभाषापन्न लोगोंने इस देशके 'हिन्दुस्थान' नामका विरोध किया; वा विदेशोंको वे हमारा आदि-देश मानने लगे; तबसे मुसलमान भी तथा अंग्रेज भी इन्हे केवल हिन्दुओंका स्थान न मानकर अपना आधिपत्य भी इस पर मानने लगे। हमें भी अपनी तरह हिन्दुस्थानमें विदेशी सिद्ध करने लगे।

इसी 'हिन्दु' तथा 'हिन्दुस्थान' नामसे घृणा कराने वाले विदेशी-भाषापन्न जनोंने ही 'पाकिस्तान' को जन्म दिलाया। जो इस देशका नाम 'हिन्दुस्थान' नहीं मानते, और अपने आपको 'हिन्दु' नहीं मानते, उन्हें यहां रहनेका कोई अधिकार नहीं, उन्हें विदेशोंमें चला जाना चाहिये।

२५ 'हिंदु' शब्दकी वैदिकताका निरूपण हो चुका। यह वैदिक होता हुआ भी वैदिककालमें हिंदुजातिसे अतिरिक्त और कोई भिन्न जाति न होनेसे बहुत प्रचलित नहीं हुआ; क्योंकि दूसरी जातिसे भिन्नतार्थ ही यह नाम प्रचलित होता है। अतः पीछेकी जातियोंने तो हमारे इस नामको अपनी भेदकतार्थ अपने साहित्यमें अपनाया; पर हमारे अपने साहित्यमें यह कम ही रहा। उस समय अपनी भेदकताके लिए चार वर्णों तथा अवर्णोंकी जातियोंका नाम ही प्रसिद्ध रहा। तथापि 'हिंदु' नामका सङ्केत संस्कृत साहित्यमें क्वचित्-क्वचित् पाया भी जाता है।

‘भविष्यपुराण’ के प्रतिसर्ग पर्वके प्रथमखण्डके ‘जानुस्थाने जैत्रु शब्दः, ‘सप्तसिन्धुस्तथैव च । सप्तहिन्दुर्यावनी च’ (२।३६) में ‘हिन्दु’ शब्द प्रत्यक्ष है। आर्यसमाजी श्रीमनसारामने भी ‘भविष्यपुराणकी समालोचना’ की भूमिकामें इस प्रमाणको उद्धृत किया है। यह बात और है कि—वे इस वचनको प्रसिद्ध मानते हैं। अपनेसे विरुद्ध वचनोंको वे लोग जहाँ-तहाँ अपने मानकी रक्षार्थ प्रसिद्ध मानते हैं, पुराणोंमें तो कहना ही क्या ? यह तो उनकी प्रकृति ही है। २ ‘हिंदवो विन्ध्यमाविशन्’ इस कालिका पुराणके वचनमें भी ‘हिन्दु’ शब्दकी सुनवाई है। ३ इसी प्रकार ‘हिन्दुधर्म प्रलोसारो जायन्ते चक्रवर्तिनः। हीनं च दूषयत्येव स हिन्दु रूष्यते प्रिये ! (२३ प्रकाश) ‘मेरुतन्त्र’ के इस स्थलमें भी ‘हिन्दु’ शब्द मिलता है। हीन- अर्थात् हिन्दुधर्मादिहीन- निकृष्टको दूषित (दुःखित) करनेवाला ‘हिन्दु’ होता है। तब इसका ‘दुर्वच-धीटक’ अर्थ करते हुए श्रीवेदानन्दतीर्थ निरस्त होगये। जो कहते हैं कि- मेरुतन्त्रमें ‘खान, नीर’ आदि शब्द उपलब्ध हैं, अतः उक्त ग्रन्थ आधुनिक है ; जैसे कि ‘पश्चिमाम्नायमन्त्रास्तु प्रोक्ताश्चान्य भाषया । पञ्च खानाः सप्त मीरा नव साहा महावलाः । हिन्दुधर्मप्रलोसारो जायन्ते चक्रवर्तिनः । किरा- भाषया मन्त्रास्तेषां संसाधनात् कलौ । इक्ष्वरेजा नयपट् पञ्च लयङ्जा- आपि भाविनः’ इत्यादि, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर ‘भाविनः’ शब्दसे उनका भविष्यत् में होना ही बतलाया है, वर्तमान होना नहीं। पुराणोंमें तो कलियुगके अन्तमें होनेवाले कलकी अवतारका भी वर्णन है; तो क्या घादी पुराणोंको भी कलिके अन्तमें बना हुआ मानेंगे ? ऐसा नहीं। इसी भाँति ‘भूयो दश गुर्यडास्तु’ (१०।१।२८) श्रीमद्भागवतके इस पद्यमें भी गुरुङ्क, गुरुङ्कट, यवन आदि राजाओंका भाषी वृत्तान्त वर्णित किया गया है। भाषी होनेसे वर्तमानताका खण्डन हो रहा है।

४ ‘हिंदवो विन्ध्यमाविशन्’ यह शाङ्गधरपद्धतिमें पद्य है।

५ ‘हिंनस्ति तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान् । हेतिभिः शत्रुवर्गं च

स हिन्दुरभिधीयते' यह 'पारिजातहरण' नाटकमें है। इसमें 'हिन्दुपति' शब्द कई बार आया है। ६ हिन्दुहिन्दूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विधर्पणे। रूपशालिनि दैत्यारौ इत्यादि अद्भुत कोपमें आया है। ७ 'हीनं दूषयति' इति 'हिन्दुः' पृषोदरादिवात् साधुः जातिविशेषः' यह शब्द-कल्पद्रुम कोपमें आया है। ८ इसी प्रकार 'वाचस्पत्य' कोप आदि में भी।

वैदिक साहित्यमें हमारे देशका नाम

२६ वेदमें हमारे देशका नाम 'भारतवर्ष' वा 'आर्यावर्त' नहीं मिलता, किन्तु 'सिन्धु' मिलता है यह हम आरम्भमें कह चुके हैं। वेदमें भारतवाचक 'सिन्धु' से व्यतिरिक्त कोई भी शब्द नहीं है। तो क्या यह माना जाय कि वेदमें हमारे देशका नाम ही नहीं है? ऐसी बात नहीं। जो वेद हमारे भारतवर्षकी धर्मपुस्तक हैं, सर्वशः परमात्माकी रचना है, जिनमें भारतीय नदियों-पर्वतोंके नाम मिलते हैं, उनमें यह सम्भव नहीं कि हमारे देशका नाम सर्वथा न हो। भूगोल या इतिहास में देश आदिके नाम हों और हमारी धर्मपुस्तकमें प्रसक्तानुसक्त भी हमारे देशका नाम न हो, यह नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्दजी के 'सत्यार्थप्रकाश' में तथा मनु आदि की स्मृतियों में हमारे देशका नाम 'आर्यावर्त' मिलता है, इससे ठीक पुस्तकें भूगोल या इतिहास नहीं बन जावें। अतः स्वामी वेदानन्दतीर्थका 'हमारा नाम आर्य है हिन्दू नहीं' इस अपनी पुस्तकके १४वें पृष्ठमें 'वेद इतिहास या भूगोलकी पोथी नहीं, जो उसमें 'आर्यावर्त' या 'भारतवर्ष' नाम मिलता' यह कहना उचित नहीं है।

वेदमें हमारे देशका नाम है और वह है 'सिन्धु'। कई लोग 'भारतीले' (ऋ० १।१८८।८) इस मन्त्रांशसे 'भारतस्य इयम् इति भारती। भारती यासौ इला (पृथिवी) च तत्सम्बुद्धौ—हे भारतीले' इस प्रकार

वेदमें भारतभूमिका नाम सिद्ध करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। यहाँ 'भारति !' और 'इले' ये पद मिश्र-मिश्र हैं, दोनों ही सम्बोधनांत हैं और मिश्र-मिश्र देवियोंके सम्बोधन हैं, इसमें 'भारति ! इले ! सर-स्वति ! या ॥ सर्वा उपद्रुवे' । ऋ० १११८८८८८८ यह बहुवचन श्रापक है। स्वर भी सम्बोधन का है। यहाँ 'इला' भी नहीं है कि पृथिवीका नाम हो जाये, किन्तु 'इडा' शब्द है, 'ड' को वैदिक 'ल' हुआ है, इसलिए यह पृथिवी-वाचक भी नहीं है। इधर वेदमें 'भारत' शब्द भी अग्निके लिए प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि वह दूसरे देवोंका हव्य-भरण (धारण) करता है। यह बात 'शतपथब्राह्मण' (११४१४२) में स्पष्ट है। तब 'सिन्धु' देशका 'भारत' यह नाम भी अर्वाचीन है। 'सिन्धु' जाति यह नाम उस सिन्धु देशकी जातिका पूर्वकालसे चल रहा है, 'भारत' यह हमारी जातिका नाम प्रसिद्ध नहीं। भारतकी रहनेवाली बाह्य जातियोंको भी 'भारतीय' शब्द से कहा जाता है, 'सिन्धु' 'हिन्दु' शब्दमे नहीं, इसलिए उक्त मन्त्रमें हमारे देशका नाम 'भारती इला' आया है, यह किन्हींकी कल्पना असम्भव ही है।

इससे स्पष्ट है कि वेदमें भारतवर्षका नाम 'सिन्धु' ही है। इसलिए आर्यसमाजिक विचारवाले भी पं० सत्यमत सामभ्रमीजीने अपने बनाये 'ऐतरेयाब्राह्मण' (३० पृष्ठ) में भी कहा है—'तावतस्तु एतद-ग्रिसतनदी-परिवृतः 'सिन्धु' मध्य एवासीत् पूर्वकालिक आर्यावर्त इति'। उन्हीं सामभ्रमीजीने वेदमें 'आर्यावर्त' या 'भारत' नामके न होनेके विषय में कहा है—'अयैतद् आर्यावर्ताभिधानं न क्वचिदपि संहितायां, ब्राह्मणे वा श्रुतमस्ति' (ऐत० पृ० २०)।

हिन्दु कौन ?

२० इससे 'सिन्धु' देशमें स्थित मुसलमान, अङ्गरेज, अमेरिकन 'हिन्दु' शब्दसे सम्बोधित नहीं किये जा सकते, क्योंकि यद्यपि वे इस

देशमें तो हैं, परन्तु इस देशकी जाति वाले नहीं। जाति तो उस देशमें प्रादिजन्मवालोंके वंशमें उत्पत्ति होने पर तथा उन्हींके साथ समान-रक्त-सम्बन्धादि होने पर होती है, यह नहीं भूलना चाहिए। वैसी उत्पत्ति वर्णाश्रमियोंकी तथा श्रुति-स्मृति-पुराणप्रोक्त धर्मका अनुसरण करनेवालों की होती है। इसलिए मुख्य हिन्दु या हिन्दु जातिवाले भी वही हैं। वर्णसङ्कर निन्दित तो अवश्य हैं, तथापि उनका भी, इन्हींमें अन्तर्भाव है। अतएव वे भी 'हिन्दु' कहे जा सकते हैं। कई सुधारक लोग 'हिन्दु' शब्दको इसीलिए ग्रहण करना नहीं चाहते कि कदाचित् वे भी वर्णाश्रमी सनातनधर्मियोंमें न गिन लिये जाय। वास्तवमें हमारे पूर्वजोंने जन्ममूलक वर्णाश्रम व्यवस्थासे हमारे हिन्दुराष्ट्रको आजतक सुरक्षित रखा, जिसे आजकलके अर्वाचीन सुधारकभास पारसी, मुसलमान, अङ्गरेज, अन्त्यज आदिके साथ रक्त-सम्बन्ध करके दूषित करना चाहते हैं। वस्तुतः वे ऐसा करके अन्य जातियोंको सबल तथा हमारी जातिको निर्बल करना चाहते हैं। इस विषयमें हिटलरकी 'मेरा सङ्घर्ष' नामक पुस्तकमें रक्त-सम्बन्धविषयक उसके विचार पढ़नेयोग्य हैं। अस्तु।

आर्य शब्द पर विचार:

२८ जो लोग हमारी जातिकी संज्ञा 'आर्य' मानते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि यह 'आर्य' शब्द 'गुणशब्द' है, 'जातिशब्द' नहीं। यादिगण वेदमें रुद्र तथा योगरुद्र शब्द नहीं मानते। तब वेदमें 'आर्य' शब्दका रुद्र-योगरुद्र अर्थ भी नहीं ले सकते। तब यह शब्द 'सिन्धु' जातिमें जो श्रेष्ठ थे, उन्हींके लिए प्रयुक्त हुआ, सर्वसाधारणके लिए नहीं। स्वामी दयानन्दजीने भी यह स्वीकृत किया है। देखिये— 'आर्य' नाम उत्तम पुरुषोंका और आर्योंसे भिन्न मनुष्योंका नाम 'दस्यु' है ('सत्यार्थ एकदशसमुल्लासास्म' पृ० १७२)। 'आर्य' नाम धार्मिक विद्वान्, शास्त्र पुरुषों और इनसे विपरीत जनोंका नाम 'दस्युः' अर्थात्

वेदमें भारतभूमिका नाम मित्र बरते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। यहाँ 'भारति।' और 'इले' ये पद मित्र भिन्न हैं, दोनों ही सम्बोधनात् हैं और मित्र भिन्न देवियोंके सम्बोधन हैं, इसमें भारति। इले। सरस्वति। या व सर्वा उपयुक्ते। (ऋ० १।१८।८) यह बहुवचन ज्ञापक है। स्वर भी सम्बोधन का है। यहाँ 'इला' भी नहीं है कि पृथिवीका नाम हो जाय, किन्तु 'इला' शब्द है, 'इ' को वाँटकर 'ल' हुआ है, इसलिए यह पृथिवी-वाचक भी नहीं है। इतर वेदमें 'भारत' शब्द भी अग्निके लिए प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि वह दूसरे देशोंका हव्य-भरण (धारण) करता है। यह बात 'शतपथब्राह्मण' (१।४।१।२) में स्पष्ट है। तब 'सिन्धु' देशका 'भारत' यह नाम भी अर्वाचीन है। 'सिन्धु' जाति यह नाम उस सिन्धुदेशकी जातिका पूर्वकालसे चल रहा है, 'भारत' यह हमारी जातिका नाम प्रसिद्ध नहीं। भारतकी रहनेवाली बाह्य जातियोंको भी 'भारतीय' शब्द से कहा जाता है, 'सिन्धु' 'हिन्दु' शब्दमें नहीं, इसलिए उक्त मन्त्रमें हमारे देशका नाम 'भारती इला' आया है यह किन्हींकी कल्पना असङ्गत ही है।

इससे स्पष्ट है कि वेदमें भारतवर्षका नाम 'सिन्धु' ही है। इस लिए आर्यसमाजिक विचारवाले भी पं० सत्यवत सामभ्रमीजीने अपने बनाय 'प्रेतरेयालोचन' (३० पृष्ठ) में भी कहा है—'तावत्तु पृथक् त्रिसहस्रदी परिवृत्त 'सिन्धु' मध्य एवासीत् पूर्वकालिक आर्यावर्त इति'। उन्होंने सामभ्रमीजीने वेदमें 'आर्यावर्त वा भारत' नामके न होनेके विषय में कहा है—'अयैतद् आर्यावताभिधान न क्वचिदपि सहिताया, ग्राह्ये वा श्रुतमस्ति' (प्रेत० पृ० २०)।

हिन्दु कौन ?

२७ इससे 'सिन्धु' देशमें स्थित मुसलमान, अङ्गारेज, अमेरिकन 'हिन्दु' शब्दसे सम्बोधित नहीं किये जा सकते, क्योंकि यद्यपि ये इस

देशमें तो है, परन्तु इस देशकी जाति वाले नहीं। जाति तो उस देशमें आदिजन्मवालोंके वंशमें उत्पत्ति होने पर तथा उन्हींके साथ समान-रक्त-सम्बन्धादि होने पर होती है, यह नहीं भूलना चाहिए। वैसी उत्पत्ति वर्णाश्रमियोंकी तथा श्रुति-स्मृति-पुराणप्रोक्त धर्मका अनुसरण करनेवालों की होती है। इसलिये मुख्य हिन्दु या हिन्दु जातिवाले भी वही हैं। बणसङ्कर निन्दित तो अवश्य हैं, तथापि उनका भी, इन्हींमें अन्तर्भाव है। अतएव वे भी 'हिन्दु' कहे जा सकते हैं। कई सुधारक लोग 'हिन्दु' शब्दको इसीलिये ग्रहण करना नहीं चाहते कि कदाचित् वे भी वर्णाश्रमी सनातनधर्मियोंमें न गिन लिये जाय। वास्तवमें हमारे पूर्वजोंने जन्ममूलक वर्णाश्रम व्यवस्थासे हमारे हिन्दुराष्ट्रको आज तक सुरक्षित रखा, जिसे आजकलके अर्वाचीन सुधारकभास पारसी, मुसलमान, अङ्गरेज, अन्यज आदिके साथ स्वतन्त्र-सम्बन्ध करके दूषित करना चाहते हैं। वस्तुतः वे ऐसा करके अन्य जातियोंको सबल तथा हमारी जातिको निर्बल करना चाहते हैं। इस विषयमें हिटलरकी 'मेरा सङ्घर्ष' नामक पुस्तकमें रक्त-सम्बन्धविषयक उसके विचार पढ़नेयोग्य हैं। अस्तु।

आर्य शब्द पर विचार

ऐन जो लोग हमारी जातिकी संज्ञा 'आर्य' मानते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि यह 'आर्य' शब्द 'गुणशब्द' है, 'जातिशब्द' नहीं। यादगण वेदमें रुद्र तथा योगरुद्र शब्द नहीं मानते। तब वेदमें 'आर्य' शब्दका रुद्र-योगरुद्र अर्थ भी नहीं ले सकते। तब यह शब्द 'सिन्धु' जातिमें जो ध्रेष्ट शे, उन्हींके लिए प्रयुक्त हुआ, सर्वसाधारणके लिए नहीं। स्वामी दयानन्दजीने भी यह स्वीकृत किया है। देखिये— 'आर्य' नाम उत्तम पुरुषोंका और आर्योंसे भिन्न मनुष्योंका नाम 'दस्यु' है ('सत्यार्य एकादशसमुल्लासारम्भ' पृ० १०२)। 'आर्य' नाम धार्मिक विद्वान्, आप्त पुरुषों और इनसे विपरीत जनोंका नाम 'दस्युः' अर्थात्

ढाक, दुष्ट अधार्मिक और अविद्वान् है" (सत्यायं प्रकाश = समु० १४० पृष्ठ), "आदिसृष्टिमें एक मनुष्यजाति थी परचात् ... श्रेष्ठोंका नाम आर्य और दुष्टोंके दस्यु दो नाम हुए" (स० प्र० पृ० १३६), "आर्य श्रेष्ठ और दस्यु दुष्ट मनुष्यको कहते हैं" (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश २६ संख्या)। इस प्रकार स्वामी दयानन्दजीने भी 'आर्य' शब्दको गुणवाचक दिखलाया है।

जो साधारण गवेषक लोग नाटकोंमें 'आर्यपुत्र' आदि शब्द देखकर तथा 'भगवद्गीता' में 'अनार्यलुष्टमस्वर्ग्यम्' (२।२) एवं 'महानारत' में 'यस्योदक मधुपर्कं गां च न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति रोहे। ... तस्यानर्यं जीवितमाहुर्गार्वाः' (उद्योगपर्व ३८।३) एतदादि स्थलोंमें 'आर्य' शब्द देखकर आनन्दके आंसु बहाते हुए अपनी गवेषणाकी चरम सीमा मानते हैं, ये दयनीय हैं। वहाँ 'आर्य' शब्द श्रेष्ठतावाचक है, जातिवाचक नहीं। "यदायमस्यामभिलापि मे मनः" (१।२३) इस 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटकके रङ्गोक्तमें मन को भी 'आर्य'—श्रेष्ठ—बतलाया गया है, मन की आर्यजाति कैसे हो सकती है? परन्तु पतिको 'आर्यपुत्र' कहती है। 'आर्य' को हिन्दुजातिस्थानापन्न माननेपर 'हिन्दुपुत्र' इस सम्बोधनसे क्या लाभ है? जहाँ अन्य स्थलोंमें भी 'आर्य' यह सम्बोधन दिया गया है, वहाँ भी 'हिन्दुजाति' यह अर्थ इष्ट नहीं होता, नहीं तो ऐसा सम्बोधन असाभिप्राय होनेसे स्पर्श हो जाय। वैसा सम्बोधन तो हमें भिन्न धर्मवाला या भिन्न जातिवाला देता है, समान धर्मवाला तथा समान जातिवाला वैसा सम्बोधन नहीं देता, क्योंकि इसमें कोई व्यभिचार (दीप) नहीं आता, जिससे वैसा विशेषण देना सार्यंक हो जाय। इसीलिए तो हमारे साहित्यमें 'हिन्दु' शब्द कम मिलता है, क्योंकि हमारे ही व्यक्ति हमें वैसा सम्बोधन कैसे दें? अन्य विधर्मियोंके साहित्यमें इसीलिए 'हिन्दु' शब्द अधिक मिलता है, क्योंकि यह स्वाभाविक है।

यदि हमारे संस्कृतसाहित्यमें 'हिन्दु' शब्दके अल्पतम प्रयोगसे इसे वैदेशिक माना जाय, तो सिख, गुजरात, सिमा आदि शब्द भी संस्कृत-साहित्यमें नहीं मिलते, इनके शुद्ध शब्द शिष्य, गुर्जर, सीता आदि संस्कृतसाहित्यमें सुलभ हैं, तब क्या सिख आदि शब्दोंको इससे वैदेशिक मान लिया जाया करेगा ? इस प्रकार 'हिन्दु' शब्दका मूलभूत 'सिन्धु' शब्द भी वैदिक संस्कृतमें सुलभ है। हमारे साहित्यमें हिन्दु शब्दकी अल्पतमात्रामें प्राप्ति का एक कारण भी है। वह यह है कि पहले एक समष्टिनामसे उच्चारणकी शैली प्रायः नहीं थी। पहले तो चतुर्थ्य तथा अवयव जातियोंके नामसे पृथक्-पृथक् आह्वानकी शैली थी।

इस प्रकार 'धर्मरूप' आदिमें यदि 'हिन्दु' शब्द नहीं मिलता, तो वहाँ 'आर्य' शब्द भी हमारी जाति का वाचक नहीं मिलता, किन्तु श्रेष्ठमात्र का। तब इस प्रकारके गवेषक अधिक परिश्रम करें। यदि वे इस विषयमें पुराणोंके प्रमाण दें, तो उन्हें पुराण भी प्रमाण मानने पड़ेंगे, तब तो उसमें स्थित 'हिन्दु' शब्द भी प्रमाण मानना पड़ेगा। वस्तुतः उनमें भी 'आर्य' पद श्रेष्ठतावाचक है, जातिशब्द नहीं।

वेदमें जहाँ 'आर्य' शब्द आता है, वहाँ सायण आदि प्राचीन भाष्यकारोंने उस शब्दसे श्रेष्ठ होनेसे 'ब्राह्मण' ही गृहीत किया है। 'प्रधानेन हि उपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे उसके उपलक्षणसे चतुर्थ गृहीत किये गये हैं। इसीलिए "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" (३।१।१०३) इस सूत्रके प्रत्युदाहरणमें 'काशिका-कौमुदी' आदिमें 'आर्यो ब्राह्मणः' यह दीखता है। 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' से "अर्याऽभावे यः करच आर्यो वर्णः" (४।३।६) इस सूत्रका अग्निस्वामीका भाष्य इस प्रकार है— "यदि वैश्यो न लभ्यते; यः करच आर्यो वर्णः स्याद, ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा"। इसी प्रकार वेदमें भी है... "अहं भूमिसददामार्याय"

(श्रु० ४।२६।२), "हृत्वी दस्यून् आर्यं वर्णं प्रावन्" (श्रु० ३।३४।६) इत्यादि स्थलों में भी जानना चाहिए।

अर्यन शब्द

२६ जो लोग अंग्रेज आदिसे हमारे लिए 'अर्यन्' वह नाम प्रयुक्त देखकर प्रसन्न हो जाते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि वे हमें आर्यावर्तमें रहने वाला होनेसे 'अर्यन्' नहीं कहते, किन्तु 'ईरान' प्रदेशसे आया हुआ मानकर वे हमें 'अर्यन्' कहते हैं। अतएव उनसे प्रयुक्त 'अर्यन्' शब्द अन्न ही है। इससे 'आर्य' नामके प्रेमियोंको प्रसन्न नहीं होना चाहिये। 'आर्यावर्त' में रहने वाले होनेसे तो वे हमें 'इण्डियन्' कहते हैं, 'अर्यन्' नहीं। उस 'इण्डियन्'का मूल शब्द 'सिन्धु' वा 'इन्दु' ही है, यह पहले कहा जा चुका है। 'अर्यन्' कहकर वे हमें ईरानसे आया हुआ इसलिए सिद्ध करते हैं कि ये लोग भी भारतवर्षको स्वदेश न मानें, किन्तु अपने आपको प्रवासी मानें। जैसे अरबसे मुसलमान भारतमें आकर रहते हैं, जैसे अंग्रेज इंग्लैण्डसे यहाँ आकर रहते हैं, उनका भारतवर्ष अपना देश नहीं, किन्तु विदेश है, वैसे यह आर्य भी ईरान से ही यहाँ आये हैं। इसलिए भारतवर्ष भी इनका अपना देश नहीं किन्तु परदेश ही है। वहाँ उनकी यही गुप्त नीति है कि जैसे प्रवासी मुसलमान इस देशको अपना देश न मानकर उसके खराब कराना चाहते हैं या करा चुके हैं, उनका इस देशसे प्रेम नहीं, वैसे ये 'अर्यन्' नामधारी भी ईरानके रहने वाले होनेसे उसीको अपना देश मानें, उससे ही स्नेह करें, भारतवर्षको रक्षाके लिए ये लोग अपना रक्त न बहायें।

वास्तवमें वेदशास्त्रके देखनेसे हमारी जन्मभूमि वा स्वदेश सिन्धु (भारतवर्ष) ही सिद्ध होता है। इन अंग्रेज आदिके अधुमान तो कपोल-वदपनामाप्रविश्रान्त होनेमें प्रायः निराधार हैं। इस प्रकार जो लोग हमें

मध्यएशियासे या 'उत्तरमेरु' से आया हुआ मानते हैं, यह सब भ्रममात्र है। वेद सृष्टिके आदि समयसे बनाये हुए माने जाते हैं। मैक्समूलर आदि पश्चिमी विद्वान् भी 'ऋग्वेद' को पृथिवीका सर्वप्रथम ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु उन वेदोंका आविर्भाव भारतमें अन्य देशमें कोई ठीक-ठीक सिद्ध नहीं कर सका है। यदि ऐसा है, तब 'ऋग्वेद' से अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं कि हमारा देश कौनसा है। प्रत्येक प्राचीन जातिका 'परिचयचिह्न' होती है उसकी 'भाषा'। परन्तु जो हमें बाहरसे आया हुआ मानते हैं, वे क्या यहाँकी तथा हमारी भाषाको समान सिद्ध कर सकते हैं? संसार की जिस उन्नत जातिने उच्च सोपानपर आरोहण किया, चाहे वे जातियाँ भिन्न-भिन्न दिग्दिगन्तोंमें फैल भी जायें, तथापि उनका आदिनिवास-स्थान नियत ही हुआ करता है। जो जातियाँ अपनी सख्यावृद्धिसे भिन्न-भिन्न देशोंमें अपने उपनिवेश बनाया करती हैं अथवा उस-उस देशमें प्रतिष्ठित हो जाती हैं, उन जातियोंके अपने देशमें अपने चिह्न तथा भाषा नियत होती है। अंग्रेजोंको ही देख लीजिये। वे बहुत फैले, ईसाकी १६ वीं शताब्दी से वे भिन्न-भिन्न प्रांतों में फैलते दिखलायी पड़ते हैं। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, एशिया आदिमें सर्वत्र वे रहते हैं, परन्तु क्या उन्होंने स्वदेशको सर्वथा भुला दिया? क्या अपने देशमें अपनी भाषा या अपने चिह्न प्रतिष्ठित नहीं किये? प्रत्युत उन्होंने तो इससे अपने देशकी ही प्रतिष्ठा बढ़ायी है। इस प्रकार अन्य जातियों पर भी दृष्टि डालिये।

सभी जातियोंने विदेशोंमें उन्नति करके अपने देशके ही मुल्यको उज्ज्वल किया है। सभी जातियोंने अपने देशकी श्रीवृद्धिमें तथा उसके मंगलार्थ पदों उस देशकी भाषाके प्रचारमें ही सदा अपना गौरव समझा है। तब सबसे मन्द हिन्दुजाति ही इस मोटी भूलको क्योंकर कर सकती है कि अपने आदिदेशको भुलाकर यहाँ आगयी और अपने आदिदेशमें कोई भी अपना चिह्न स्थापित नहीं किया? क्या 'मध्य एशिया' आदि

हिन्दुजातिके तथाकथित देशोंमें संस्कृतभाषा दिखलायी देती है ? क्या वहाँ ब्राह्मण आदि चार वर्ण या अन्य वेदादिके प्रचार-विह्व पाये जाते हैं ?

वस्तुतः वह भारतवर्ष ही हमारा आदिदेश है। इसीलिए आदि-मृदुपुत्र मनु ने लिखा है—‘एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिष्येण पृथिव्यां स्मर्यमानवा।’ (१।१०)। इस प्रकार भारतवर्ष ही हमारी आदि जन्मभूमि है। भारतसे ही अन्य दिशा-विदिशाओंमें गये हुए हमारे बन्धुओंने वहाँ-वहाँ अपने उपनिवेश बनाये जिनके विह्व कभी-कभी भूगर्भ खोदने पर मिलते हैं। वहाँ के अग्रजन्मा ब्राह्मण ही जगद्गुरु होकर फैले।

वेदादिमें वहाँ ऋतुओंका वर्णन मिलता है, भारतसे भिन्न अन्य किसी भी देशमें वहाँ ऋतु नहीं मिलते, इससे भारतवर्ष ही हमारी जन्मभूमि सिद्ध होनी है। ‘धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे’। विष्णुपुराण २।३।२४) यह कहकर देवगण भी हमारी जन्मभूमि भारतवर्षमें ही आने के लिए लालायित रहते थे। वहाँ के ही अर्जुनने दिग्विजय करके भारतका नाम विदेशोंमें प्रसिद्ध कर दिया था, इसी तरह अन्य ऋषियोंने भी। फलतः हमारा आदि निवासस्थान मिथुदेश ही है, जो कालान्तर में भारतवर्ष नामसे प्रसिद्ध हुआ। वहाँ के स्वायम्भुव मनुके पुत्र सग्राट् प्रियव्रतने पृथिवीको सात द्वीपोंमें बाँटा और अपने राज्यको जहाँ-तहाँ फैलाया। इससे ही हमारे पूर्वज दूर-दूर देशोंके वृत्त जानते थे। इसीलिए ही जहाँ-तहाँ उन-उन देशोंका वर्णन दिखलायी पड़ता है, वहाँ पर आदिनिवासके कारण नहीं।

अंग्रेजोंके भूगोलमें यदि कहीं ‘काम्सकाट’ नामक छुट्टा ग्रामकी पुरानी कहानी लिखी हो, तो इससे अंग्रेज उस गाँवके रहनेवाले कदापि भिन्न नहीं हो सकते। वेदादिमें जो शीतका वर्णन वा दीर्घ उपाका वर्णन दिखलायी देता है, वह हमारी अभिज्ञानतावश मिलता है, हमारे वहाँ

आदिनिवासके कारण नहीं। हमारे वेदादिशास्त्रोंमें तो आकाश, स्वर्गादि लोकों का वर्णन भी मिलता है, तो क्या हमारा मूलनिवास वहाँ कोई मान सकता है? वेद सर्वान्तर्यामी की कृति है, 'उसमें घुणाहरन्याय से यदि कहीं भारतसे दूरके देशोंका वर्णन या उनकी प्रकृति का वर्णन दिखलायी पड़े, तो इसका कारण सर्वज्ञता है, इससे हमारा उसमें आदिनिवास कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए इस विषयमें पारधा-
त्यों या तदनुपायी पौरुष्यों के व्यभिचारी अनुमानों का मुख्य कपोल-
करूपनामे बंधकर नहीं है।

आर्य और शूद्र

३० इससे स्पष्ट हुआ कि अंग्रेजों द्वारा हमें 'अर्यन' कहे जानेका क्या रहस्य है। यह 'अर्यन' 'आर्य' का अपभ्रंश नहीं है, अथवा यदि हो भी, तो वहाँ 'आर्य' से भी उन्हें 'ईरानसे आये हुए' यह अर्थ अभीष्ट है, 'सर्वश्रेष्ठ' अर्थ नहीं। अथवा यादितोपन्यायसे मान भी लिया जाय कि 'आर्य' हमारी जातिका नाम है, पर ऐसा होने पर वह व्यापक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'उत्त शूद्रो उत्त आर्यो' (अथर्व १६।१२। १), 'उत्त शूद्रो उत्त आर्यन्' (अथर्व ० ४।२०।८), 'शूद्राय च आर्याय च' (अथर्व ० १६।२१।८), 'यो नो दाम आर्यो वा' श्रु ० १०।३८।३), 'यश्च शूद्रो उत्त आर्यः' (अथर्व ० ४।२०।४), 'आर्याय वा पर्यायदध्यात्, अन्तर्धिने वा शूद्राय' (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।३।४०—४१), 'आर्याधि-
ष्टिता वा शूद्राः संस्कर्तारः (स्थानशुद्धिकर्तारः अन्नसंशोधका वा) स्युः' (आपस्तम्ब धर्म ० २।२।२।४) इत्यादि वेदादिके प्रमाणोंमें आर्य एवं शूद्र के पृथक् पृथक् ग्रहणसे सिद्ध होता है कि शूद्र आर्य नहीं हैं।

म्यामी दयानन्दजीने भी यह स्वीकृत किया है, देखिये—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजोंका नाम आर्य और शूद्रका नाम अनार्य है' (सत्यार्थ-

प्र० = समु०, १४० पृ०), 'द्विज विद्वानोंका नाम आर्य और मूर्खोंका नाम शूद्र और अनार्य नाम हुआ।' (स० प्र० पृ० १३६) यदि उन्होंने कहीं शूद्र को 'आर्य' लिखा भी है तो वहाँ शास्त्र-विरोध है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर आर्यसमाजी विद्वान् ने भी 'दृष्ट और घट्ट' पुस्तक के पूर्वाध (२१ पृ०) में लिखा है—'उक्त शूद्र उक्त आर्य' (अथर्व० ४।२०) के सरस प्रयोग वंशमें कई स्थानोंमें नजर आते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि आर्य श्रैष्ठिक लोग हैं और अनार्य शूद्र हैं'। इस विषयमें अधयवेदसाधनमें श्रीराजाराम शास्त्री, 'अस्पृश्यनिर्णय' में आर्यस्वराज्य-सभाके मन्त्री श्रीरामगोपाल वैद्यभूषण, चतुर्वेदभाष्यकार श्रीजयदेवजी और श्रीनरदेव शास्त्री, श्रीदेवशर्मा, श्रीवेमकरण आदि आर्यसमाजी विद्वान् भी सहमत हैं। आर्यसमाजके प्रसिद्ध स्वामी विश्वेश्वरानन्द निम्बानन्दजीने भी अपनी वेदपद-सूचीमें उक्त मन्त्रमें 'आर्य' यही पद स्वीकृत किया है। इससे 'आर्य' का वेद करनेवाले श्रीशिव-शङ्कर काऽपत्तिर्धनो का मत सिद्ध होगया।

आर्य शब्द

३१ जब शूद्र ही 'आर्य' नहीं रहा, तब चावडाल आदि अवधियोंकी तो 'आर्य' संज्ञा हो ही कैसे सकती है? उचित तो यह है कि भारतवर्षीय जातियोंका समस्त नाम ही। 'गमिमेव तु आर्याः प्रयुज्यते' महाभाष्यादि में दिया यह आर्य शब्द ब्राह्मणवाचक है, 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे द्विजोंका उपलक्षक है, जैसे कि 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः पठन्ती वेदोऽध्येयी श्रेयश्च' यहाँ ब्राह्मण शब्द प्रधान होने में उपलक्षण है, अन्यथा चित्रि-वैर्योंके लिए वेदाध्ययन निषिद्ध हो जाय। भाष्यकारकी यह शैली है कि वे प्रायः ब्राह्मणोंके ही उदाहरण दिया करते हैं। इस विषयमें महाभाष्यका पारायण करना चाहिए। तब 'महाभाष्य' में भी 'आर्य' शब्द प्राप्तव्ययको अथवा सत्त्वान्ति

श्रेष्ठत्वको मानकर ब्राह्मणवाचक ही सिद्ध हुआ जातिशब्द नहीं। इसी-
लिये 'माहित्यदर्पण' के छठे परिच्छेद में 'भाष्योक्तियों' में 'स्वेच्छया
नामभिर्विप्रैर्विप्र आयेति चेतरेः' इस प्रकार ब्राह्मणको 'आर्य' सम्बोधन
देना कहा है। इस प्रकार ब्राह्मणको 'आर्य' सम्बोधन देना कहा है।
इस प्रकार 'मृत्युविप्रान् जिघांसति' (मनु० २।४) इत्यादिमें भी 'विप्र',
नाम 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे आया है।

'पूतान् द्विजातयां देशान् (ब्रह्मवर्त, कुरुक्षेत्र, मास्य, पाञ्चाल,
शूरसेन, मध्यदेश, आर्यावर्तदेशान्) संधयेरन् प्रयत्नतः। यद्वास्तु यस्मिन्
कस्मिन् वा (स्वेच्छदेशेषि) निवसेद् वृत्तिकर्षितः' (मनु० २।२४) इस
प्रकार द्विजायुष्योंका ही भारतवर्षमें प्रधानतासे निवास बतलाया है,
यूद्धोंका तो गौणतासे। इसलिये २।४।१० सूत्रके 'महाभाष्य' में
'आर्यावर्ताद् अनिरवसितानाम्' इस प्रघट्टकसे सब तरहके यूद्धोंका आर्या-
वर्तमें निवासका अधिकार नहीं माना है। तब 'आर्यावर्त' यह नाम
आर्यों—ब्राह्मणोंके प्रधानतया निवासके कारण ही कहा है—'प्रधानेन
हि व्यपदेशा भवन्ति'। जैसा कि जिस ग्राममें मुसलमान अधिक रहा
करते हैं, वहाँ थोड़े हिन्दुओंके होते हुए भी वह ग्राम मुसलमानोंका ही
कहा जाता है। काबुल-कान्धारमें थोड़े हिन्दुओंके होते हुए भी वह
देश 'अफगानिस्तान' कहा जाता है। आजकल भारतवर्षमें थोड़े
मुसलमानोंके होने पर भी उसे 'हिन्दुस्तान' ही तो कहा जाता है।
प्रधानताके कारण किसीके नामसे देशका नाम होने पर भी अन्य
अप्रधान प्रजाका अभाव सिद्ध नहीं हो जाता। इसके अनुसार तब
ब्राह्मणोंकी प्रधानतासे हमारे देशविशेषका 'आर्यावर्त' यह नाम 'प्रधानेन
हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे प्रसिद्ध है। वह आज भी वैसे ही
रूढ़ है। इसमें यह सिद्ध हो गया कि समस्त भारतीयोंका 'आर्य' यह
नाम नहीं है। तब यद् अनार्य सिद्ध हुए, इसी प्रकार अवर्ण तथा

पर्याप्तिकर भी । इस प्रकार 'महाभाष्य' के वचनमें 'आर्य' शब्द ब्राह्मण-
वाचक सिद्ध हुआ । यदि आर्यावर्तमें निवासके ही कारण शब्द और
अर्थोंका नाम 'आर्य' हो जाय, तो यहाँके मुसलमान तथा ईसाई भी
'आर्य' हो जायेंगे, गर्दभ आदि पशु भी तथा काक आदि पक्षी भी आर्य
हो जायेंगे, परन्तु ऐसा बात नहीं है । इससे आर्यावर्तमें निवासमात्रमे
ही आर्यता नहीं हो जाती ।

स्वामी दयानन्दजी का मत

३२ जो कि स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है—'आर्यावर्त देश इयं
भूमिका नाम इसलिपि है कि इसमें आदिसृष्टि से आर्यलोग निवास
करते हैं और जो आर्यावर्तमें मर जाते हैं, उनको भी आर्य कहते हैं'
(स्वयमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश ३० संख्या); यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि
स्वामीजी ने आदिसृष्टिमें आर्यों का निवास 'तिब्बत' में माना है, देखिए
'साधारण प्रकाश' अष्टम समुल्लास १३६ पृष्ठ । इससे आर्यावर्तमें उनका
निवास सिद्ध न हुआ । परस्पर विरुद्ध होने से ही उनका यह वचन
ठीक नहीं है । जो कि स्वामीजी ने कहा है कि 'आदिसृष्टि तिब्बतमें
हुई, उसमें आर्य-अनार्य दोनों का संग्राम हुआ । आर्यलोग तिब्बत
छोड़कर यहाँ आ बसे । यही स्थान आर्यों का निवास होने से 'आर्यावर्त'
इस नामसे प्रसिद्ध हुआ. आर्यों के आने से पूर्व इस देशमें कोई नहीं
रहता था' (स० प्र० १३६-१४०) यह बात निमूल ही है ।

तिब्बतमें आदिसृष्टि का निर्माण किसी वेदादिशास्त्रमें नहीं लिखा,
यह इसमें पहिली निमूलकता है । त्रिविष्टपका अपभ्रंश भी तिब्बत
नहीं । जहाँ 'त्रिविष्टप' शब्द आया है, वहाँ स्वर्गलोकावाचक आया
है । जैसे—'विष्टप-न्यौः, आविष्टा ज्योतिर्भिः (ग्रहनक्षत्रादिभिः), पुण्य-
कृद्भिश्च' (२।१।१६) । वेदाङ्ग पाणिनीय लिंगानुशासनमें 'त्रिविष्टप-

त्रिभुवने नपुंसके' (४४) यहां 'देवासुरात्म स्वर्ग' (लि० ४३) इस सूत्र से स्वर्गकी पर्यायतावश पुल्लिंगता प्राप्त होने पर उक्त ४४ सूत्रमें बाध होगया। इससे विष्टप या त्रिविष्टप-स्वर्गका नाम है, तिष्यतका नहीं! इसमें 'ऊर्ध्वं नाकस्याधिरोह विष्टपं स्वर्गोलोक इति यं वदन्ति' अथ० ११।१।७) यह मन्त्र भी ज्ञापक है। इसमें तिष्यतका नाम नहीं। न तिष्यतमें सृष्टि करने का यहां कोई वर्णन है। त्रिविष्टप केवल शीत-यहुल होनेसे अपूर्णता के कारण भी पूर्णतायुक्त सर्वादिस हिन्दु जातिका सृष्टि-प्रदेश नहीं हो सकता। अतः उक्त मन्त्रमें यजमानके स्वर्गलोकमें जाने का ही वर्णन है, तिष्यतमें नहीं। स्वर्गलोक इस लोकसे भिन्न होता है, जैसे—'दिवं च पृथिवीं आन्तरिक्षमथा स्वः' (श्रु० १।१६।१३), त्रिविष्टपका अपभ्रंश तिष्यत है, यह भी निष्प्रमाण है।

इसी भांति उमीले अग्रिम 'द्यौः स्थिराम्' (४५) इस लिंगानुशान-के सूत्र-प्रोक्त 'दिव्' शब्दमें भी स्वर्ग अर्थ होनेसे ४३ सूत्रमें पुल्लिंगता प्राप्त होने पर ४५ सूत्रसे बाध होगया। इसी तरह 'द्यौर्दिवी द्वे स्थिषां, क्लीयं त्रिविष्टपम्' (अमरकोष १।१।६) में भी 'त्रिविष्टप' स्वर्गके नामोंमें आया है। अमरकोषके यह नाम स्वर्गवर्गमें हैं, भूमिवर्गमें नहीं, अतः पृथिवीलोकस्थ 'तिष्यत' का ग्रहण नहीं हो सकता। 'तृतीयं-विष्टपं (लोकः) त्रिविष्टपम्? तत्र तीसरा लोक भू तथा अन्तरिक्षसे भिन्न स्वर्ग ही है। तिष्यत तो पहले भूलोकमें अन्तर्गत है। 'विष्टप' का अर्थ स्वा० ६० जी नी उणादिकोष (३।१४५) में भुवन मान गये हैं। 'त्रिविष्टप' का अर्थ उन्होंने स्वर्गके स्थान पर 'मुखविशेषोपभोगः' लिखा है। वे स्वर्गलोकको उडाना चाहते थे; अतः जहां 'स्वर्ग' वाचक शब्द आजाये; वहां 'सुख', 'द्रष्टव्य सुख' यह अर्थ कर दिया करते थे।

जैसे वैदेशिक लोग हमारे भारतवर्षके प्रेमके विनाशके लिए हमें वैदेशिक सिद्ध करते हैं, वैसे ही स्वामीजीने भी तिष्यत-स्थित पुरुषोंको

‘मूल हिन्दू’ मित्र करके भारतवर्ष उनका विदेश सिद्ध कर दिया है। यदाचित् इसीलिङ्ग इस सम्प्रदायके व्यक्ति भारतीय धर्मसे ही विद्रोह करते हों। द्वितीय निर्मलता इसमें यह है कि यदि आर्योंके निधामसे ही ‘आर्यावर्त’ यह नाम हुआ, तो तिब्बतमें भी आरम्भमें (स्वामिमता-नुसार) आर्योंका निधाम रहा, तो उसका नाम ‘आर्यावर्त’ क्यों नहीं हुआ ? अथवा ‘तिब्बत’ में अनार्योंके निधाममें उसका नाम ‘अनार्या-वर्त’ क्यों नहीं हुआ ? अथवा यदि अनार्य भी वहाँ से यहाँ आये, तो इस देशका नाम ‘आर्यानार्यावर्त’ क्यों नहीं हुआ ? अथवा वहाँ पर अनार्य-शूद्र, घाण्डालादि, भी आये या नहीं ? (क्योंकि स्वामीजी शूद्रादि को अनार्य मान चुके हैं) यदि आये, तो ‘आर्यानार्यावर्त’ नाम क्यों न हुआ ? इसलिए यह व्याजमात्र ही है।

वस्तुतः ‘आर्यावर्त’ यह रूढ़ ही नाम है, उसका लक्षण ‘मनुस्मृति’ २।२२ पद्यमें कहा है। रूढ़ न मानने पर इससे भिन्न कहे हुए ‘प्रज्ञावर्त’ आदि प्रदेश ‘अनार्यावर्त’ हो जाएंगे। इसी आपत्ति से अपने आपको बचानेके लिए स्वामीजीने ‘प्रज्ञावर्त’ के स्थानमें ‘आर्यावर्त’ शब्द ही पठ दिया है। भिन्न-भिन्न २२-१७ मनु श्लोकोंका अर्थ भी उन्होंने इकट्ठा कर डाला है, यह बात ‘सत्यार्थप्रकाश’ के अष्टम समुल्लास १४० पृष्ठ में द्रष्टव्य है। पर यह उनकी कृत्रिमता ही है, क्योंकि यह बात ‘मनु-स्मृति’ में विरुद्ध है। ‘मनुस्मृति’ में प्रज्ञावर्त, आर्यावर्त आदि भिन्न-भिन्न अगस्त्ये हैं। ‘कैवर्तमिति च प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः’ मनु० (१०।३४) यह पद्य बता रहा है कि—आर्यावर्त सारे भारतका नाम नहीं; अन्यथा सारे भारतका नाम ‘आर्यावर्त’ होने पर उक्त शब्द व्यर्थ थे। अतः प्रज्ञावर्त, आर्यावर्त आदि भारतके भाग ही थे। इसलिये ‘स्मृति-चन्द्रिका’ के संस्कारकाण्डमें ‘देशनिर्याय-प्रकरण’ में कहा है—‘अत्र तया (प्रज्ञावर्त-कुम्भेश्वर-मध्यदेशार्यावर्तैषु) पूर्वं पूर्वं उत्तरोत्तरात् प्रशस्तः। तथा च सुमन्तुः—‘प्रज्ञावर्तः परो देशः ऋषिदेशस्त्वनन्तरः। मध्यदेशस्ततो

न्यून आर्यावर्तस्ततः परः' इति ।' इससे आर्यावर्त को मध्यदेश, ब्रह्मर्षि-देश तथा ब्रह्मावर्तसे न्यून बतलाया गया है । यहाँ प्रकरणवश 'परः' का अर्थ 'इतर' एवं 'हीन' है । 'ब्रह्मावर्त' को सर्वोत्तम बतलाया गया है । इससे यह भी स्पष्ट है कि 'आर्यावर्त' समस्त भारतका नाम नहीं है, किन्तु उसके एक भागका नाम है ।

स्वामी दयानन्दजीके मतमें अन्य द्रुष्टि यह है कि यदि आदिसृष्टिमें केवल एक ही मनुष्यजाति थी, पीछे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार भेद हुए, तो वेदमें 'ब्राह्मणोऽस्य सुलमासीद्' (शुक्लयजुः ११, ११) इत्यादि में चार जातियोंका निर्देश कैसे है ? क्या वेद इन चार जातियोंके बनानेके बाद बना ? क्योंकि स्वामीजी इतिहासयुक्त उस ग्रंथको उस इतिहासके बाद बना मानते हैं । यदि भविष्यद् दृष्टिवश वेदमें वैसा वर्णन है, तो वेदमें भी भविष्यद् दृष्टिसे इतिहास सिद्ध होगया ।

इससे स्पष्ट है कि 'आर्य' शब्द शुणशब्द ही है, जातिशब्द नहीं । तब यह हमारी जातिका 'आर्या जातिः' इस प्रकार विशेषण तो हो सकता है, संज्ञा नहीं हो सकता । इससे स्पष्ट है कि 'सिन्धु' या 'हिन्दु' ही हमारी प्राचीन संज्ञा है । उसमें चार वर्ण तथा अर्वाच्य अन्तर्भूत हो जाते हैं । यही व्यापक नाम है, जिससे इस देशकी सब ब्राह्मणादि आदिशालान्त जातियोंका ग्रहण हो जाता है । 'आर्य' यह तो एकदेशी नाम है । इससे केवल ब्राह्मण या ब्राह्मण-क्षत्रियोंका ही ग्रहण सम्भव है । न तो इससे शूद्र लिपु जा सकते हैं, न तो आदिशालादि अर्वाच्य ही ।

आर्य ईश्वर-पुत्र

३३ कई वादिगण 'आर्याय' का 'ईश्वरपुत्राय' यह अर्थ 'निरुक्त' (६।२।३) में देखकर 'आर्य' शब्दका प्रयोग हमारी जातिके लिए करना ठीक मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि 'शूद्रका नाम अर्वाच्य है'

(सत्यार्थप्र० १४० पृष्ठ) यह स्वामी दयानन्दजीकी उक्ति शुद्ध है या अशुद्ध ? यदि अशुद्ध, तो आपके स्वामीजी अनाप्त हो गये । यदि उक्त उक्ति शुद्ध है, तो ब्राह्मणादिका नाम 'आर्य' सिद्ध हुआ, गूढ़ादि का नहीं, तब गूढ़ एवं चाण्डालादि तथा ईसाई या मुसलमान भी ईश्वरपुत्र हैं या नहीं ? यदि नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है ? यदि है, तो आप इनको 'आर्य' कहते या मानते हैं या नहीं ? यदि मानते हैं, तो आपके मतप्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीका वाक्य व्याकृषित होता है । तब 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस मन्त्रका अर्थसम्प्रदायाभिमत अर्थ कि 'मारे जगत् को आर्य बनाओ' भी अशुद्ध सिद्ध होता है । यदि वे वास्तवमें 'ईश्वरपुत्र' हैं, तो उनको 'ईश्वरपुत्र' बनाना क्या ? यदि आप उनको 'आर्य' नहीं मानते, तो सिद्ध हुआ कि ईश्वर के पुत्र ब्राह्मण-क्षत्रियोंमें ही 'आर्यत्व' का व्यवहार है, अन्य गूढ़, चाण्डाल आदिमें नहीं । तब यह नाम एकदेशी निष्ठ हुआ । अतएव यह समस्त आतियों के लिए प्रयोगार्ह नहीं ।

'वास्तवमें 'निरुक्त' में 'आर्य' का जो 'ईश्वरपुत्र' अर्थ लिखा है, उसका रहस्य अन्य है, वह यह है कि 'निरुक्त' तथा उक्त मन्त्रमें 'आर्य' शब्द अणुप्रत्ययान्त 'अर्य' शब्दका विवक्षित है । 'अर्य' यह 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (३।१।१०३) इस पाणिनिके सूत्रमें 'स्वामी' का नाम है । तब 'आर्य' शब्दका 'स्वामीका पुत्र' वह अर्थ यहां विवक्षित है । यहां पर 'ईश्वर' से स्वामी ही अभिप्रेत है, परमात्मा नहीं । 'निरुक्त' आदि प्राचीन साहित्यमें परमात्म-वाचक ईश्वर शब्द आया ही नहीं । 'स्वामीश्वराधिपति' (२।३।३६) इस सूत्रमें ईश्वर शब्द स्वाम्यर्थक ही है । इसी प्रकार 'सं समिद् "अर्यः" (श्रु० १०।१६।११) इस मन्त्रमें पर्याशब्द स्वामिवाचक ही है, जैसा कि सायणाचार्यने लिखा है—'हे अर्ये ! अर्यः—ईश्वरस्त्वम्, अर्यः स्वामिवैश्ययोः' इति यत्प्रत्यय-यान्तो निपातितः । 'अर्यः स्वाम्याख्यायाम्' (कि० सू० १।१८) इत्य-

न्तोदात्तत्वम् ।' यहाँ परमात्मार्थका कोई प्रकरण नहीं । तब निरुक्तस्थ मन्त्रसे वादियों की कोई इष्टसिद्धि नहीं, क्योंकि उन्हें 'आर्य' शब्द 'अर्य' प्रत्ययान्त इष्ट नहीं होता, किन्तु एवम् प्रत्ययान्त ही इष्ट होता है । तब जातिवाचक अर्थमें उसका प्रयोग ऐकदेशिक होने में नहीं हो सकता ।

हिन्दुशब्दका चोर-डाकू अर्थ

३४ जो कि स्वामी दयानन्दजीने 'भ्रान्तिनिवारण', 'वेदविरुद्धमत-खण्डन' तथा १८७२ के सत्यार्थप्रकाश' (३ समु० पृ० ६७) में हिन्दु शब्द के 'चोर, काफिर, गुलाम, दुष्ट, नीच, कपटी, छली' इत्यादि अर्थ किये हैं, उनसे प्रष्टव्य है कि आपने ये अर्थ किस व्याकरण वा कोष से किये हैं ? यदि निज कल्पित ही ये अर्थ किये हैं, तो प्रमाण-शून्य होने से उनका यह वचन अप्रमाण हो गया । जो कि स्वामीजी ने लिखा है—'आर्य नाम श्रेष्ठ का है और जो हिन्दु नाम इनका रखा है, सो मुसलमानोंने ईर्ष्यासे रखा है, उसका अर्थ है दुष्ट, नीच, कपटी, छली और गुलाम, इसमें यह नाम भ्रष्ट है, किन्तु आर्यों का नाम 'हिन्दु' कभी न रखना चाहिये' (प्रथम सत्यार्थप्रकाश ३ पृ० ६७) । यह बात भी निप्रमाण है कि मुसलमानों ने 'आर्य' शब्दके स्थानमें ईर्ष्यासे 'हिन्दु' नाम रख दिया । स्वामीजी या उनके अनुयायियोंने आज तक ऐसा प्रमाण नहीं दिया कि मुसलमानोंने अमुक संवत् या सन् में 'आर्य' यह नाम हटाकर उसके स्थानमें 'हिन्दु' यह नाम रखा हो ।

'यदि वे कहें कि 'ग्यासलुगात' में 'हिन्दु' शब्दके 'काफिर, चोर, गुलाम' इत्यादि अर्थ किये गये हैं, तो उनसे पूछना चाहिये कि क्या वह संस्कृतकोष है, जो माननीय हो जाय ? उसी कारण से यदि आप 'हिन्दु' शब्द को हटाते हैं, तो 'शरीर' शब्द को भी छोड़ दीजिये । उनके

मतमें 'शरीर' उपद्रवी को कहते हैं। तब तो 'देव' शब्दको भी धोरे दीजिये, क्योंकि 'ग्यासलुगात' में 'देव' शब्द का अर्थ 'राक्षस' लिखा है और स्वामी दयानन्दजीने इसका अर्थ 'विद्वान्' लिखा है। अब स्वामीजीके अनुयायी कहें कि 'देव' शब्दका अर्थ आप 'ग्यासलुगात' का कहा हुआ मानेंगे या अपने स्वामीजीका कहा हुआ? यदि आप स्वामिप्रोक्त ही अर्थ मानेंगे और 'ग्यासलुगात' से कहे 'देव' शब्दके अर्थको अशुद्ध मानेंगे, तो वैसे ही 'हिन्दु' शब्दका भी 'ग्यासलुगात' का किया अर्थ भी अशुद्ध जानना चाहिये। तब उसका अनुयायी 'हिन्दु' शब्दका स्वामीजीमें कहा हुआ पक्ष भी अशुद्ध सिद्ध हुआ।

उसी 'लुगात' में 'राम' शब्द 'गुलाम' का वाचक है, जबकि वह हमारे मतमें 'रमन्तं योगिनोऽस्मिन् हति रामः' इस प्रकार परमात्माके अवतारविशेषका वाचक है। तब क्या आप लोग 'ग्यासलुगात' प्रोक्त अर्थ को ही मानेंगे? वास्तवमें यहाँ यह याद रखना चाहिए कि उच्चारण-साक्षरके कारण समानतासे देख रहे हुए शब्दोंका भिन्न-भिन्न भाषाओंमें भिन्न-भिन्न अर्थ होना असम्भव या अस्त्वेत्यजतक नहीं। पर इससे समानतासे दृश्यमान शब्द या वस्तुओंमें मौलिक एकता नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर 'मार' शब्द 'सर्प' वाचक है, हमारी भाषा में वह 'कामदेव' वाचक है इस प्रकार अन्य भी बहुतसे शब्द हैं। इससे स्पष्ट है कि फारसीभाषीय 'हिन्दु' शब्दके साथ हमारे जातीय नाम 'हिन्दु' शब्दका कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है। भले ही उनका उच्चारण-साक्षर्य क्यों न हो, पर दोनों ही शब्द एक दूसरे से सर्वथा, पूर्णतः एवं मूलतः भिन्न ही हैं। यदि वादिगण यह बात न मानें, तो उन्हें 'आर्य' शब्दका प्रयोग भी छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उन्हीं 'ग्यासलुगात' में 'आर्य' शब्दका अर्थ 'घोड़े-गधेके पिछले भाग' का या अरब-गर्दभादिकी शस्त्राका नाम कहा है। तब तो उन्हें 'आर्य' शब्द

भी निरूप्यार्थ होने से छोड़ देना चाहिए। यदि वे नहीं छोड़ते, तो यहां निन्दित अर्थवाला होने पर 'हिन्दु' शब्द ही क्यों छोड़ा जाय ?

स्वामी दयानन्दजीने स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'मुसलमानोंने ईर्ष्यासे ही ये अर्थ किये हैं', तब क्या ये माननीय हो जायेंगे ? वे ही 'संस्कृतभाषा' को ईर्ष्यासे 'जिन्नभाषा' कहते हैं, जैसे कि प्रथम 'सत्यार्थप्रकाश' २५० पृ० में स्वामीजी लिख गये हैं। तब क्या संस्कृत भाषाको ही हमलोग छोड़ दें ? हमें यह चिन्ता छोड़ देनी चाहिए कि कह्यों ने इसका घृणित अर्थ किया है। घृणित अर्थ किया हो किन्हींने इसका, पर इस नामकी उत्पत्ति घृणाके कारण नहीं हुई। इसकी उत्पत्ति सिन्धुदेशोत्पत्ति के कारण हुई है, यह कहा जा चुका है। उसके बाद हमारी धीरता से हानि प्राप्त करके प्रतीकार करने में असमर्थ हुए कई मुसलमानोंने 'अशक्तास्तात्पदं गन्तुं तथो निन्दां प्रयुज्यते' इम न्यायसे उसका घृणित अर्थ कर दिया हो, तो इससे उस नाम की स्वायत्तता नहीं हो जाती। इङ्ग्लैण्ड में ही एक ऐसा समय था कि जब 'इङ्गलिशमेन' शब्दका अर्थ वहाँके विजेता नामर्न जाति वालोंने घृणित कर डाला था। 'मैं तब 'इङ्गलिशमेन' कहाऊँ, जब मैं अमुक पाप करूँ' इस प्रकार शपथरूपमें ये इमका प्रयोग करते थे। नामर्न जाति वालेको तभी 'इङ्गलिशमेन' कहा जाता था, जबकि उसका अपमान करना होता था या यही किसी अष्टम्य अपराधको करता था। इम प्रकार घृणा उत्पन्न करने पर भी इङ्ग्लैण्ड निवासियोंने अपना नाम 'इङ्गलिशमेन' ही रखा, 'नामर्न' नहीं। क्या नाम-परिवर्तनसे इङ्ग्लैण्ड का अपमान दूर हो जाता ? क्या इङ्ग्लैण्ड का पराजय विजयरूप में परिणत हो जाता ? कभी नहीं। 'इङ्गलिशमेन' इस दूसरोसे घृणास्पदीकृत भी नाम को न छोड़ने का फल यह हुआ कि आज वही 'इङ्गलिशमेन' नाम इङ्ग्लैण्डकी कीर्तिका सूचक माना जाता है। आज 'नामर्न' जाति

का अस्तित्व भी नहीं है। 'इज़लियमेन' नाम धारण करने वाले आज विश्वके साम्राज्यमें सर्वोत्कृष्ट स्थान को प्राप्त किये हुए हैं। यह है अपने नाम को न छोड़ने का महत्त्व। पारस्परिक कलहोंमें राष्ट्रोंकी युद्धि व्यवस्थित नहीं रहती। अपने शत्रुको कलङ्कित करनेके लिए वे सभी दुष्ट-अदुष्ट उपायोंका अवलम्बन करते हैं। तब परिणाम एवं मुसलमान आदिकोंके लिए भी स्वाभाविक था कि वे हिन्दु शब्दका घृणित अर्थ करते। क्या हमों लोग 'जिन, मुसलमान, मुसलमान' आदि शब्दोंको उनसे ईर्ष्याके कारण घृणित अर्थोंमें प्रयुक्त नहीं करते? परन्तु क्या उन्होंने इससे अपना नाम बदल दिया? आज भी 'जिनोपासक' अपने आपको 'जैन' ही कहते हैं।

वस्तुतः फारसी भाषामें भी 'हिन्दु' शब्दका अर्थ तो निकृष्ट नहीं लिखा है, केवल लक्षणा से वे चोर आदि अर्थमें उसका प्रयोग करते हैं। 'अर्बोकोप' में 'हिन्दु' का अर्थ 'खाबिस' 'शुद्ध' है। यहूदी लोग 'हिन्दु' शब्दका अर्थ 'शक्तिशाली वीर पुरुष' करते थे। प्राचीन अरब निवासी भी हमारे देश को 'हिन्द' नामसे जानते थे, सभी उन्होंने हमारे देशसे निष्पन्न 'अङ्कगणित' का नाम 'हिन्दिया' रखा है। 'कुरान' में तो 'हिन्दु' शब्दका ही अभाव है। वहां 'काफिर' शब्दसे 'मुसलमानधर्मविरुद्ध' ही अभिप्रेत है। इस प्रकार तो उनके अनुसार अर्य-समाजी आदि भी काफिर हैं। क्या इससे वे अपना नाम या धर्म छोड़ देंगे? 'यहारे आजम लुगात' में 'हिन्दु' शब्द हिन्दुस्थानवासियों में भी प्रयुक्त है। उससे भी प्राचीन लुगातकार 'खाने आरब्' कहता है—'हिन्दु एक विशिष्ट जाति है।' 'फरहङ्ग लुगात' में भी 'हिन्दु' शब्द जातियोधक स्वीकृत किया गया है 'गयासुल लुगात' में भी 'हिन्दु' शब्द 'हिन्दुस्तान-वासियों' में स्वीकृत किया गया है। प्राचीन 'वेयिजो-निया' निवासियोंके साहित्यमें 'हिन्दु' शब्द 'हिन्दुराष्ट्रवासियों' में प्रयुक्त है, अपमानसूचक अर्थ में नहीं।

३५ अथवा उनके कोपमें हमारे शब्दोंका यदि निन्दित अर्थ भी लिखा गया है, तो उसका त्याग बुद्धिमत्ता नहीं है। 'दस्त' शब्द हमारी भाषामें 'दस्त' (विरेचन) वाचक है, अतः घृणित है, पर उनकी भाषामें 'हाथ' वाचक है। वे हमारी भाषामें 'दस्त' शब्दका निन्दित अर्थ होने पर भी उसका त्याग नहीं करते। उसी दृष्टांके फलस्वरूप हिन्दुओंमें भी 'दस्त' शब्द 'दस्तखत' शब्दरूपमें प्रचलित हो गया है। पर आपलोग 'हिन्दु' इस अपने शब्दको भी छोड़ रहे हैं, उसका फल भी वैसा हो रहा है। अब दूसरे लोग हमें या आपको 'हिन्दु' शब्द या 'आर्य' शब्दमें न कहकर 'नान मुहम्मदन', 'नान मुसलिम', 'अमुसलिम' शब्दमें पुकारते हैं। औरों को छोड़ दीजिये, हमसे भी 'हिन्दु' शब्द छूट रहा है। 'सिख' 'हिन्दु' नाम नहीं लिखाते, इस प्रकार 'जैनी' आदि भी। यही अपने शब्दको छोड़ देनेका पथ शिथिलता का परिणाम है, जो कैसे खेदका विषय है? यदि हिन्दु शब्द घृणापरक होता; तो पृथिवीराज, जयसिंह आदि अभिमानी वीर राजा हम नामको गौरवसे न लेते। देखिये—'पृथिवीराजरासो' आदिमें उसका प्रयोग। परन्तु वे गौरवसे उस नामको लेते थे, तब यादियोंकी उक्त उक्ति ठीक नहीं। अन्यथा हमने उनसे प्रयुक्त और घृणित 'काफिर' शब्द ही क्यों नहीं स्वीकृत कर लिया, जिसे उन्होंने हमारे लिये प्रयुक्त किया था? क्यों नहीं हमने उससे अपना गौरव माना? इसमें स्पष्ट है कि हिन्दु शब्द हमारा ही है। मुसलमानों की चाहे उमरें घृणा हो, परन्तु हमारे पूर्वज उस नामका राष्ट्रिय महत्व तथा उसकी आदि-भना जानते थे, इसीलिये उसका प्रयोग करते थे।

‘कृण्वन्तो विरचमार्यम्’

२६ जो अपने आपको ‘आर्य’ मानने वाले ‘इन्द्र’ वर्धन्तो अप्सुरः कृण्वन्तो विरचमार्यम् । अपघ्नन्तो अराव्यः (ऋ० ६।६३।४) इस मन्त्रसे सारे जगत्को आर्य बनानेका स्वप्न देखते हैं; उन्हें यह जानना चाहिए कि यहां पर ‘आर्य’ शब्द अष्टका वाचक है, जातिपरक नहीं । जातिपरक अर्थ करने वाले र्षाति ‘ऋग्वेद’ का कोई भी प्राचीन भाष्य अपने पक्षके समर्थनमें दिग्विस्तारें । वेदके अर्थ देवतावादके अनुसार हुआ करते हैं, स्वेच्छानुसार नहीं । ‘देवता’ यह धर्म विषयका ही अनुक्रमणिका के अनुसार पारिभाषिक नाम होता है । जैसे कि ‘वृहद्देवता’ में लिखा है—‘संवादेष्वाह याव्यं यः स तु तदिमं भवेद् ऋषिः । यस्तेमोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत् (२।१०) वेदमन्त्रों का अर्थ देवताके अनुसार हुआ करता है । इस मन्त्रका, प्रायुत सारे मण्डलका पवमान सोम देवता है । तब यहां पर बर्खन भी उल्टीका होना चाहिए । इस मण्डलमें ‘सोम’ बहुवचनमें भी आया है, एकवचन में भी । कहीं सोमशब्द सोमाभिमानि देवताका वाचक है, जिसका ‘श्रीवधयः संवदन्ते सोमेन सह राजा’ (ऋ० १०।१७।२२) इस मन्त्रमें संकेत आया है, कहीं सोमरसका वाचक है । इस मन्त्रमें ऋ० ६।६३।४ से ‘एते सोमाः’ की अनुवृत्ति चल रही है । तब यह अर्थ हुआ कि ‘एते सोमाभिमानिदेवाः, विश्वं-सर्वं सोमम् आर्यं-धेयं अस्माभिर्विजैः प्राप्तव्यं, यज्ञोपयुक्तं कुर्वन्तः अम्भर्षन्ति-प्राप्नुवन्ति ।’ यहां पर ‘आर्य’ शब्द जातिवाचक नहीं, क्योंकि वैसा कोई प्रकरण नहीं । इसलिये नायणाचार्यने उक्त सम्पूर्ण मन्त्रका यह अर्थ किया है—‘इन्द्रं वर्धयन्तः, अप्सुरः-उदकस्य प्रेरकाः, विश्वं सोमम् अस्मदीयकर्मायं आर्यं-भद्रं कुर्वन्तः, अराव्यः अदातून् अपघ्नन्तः विनाशयन्तः, अम्भर्षन्ति-प्राप्नुवन्ति ।’ उक्त मन्त्रमें ‘विरच’ शब्दका ‘सोम’ से सम्बन्ध करनेमें

कारण यह है कि वह सोम विश्वरूप है। 'विश्वचर्षणिः' (अ० १।१।२) यहां उसे विश्वका द्रष्टा, 'पवस्व विश्वचर्षणे !' (१।६।१) यहां उसे सर्वव्यापी होनेसे सर्वद्रष्टा, 'विश्वजित् सोम !' (१।२६।१) 'विश्वार्युः' (१।८६।४१) यहां उसे विश्वजित् तथा सर्वगन्ता 'विश्वदेवः' (१।१०३।४) यहां सोम सर्वदेवोंमें उपगत वा व्यापक दीप्तियुक्त स्वीकृत किया गया है। इसीलिए उसे उक्त मन्त्रमें भी 'विरा' शब्दसे कहा गया है; अतः सायणकृत अर्थ ठीक ही है। तब देवतावाद से विरुद्ध अर्थ करते हुए वादी निरस्त हो गये।

जो व्यक्ति उक्त मन्त्रसे सारे संसारको आर्य बनानेका स्वप्न देखते हैं; वे तो वैदिक-ज्ञान-शून्य हैं। वे 'अनार्यों' को आर्य कैसे बना सकते हैं ? यदि उक्त मन्त्रसे वैसा माना जाय, तो यह ठीक नहीं। उक्त मन्त्रका ठीक तथा प्राकरणिक अर्थ हमने दिएला ही दिया है, इधर हम पहले बता आये हैं कि 'आर्य' शब्द समस्त-हिन्दुवाच्य नहीं, किन्तु ब्राह्मण-क्षत्रियवाच्य है। अधिकसे अधिक श्रैवणिक वाच्य है। चतुर्थ शूद्रवर्य तथा पञ्चम अवर्य ये वेदानुसार आर्य नहीं, किन्तु दास एवं दस्यु हैं। दास या दस्युको आर्य बनाना वेदसम्मत नहीं, किन्तु वैद विरुद्ध है। तभी 'ऋग्वेद' में कहा है—'न यो ररे आर्य माम दस्यवे' (शा० सं० १०।४६।३) 'दस्यवे अनार्याय, शूद्रनिपादादिकाय अहम्-इन्द्र आर्य नाम, न ररे—न दत्तवान्।' तब फिर 'ऋग्वेद' में, 'विराजाम' हमका 'सारे जगत् को आर्य बनाने हुए', यह अर्थ करना वेदविरुद्ध है।

यथा दासानि आर्याणि वृत्राकराः (अ० १०।२२।८) इस मन्त्रसे भी हमारे पक्षका विरोध नहीं है, जिस कि कई हममें दासोंको आर्य बनाना सिद्ध करते हैं, यहाँ 'दासानि', 'आर्याणि' ये-पद न पुनरु-विज्ञान्त है, इसलिये यहाँ शूद्रजाति या अधिजाति अर्थ नहीं है, किन्तु यहाँ योगिक ही अर्थ है। इसीलिए यहाँ मायवाच्यन अर्थ लिया

हे—हे इन्द्र ! स्वस्ति-वेमलपत्रां सम्पदं नो—अस्मभ्यमाभर, तया स्वस्था. दासानि-कर्महीनानि मनुष्यजातानि, आर्याणि-कर्मयुक्तानि अकरोः, माहुषाणि-मनुष्यसम्यन्धीनि वृत्राणि-शत्रून् शोभनहिंसोपेतानि अकरोः । नपुंसकलिङ्गवाला आर्य शब्द हमारी जातिका नाम नहीं है, यहां पर 'अभिघ्रात् दासा वृत्राणि आर्या च शूर ! वधीः' (श्रु० ६।३।२) यह मन्त्र भी साची है । यहां आर्योंका भी वध (मारना) कहा है । वस्तुतः पृथग्नादि स्थलमें यौगिकरूपसे अर्थ है । इसीलिये सायणाचार्यने लिखा है—'हे इन्द्र ! तान् उभयविधान् शत्रून् अहिंसीः, दासान्-दण्डयितृन् यत्नप्रभृतीन् असुरान्, आर्याणि-कर्मलुष्ठाभृत्वेन धेष्टानि वृत्राणि-आवरकाणि विरपरूपादीनि, च हे शूर ! त्वं हतवान् ।' इसी प्रकार 'आर्यांश्च विशोऽवतारीर्दासीः' (श्रु० ६।२।१२) यहां पर भी सायणने लिखा है—'हे इन्द्र ! आभिरस्मदीयानिः स्तुतिभिः दासीः-कर्मणामुपश्रयिणीः, विरवाः सर्वा विनाः-प्रजाः, आर्याय-यज्ञादिकर्मकृते पजमानाय अवतारीः-विनाशय' इससे स्पष्ट है कि कहीं दास, आर्य आदि शब्द यौगिक हैं, विरवरूप आदि दैत्योंके लिष्ट प्रयुक्त किये गये हैं, जिन्हें इन्द्रने मारा था । कहीं योगरूढ भी हैं । फलतः दस्यु—दास को आर्य बनाना वेदसे विरुद्ध है । यदि 'कृषवन्तो-विश्यमार्यम्' का वादियोंके अनुसार यह अर्थ हो कि—ईसाई मुसलमानादि सबको आर्य बनाते हुए, तो यहाँ प्रश्न यह है कि वेदकालमें सभी आर्य थे वा अनार्य भी थे ? यदि तब सभी आर्य थे, कोई भी अनार्य नहीं था; तो आर्योंको आर्य बनाना पिष्टपेष की तरह व्यर्थ कहा गया । यदि तब अनार्य भी थे; तो सृष्टिके आदिमें उन्हें परमात्माने ही पैदा किया, या वे पीढ़े हुए ? यदि परमात्माने ही बनाये; तब उन्हें आर्य बनाना परमात्मासे विरुद्ध है, अन्यथा वह उन्हें बनाता ही नहीं । यदि वे पीढ़े अनार्य होगये; तो वेदमें उनका वर्णन कैसे ? क्या वादी वेदमें भविष्यत्का इतिहास भी मानते हैं ।

इसी तरह 'विजानीहि आर्यान्, ये च दस्यवः' (ऋ० १।२१।८) 'हवी दस्यून् प्र-आर्यं वर्णमावत्' (ऋ० १।३४।६), यहाँ पर वेद अनायोंको आर्योंसे पृथक् ही रखना चाहता है । इससे यह स्पष्ट है कि अनायोंकी आर्यता नहीं हो सकती, तन्वया 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस मन्त्र तथा उक्त मन्त्रोंका परस्पर विरोध हो जायगा । तब व्याघात ही जाने से वेदका ही अप्रामाण्य प्रसक्त हो जायगा ।

‘हिन्दु’ शब्द अवैदिक (?)

१० कई आर्यसमाजी आदि कहते हैं कि 'यद्यपि भविष्यपुराण तथा कालिकादि पुराणोंमें 'हिन्दु' शब्द दिखलायी देता है, पर चारों वेदोंमें दिखायी नहीं देता, इसलिए यह अप्रमाण तथा अव्यवहार्य है' । इस पर यह जानना चाहिये कि वेदमें तो परमात्माके 'सत्त्वितानन्द, सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सृष्टिकर्ता, सृष्टिधर्ता, सृष्टिहर्ता, इत्यादि स्वामी दयानन्दजीके 'स्वमन्त-ब्रामन्तव्यप्रकाश' (प्रथम संख्या) में कहे हुए तथा 'सरयार्थप्रकाश' (प्रथम समुल्लास) में कहे हुए परमात्माके नामोंमें भी कई 'परमेश्वर, गणेश, अन्तर्यामी, भौम, शत्रैश्चर' आदि नाम भी नहीं आते । तब इनका बहिष्कार क्यों नहीं किया जाता ? उनके माने हुए वेदमें आर्य-समाज, गुरुकुल, संन्यास (देखो आर्यमित्र १।६।४१। पृ० ७ संन्यासका वेदोंमें पता नहीं है) दयानन्द, डी. ए. वी. कालेज आदि नाम भी नहीं आते, तब इनका बहिष्कार क्यों नहीं किया जाता ? क्यों आर्य-समाजी अपना नाम संन्यासी रखते हैं ? क्या यह स्वार्थ नहीं ?

(॥१४१०॥) 'अर्वाचीन' 'हरिजन' शब्द

॥१४१०॥ (॥१४१०॥ ०॥

है जो लोग 'हिन्दु' शब्दको अर्वाचीन बतलाकर 'हिन्दु' शब्दके प्रयोगमें सहवृत्त हो। है, व आज़कल गांधीजीसे प्रचलित 'हरिजन' इस शब्दके प्रयोगमें सहवृत्त क्यों नहीं होते ? दिया देने उनके लिए 'हरिजन' शब्द प्रयुक्त है ? क्या यह अर्वाचीनतम नहीं ? जब 'अर्वा' प्रादिको 'आर्या' संज्ञा वैदिक है, स्वामी दयानन्दजी भी जब इसीको स्वीकार करते हैं, तब उसके लिए नेम ही उन्हें क्या सङ्कोच (ही) वास्ते के लिये लोग स्वेच्छाधर्मी हैं। जो लोग कहते हैं कि 'निम्नपाकयुतनियुक्त' के ३४ वें पृष्ठकी पञ्चम पङ्क्तिमें लिखा है—'कृष्णोत्पत्तिसमायातान् एतान् हरिजनान् बध्वात् नैव कार्याशुचेः' शब्दा पुण्यास्तु भक्तिसंयुक्ताः (१२०), सर्वे विप्रसमा ज्ञेयाः स्वपचाया न संशयः । अथ कुर्वन्ति भिन्ने विप्रसमा ज्ञेयं, भीतकीर्तनम्' (१२८) यहाँ 'अर्वा' (आर्या) प्रादिको 'हरिजन' संज्ञा कही है। (यह बात 'वेदकी' 'विद्वत्-मन्दिर' के बाहर दीवार पर लिखी है)। परन्तु यह ठीक नहीं है। यहाँ 'हरिजनाः' यह शब्द हरिके भक्त—प्राह्यादि के लिए आया है। जो कृष्णसर्वमेवा ज्ञेयं उनमें कोई अस्मात् होनेसे 'अर्वा' हो या 'सुत' को दर्शितुं हो, तो यहाँ इस बातका विचार न करना चाहिये। यहाँ 'अर्वा' को कोई अर्थ नहीं है। दूसरा पद्य स्वतन्त्र है। 'तान् ये स्वपचायाः विप्रसमाः कीर्तनं कुर्वन्ति ते विप्रसमा ज्ञेयाः' यहाँ 'अर्वा' को नामकीर्तन करने पर अर्थवात्स विप्रसमा कहा है। नाम-कीर्तनमें सब समान अधिकारी है, यह इसकी हृदय है। यहाँ उन 'अर्वा' की 'हरिजन' यह शब्द संज्ञा नहीं कही गयी। इसमें 'अर्वा' की स्वीकृति भी है। अर्वा-स्वीकृति भी, क्योंकि, 'हरिजन' शब्द नेमस शब्दालोक की पास ही, प्रकृत है। क्या विद्वत्के उन 'अर्वा' की कहते हैं, ये शब्द वहाँ नहीं ? अन्यजोंके 'हरिजन' में कोई विनिगमक नहीं। इसपर 'निम्नपाकयुतनियुक्त' निम्नपाकयुतनियुक्त

ऐकदेशिक ग्रन्थ है। न तो यह लोकव्यवहार-व्यवस्थापक स्मृति है, न ही सार्वदेशिक, सार्वकायिक, सर्वसम्प्रतिपक्ष ग्रन्थ है।

चेदि 'हरिजन' यह अन्त्यजोंका नाम सर्वशास्त्रमान्य होता, तो वेदों, स्मृतियों, पुराणोंमें उनके लिए वैसा प्रयोग होता, परन्तु नहीं है। एकदेशिक ग्रन्थविशेषके बलसे उनका यह शास्त्रीय नाम कदापि नहीं हो सकता। वैष्णवोंके ग्रन्थ भी प्रायः ऐकदेशिक ही हैं, उनमें भक्तिभाव की मंस्तीमें कहीं शास्त्रीय मर्यादाएँ भी तोड़ दी गयी हैं। परन्तु यह अनिष्ट है। और फिर 'हरिजन' यह शब्द अन्त्यजोंके लिए प्रही होता, तो द्वितीय पद्यमें 'श्वपचायाः' यह शब्द न होकर 'हरिजनाः' होता, ऐसा न होना सिद्ध कर रहा है कि हरिजन उनका नाम नहीं, किन्तु हरेभक्तमात्रका नाम है। गांधीजी द्वारा अन्त्यजोंका उक्त नाम कह देनेसे अब द्विजलोग अपने आपको 'हरिजन' कहते सङ्कचाये हैं। यह लौकिक हानि भी बहुत हुई है।

कई आक्षेप

२६ (क) प्रसक्तानुप्रसक्त यह बात कही गयी है। अथवा पांडुरंग प्रकरण पर आये। हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि वेदमें हमारी जाति का नाम 'सिन्धु' बहुत स्थलोंमें आता है, उसीका विपरिणाम 'हिन्दु' है, यह विपरिणाम भी प्राचीन, वैदिक, सांस्कृतिक, प्राकृतिक एवं देशी भी है। तब 'हिन्दु' शब्दकी वैदिकता भी सिद्ध हो गई। कई लोग इस पर यह आक्षेप करते हैं कि 'यदि 'सिन्धु' शब्दके अपभ्रंशसे 'हिन्दु' शब्द निपन्न है, तो उसका सर्वव्यापी प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि अपभ्रष्ट शब्द सार्वत्रिक नहीं होते। जैसे—गोशब्दका अपभ्रंश किसी देशमें 'गावी' प्रसिद्ध है, कहीं 'गोशी' तथा कहीं 'गोपोतलिके'। इनका प्रयोग सार्वत्रिक नहीं। परन्तु 'हिन्दु' शब्द ऐसा नहीं। इसको सब इसी रूपमें बोलते हैं, अतः 'अपभ्रंश' पक्ष ठीक नहीं। इस पर

हमारा उत्तर यह है कि यह आवश्यक नहीं कि अपभ्रष्ट शब्दों सर्वत्र प्रचलित न हों। देखिये—प्राकृतभाषा भी तो संस्कृतसे अपभ्रष्ट हुई भाषा है। परन्तु उसका प्रयोग सर्वत्र समान रूपसे होता है। अथवा उसमें भी शौरसेनी, भागधी आदि भेद भले ही बढ़ जाय, पर मुख्य शब्दोंका उच्चारण उनमें भी प्रायः समान होता है। अथवा संस्कृतसे अपभ्रष्ट हिन्दी-भाषाको ही ले लीजिये। यदि इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता जाय, तब 'गौ' का अपभ्रंश 'गाय' सर्वत्र प्रचलित हो जाय। इसका अन्य उदाहरण भी ले लीजिये—विरोचनके पिता हिरण्यकशिपु के पुत्रका 'प्रहाद' इस प्रकार रेफघटित मूल नाम है। परन्तु अपभ्रंशवश उसका विपरिणाम 'प्रह्लाद' इस प्रकार लकारघटित रूपमें हो गया है, यहाँ तक कि लोग उसके रेफघटित मूल नामको ही मूल माने। इस प्रकार येनके लड़केका नाम वेदमें 'पृथी' मिलता है, परन्तु उसका विपरिणाम पुराणोंमें 'पृथु' मिलता है और वह सर्वत्र प्रचलित हो गया है। इस प्रकार 'सिन्धु' के विपरिणाम 'हिन्दु' शब्दके विषय में भी जान लेना चाहिए। इसका इस प्रकार प्रचार हो गया कि लोग इसके मूलमूल 'सिन्धु' शब्दको भी भूल गये।

(ख) कई लोग कहते हैं कि 'घ्रीणादिक प्रत्यय किया 'डिया, डोलना, डुलक। 'मा' धातुसे साथ लिया 'मिया, मोलना, मुलक' इस प्रकारकी उणादि व्युत्पत्तियाँ यादत नहीं की जाती। इस पर जानना चाहिए कि इससे उणादि प्रत्ययोंका बाहुल्य ही सूचित होता है, उपहास वा अनादर नहीं। उपहास वा अनादर भी निर्मूल शब्दोंका सूचित होता है, समूलोंका नहीं। अन्यथा 'अमरकोष' आदिमें उणादिमें व्युत्पादित शब्द अनादरणीय सिद्ध हो जाय। पर यह अनिष्ट है।

(ग) कई यह आरोप करते हैं कि 'पहले तो आपने 'सिन्धु' का विपरिणाम 'हिन्दु' दिखाया है और फिर 'हि कृषवती' इस मन्त्रके पदार्थ और

‘तु हाम्’ इस उत्तरार्धके आदिम वर्णोंसे ‘हिन्दु’ शब्द सिद्ध किया है, यह तो परस्पर विरुद्धता हो गयी। इस पर यह जानना चाहिए कि एक ही शब्दकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे भी सिद्धियाँ हुआ करती हैं। यहाँ ‘अमरकोष’ के भिन्न-भिन्न टीकाकारोंकी समान शब्दोंकी भिन्न-भिन्न सिद्धिप्रक्रिया देखनी चाहिए, अथवा एक ही टीकाकारसे की हुई एक ही प्रयोगकी ‘यद्वा’ कहकर भिन्न-भिन्न शैलीसे की हुई सिद्धियाँ देख लेनी चाहिए। ‘सुधा’ नामक ‘अमरकोष’ की टीकामें ऐसा प्रकार सुलभ है।

तब जो लोग ‘हिन्दु’ शब्दको सुलभमान या फारमियोंसे दिया जानकर उसका अपने साथ सम्बन्ध अपने अपमानका कारण जानते हैं, उन्हें उक्त प्रमाणोपपत्तियों को परिलीलित कर अपना आप्रह छोड़ देना चाहिए। इस नामसे कोल, मिहल, मङ्गल, मिल्, जैन, बौद्ध आदि जातियाँ तथा आर्यडाल आदि अवर्ण जातियाँ इस महाजातिके अन्तर्गत हो जाती हैं। अन्यथा जनगणना (मनु-मशुमारी) के समय कोई अपने आपको ‘हिन्दु’ लिखावे, कोई ‘आर्य’, कोई ‘मिल्’, कोई ‘जैन’। इस प्रकार पृथक् पृथक् लिखवानेसे हिन्दुओंकी संख्याकी न्यूनता सुनकर विधर्मी लोग उपहास करें और उनका हिन्दु जाति पर आक्रमणके लिए उत्साह बढ़ जाय—इस प्रकार ‘हिन्दु’ नाम छोड़ने पर विषम दुष्फल मिल सकता है।

उपसंहार

४० इस प्रकार जब शूद्र, वर्ण होकर भी आर्य सिद्ध न हो सकें, तब अवर्ण या वर्णसङ्कर ‘आर्य’ कैसे हो सकते हैं ? इस प्रकार ‘आर्य’ शब्द एकदेशी सिद्ध हुआ, इसलिए यह हमारी समष्टि जातिका नाम भी नहीं हो सकता। पर ‘हिन्दु’ शब्द तो भारतीय सभ्य जातियोंका प्रतिपादक है, अतएव व्यापक सिद्ध हुआ। इधर वह प्राचीन या वैदिक है यह भी पतलाया जा चुका है। अतएव उसका ही प्रचार श्रेष्ठ है।

जनगणना (सं० मशुमारी) के समय सभी इस जाति वालोंको 'हिन्दु' यही नाम लिखाना चाहिए । आर्यसमाजी तो 'हिन्दु' शब्दकी सनातन-धर्मियोंमें रूढ़ मानकर उस मयसे ही कि 'हमने भी यदि ऐसा किया, तो हमें भी हिन्दुओंके सिद्धान्त स्वीकार करने पड़ जायेंगे' इस 'हिन्दु' शब्दका यहिष्कार करते हैं और आर्यसमाजकी उन्नति दिखलाने के लिए 'आर्य' शब्दको प्रसारित करनेमें उत्सुक रहते हैं । यही वास्तविक रहस्य है कि वे बहुत तरहकी युक्तियोंसे 'हिन्दु' शब्दको ठटाना चाहते हैं । वे उक्त रहस्यको स्पष्ट रूपसे तो प्रकाशित नहीं करते, किन्तु अपने हृदयके भीतर तिपाकर रखते हैं । बाहरसे तो 'हिन्दु' शब्दको वैदेशिक सिद्ध करनेमें बहुत यत्न लगाते हैं । वास्तवमें उनको उक्त मय छुाड़ देना चाहिए और उदारता अवलम्बन करनी चाहिए, सङ्कीर्णताको हटा देना ही उचित है । अपने जातीय 'हिन्दु' नामके लिए स्वार्थका त्याग कर देना चाहिए ।

फलतः हमारे देशका नाम 'हिन्दु' है, उसीका अष्टमंश 'हिन्द' है । हमारी जातिका नाम भी देशके अनुसार 'हिन्दु' है । हमारी भाषाका नाम हिन्दी भाषा है । स्वामी दयानन्दजीने तो 'प्रथम-संस्कारविधि' (सं० १२३२-३३) में इस हिन्दी भाषाका नाम 'प्राकृत भाषा' रखा था, 'आर्यभाषा' नहीं । इस प्रकार 'श्रग्वेदादिभाष्यभूतिका' में भी ।

फलतः सब पुरुषोंकी स्वस्वार्थ-त्यागकर अपना जातीय नाम 'हिन्दु' यह रखना चाहिए । सब हिन्दु पुरुषोंकी जनगणना समयमें इसी नाम का प्रयोग लिखानेके लिए प्रेरणा करनी चाहिए, जिससे 'हिन्दुस्थान' भी उसीकी सम्पत्ति सिद्ध हो ।

(४) वेद-विषयमें भारी भूल

‘हिन्दुशब्द’ तथा हिन्दु-धर्मका विवेचन करके अब हिन्दु-धर्मके मुख्य ग्रन्थ वेदके स्वरूपके विषयमें कुछ विवेचना दी जाती है। आज वेदके विषयमें लोगोंकी बड़ी भ्रष्टा है। वेदके नामका बड़ा प्रचार है। आज न पढ़ा-लिखा साधारण भी पुरुष दूसरेके सिद्धान्तकी प्रामाणिकताके लिए पहले यही पूछता है कि इस सिद्धान्तको वेदसे दिखाओ, अपने सिद्धान्तकी प्रामाणिकतामें वह यही हेतु बताता है कि यह वेदमें है, चाहे उसने वेद अपनी आँखोंसे न भी देखे हों। पर आज वेद विषय में भारी भूल को जा रही है। ‘ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, साम-वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता’ इस नामसे मिलने वाली चार पुस्तकोंको ही केवल आज ‘चार वेद’ बताया जा रहा है, तथा समझा जा रहा है। बहुतसे विद्वानोंमें भी यह भारी भ्रम विद्यमान है। जबकि वेद को अपनी आधारभूत मानने वाले विद्वानोंकी यह दशा है, तब तदर्थों को यह भ्रम न रहे—यह अस्वाभाविक बात है। आज उसी भ्रमको दूर करनेके लिए हम निम्न पंक्तियाँ लिखते हैं।

वेद-श्रद्धालु लोग पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदियोंको को प्रसिद्ध वेदज्ञ तथा अत्यन्त प्रामाणिक स्वीकार करते हैं। तब वेद-विषयमें इनकी सम्मति सुतरां ग्राह्य सिद्ध होगी। उक्त व्यक्ति सनातन-धर्मी तथा आर्यसमाजी सभी सज्जनोंको समान रूपसे प्रामाणिक हट हैं। उसमें आर्यसमाज अपने आचार्य स्वा० दयानन्दजीको भी प्रामाणिक कोटिमें मानता है। आज हम इनके अनुसार वेदस्वरूप-निरूपण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इनमें आर्यसमाज उक्त चार ग्रन्थोंको चार वेद मानता है, शेष ११२० संहिताओंको इन्हींकी व्याख्या-रूप

शास्त्र मानता है, वेद नहीं। ब्राह्मणभागको उससे भिन्न मानता है, उपनिषद् और आरण्यकोंको इनसे भी भिन्न। ऐसा बहुत विद्वानोंका भी विश्वास है। परन्तु यह मत पाणिनि आदिसे विरुद्ध है। वेद चार हैं—इसमें तो किसीका मतभेद नहीं। 'तीन वेद हैं' यह प्रसिद्धि तो तीन प्रकारके (पद्य, गद्य, गान) मन्त्रोंके कारण है। वे तीनों प्रकारके मन्त्र चारों वेदोंमें हैं। उनमें पद्य ऋक् है, गद्य यजु है, गान साम है। ऋग्वेद नाम ऋचायोंकी प्रधानतासे, यजुर्वेद यजुषोंकी और सामवेद सामोंकी प्रधानतासे है। अथर्ववेदमें तीनोंका साम्य है। तब एककी प्रधानता न होनेसे, मन्त्रके नामसे न होकर उसके दृष्टान्त नामसे उसका नाम 'अथर्वगिरीवेद' वा 'अथर्ववेद' प्रसिद्ध है।

हम इस नियन्त्रमें यह सिद्ध करेंगे कि—आजकल मिलने वाले 'ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता, अथर्ववेद संहिता' यही केवल चार वेद नहीं हैं, किन्तु ये चारों वेदोंकी एक-एक संहिता हैं, चारों वेद तो ११२१ संहिताओं, इतने ही ब्राह्मण ग्रन्थों तथा इतने ही उपनिषद् एवम् आरण्यकोंमें जाकर परिनिष्ठित होते हैं। पर आर्य-समाजी विद्वान् तथा ग्रन्थ भी यह मानते हैं कि—आजकल मिलने वाले 'ऋग्वेद संहिता आदि चार ग्रन्थ चार वेद हैं। ये पूर्ण हैं। न इनमें कुछ न्यूनता है, न प्रसिप्तता है। अस्तु, इस मताकी सत्यता या अवायता अन्तिम अनुसन्धानसे स्वयं सिद्ध हो जायगी।

वेद विषयमें वास्तविकता यह है कि—११२१ संहिताएं तथा ब्राह्मण मिलकर ही पूर्ण चार वेद हैं। जिस प्रकार 'वेद' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवम् अथर्ववेदमें एक-कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं मिलती, क्योंकि—इन चारोंका समुदाय ही वेद है, वैसे ही चार वेद भी ११२१ संहिताओं वा ब्राह्मणोंसे एक-स्वतन्त्र चार पुस्तकोंके रूपमें नहीं मिलते, अर्थात् सभी ११२१ संहिताओंकी मिलाकर ही चार वेद

होते हैं। आजकल जो चार वेद माने जाते हैं, वे चारों वेदोंकी एक-एक संहिता है। जिसे आज 'ऋग्वेद-संहिता' कहा जाता है, वह ऋग्वेद की 'शाकल-संहिता' है। आजकी 'यजुर्वेद संहिता' शुक्लयजुर्वेदकी 'वाजसनेयी-संहिता' है। आजकी 'सामवेद संहिता' सामवेदकी 'कौथुम संहिता' है। आजकी 'अथर्ववेद संहिता' अथर्ववेदकी 'शौनक संहिता' है। यजुर्वेदके विषयमें इतना और याद रखना चाहिए कि यजुर्वेदके शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद ये दो भेद हैं। पर इससे वेद पाँच नहीं हो जाते; एकके दो भाग कल्पित करने पर वह एक वास्तवमें अनेक नहीं हो जाता; किन्तु दो भागों वाला ही यह पूर्ण एक बन जाता है।

वेदकी १२१ संहिताएँ हैं, इस प्रसंगमें महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलि का यह प्रसिद्ध वचन 'महाभाष्य' के पस्पशाहिम्में मिलता है—'एक-शतम् (१०१) अथयु (यजुर्वेद) शाखाः, सहस्रधर्मा सामवेदः (१०००), एकविंशतिधा (२१) साहस्रध्यम् (ऋग्वेदः)। नवधा (९) अथर्वणवेदाः। यहाँ पर चारों वेदोंकी $१०१ + १००० + २१ + ९ = ११३१$ शाखाएँ स्वीकृत की गई हैं। इनमें यजुर्वेदकी २१ कृष्ण संहिताएँ तथा १२ शुक्ल संहिताएँ मिलाकर ही १०१ सख्या बताई गई है—यह बात नहीं भूलनी चाहिए। स्वा० दयानन्दजीने 'वसुका-लाद्यचन्द्र' (१९३८ वि०) संवत् में अपने बनाए 'नामिक' पुस्तकके प्रारम्भ पृष्ठमें उक्त भाष्यवचनका अर्थ इस प्रकार किया है—'एक सौ एक व्याख्यानयुक्त यजुः, हजार व्याख्यानयुक्त साम, इक्कीस व्याख्यान-युक्त ऋक्, नव व्याख्यानयुक्त अथर्ववेद'। इस अर्थमें भी वेदकी संहिताएँ ११३१ सिद्ध होती हैं। इनमें चार वर्तमान संहिताएँ भी अन्तर्भूत हो जाती हैं। पृथक् सिद्ध नहीं होतीं।

घलङ्कार शास्त्रमें छानिके सामान्यतया २१ भेद होते हैं, पर उसमें 'ध्वनि' यह भेद अविच्छिन्नवाच्य हरशब्द भेद अर्थान्तर-संकमितवाच्य

आदिसे पृथक् गणनीय नहीं होते, किन्तु अपने सभी भेदोंकी समष्टि ही प्विनी होती है; परन्तु आजकल जो कि आर्यमताज और वेदोंको अलग और ११२० शाखावेदोंको पृथक् मानता है, यह मत श्रीपतञ्जलि आदिसे विरुद्ध ही है। न तो श्रीपतञ्जलिने ऐसा कहीं कहा है; न ही किसी अन्य प्राचीनने। उसका प्रमाण यही है कि पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदि वेदका नाम लेकर जिन प्रमाणोंको उद्धृत करते हैं, वे केवल इन संस्मान चार ग्रन्थोंके नहीं होते, किन्तु अन्य संहिताओं के भी होते हैं, ब्राह्मण भाग या तदन्तर्गत उपनिषद्-शास्त्रयज्ञसे भी दिये होते हैं। तब इनके मतमें यह सारा समुदाय 'वेद' पद वाध्य हुआ। हां, 'अमुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि यतन्ते' इस परंपराहिकस्थित महामाध्यके यचनसे सब संहिताओंमें किसी भी एक संहिता का प्रमाण 'वेद' नामसे या 'शाखावेदोंके नामसे दिया जा सकता है।

इस निबन्धको विस्तीर्ण न करते हुए हम उक्त मुनियोंके कई प्रमाण उपस्थित करते हैं। विस्तीर्ण रूपसे इस विषयको अग्रिम भागों में निरूपित करेंगे। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदिपोंकी सभी सनातनधर्मी तथा स्वा० दयानन्दजीसे लेकर आज तक टापत्र हुए सभी आर्यमताजी समतामें प्रमाण मानते हैं। स्वा० दयानन्दजीकी आर्यसमाजी प्रमाण मानते ही हैं। हम उनके भी इस विषयमें प्रमाण देते हैं। इससे यह निश्चिद् हुआ कि—वेद ११३१ संहिताओं तथा शब्द एवं अर्थका निरवसम्बन्ध होनेसे उतने ही 'ब्राह्मणों' में पूर्ण होता है।

वेदके प्रयोग श्रीपाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी' में, धीरारथायनने 'पार्तिक' में, श्रीपतञ्जलिने महाभाष्य में, श्रीजयादित्यने अपनी 'काशिका' में तथा श्रीमहोजिदीक्षितने अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' में एवं आर्यसमाजके आचार्य स्वा० दयानन्दजीने नामिक, आध्यात्मिक, सामाजिक

अप्ययर्थ-भाग आदि अपनी पुस्तकोंमें उद्धृत किए हैं। इस प्रकार धीयांस्कने भी वेद-मन्त्रोंके प्रमाण अपने 'निस्वत' में दिखाए हैं। वे वेदके प्रयोग यदि वर्तमानमें प्रसिद्ध चार वेदग्रन्थोंमें न मिलें, तो सिद्ध हो जाएगा कि ये वेदके वर्तमान चार ग्रन्थ ही वेदकी चरमसीमा नहीं हैं, किन्तु वेद इनसे अधिक है। यदि वे ही वेदके प्रयोग वर्तमान चार संहिताओं से भिन्न संहिताओंमें तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में प्राप्त हो जाएँ, तो सिद्ध हो जाएगा कि—वेदकी सीमा ११३१ संहिताएँ तथा उतने ही ब्राह्मणग्रन्थ जिसके उपनिषत् एवं आरण्यक भी भन्तर्गत हैं, है अर्थात् वेदकी पूर्णता इनमें हो जाती है। अब विद्वान् लोग निम्न अनुसन्धानों पर ध्यान दें—

(१) 'स्नातृयादयश्च' (७।१।४३) यह पाणिनिसूत्र है। इसमें 'कत्यापि छन्दसि' (७।१।३८) सूत्रसे 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आरही है, उक्त सूत्रका उदाहरण 'स्विष्टः स्नातृ मलादिव' यह दिया गया है। यह मन्त्र 'शुक्ल-यजुर्वेदी काण्वसंहिता' (२२।५) में 'स्विष्टः स्नातृ मलादिव' इस रूपमें मिलता है। आजकल 'यजुर्वेद संहिता' नामसे प्रख्यात 'वाजसनेय संहिता' (२०।२०) में भी उक्त मन्त्र गैसा ही है। अथर्ववेदकी शौनक संहिता में 'स्विष्टः स्नातृ मलादिव' (६।१।५।३) रूपमें मिलता है। 'स्नातृ' इस रूपमें नहीं मिला। परन्तु कृष्ण यजुर्वेदीय 'काठकसंहिता' (३८।५।६३) में 'स्विष्टः स्नातृ मलादिव' इस पाणिनिप्रोक्त स्वरूपमें मिला है। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेदीय 'मैत्रायणी संहिता' में (३।१।१।११) १०) इसी रूपमें मिला है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में (२।४।४।६) भी 'स्नातृ' मिला है। आजकल की मानी गई चार वेद पुस्तकोंमें 'स्नातृ' शब्द है ही नहीं। तब कृष्ण-यजुर्वेदके भी छन्द (वेद) सिद्ध हो जाने से आजकलका वेद-विषयक मन भी भ्रान्त सिद्ध हुआ। हमारे कहे अनुसार वेदकी सीमा ११३१ संहिताओं तथा ब्राह्मणोंमें प्रतिपाद्य सिद्ध हुई।

पाणिनिसे प्रोक्त 'छन्द' शब्द वेदका ही पर्यायवाचक प्रसिद्ध है। स्या० दयानन्दजीको भी यही अभिमत है, जैसे—'तथा व्याकरणेषि-
'मन्त्रे घस' 'छन्दसि लुङ्' 'वा अपूर्णस्य निगमे' अत्रापि छन्दो-मन्त्र-
निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति, एवं छन्दश्चादीना पर्यायसिद्धेयो भेदं
प्रूते, तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति' (श्र० भा० सू० गृ० ८०) 'यद्योक्तं
छन्दो मन्त्रयोर्भेदोस्ति; तदपि असंगतम् । कुतः ? छन्दोवेद-निगम-
धृतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (पृ० ७१-८०) तब जो आज़कलके धार्य-
समाजी पण्डित छन्दको वेदसे मित्र बताने की चेष्टा करते हैं; स्वा०
दयानन्दजीके अनुसार उनका वचन अप्रमाण ही है।

(२) 'छन्दसि निष्टस्य' (१।१।१२३) इस पाणिनिके सूत्रमें
'निष्टस्य चिन्वीत पशुकामः' यह वैदिक उदाहरण दृष्ट है। स्वामी
दयानन्दजीने भी 'आख्यातिक' में यही उदाहरण दिया है। परन्तु
यह आज़कलके कहे जानेवाले चारों वेदग्रन्थों में नहीं मिलता। बल्कि
'निष्टस्य' शब्द ही आजकी चारों वेद-संहिताओंमें नहीं मिलता। जबकि
आज़के मतके अनुसार चार वेद पूर्ण हैं, म्यूनता, अधिकता, प्रक्षेप
आदि से रहित हैं, तो उनमें पाणिनिके अनुसार 'निष्टस्य' वैदिक
प्रयोग अवश्य मिलना चाहिये। पर अब उन पुस्तकोंमें नहीं मिलता,
तब स्पष्ट है कि वेदकी सीमा इन चार ग्रन्थोंसे अधिक है। उक्त शब्द
हृष्ययलुर्वेदीय 'तेजिरीयसंहिता' (१।१।१०।२) में तथा 'पितरेयारण्यक'
(१।१।१३) में मिलता है; तब आज़कलका वेद-विषयक मत भ्रान्त
सिद्ध हुआ।

(३) 'यहुलं छन्दस्यमाङ्' (१।४।०२) इस पाणिनिसूत्रकी कीमुदीमें
'भा वः क्षेत्रे परे योजान्यवाप्सुः' यह उदाहरण दिया है। 'आपस्तम्ब-
धर्मसूत्र' (२।१६।१३।६) बोधायनधर्मसूत्र २।३।३६ में इसे उद्धृत किया
गया है, पर वहाँ 'वाप्सुः' पाठ है 'अवाप्सुः' नहीं। यह मन्त्र धर्ममान

की चार संहिताओंमें नहीं मिला। किसी अन्य संहिता का ब्राह्मणमें होगा। छन्द वेदका ही नाम है ऐसा हम पूर्व बता चुके हैं, तब मन्त्रभागकी सभी संहिताएं तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(४) 'पृथगर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (१।३।६२) यह कात्यायनका वेद-विषयक धातुिक है। भाष्यकारने इसका वैदिक उदाहरण 'या खयेण पिबति तस्यै गव्यः' यह दिया है। स्वामी दयानन्दजीने भी यही उदाहरण दिया है। परन्तु यह आजके चारों वेदोंमें नहीं, किन्तु कृष्ण-यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (१।१।१।७) के ब्राह्मण भागमें है। तब आजका वेद-विषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ। सभी संहिता-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(५) महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने ३।१।७ पाणिनिसूत्रके भाष्यमें 'ऋषिः (वेदः) पठति - शृणोत प्राचाणः' यह वेद-मन्त्रांश उद्धृत किया है। पाणिनिकी भी 'तप् तनप्-तनयनाश्च' (७।१।४५) इस छान्दस (वैदिक) सूत्रमें यही वेदमन्त्र अभिप्रेत है; पर यह शुक्ल यजुर्वेदमें नहीं मिलता। उसकी 'वाजसनेयी संहिता' में 'श्रोता प्राचाणः' (६।२६) रूपमें मिलता है; इसी प्रकार 'काण्वसंहिता' (६।३८) में। यद्यपि 'शृणोत' तथा 'श्रोता' में अर्थभेद नहीं, तथापि शब्दभेद तो है। वेद शब्द-प्रधान ही सर्ग-सम्मत है। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' यह गायत्री मन्त्र इस शाब्दिक रूपमें तो वेद है—इस अर्थमें नहीं। इसीलिए जपन भी उसी का होता है, उसके अर्थका नहीं। नहीं तो विवाहादि संस्कार वेदमन्त्रोंके अनुवादसे भी कराये जाते। पर नहीं कराये जाते।

कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (१।३।१३।१) में 'शृणोत प्राचाणः' मिला है, 'काठकसंहिता' (३।३३) 'मैत्रायणीसंहिता' (१।३।४) में भी कुछ भेदसे मिला है। तब आजकल का वेद-विषयक मन नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ।

पाणिनिसे प्रोक्त 'छन्द' शब्द वेदका ही पर्यायवाचक प्रसिद्ध है। स्वा० दयानन्दजीको भी यही अभिमत है, जैसे—'तथा व्याकरणेपि 'मन्त्रे घस' 'छन्दसि लुङ्' 'वा पपूर्गस्य' निगमे' अथापि छंदो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति, एवं छन्दश्चादीना पर्यायसिद्ध्यो भेदं प्रोक्तं, तद्वचनमप्रमाद्यमेवास्तीति' (अ० भा० मृ० पृ० ८०) 'यद्योक्तं छन्दो मन्त्रयोर्मैदोस्ति; तदपि असंगतम् । कुतः ? छन्दोवेद-निगम-भूतीनां पर्यायवाचकात्' (पृ० ७२-८०) तब जो आज़कलके चारों ममाजी परिदृष्ट छन्दको वेदसे भिन्न पताने की चेष्टा करते हैं; स्वा० दयानन्दजीके अनुसार उनका वचन अप्रमाद्य ही है।

(२) 'छन्दसि निष्टयं' (२।१।१२३) इस पाणिनिके सूत्रमें 'निष्टयं चिन्वीत पशुकामः' यह वैदिक उदाहरण दृष्ट है। स्वामी दयानन्दजीने भी 'आख्यातिक' में यही उदाहरण दिया है। परन्तु यह आजकलके कहे जानेवाले चारों वेदग्रन्थोंमें नहीं मिलता। यत्कि 'निष्टयं' शब्द ही आजकली चारों वेद-संहिताओंमें नहीं मिलता। जबकि आजके मतके अनुसार चार वेद पूर्ण हैं, न्यूनता, अधिकता, प्रवेप आदि से रहित हैं, तो उनमें पाणिनिके अनुसार 'निष्टयं' वैदिक प्रयोग अवश्य मिलना चाहिए। पर जब उन पुस्तकोंमें नहीं मिलता, तब स्पष्ट है कि वेदकी सीमा इन चार ग्रन्थोंसे अधिक है। उक्त शब्द कृष्णपञ्चवेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (६।१।१०२) में तथा 'ऐतरेयारण्यक' (२।१।३) में मिलता है; तब आजकलका वेद-विषयक मत भ्रान्त सिद्ध हुआ।

(३) 'यदुक्तं छन्दस्यमाह' (६।१।०२) इस पाणिनिसूत्रका कौमुदीमें 'मा यः क्षेत्रे परे बीजान्यवाप्सुः' यह उदाहरण दिया है। 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' (२।६।१३।६) बोधायनधर्मसूत्र २।३।३६ में इसे उद्धृत किया गया है, पर वहाँ 'वाप्सुः' पाठ है 'अवाप्सुः' नहीं। यह मन्त्र वर्तमान

की चार संहिताओंमें नहीं मिला । किसी अन्य संहिता वा ब्राह्मणमें होगा । छन्द वेदका ही नाम है ऐसा हम पूर्व यहाँ चुके हैं, तब मन्त्रभागकी सभी संहिताएँ तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए ।

(४) 'पण्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (१।३।६२) यह कात्यायनका वेद-विषयक वार्तिक है । भाष्यकारने इसका वैदिक उदाहरण 'या सर्वेण पिबति तस्यै सर्वः' यह दिया है । स्वामी इयानन्दजीने भी यही उदाहरण दिया है । परन्तु यह आजके चारों वेदोंमें नहीं, किन्तु कृष्ण-यजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (१।१।१७) के ब्राह्मण भागमें है । तब आजका वेद-विषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ । सभी संहिता-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए ।

(५) महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने ३।१।७ पाणिनिसूत्रके भाष्यमें 'शृणोतः (वेदः) पठति — 'शृणोतः प्रावाणः' यह वेद-मन्त्रांश उद्धृत किया है । पाणिनिको भी 'तप् तनप्-तनयनाश्च' (७।१।४५) इस छान्दस (वैदिक) सूत्रमें यही वेदमन्त्र अभिप्रेत है; पर यह शुक्ल यजुर्वेदमें नहीं मिलता । उसकी 'वाजसनेयी संहिता' में 'श्रोता प्रावाणः' (६।२६) रूपमें मिलता है; इसी प्रकार 'काटकसंहिता' (६।३८) में । यद्यपि 'शृणोत' तथा 'श्रोता' में अर्थभेद नहीं, तथापि शब्दभेद तो है । वेद शब्द-प्रधान ही सर्व-सम्मत है । 'तत्सवितुर्वरेण्यं' यह गायत्री मन्त्र इस शाब्दिक रूपमें तो वेद है—इस अर्थमें नहीं । इसीलिए जपन भी उसी का होता है, उसके अर्थका नहीं । नहीं तो विवाहादि मन्त्रकार वेदमन्त्रोंके अनुवादसे भी कराये जाते । पर नहीं कराये जाते ।

कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीयसंहिता' (१।३।१३।१) में 'शृणोतः प्रावाणः' मिला है, 'काटकसंहिता' (३।३३) 'मंत्रायणीसंहिता' (१।३।५) में भी कुछ भेदमें मिला है । तब आजकल का वेद-विषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ ।

चार वेद-ग्रन्थोंमें नहीं मिला, तब इससे स्पष्ट है कि—प्रचलित चार वेदग्रन्थ ही वेदकी सीमा नहीं, किन्तु ११३१ संहिताएँ तथा ब्राह्मण मिलकर ही वेद हैं। यह मन्त्र किसी लुप्त शास्त्रामें मिल सकेगा। आजकल ऋग्वेदकी एक शाकल्यसंहिता, शुक्लयजुर्वेदकी वाजसनेयी तथा काण्व, कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय-काठक-मैत्रायणी-कपिष्ठल आदि संहिताएँ, सामवेदकी कौथुमी, राणायनीय, जैमिनीयसंहिता, अथर्ववेद की शौनकसंहिता—पैप्पलादसंहिता मिली हैं, शेषकी गवेषणा जारी है। 'तैत्तिरीयसंहिता' में 'एक एव रदो न द्वितीयाय तस्ये' (१।८।६।१) इस रूपमें यह मन्त्र मिला है। तब आजकलका वेदविषयक मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ। सभी संहिताएँ वेद सिद्ध हुई।

(१०) 'नेडिजहायन्तो नरकं पताम' यह उदाहरण 'निहवत' के निपात-प्रकरण (१।१।११) में उद्धृत किया गया है। पाणिनिके ३।४।८ वैदिकसूत्रमें भी यही उदाहरण दिया गया है। स्या० दयानन्दजीने भी यही उदाहरण दिया है। परन्तु वर्तमान संहिताओंमें यह नहीं मिलता। 'श्रुक्परिशिष्ट' (८ अष्ट० ६ अ० २ ब०) में मिलता है। तब श्रुक्परिशिष्ट भी वेद सिद्ध हुआ।

(११) 'निहवत' (६।१।१) में 'भद्रं यद् दक्षिणतः' यह कथा उद्धृत की गई है, परन्तु वर्तमान 'ऋग्वेद' में यह नहीं मिलती; 'श्रुक्परिशिष्ट' (२।१३।१) में यह मिलती है। तब श्रुक्परिशिष्ट भी ऋग्वेद सिद्ध हुआ। यह भी सिद्ध होता है कि खिलों (परिशिष्टों) का भिन्न कर्ता नहीं होता; प्रायुक्त उसी ग्रन्थकारके द्वारा किया हुआ अनिवार्यमित संग्रह ही परिशिष्ट कहा जाता है। इसीलिङ्ग 'तैत्तिरीयारण्यक' की व्याख्या करते हुए सायबाने 'नारायणोपनिषत्' में 'विज्ञ' की परिभाषा दी है—'कर्मोपासनाकाण्डेषु त्रिष्वपि यद् वस्तव्यमवशिष्टम्, तस्य सर्व-स्याभिधानेन प्रकीर्णरूपत्वे भवत्वम्'। 'हरिवंशपुराण' की अवतरणिका

में श्रीनीलकण्ठने भी कहा है—‘यच्च शास्त्रान्तरस्यं शास्त्रान्तरे प्रयोजन-
दंगत् पठ्यते, यथा बाह्ये चे श्रीसूक्तमेधा सूक्तादिः तत् खिलमुच्यते’ ।
खिलां किं प्रमाण हीनं मे ही (‘स्वाध्यायं धावयेत् पित्र्ये...पुराणानि
खिलानि च’ मनु० ३।२३२) उनका पित्र्यकर्ममें पाठ स्वीकृत किया
गया है ।

(१२) निरुक्तकार ‘इत्थपि निगमो भवति’ यह कहकर वेद-प्रमाण
दिया करते हैं—यह विश्व-समाजमें प्रसिद्ध है । स्या० द० भी यह
मानते ही हैं । आर्यसमाजी पण्डित श्रीराजारामजी शास्त्रीने भी निरुक्त
की भूमिका पृ० २ में लिखा है—‘निरुक्तमें जो ‘निगम’ दिखलाए हैं,
वह मन्त्रभाग ही हैं । निरुक्तकारने लिखा है—‘अमेनाश्चिज्जन्मिवत-
श्चकथं’ ‘ग्नास्त्वाऽकृन्तप्रपसोऽतन्वत’ इत्थपि निगमो भवतः, (३।२१।२)
इनमें ‘अमेनाश्चिज्जन्मिवत’ (शा० सं०) का है; परन्तु ‘ग्नास्त्वा’ यह
मामवेदीय ‘ताण्ड्य महाप्रायण’ (१।८।६) का है । ‘मैत्रायणीसंहिता’
(१।६४) तथा ‘काठकसंहिता’ (६।६) में भी है । तब सभी संहिताएँ
तथा ब्राह्मण भाग भी वेद मिष्ट हुए ।

(१३) ‘पीयति त्वो’ ‘नेमे देवाः’ इत्थपि निगमो भवतः निरुक्त
(३।२०।१) इनमें पूर्व मन्त्र ‘अग्नेद’ (शा० सं०) १।१४०।२ में है ।
‘नेमे देवाः’ यह यजुः ‘काठकसंहिता’ (१४।६) में है । तब वेद-संहितामात्र
वेद हुआ ।

(ख) निरुक्तमें (३।१।२) ‘नोपरस्यायिष्कुर्याद्’ इत्थपि निगमो
भवतः यह निगममन्त्र-ब्राह्मणभाग का है । (ग) ‘तं मरुतः’ (२।१)
यह निगम प्रमाण भी ब्राह्मणभाग का है । इससे ब्राह्मणभाग भी वेद
मिष्ट होता है ।

(१४) ‘निरुक्त’ (२।१।१) में ‘परमात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्’

इत्यपि निगमो भवति' यह लिखा है। यह कृष्णयजुर्वेदीय 'श्वेताश्वत-
रोपनिषत्' (३।६) का है। तब उपनिषद् भी वेद हुए।

(१५) जैसे 'व्यवहिताग्र' (१।४।८२) यह पाणिनिका 'वैदिक सूत्र
'आ मन्द्रैरिन्द्र ! हविभिर्याहि' (अ० ३।४।१) इस वेदमन्त्रमें लगा है,
वैसे ही 'समिधं सोम्य ! आहूत उप त्वा नेप्ये' (छान्दोग्य० ४।४।५)
इस उपनिषत्कण्टिकामें भी लगा है। तब उपनिषद् भी वेद सिद्ध
हुई। इसीलिङ्ग मनुस्मृति (२।१४०) की टीकामें कुल्लूकभट्टने कहा है—
'वेदेष्वपि उपनिषदो प्राधान्यविषयया पृथक् निर्देशाः'।

(१६) 'सुपां सुलुक्—' (७।१।३६) इस पाणिनिके सूत्रमें 'यत्पापि
छन्दसि' (७।२।३८) सूत्रसे 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है। तब
इस सूत्रसे जैसे 'सविता प्रथमऽहन्' (१३।६) इस यजुर्वेद (पा० सं०)
के मन्त्रमें 'टि' का लुक् हो जाता है, और 'नटि-सम्बुद्धयोः' (८, २।८)
से गीदिक न-लोपका अभाव होता जाता है; वैसे ही 'यश्चाभ्यं दृष्टियो-
ऽस्तन पुरयः' (१४।६।८।३) इस शुक्ल-यजुर्वेदीय 'शतपथ ब्राह्मण' के
पाठ्यमें तथा छान्दोग्य संहारयक आदि उपनिषदोंमें भी दीखता
है। तब उपनिषद् तथा ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ। तब केवल
चार पोषियोंको चार वेद मानना—यह मत नितान्त भ्रान्त सिद्ध हुआ।

(१७) 'भगवः ! इति ह शुभ्राव' (४।५।१) यह 'छान्दोग्योपनिषत्'
में पाठ है। इस प्रकार अन्य उपनिषदोंमें भी। यहाँ पर 'भगवः !'
यह शब्द 'भगवन्'-शब्दके सम्बोधनमें 'मतुवसो ह सम्बुद्धौ छन्दसि'
(८।३।१) इस गीदिक स्वर होने पर चलता है। यह लौकिक ग्रन्थोंमें
नहीं आता। तब उपनिषद् भी वेद हुई।

(१८) जिस प्रकार 'व्यस्यो बहुलम्' (३।१।८५) यह पाणिनिका
गीदिक सूत्र मन्त्रभागमें प्रवृत्त होता है, वैसे ब्राह्मणभागान्तर्गत

आरण्यकमें भी। जैसे कि—‘आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवीं पूतां पुना-
तु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म, ब्रह्म पूता पुनातु माम्’—(‘तैत्तिरीया-
रण्यक’ १.०।२३) यहाँ पर ‘ब्रह्मणस्पति’ में अम्-के स्थानमें ‘सु’ हुआ
है। ‘ब्रह्म पूता’ में लिङ्ग-व्यत्यय हुआ है। इस प्रकार ‘सायमेव जयते
नातृतम्’ (सुरदेक० ३।१६) इस उपनिषद् वाक्यमें भी उपग्रह (पद्)
का व्यत्यय हो गया है। तब आरण्यक तथा उपनिषद् भी वेद सिद्ध हुए।

(१९) अब स्वा० दयानन्दजीके कई प्रमाण भी इस विषयमें
दिले जा चुके हैं, जिन्हें उन्होंने वेदका उदाहरण स्वीकृत किया है,
पर वे उनके माने हुए वेदमें नहीं मिलते, किन्तु अन्य छुट या छलुस
संहिताओंमें मिलते हैं। छंद शब्दसे वे मन्त्रभागरूप वेदको लेते हैं
यह पहले कहा जा चुका है, इससे भी वेदकी सीमा इन चार ग्रन्थोंसे
कटकर बही १।२। संहिता, तथा ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक तक जा
पड़ती है। स्वामीजीके कुछ थोड़े उदाहरण दिये जाते हैं, शेष अन्य
निबन्धोंमें दिये जाएंगे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाके ३८० पृष्ठमें
‘उपसवादाशङ्कयोरथ’ (३।४, ८) इस सूत्रका वैदिक उदाहरण स्वामीजी
ने ‘नेजिह्यापन्तो नरकं पताम’ यह दिया है, यह उनके माने हुए वेदमें
नहीं, किन्तु ‘ऋक्परिशिष्ट’ में है यह पहले कहा जा चुका है, तब ऋक्
परिशिष्ट भी ‘ऋग्वेद’ सिद्ध हुआ।

(२०) वेदग्रन्थप्रकाश ‘आख्यातिक’ ३२८ पृष्ठमें स्वा० दयानन्दजीने
‘महुल छन्दसि’ (३।२।८८) इस वैदिक सूत्रका ‘मातृहा सतमं
नरकं विरोत्’ यह वेदोदाहरण दिया है, यह तत्सम्मत वेदमें नहीं,
किन्तु ब्राह्मणभागमें है, तब यह भी वेद सिद्ध हुआ।

(२१) इस प्रकार ‘सामासिक’ में स्वा० दयानन्दजीने ‘आग्नेयमष्टा-
वपालं निर्वपेत्’ ‘अष्टा हिरण्या दक्षिणा’ यह उदाहरण ‘वेन्देति ॥’

(६।३।१२६) सूत्रका दिया है, यह उनके इष्ट वेदमें नहीं, किन्तु ब्राह्मण-भागमें है, तब ब्राह्मणभाग भी छन्द (वेद) सिद्ध हुआ ।

(२२) इस प्रकार स्वामीजीने 'अन्ययार्थभाग' के २१ पृष्ठमें 'तवै-तुमये छन्दसि' यह लिखकर वहाँ 'ब्राह्मणेन न ग्लेच्छितवै' यह उदाहरण दिया है, यह भी उनके इष्ट वेदमें नहीं, किन्तु ब्राह्मणभागमें है, तब ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ ।

(२३) स्वा० दयानन्दजीने 'आख्यातिक' के ३६३ पृष्ठमें 'माय-लक्षणे ..तोसुन्' (३।४।१६) इस गौडिक सूत्रका उदाहरण 'काममावि-जनितोः सम्भवाम' यह दिया है; यह उनके भाने हुए चार वेदोंमें नहीं; किन्तु 'तैत्तिरीयसंहिता' (२।१।१।२) में है; तब ११३१ संहिताएँ वेद सिद्ध हुई ।

(२४) 'स्रैणतादित' के ६२ पृष्ठमें 'छन्दोब्राह्मणानि च' ३२३ (अ० ४।२।६२) इस पाणिनिसूत्रके विवरणमें स्वा० दयानन्दजीने छन्द (वेद) के उदाहरणमें 'कठाः, मीदाः, पैप्पलादाः, वाजसनेयिनः' ये उदाहरण देकर शाखाओंको भी वेद मान लिया है ।

(२५) पाणिनि, महामाष्यकार निषण्ड और निरुक्तकारने जो वेदके शब्द दियेलाए हैं, वे वेदमें अवश्य मिलने चाहियें । जो वर्तमान वेद-संहिताओंमें न मिलें, तब स्पष्ट होगा कि वेदकी सीमा वर्तमान वेदग्रन्थ में अधिक है । पाणिनिसूत्र (७।१।४५) के अनुसार 'शृणोत प्राचाणः' यह वाक्य वेदका है, धीपतञ्जलिने भी ३।१।७ सूत्रके भाष्यमें 'शृणोत प्राचाणः' यह वेदमन्त्र माना है—यह पूर्व कहा जा चुका है, परन्तु यह वाक्य वर्तमान प्रसिद्ध चार वेद-संहिताओंमें प्राप्त नहीं होता, तब स्पष्ट है कि यह चार संहिताएँ ही वेद नहीं हैं, किन्तु इससे अधिक ११३१ संहिताएँ जो कि महामाष्यकार आदिने स्वीकृत की हैं, तथा

ग्राहणभाग- यह मिलकर ही वेद होता है। यह 'शृणोते ग्राह्यः' वाक्य कृष्णयजुर्वेद (तै० सं०) में है, तब तैत्तिरीयसंहिता आदि वेद सिद्ध हुए।

(१८) 'स्नात्वी' शब्द भी वेदका है यह पाणिनिका अभिप्राय है (अष्टा० ७।१।४६)। इस प्रकार 'निष्टक्य' शब्द भी पाणिनिसूत्र (३।१।१२३) के अनुसार वेदका है, पर 'स्नात्वी' शब्द और 'निष्टक्य' शब्द वर्तमान चारों वेदोंमें नहीं, किन्तु अन्य संहिताओंमें है, यह बतलाया जा चुका है। तब ये वेद सिद्ध हुई।

(२६) 'महाभाष्य' के परस्परशब्दिकमें अप्रयुक्त शब्द निरूपण प्रकरणमें 'ये चाप्येते भयतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः; तेषामपि प्रयोगो दृश्यते। अत्र ? वेदे' यह कहकर 'यद्वा रेवत्यां वमूप' यह वेदका प्रमाण दिया है; पर यह आजकलके चार वेदोंमें नहीं मिलता; तब चार वेदोंकी सीमा इन्से अधिक सिद्ध हुई। अतः यह 'काठक संहिता' (३।१।७) में मिला है।

(३८) 'जायमानो के ग्राहणस्त्रिभिर्गणवान् जायते—एवमृण-संपोगं वेदो दर्शयति' यह वचन बोधायनधर्मसूत्र (२।६।१६।७) तथा न्यायदर्शनके भाष्य (४।१।६०-६१) में वेदके नामसे उद्धृत किया गया है, पर यह कृष्णयजुर्वेद (तै० सं० ६।३।११) का है, तब कृष्णयजुर्वेदकी संहिता भी वेद सिद्ध हुई।

(२७) 'आलोक' के विज्ञ पाठकाण्डने इस निबन्धको मनोयोगसे पढ़ा होगा। अब हम उनका अधिक समय नहीं लेना चाहते। एक अन्तिम, पर आवश्यक बात कहकर यह निबन्ध समाप्त करेंगे।

श्रीयास्कने 'निघण्टु' को वेदके शब्दोंका संग्रह बताया है; देखिए—
 'धुन्दोम्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः' (१।१।४) । यही बात समा-
 तनधर्मों तथा आर्यसमाजी दोनों मानते हैं । परन्तु बहुतसे 'निघण्टु' के
 शब्द वर्तमान, वेदकी चार संहिताओंमें नहीं मिलते । इससे स्पष्ट सिद्ध
 हो जाएगा कि—वेदकी यह सीमा नहीं है, जो आजकल समझी जाती है,
 किन्तु ११३१ संहिताएँ, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् वेद हैं ।
 अब देखिए—

(क) 'काण्वचनम् जातरूपम्' ये हिरण्यके नाम 'निघण्टु' (१।२) में
 कहे हैं; परन्तु ये आजके चारों वेदोंमें नहीं मिलते । (ख) 'निघण्टु'
 (१।३) में 'वियद्, आकाशम्' ये अन्तरिक्षके नाम कहे हैं; पर ये आजके
 चारों वेदोंमें नहीं मिलते । (ग) निघण्टु (१।६) में कहा 'आष्टा' यह
 'विशा' का नाम, (घ) 'शोकी' (१।७) यह 'रात्रि' का नाम (ङ)
 'बलिशानः, बलाहकः' (१।१०) ये 'मेघ' के नाम, (च) 'बेकुरा' १।११)
 ये 'वाक्' का नाम, (छ) 'सर्णीकम्, स्मृतीकम्' (१।१२) ये जलके नाम
 आजके चारों वेदोंमें नहीं मिलते । यह अभी दिक्प्रदर्शनमात्र है; नहीं
 तो ऐसी सख्या बहुत अधिक है ।

इससे स्पष्ट है कि—वेदकी ये चार संहिता पोधियाँ ही वेदकी
 अन्तिम अवधि नहीं हैं; किन्तु ११३१ मन्त्रसंहिताएँ, उतने ही ब्राह्मण,
 आरण्यक, उपनिषद् मिलकर पूर्ण वेद बन जाता है । ऊपर कहे गए
 वैदिक कई शब्द चार वर्तमान संहिताओंसे भिन्न संहिताओंमें मिलते हैं;
 कई ब्राह्मणभाग तथा तदन्तर्गत उपनिषद् तथा आरण्यकोंमें मिलते हैं ।

यदि उनमें भी न मिलें, तब भी हमारे पक्षकी हानि नहीं; क्योंकि—
 सभी बहुत-सी वेदकी मंहिताएँ तथा ब्राह्मण तथा उपनिषदें तथा आर-
 त्यक लुप्त हैं। उनमें उक्त वैदिक-शब्दोंकी मत्ताका अनुमान कर लेना
 चाहिए। पर यदिवाँका पक्ष सो सर्वथा खण्डित हो जाता है। क्योंकि
 वे अपनी वर्तमान चार संहिताओंको पूर्ण वेद मानते हैं; उनमें ध्यूनता
 या अधिकता भी नहीं मानते। ह्वा ने षांखिनि, कात्यायन, पतञ्जलि,
 यास्क आदिको वेदका पूर्ण विद्वान् मानते हैं। सब सनातनधर्मों तथा
 सभी आर्यसमाजियोंको तथा वेद-विषयके अनुरागी तथा अनुसन्धान-
 प्रवण व्यक्तियोंको उचित है कि इस पर सम्यक् विचार करें, आप द्विज
 हैं, तो वेदकी रक्षा आपका कर्तव्य बन जाती है। जहाँ संसारी व्यवहार
 पूरे करें, वहाँ कुछ समय निकालकर इस परमार्थ की ओर भी अवश्य
 ध्यान दें। फलतः वर्तमान ४ षोडशोमात्र वेद नहीं, किन्तु ११२१
 मन्त्रभागकी मंहिताएँ; तथा सारा ब्राह्मणभाग वेद है, वह इसमें विरुद्ध
 आजकलका मत खण्डित होगया। और उनका यह भारी अम
 सिद्ध हुआ।

श्रीपतञ्जलि एवं 'शन्नोदेवीरभिष्टये' मन्त्र

—(वेद स्वरूपनिरूपण)—

वेद विद्वान् श्रीपतञ्जलि

(१) महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिजी यादी-प्रतिवादी वेदके विषयमें भी ग्रामाणिक विद्वान् मानते हैं, अतः उनकी बातको कसौटी बनाकर सभी अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ उनके वाक्य उद्धृत करते रहते हैं। महाभाष्यकारने 'वैदिक शब्दांका' निरूपण करते हुए 'शं नोदेवीरभिष्टये' 'इये त्वोजे त्वा' 'अग्निमीले पुरोहिते' 'अग्नन्नायाहि वीतये' यह चार उद्धरण दिये हैं। इससे एक पक्ष यह सिद्ध करता है कि—महाभाष्यकार सभी ११३१) संहिताओंको वेद मानते हैं, दूसरा पक्ष वर्तमान-प्रचलित शाकल्य संहिता, याज्ञसनेयी संहिता, कौशुमी संहिता और शौनक संहिताकी ही क्रमसे चार वेद मानकर, महाभाष्यकारकी भी उस पक्षका मानता है। उक्त मन्त्रोंमें अन्तिम तीन मन्त्रोंके विषयमें तो उभयपक्षमें बहुत विप्रतिपत्ति नहीं कि—कहाक है ? हाँ, पूर्वके दिये मन्त्रमें दोनों पक्षोंमें मतभेद है।

एक पक्ष उसे 'अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता' का आदिम मन्त्र बतल कर इससे भाष्यकारके मतमें सभी वेद संहिताओंको वेद सिद्ध करता है, दूसरा पक्ष इसे 'अथर्ववेद शौनक संहिता' का बताकर भाष्यकारको अपने ही पक्षका सिद्ध करता है। दोनों ही पक्ष अपनी अपनी उपपत्तियाँ उपस्थित करते हैं, कोई निर्णय नहीं हो पाता।

चार्यसम्राजके माने हुए विद्वान् श्रीमद्वदचजी जिज्ञासु महोदयने 'यजुर्गोदभाष्य' वितरणकी भूमिकामें 'यह शब्द 'पर्याप्त बलवती' मानी है, परन्तु 'थोड़ा विचार करनेसे उसका स्वयं दूर हो जाना' माना है।

श्री जिज्ञासुजीने पतदर्थ भाष्यकारके कुछ उद्धरण भी दिये हैं। उन्होंने 'संनो देवी०' ॥ श्रीपतञ्जलि द्वारा उद्धरण देनेमें 'वेदोंकी आरम्भिक प्रतीक 'दशाना' उनका मुख्य अभिप्रेत वे मानकर, लौकिक 'शब्दोंसे भेदकत्वार्थ 'वैदिक शब्दोंका उदाहरणमात्र देना' उनका मुख्य अभिप्रेत माना है। इन्हे वेदकी आरम्भिक प्रतीक माननेमें उन्होंने 'पतञ्जलि भगवान्के स्ववचनोंमें परस्पर विरोध था' माना है।

इस विषय पर हम अपनी सूँझीसे भाष्यकारका अभिप्राय देते हैं विद्वान् उस पर निष्पक्ष दृष्टि दें। भाष्यकार सभी वेदसंहिताओंको 'चार वेद' मानते हैं, या केवल वर्तमान प्रसिद्ध चार शांख्य, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहिताओंको ही 'चार वेद' मानते हैं, इस बातको जाननेके लिए मेरे विचारमें उनके उन उद्धरणोंको देखना होगा, जिन्हें उन्होंने वेदके नामसे दिया है। यदि वे उनके उद्धरण उक्त चार संहिताओंसे भिन्न भी संहिताओंके विद्व हो जाएँ, तो मानना पड़ेगा कि—वे सभी वेदसंहिताओंको वेद मानते हैं। हम आजकलके अनुसन्धाताओंको प्रेरणा करते हैं कि वे श्रीपतञ्जलिके वेदके नामसे दिये गये सभी उद्धरणोंका संग्रह करें और उनका वेदसंहिताओंमें अन्येषण करें। इससे दृढ-निर्णयकी कसौटी प्राप्त हो जायगी। यदि इन चार संहिताओंमें भिन्न भी संहिताओंके दिये प्रमाण इस (महाभाष्य) में वेदके नामसे प्राप्त हो जाएँ, तो मानना पड़ेगा कि...भाष्यकार सभी ११२१ संहिताओंको 'वेद' मानते हैं तब वेदविषयक सिद्धान्तमें उनका परस्पर विरोध नहीं रहेगा।

वेद-स्वरूप विषयमें श्रीपतञ्जलिकां अभिप्राय

(२) सम्पूर्ण महाभाष्यको मन्थन करने पर हमें तो श्रीपतञ्जलिका यही अभिमत प्राप्त हुआ है कि—वे सभी ११२१ संहिता तथा सम्पूर्ण भाष्यभाष्यको 'वेद' मानते हैं। आह्वयमानों हम भिन्न समयके लिए

बोद्धे हैं। आज मुख्यतया संहिताओंके विषय पर विचार किया जाता है। पहले 'शं नो देवीरभिष्टये' मन्त्र पर ही विचार करना चाहिये।

हमारा विचार है कि—'वैदिकाः गृह्यपि' कहकर 'शंनो देवीरभिष्टये, इये ग्योर्जे ग्या, अग्निमीले पुरीहितं, अग्न आयाहि वीतये' यह चार चारों वेदोंके प्रथम-मन्त्र-प्रतीक ही भाष्यकारने दिये हैं। यद्यपि भाष्यकार ने ११३१ संहिताओंको ही 'चार वेद' माना है, (यह आगे कहा जायगा) तथापि 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवोऽपि यतन्ते' इस परस्परविरुद्ध भाष्यवचनके अनुसार सिन्हीं अपनी इष्ट चार संहिताओंका प्रथम मन्त्र-प्रतीक दे देना भी चारों वेदोंका उदाहरण दे देना है।

वैदिक शब्दोंका उदाहरण करनेके दो प्रकार हैं। 'दंगेभिः, ग्राह्यामः, मभेयः, रमना' इत्यादि लोकरुचिराण्ये वैदिक शब्द दे देना यह एक प्रकार है। वेदसंहिताओंके मन्त्र उपरिष्ठ कर देना यह दूसरा प्रकार है। बीसवी योजना ही उस वेदसंहिता को बता सकती है। भाष्यकारने इनमें दूसरा प्रकार अवलम्बित किया है। क्योंकि 'शं, नो' आदि लोकरुचिराण्ये गृह्य-गृह्य शब्द देकर वैदिक शब्दोंका भेद-ज्ञान नहीं हो सकता, संहितायोजनाकी अपेक्षा यही रहती है। यदि केवल लौकिक शब्दोंमें उल्लेखता-प्रदर्शनायं कई लोकरुचिर पदों वाले एक-दो भी मन्त्रोंके कहीं भी प्रतीक दे दिये जाते तो इष्टसिद्धि हो जाती, पर प्रस्तुत मन्त्रोंमें लोकरुचिराण्य कोई पद नहीं। इसमें भी भाष्यकारने एक-दो मन्त्र न देखर चार मन्त्र उद्धृत किये हैं, अतः स्पष्ट है कि यह उनका क्रम निर्निमित्त नहीं। ये चारों वेदोंका एक-एक मन्त्र उपरिष्ठ करना चाहते हैं—यह सर्वजनगोचर है। उसका उपाय है अपनी इष्ट संहिताओंका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक उपरिष्ठ कर देना। नहीं तो चार उदाहरणोंका देना कोई अर्थ नहीं रखता। एक-दोमें ही काम चल जाता।

ऋगादि क्रम क्यों नहीं ?

(३) फिर प्रश्न यह है कि यहाँ पर ऋगादि क्रमसे मन्त्र क्यों नहीं दिये गये ? इस पर कई विद्वान् भिन्न-भिन्न उत्तर देते हैं । हमारा विचार यह है कि वक्ता जिस भी वेदका उदाहरण पहले देना चाहे—यह उसकी अपनी इच्छा पर है । इसलिपु ऋगसंहिताओं में भी कहीं पहले ऋक्का, फिर सामका, पीछे यजुःका, कहीं सामका यजुःसे पीछे, 'छन्द' का अर्थ 'अथर्व' माना जाये, तो वह कहीं यजुःसे भी पहले आया है, कहीं सामके बाद । 'अथर्वान्निरसो मुखम्' (अथर्व० शौनक सं० १०।७।२०) इस कथनसे तो अथर्ववेदकी किसी भी संहिताका उदाहरण पहले भी दिया जा सकता है ।

फलतः चारों वेदोंके चार उदाहरणोंको क्रम विशेषसे देनेमें अपनी इच्छा ही नियामक है, उस पर किसीका कोई नियन्त्रण नहीं । अपनी इच्छाके भी विविध कारण हुआ करते हैं । एक कारण-यह भी होता है कि जिसके मतमें ?१२? संहिताएँ ही चार वेद हों, वह उन सबको तो उदाहरित नहीं कर सकता, तब वह अपनी चार कुल-शाखाएँ या अपने सम्प्रदाय या अपनी गुरुपरम्परासे आई हुई चार संहिताएँ चुन लेता है । चारों वेदोंमें भी किसी कुलका विशेष वेद भी होता है, जैसे कि कई कुल सामवेदी या कई यजुर्वेदी हुआ करते हैं । तत्कालीनपक्ष पहले उसी वेदको लेता है ।

वेद कहीं स्वतंत्रतासे तो मिलते नहीं, उसकी सब संहिताएँ ही मिलकर वह-वह वेद होता है । सब संहिताओंको लिया नहीं जा सकता; यतः उसमें अपने कुलकी एक संहिता ही ले ली जाती है । जैसे कि—श्रीसाधवाचार्यने भी अपने 'ऋग्वेदसंहिताभाष्योद्घातमें' 'वेदाध्ययनस्य नित्यता' में कहा है—'एकवेदपक्षे निर्वापतामदादि-

परम्पराप्राप्त एव वेदोध्येतव्यः—इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इति 'स्य' शब्द आम्नातः । इस पर कुछ स्पष्टता आने भी की जावेगी ।

महाभाष्यकार अथर्ववेदी

(४) यहाँ पर भी यही बात है । श्रीपतञ्जलि अथर्ववेदी माझ्या थे—यह उनकी प्रवृत्तिसे सूचित होता है । उस अथर्वकी 'पैप्पलाद संहिता' अपनी कुलशाखा होनेसे उन्होंने पहले उसीका प्रथम मंत्र उद्धृत किया है । अन्तिम तीन मन्त्र यजुर्वेद (वाज० तैत्ति०) संहिता, ऋग्वेद (शाक०) संहिता तथा सामवेद (कौथुम) संहिताके प्रथम मन्त्र हैं इसमें तो किसीका विवाद नहीं । शेष 'शं नो देवी०' स्वयम् अथर्ववेद संहिताका सिद्ध हो गया । अन्तिम तीन मन्त्र जबकि उक्त तीनों संहिताओंके प्रथममंत्रप्रतीक हैं (यह आगे सिद्ध किया जायगा); तब उसी क्रमसे 'शं नो देवी०' भी 'अथर्ववेदसंहिता' का प्रथममन्त्र-प्रतीक ही होना चाहिये; क्योंकि—वैयाकरण लोग साहचर्य-नियमका बड़ा ध्यान रखते हैं ।

इसे 'अथर्ववेद शौनक संहिता' का तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह वहाँ सर्गप्रथम मन्त्र नहीं । सर्गप्रथम मन्त्र तो यह अथर्व-वेद पैप्पलाद-संहिताका है, जिसमें गुणविष्णु आदि बहुतोंकी साक्षियाँ हैं ।

'नवधा आथर्वणो वेदः' यह महाभाष्यकार मानते हैं । अथर्ववेद स्वतन्त्र तो कहीं मिलता ही नहीं; उसकी सभी संहिताएँ मिलकर ही 'अथर्ववेद' होता है । उसमें 'पैप्पलाद' तथा 'शौनक' दोनों संहिता भी अन्तर्गत हैं । जहाँ-जहाँ पर अथर्वकी संहिताओंके नाम आये हैं; वहाँ-वहाँ पूर्व पद प्रायः 'पैप्पलाद-संहिताको दिया गया है । अतः

अथर्ववेदोऽभाष्यकारने अपनी कुल-शाखा होनेसे, अथवा पूर्ववेदमें प्रतिष्ठित होनेसे 'पैप्पलादसंहिता' ही ली। उसका यह प्रमाण है कि महाभाष्यकार 'शं नो देवी' मन्त्रको तथा 'अथर्ववेद पैप्पलाद संहिताको बहुत याद करते हैं।

शेष मन्त्र किन वेदसंहिताओंके हैं ?

(४) यहाँ पर 'इपे स्वा, अग्निमीले, अन्न आयाहि', ये तीन मन्त्र-प्रतीक किस वेदकी किस संहिताके हैं यह पूर्व विचारणीय है। पहले 'अग्निमीले, पुरोहित' इस तृतीय मन्त्रप्रतीकको ही, लीजिये। यह तो स्पष्ट ही ऋग्वेद शाकल संहिताका मन्त्र है और सर्गप्रथम मन्त्र है। यह वैदिक 'ल' ऋग्वेदकी संहिताके अतिरिक्त अन्य यजुः, साम संहिताओंमें नहीं हुआ करता। यद्यपि उक्त, अग्निमी०) मन्त्र सामवेद-कौथुम संहिता (पूर्वाधिक आरण्यकपर्व १।३।७) में भी है, पर वह यहाँ, महाभाष्य में) हट नहीं, क्योंकि वैसा होने पर भाष्यमें 'अग्निमीले' इस प्रकार 'ड' रूपमें होता, परन्तु 'ल' रूपमें है, और, उक्त साम-संहितामें 'ड' रूपमें है, अतः स्पष्ट है कि 'महाभाष्य' में 'अग्निमीले' यह मन्त्र सामवेद (कौ०) संहिताका नहीं, ऋग्वेद (शा०) संहिताका है।

यह मन्त्र 'अग्निमीले' इतना ही दिया जाता, तो ऋ० शा० सं० (१।२।२०।१, २।३।४।२) का भी गृहीत हो जाता; पर 'पुरोहित' साथ देनेमें स्पष्ट है कि यह 'अग्निमीले मुत्रा' (ऋ० सं० १।२।२०।१) 'अग्निमीलेन्य' (२।३।४।२) मन्त्र नहीं, किन्तु ऋ० शा० सं० का आदिम मन्त्र है। अतः इसे ऋ० शा० सं० का प्रथममंत्रप्रतीक रूपमें देना ही भाष्यकारको, हट है—यह पद निर्णय हो गया।

अथ 'इपे खोजे त्वा' यह दूसरा मन्त्रप्रतीक लीजिये। यह भी यजुर्वेद संहिताका ही प्रथम-मन्त्रप्रतीक है। अन्य ऋगादिसंहिताओंमें तो ई ही नहीं। अतः भाष्यकारको यह भी प्रथम मन्त्रप्रतीक ही इष्ट हुआ। यह मन्त्र शुक्लसंहिताका भी आदि है, कृष्णसंहिताका भी। भाष्यकारको इनमें कौन सा इष्ट है, यह जिज्ञासा होती है। हमारे विचारमें उन्हें दोनों ही इष्ट हैं, क्योंकि भाष्यकार 'एकशतमध्यसु-शाखाः' यजुर्वेदकी १०१ संहिता मानते हैं, इनमें ८६ कृष्ण और १५ शुक्ल हैं।

वेदल शुक्ल वाजसनेयी संहिता भाष्यकारको इष्ट होती, कृष्ण तैत्तिरीय-संहिता इष्ट न होती, तो ये 'इपेखोजे त्वा वाथवस्य-देवो यः' इतना प्रतीक देते, जिसे 'उपायवः स्य' याक्षी 'तैत्तिरीयसंहिता' व्यावृत्त हो जाती। अथवा उन्हें शुक्ल संहिताकी व्यावृत्ति इष्ट होती, तो 'उपायवः स्य' वाला पाठ देते, पर व्यावृत्तिकारक पद न रखनेसे उन्हें दोनों ही इष्ट हैं, यह कहा जा सकता है। तभी उन्होंने कृष्णसंहिताके भी वेद नामसे ही उद्धरण दिये हैं। यह सम्भवतः आगे कहा जायगा।

यहाँ पर भाष्यकारको 'इपे त्वा सुभूतस्य' यह यजुर्वेद-मैत्रायणी संहिताका पाठ भी दिखलाना चाहिये था। पर था तो यह उनकी पुस्तकाका नहीं थी, इसलिये अथवा कृष्ण और शुक्ल यजुः की मुख्य संहिता (तैत्तिरीय एवं वाजसनेयी) के उदाहरण हो जानेमें मैत्रायणी आदिका पृथक् उदाहरण देना उन्होंने व्यर्थ-समझा। 'प्रधानेन हि पृथ-देशा भवन्ति'। फलतः सिद्ध हुआ कि उक्त दोनों प्रतीक भाष्यकारको ऋग्वेद शा० संहिता तथा यजुः वा० तै० संहिताके प्रथममन्त्रके इष्ट हैं।

अथ 'अन आयादि' इस चतुर्थ मन्त्रप्रतीक पर विचार करना चाहिये। यह मन्त्र यद्यपि 'श्रुग्वेद' (शर०) संहिता (६।१६।१०) में भी आया है, पर यह भाष्यकारको उसका इष्ट नहीं; क्योंकि ये उस

उपस्थित करनेसे दो बातें सूचित होती हैं। एक तो यह, कि महामाध्य-
कार अथर्ववेदी थे और दूसरी बात यह कि उनकी कुल शाखा पैप्पलाद
थी। तभी उन्होंने उसीके प्रथम सूक्तका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक रखा है।
अथवा वह उस समय लोक प्रतिष्ठित था।

कवल यहाँ भाष्यकारने 'शनोदेवी' को प्रथम मन्त्र-प्रतीक रूपमें
लिखा हो, ऐसी बात नहीं, किन्तु अन्यत्र भी उन्होंने इस मन्त्रको इसी
रूपमें स्मरण किया है और कई बार हमका स्मरण किया है, अतः
स्पष्ट है कि वे अपनी कुल परम्पराके अनुसार अथर्ववेदमें इसी
(पैप्पलाद मंहिता) को मुख्यतया लेते थे। पस्पशाह्निकमें, आनुषङ्गिक
प्रयोजनोपेक्षा भाष्यकारने लिखा है—'ओ३म्' इत्युक्त्या वृत्तान्तशः
'शम्' इत्येषमाक्षेप शब्दान् पठन्ति' यहाँ पर 'शनोदेवी' मन्त्रको प्रथम-
मन्त्रप्रतीक रूपसे स्मरण किया गया है। उसका शापक 'ओ३म्' शब्द
है—'ब्रह्मण प्रणम पुण्याद् आदावन्ते च सर्वदा' (२।७४) यह मनु-
वचन है। 'न मामनीरयित्वा आक्षेपा ब्रह्म वदेतुः, यदि वदेयुरब्रह्म
नम स्यादिति' (अ० वे० गोपथ ब्रा० १।१।-३) ('माम्-ओ३म्') इससे
वदके आरम्भमें 'ओ३म्' का प्रयोग अनुशिक्षित किया गया है। श्री
स्वामी दयानन्दजी भी सन्धिप्रियमें 'ओ३म्' (आ० ८७) सूत्रके
उदाहरणमें 'ओ३म् इत्येतोर्मे र्मा, ओ३म् अभिनीले पुरोहितम्' (५० ४)
इत्यादि उदाहरण देकर वेदारम्भमें प्लुतवाला 'ओ३म्' लगाना सूचित
करते हैं। तब 'शनोदेवी' यह आरम्भिक मन्त्र अथर्ववेद पैप्पलाद
मंहितामें ही है। उसे ही यहाँ भी 'वैदिक शब्दा उपदिश्यन्ते' इसमें
भाष्यकारने स्मरण किया है।

अन्य प्रमाण भी देखिये—इत्येत्वमधीष्व, शनोदेवायमधीष्व,
(१।३।१।२) 'इत्येत्वा शब्दो यस्मिन्नुवाकेति' (तैत्ति०) यहाँ पर तो
भाष्यकारने यजुर्वेद (वाज०, तैत्ति०) सहितका 'इदेत्वा यह आरम्भिक
मन्त्र दिया है, इसमें कोई भी 'किन्तु, परन्तु' नहीं कर सकता,

उसीके साहचर्यसे भाष्यकारने यहाँ 'शंनोदेवी' भी वेदसंहिताका आ-
म्निक ही मंत्र दिया है यह अत्यंत ही स्पष्ट है। 'शंनो' के प्रथम
मन्त्रकी दो इस प्रकारकी साक्षियाँ अभी दी ही जा चुकी हैं। इस
तीसरी साक्षीसे तो सर्वथा ही सिद्ध हुआ कि 'शंनोदेवी' यह भाष्यकार
को 'अथर्ववेद पैप्पलाद संहिता' का ही मन्त्र इष्ट है, क्योंकि उसीका
प्रथम सूक्तका प्रथम-मन्त्रप्रतीक है। इस प्रकार सिद्ध हो जानेसे महा-
भाष्यकार सभी संहिताओंकी चार वेद समझते हैं, और अथर्ववेदी होनेसे
उन्होंने अथर्ववेदको प्रथम उदाहरण किया है—यह बात अनायास सिद्ध
हो जाती है।

सभी संहिताओंको भाष्यकार चार वेद मानते हैं या नहीं—इसमें
कोई सन्देहका अवसर ही नहीं है, जबकि वे 'चत्वारो वेदाः... एकशत-
मन्त्रयुः शाखाः... नवधायर्णयो वेदः, इत्यादि अपने वाक्यसे सभी ११३१
संहिताओंको ही चार वेद मानते हैं। तब यदि भाष्यकार अथर्ववेदका
उदाहरण देते हुए उसकी प्रतिष्ठित शाखा अथर्ववेद पैप्पलाद संहिताका
प्रथम मन्त्र देते हैं, तो उनके किसी भी पृष्ठद्विपक्षक वचनमें कोई परस्पर
विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि संहिताओंसे आतिरिक्त चार वेद तो कहीं
स्वतन्त्रतासे मिलते ही नहीं। न ही भाष्यकार संहिताओंसे स्वतन्त्र
कोई चार वेद-पौधियाँ मानते ही हैं, अतः स्पष्ट है कि अथर्ववेदी होनेसे
भाष्यकारने अपनी बुल-शाखा अथर्व पैप्पलाद संहिताका ही प्रथम मन्त्र
आदिमें उद्धृत किया है।

महाभाष्यकार अथर्ववेदी हैं—यह केवल हम ही नहीं कहते, एक
साक्षी अन्य भी दी जाती है। 'वैदिकाः खल्वपि 'शंनोदेवी' इस पर
'द्याया' नामकी महाभाष्यकी टीकामें श्री वैद्यनाथने कहा है 'न चैवमपि
प्रसिद्ध—अगादिकमेण तत्त्वोक्तिरुचिता—इतिवाच्यम्' तथैव तद् उपादे-
यम्—इत्यत्र मानाभावाद्' भाष्यकारस्य आथर्वणत्वाच्च,। 'थो३म्' ,

हयुक्तावाः 'शम्' ह्रस्वमादीन् शब्दान्' में भी उक्त टीकामें कहा है, 'भाष्यकारस्य आथर्वणत्वेन आधान्याद् अथर्व-वेदस्य कथनम्' । इस कथनसे भी हमारे बचकी पुष्टि होती है ।

(८) अन्य एक बात यह भी विचारणीय है कि भाष्यकारने 'शंनोदेवीरभिष्टये' यह प्रतीक दिया है । यदि यह शौनक-संहिताका भाष्यकारको अभिप्रेत होता, तो या तो वे 'शंनोदेवीरभिष्टय आपो लिखते', या 'शंनोदेवीरभिष्टय' लिखते । 'अभिष्टये' लिखकर उन्होंने 'शौनक संहिता' के मन्त्रमें लुप्त 'ए' की मात्रा फिर क्यों रख दी ? उसकी आनुपूर्वीमें क्यों हेरफेर किया ? 'सामने 'आप.' न लिखनेसे 'अभिष्टये' ही लिखा' यह व्यञ्ज भी व्यर्थ है, फिर सहिष्ठाकी आनुपूर्वी का आश्रय उन्होंने क्या किया ? वस्तुतः रहस्य यही है कि यह उन्होंने 'वैष्णवादी अथर्ववेद संहिता' के प्रथम मन्त्रका ही प्रथम पाद दिया है । उसका मन्त्र 'शनो देवीरभिष्टये, शनो भवन्तु पीतये', इत्यादि रूपसे है । उसमें सामने 'अच्' न होनेसे 'ए' के खोपड़ी प्राप्ति ही नहीं है । अतः भाष्यकारने 'शनो देवीरभिष्टये' पाठ दिया । इससे यह बात सर्गया ही पुष्ट हो गई कि उन्होंने यह वैष्णवादी अथर्व संहिताका ही प्रथम मन्त्र प्रतीक दिया है ।

अथवा यदि यह कहा जावे कि ऐसी मात्रा कि हेरफेरसे इस मन्त्रक वेदधर्ममें एति नहीं आती अतः इसे 'शौनक संहिताका ही मन्त्र मान लिया जाय' इस पर निवेदन यह है कि केवल यही युक्ति तो हमने अपने पक्षके सिद्ध करनेकी रखी नहीं । अन्य बहुत सी उपपत्तियोंसे भी हमने अपने पक्ष ही सिद्ध कर दी है, पर इन बातसे वादीकी ही हानि होगी । फिर तो वादोके अनुसार मन्त्रोंमें जहाँ थोड़ा बहुत हेर फेर शास्त्राग्राहोंमें किया गया है, वादीको उसे भी 'एकदेशाधिकृतमनन्य-वत्' इस न्यायसे वेद मानना पड़ेगा, फिर भी तो वही हमारा पक्ष ही

आकर उपस्थित होगा कि—शाखाएँ भी वेद हैं। यदि कहा जावे कि वेद-मन्त्रकी विद्यमानतामें शाखाका उसका हर-फेर किया हुआ मन्त्र व्यर्थ है, तो फिर ऋग्वेद सं० के जों मन्त्र ४०० संख्याके ऋग्वेद-संहितामें कुछ हर-फेरसे आये हुये हैं उन्हें भी व्यर्थ समझकर निकाल देना पड़ेगा। ११७२ मन्त्रोंमें से १८७ मन्त्र ऋग्वेद-संहिताके निकाल कर १८८ मन्त्रोंको यजुर्वेद-संहिता बना देनी पड़ेगी। सामवेद सं० में जिसकी मन्त्र संख्या १८२४ है, ऋग्वेद सं० के विकृत अथवा अविकृत मन्त्र निकालकर शेष ७२ मन्त्र बचा देने होंगे। अथर्ववेद संहिताके जिसके २१७७ मन्त्र हैं, उनमें ऋग्वेदादि संहिताओंके मन्त्र निकालकर शेष ७०० मन्त्र कर देने पड़ेंगे।

यदि उक्त मन्त्र ऋग्वेद-संहिताके नहीं, किन्तु अपनी-अपनी संहिताओंके हैं, वे ऋग्वेद-संहिताके मन्त्रों-जैसे होते हुए भी व्यर्थ नहीं, जैसे ही सभी शाखाओंमें स्थित इन चार शाखाओं जैसे मन्त्र भी व्यर्थ नहीं, किन्तु उनके अपने ही हैं और अपने-अपने यज्ञमें चोखनेके लिए हैं—यह जानना चाहिये। इनमें अपनी कुल-परम्पराके अनुसार अथवा 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु० २।१२) ■ अनुसार कोई भी संहिता ली जा सकती है, वह भी वर्तमान प्रसिद्ध चार संहिताओंकी भांति वेद ही है। काठक पैप्पलाद आदि वेद संहिताएँ महामाष्यकारके समय प्रचलित थीं 'ग्रामे-ग्रामेकाठकं कालार्पणं प्रोच्यते' (४:३।१।१०१)। भाष्यकारकी पैप्पलादी अथर्ववेदसंहिता कुछ शाखा थी यह सिद्ध किया जा चुका है अतः उन्होंने उसीका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक दिया।

स्वामी दयानन्दजीका मत

(६) जो लोग भाष्यकारको अथर्ववेदी नहीं मानते, वे कम से कम 'शंनोदेवी' को अथर्ववेदका प्रथममन्त्र-प्रतीक तो अवश्य मानते हैं, और उसे प्रथमपदमें देनेके भिन्न-भिन्न कारण भी बताते हैं, तब भी हमारे

ही पक्षकी सिद्धि है। श्री स्वामी दयानन्दजीने भी 'अग्नेदादिभाष्य-भूमिका' के ८६ पृष्ठमें यही माना है। उनके यह शब्द हैं, 'वैदिकाः खल्वपि-शं नो देवीरभिष्टये, इष्टेत्वा, अग्निमीले, अग्न आयाहि' इति महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममंत्र-प्रतीकानि वैदिकग्रन्थेषु उदाहृतानि। जिज्ञासुजी स्वामी दयानन्दजीके कथनमें कोई भी भूल नहीं मानते—जो 'शं नो देवीरभिष्टये' यह प्रथममन्त्र-प्रतीक 'वैष्णवादी अथर्ववेद संहिता' का ही है। यद्यपि आजकल उसमें यह नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि 'वैष्णवाद संहिता' के प्रथम दो पत्र नष्ट हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्दजी भी सभी शाखाओंको वेद माना करते थे। अतएव स्वामीजीने अपनेऽऽ 'नामिक, प्राख्यातिक, सामानिक, कारकीप

ॐ कई महोद्योगोंका यह विचार है कि—'वेदप्रकाश'के सभी भाग स्वामीजीसे बनाये नहीं, किन्तु पं० भीमसेनजी आदिके बनाये हैं, पर हम इससे सहमत नहीं। यदि ये स्वामीजीके न होते, तो वे उन पर व्याख्यातृत्वमें अपना नाम न रखनाते, इसका प्रचार न कराते, इनके प्रकाशनमें देरी करनेमें प्रेसके प्रबंधकोंको न डाँटते। संशोधनमें भी उन्हीं का हाथ था। लिखने तथा प्रूफशोधनादिका कार्य अवश्य पं० भीमसेनजी आदि करते थे। स्वामीजी तो भिन्न देशोंमें रहते, हुए प्रचारार्थ अपने प्रेससे इन वेद-प्रकाशोंको आप्रद्वर्तक मंगलाते थे। पं० भीमसेनजीको अपनी संविधिमें रखकर अपनी देख-रेखमें उनसे संशोधन भी करवा लेते थे। यदि यह उनकी पुस्तकें नहीं हैं, तो उक्त पुस्तक-प्रकाशकोंको उनका नाम 'वहां'में हटा देना चाहिए। जब तक उन पर उनका नाम है, तब तक उन पर उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है। हाँ, उनके कई सिद्धान्त समय-समय पर बदलते रहते थे। यदि उक्त बात न मानी जावे, तो स्वामीजीकी सभी सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकें पं० भीमसेनजी आदि कृत माननी पड़ेगी।

आदि ग्रन्थोंमें वैदिक उदाहरण इन चार संहिताओंसे भिन्न संहिताओंके भी दिये हैं। तभी छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (४१-१६५) सूत्रमें स्वामीजीने अपने 'स्त्रैणताद्धित' के ६१ पृष्ठमें 'छन्द' के उदाहरणमें 'पैप्पलादा', वाजसनेयिन.' यह उदाहरण दिये हैं। 'छन्द' शब्दसे स्वामी दयानन्दजीको 'वेद' हुए हैं, तभी 'सत्यार्थप्रकाश' सप्तम समु-
ह्लासके अन्तमें उन्होंने यही सूत्र देकर ब्राह्मणभागका छन्द (वेद से भिन्न सिद्ध किया है।

'छन्दो वेद निगम-मन्त्र श्रुतीनां पथायगापरः स्यात्', छन्दासि वेदा मन्त्राश्च इति पर्यायौ' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ७६) यहाँ पर स्वामीजीने 'छन्द' का अर्थ वेद' माना है। 'आष्टीनुनासिकरुद्धन्दमि' (१४८) 'नामिक' के इस सूत्रमें 'छन्दमि' का अर्थ स्वामीजीने 'वेदमें' यह किया है। इस प्रकार छन्दमि वाप्रा' (२००) आदिके बहुतसे स्वामीजीके प्रमाण दिये जा सकते हैं। ऊपरके सूत्रमें स्वामी दयानन्द-जीने 'छन्द' का उदाहरण 'वाजसनेयिन' यह दिया है, यह तो उनकी मानी हुई यजुर्वेदसंहिता' के लिए है। दूसरा उदाहरण 'पैप्पलादा' दिया है तो 'पैप्पलाद संहिता' को छन्दके उदाहरणमें देकर स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि—वाजसनेयी तथा पैप्पलाद-संहिता दोनों, समान वेद हैं।

केवल यही नहीं, अपितु 'स्त्रैणताद्धित' के ८० पृष्ठमें स्वामीजीने ४३३ वार्तिकरी व्याख्या करते हुए 'पैप्पलाद संहिता' को 'आम्नाय, माना है' —'चरणाद् धर्मिनाययो, पैप्पलादसम्'। इसी प्रकार 'महा भाष्य' में भी (४१३३१२० में) 'पैप्पलाद' को 'आम्नाय' माना है। इसी प्रकार स्वामीजीने 'स्त्रैणताद्धित' के ४३६ वार्तिकमें 'अथर्वन्' शब्दको चरण-वाची मानकर 'आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वा आथर्वणः'

ही पक्षकी सिद्धि है। श्री स्वामी दयानन्दजीने भी 'अग्नेदादिभाष्य-भूमिका' के ८६ पृष्ठमें यही माना है। उनके यह शब्द हैं, 'वैदिकाः खल्वपि-शं नो देवीरभिष्टये, इष्टेत्वा, अग्निमीले, अग्न आयाहि' इति महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां भत्वा प्रथममंत्र-प्रतीकानि वैदिकशब्देषु उदाहरणानि। त्रिंशत्सुजी स्वामी दयानन्दजीके कथनमें कोई भी भूल नहीं मानते—सो 'शं नो देवीरभिष्टये' यह प्रथममन्त्र-प्रतीक 'पैप्पलादी अथर्ववेद संहिता' का ही है। यद्यपि आजकल उसमें यह नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि 'पैप्पलाद संहिता' के प्रथम दो पंख नष्ट हो चुके हैं।

स्वामी दयानन्दजी भी सभी शाखाओंको वेद माना करते थे। अतएव स्वामीजीने अपनेऽऽ 'नामिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, कारकीय

ऽऽ कर' महाशयोंका यह विचार है कि—'वेदाङ्गप्रकाश'के सभी भाग स्वामीजीसे बनये नहीं, किन्तु पं० भीमसेनजी आदिके बनाये हैं, पर हम इससे सहमत नहीं। यदि ये स्वामीजीके न होते, तो वे उन पर अशेषातृत्वमें अपना नाम न रखगते, इनका प्रचार न करवाते, इनके प्रकाशनमें देरी करनेमें प्रेसके प्रबन्धकोंकी न डाँडते। संशोधनमें भी उन्हीं का हाथ था। लिखने तथा प्रूफशोधनादिका कार्य अथर्व पं० भीमसेनजी आदि करते थे। स्वामीजी तो मित्र देशोंमें रहते, हुए प्रचारार्थ अपने प्रेससे इन वेदाङ्ग-प्रकाशोंकी आग्रहपूर्वक मंगवाते थे। पं० भीमसेनजीकी अपनी संज्ञिधिमें रखकर अपनी देख-रेखमें उनसे संशोधन भी करवा लेते थे। यदि यह उनकी पुस्तकें नहीं हैं, तो उक्त पुस्तक-प्रकाशकोंको उनका नाम वहांसे हटा देना चाहिए। जब तक उन पर उनका नाम है, तब तक उन पर उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है। हाँ, उनके कई सिद्धान्त समय-समय पर बदलते रहते थे। यदि उक्त बात न मानी जावे, तो स्वामीजीकी सभी सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकें पं० भीमसेनजी आदि कृत माननी पड़ेगी।

आदि ग्रन्थोंमें वैदिक उदाहरण इन चार संहिताओंसे मिश्र संहिताओंके भी दिये हैं। तभी छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (११-१६५) सूत्रमें स्वामीजीने अपने 'स्त्रैणताद्वित' के ६५ पृष्ठमें छन्द' के उदाहरणमें 'पैप्पलादा', वाजसनेयिनः' यह उदाहरण दिये हैं। 'छन्द' शब्दस्य स्वामी दयानन्दजीको 'वद' इष्ट है, तभी 'सत्वायप्रकाश' सप्तम समु-
ह्लासके अन्तमें उन्होंने वही सूत्र देकर ब्राह्मणभागको छन्द (वद से मिश्र सिद्ध किया है।

'छन्दो वेद निगम मन्त्र श्रुतीनां पयायनात्स्वत्', छन्दसि वेदा मन्त्राश्च- इति पर्यायी' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ७६) वहा पर स्वामीजीने 'छन्द' का अर्थ वेद' माना है। 'आग्नीतुनासिन्धुछन्दसि' (१४८) 'गामिक' के इस सूत्रमें 'छन्दसि' का अर्थ स्वामीजीने 'वेदमें' यह दिया है। इस प्रकार छन्दसि आप्रा' (२००) आदिके बहुतसे स्वामीजीके प्रमाण दिये जा सकते हैं। ऊपरके सूत्रमें स्वामी दयानन्द-
जीने 'छन्द' का उदाहरण 'वाजसनेयिन' यह दिया है, यह तो उनकी मानी हुई यजुर्वेदसंहिता' के लिए है। दूसरा उदाहरण 'पैप्पलादा' दिया है सो 'पैप्पलाद संहिता' को छन्दके उदाहरणमें देकर स्वामीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि—वाजसनेयी तथा पैप्पलाद-संहिता दोनों, समान वेद हैं।

देवल यही नहीं, अपितु 'स्त्रैणताद्वित' के ८० पृष्ठमें स्वामीजीने ४३३ धार्तिकरी व्याख्या करते हुए 'पिप्पलाद संहिता' को 'आम्नाय, माना है' —'चरणाद् धर्माग्नाययो, पैप्पलादकम्'। इसी प्रकार 'महा भाष्य' में भी (१३३।३।१२० में) 'पैप्पलाद' को 'आम्नाय' माना है। इसी प्रकार स्वामीजीने 'स्त्रैणताद्वित' के ४३६ धार्तिकमें 'अथर्वन्' शब्दको चरण-वाची मानकर 'आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वा आथर्वणः'

यह उदाहरण दिया है। ऋग्वेद के सम्प्रदायकों कहते हैं। श्री-
युधिष्ठिरजी भीमांसकने अपने 'व्याकरण शास्त्रके इतिहास' (४०२ पृष्ठमें)
लिखा है, 'चरणद् धर्माभ्यायो.' की व्याख्यामें समस्त टीकाका
'आम्नाय, का अर्थ 'वेद, करते हैं।' 'शंनो देवी०' उसी अथर्ववेद
वैष्णवाद् संहिताका प्रथम-मन्त्र-प्रतीक है। सुतरां सभी वेद-संहिताएं
वेद सिद्ध हुईं।

गोपथका मत।

(१०) स्वामी दयानन्दजीने 'अथर्ववेद' का प्राचीन 'सत्यार्थ०'
(१ सप्त० ४२ पृष्ठ) में 'गोपथ' को माना है। अथ इस विषयमें
उसकी भी साक्षी देखनी चाहिए कि वह अथर्ववेद किसे मानता है।
जैसे गोपथ 'अग्निमीले' इत्येवमादि कृत्वा 'ऋग्वेदमधीयते' यह ऋग्वेदके
लिए लिखता है, जैसे 'इषे त्वा' इत्येवमादि कृत्वा 'यजुर्वेदमधीयते'
यह यजुर्वेदके लिए लिखता है; जैसे गोपथ 'अन्न आयाहि' इत्येवमादि
कृत्वा 'सामवेदमधीयते' यह सामवेदके लिये लिखता है; वैसे ही
गोपथने 'शं नो देवी' इत्येवमादि कृत्वा 'अथर्ववेदमधीयते' (१११३६)
यह अथर्ववेदके लिए लिखता है।

'आदि कृत्वा' का पहले तीन वाक्योंमें जो अर्थ होगा; वही चतुर्थ
वाक्यका भी होगा, क्योंकि वहिष्ठ-प्रतिनिदिष्ट शब्दोंका अर्थ समान
ही हुआ करता है; अन्यथा मानप्रतिम दोष उपस्थित हो जाता है। सो
जब पहलेके दिये प्रमाणोंसे 'शं नो देवी' अथर्ववेद-संहिताका प्रथम-मन्त्र-
प्रतीक सिद्ध हो चुका है, तो यहाँ की साक्षीसे भी यही बात सिद्ध तथा
समर्थित हुई। यदिपों द्वारा भिन्न अर्थ करना सीखातानी तथा अपने पक्षकी
दुर्बलता प्रकट करना है। इस प्रकार स्वामी दयानन्दजीके माने हुए—
'अथर्ववेद' के प्राचीन 'वैष्णवाद् संहिता' की अथर्व-वेद संहिता,

उसीको 'अथर्ववेद-संहिता' सिद्ध करके हमारा पक्ष और भी स्पष्ट कर दिया है। यहाँ (गोपथमें) 'आपः स्यान्मन्त्र' तस्मात् सर्वमाधोमयं' बताकर 'शं नो देवी' इस अप् (अल) वाचक मन्त्रको अपना 'आदिमं मन्त्र' मानकर पैप्पलाद-संहिताको अथर्ववेद सिद्ध कर दिया है।

वैसे तो 'शं नो देवी' मन्त्र चारों वेद-संहिताओंमें आया है, यह पूर्व बताया ही जा चुका है, पर आदिम वह 'अथर्ववेद-पैप्पलाद संहिता' का ही है। यही 'आदि कृत्वा' का निष्कर्ष है। यही महाभाष्यकारका दृष्टि है। शौनकसंहिताके छठे सूक्तके आदिम मन्त्र 'शं नो' को उसी (श्री० स०) के प्रथम सूक्तकी आदिमें पढ़ना यह उस संहिताकी आनुपूर्व्यामें हेर-फेर करके उसे अथर्व (वेद भिन्न) बनाना है। अपनी संहिताकी आनुपूर्व्यामें तत्तन्मन्त्रको पढ़ना यही 'स्वाध्याय' करना है। 'स्वाध्याय' में 'स्व' शब्द अपनी वेदसंहिताका ही मुख्यतया पढ़ना या प्रयोग करना सिद्धान्तित कर रहा है।

'निरुक्त' के निपात प्रकरणमें वेदसंहितावाचक 'अध्याय' शब्द आया है, पर 'स्व + अध्याय' शब्द 'अपनी वेदसंहिता' बता रहा है। 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) में यही विवक्षित है। अन्यथा 'स्वाध्यायः कर्तव्यः' को छोड़कर 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' यह पुनरुक्ति क्यों की गई? इससे स्पष्ट है कि—'स्वाध्याय' शब्द अपनी 'वेदसंहिता' को बता रहा है। श्रीसायणाचार्यने भी अपनी 'काण्वसंहिता' की 'भाष्योपक्रमणिका' में लिखा है—'यद्यपि पुनयोः (तैत्तिरीयकाण्व) शास्त्रयोराध्वर्यवे एव प्रयोगः प्रतिपाद्यते; तथापि मन्त्रपाठविशेषैः प्रयोगविशेषैर्महान् भेदः। स च अनुष्ठानभेदेन व्यवस्थितविषयत्वाच्च विद्वज्ज्यते। अतएव 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' (तै० आ० २।१५) इति 'स्वकीय शाखाध्ययनमनुष्ठान विशेषाय विहितम्' (वीतम्मा संस्करण

पृष्ठ १०५) । श्रीसायणके अग्नेवेदभाष्योद्घातका उद्धरण पहले दिया ही जा चुका है । तभी तो 'गृह्य-संग्रह' में भी कहा है—'यः स्वशाखो-
क्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत् । अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोम्ये तमसि-
मज्जति' (२११३) ।

भाष्यकारों के मतों चार वेद

(११) अब—'महाभाष्यकार चार वेद किसको मानते हैं'—यह विचारणीय है । यह बात अचर्य्य घटपेट है कि-अग्नेवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कहीं स्वतन्त्र नहीं मिलते । उन-उनकी संहिताएँ ही मिलकर वही-वही वेद हुआ करता है । यही बात भाष्यकार कहते हैं, 'चत्वारो वेदा यदुपाभिधाः पञ्चशतम् (१०१) अध्वयु' (यजुर्वेद)-शाखाः, सहस्रश्यां (शाखः) सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृष्यम् (ऋग्वेदः), त्रयधा आथर्वण्यो वेदः, (सर्वे देशान्तरे' वार्तिक परस्परशाहिक-में) यहाँ पर महाभाष्यकारने अथर्ववेदको अन्तमें रखकर अपना उसमें समाव्य बताकर अपने आपको 'अथर्ववेदी' सिद्ध किया है । क्योंकि-स्वेष्ट पदार्थको उत्तम दिखलावे हुए वक्ता या तो उसे सबसे पूर्ण रखता है, या सर्वान्तमें । वह समय समयका दृष्टिकोण है, जैसे श्रु० सं० १०/०१ में यजुर्वेदको सर्वान्तमें रखकर उसकी प्रधानता बताई गई है । इसलिए भाष्यकार अपनी संहिता 'पैष्यलाद' को अन्य संहिताओं के अन्तमें उसकी उत्तर-पक्षता रखते हुए अन््यों को पूर्ण-पक्षता बताते हैं ।

उक्त भाष्यरक्षकिका-अर्थ स्वामी दयानन्दजीने 'नामिक' (पृष्ठ ४ में) इस प्रकार किया है—'एक सौ एक व्याख्यानयुक्त यजुः, हजार व्याख्यानयुक्त साम, इकीश(स) व्याख्यानयुक्त ऋक्, नव व्याख्यानयुक्त अथर्ववेद' । इस अर्थके अनुसार ११३१ संहिता या तो वेदोंकी सिद्ध

होती हैं, अर्थात् अबत भाष्यकारके प्रमाणसे ग्यारह सौ इकत्तीस संहिताएँ ही चारों वेद हैं। यदि ११३१ संहिताओंमें स्वतन्त्र चार वेद कहीं मिल जाते; तब तो कदाचित् वेद और संहिताएँ उनके मतमें पृथक् पृथक् होतीं। पर कहीं भी चले जाएँ, वहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कभी न मिलेंगे, किन्तु ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेदसंहिता और अथर्ववेदसंहिता ही मिलेंगी।

इसका तात्पर्य यह है कि—'इयम् ऋग्वेदस्य संहिता अस्ति, यजुर्वेदस्य संहिता अस्ति'। 'ऋग्वेद संहिता' आदिमें 'ऋग्वेदस्य' यह पट्टी तत्पुरुष है। फिर प्रश्न होगा कि यह अथर्ववेदकी कौनसी संहिता है, तो उत्तर मिलेगा कि पैप्पलादी अथवा शौनरी आदि। जैसे कि श्रीपाणिनि जब यजुर्वेदमात्र (यजुः की सब संहितों) का नाम (अविशेष रूपसे) लिखना चाहते हैं, तो 'यजुषि' लिखते हैं। जब यजुर्वेदकी किसी निश्चित संहिताका नाम लिखना चाहते हैं, तो लिखते हैं—'देवसुान्वोर्यजुषि काठके' (७.१.३८) इससे श्रीपाणिनिने यह सूचित किया है कि वेदसंहिताओंका नाम 'यजुर्वेद काठक संहिता, वाजसनेय यजुर्वेद संहिता, काण्वयजुर्वेद संहिता, यजुर्वेद भैरवायणी संहिता, पैप्पलाद अथर्ववेद संहिता, शौनक अथर्ववेद संहिता' आदि रूपसे लिखना चाहिये।

जब विशेष संहिताका नाम न लिखकर संहितामात्र (सब वेद-संहिताओंके समुदाय, का नाम लेना हो, तब यजुः अथवा यजुर्वेद, अथर्ववेद इत्यादि कहना चाहिये। यदि केवलमात्र 'वाजसनेयी संहिता' ही 'यजुर्वेद' होती, अन्य यजुर्वेद की संहिताएँ 'यजुर्वेद' न होतीं तो नेदश्च श्रीपाणिनि 'यजुषि काठके' न लिखते। इससे श्रीपाणिनिका इष्ट यह है कि प्रत्येक वेद संहिताको 'काठकयजुर्वेद संहिता, कण्वयजुर्वेद-

‘यजुर्वेद संहिता’ इत्यादि रूपसे लिखा जावे। इससे धीमाणिनि के अनुसार भी सभी संहिताएँ वेद सिद्ध हुई।

इस प्रकार ‘अथर्ववेद-संहिता’ तो सभी होंगी, पर यह जानना पड़ेगा कि यह ‘शौनक’ संहिता है वा ‘पैप्पलाद’। ‘यजुर्वेद संहिता’ तो सभी मिलेंगी पर यह जानना पड़ेगा कि यह ‘तैत्तिरीय’ है वा ‘वाज-सनेयी’ वा ‘कारण’ वा ‘मैत्रायणी’ वा ‘काठक’ वा ‘कपिष्ठलकट’। यही ‘ऋग्वेद’ आदि नाम न होकर ‘ऋग्वेद संहिता’ आदि नाम होनेका रहस्य है। हाँ, किसी ने अज्ञानवश वा किसीने परंपरावश, बीसा व छपाया हो तो यह अन्य बात है। अथवा कई सभी संहिताओंको स्वतन्त्र वेद मानकर सभी संहिताओंको ही वेद लिखा करते हैं, चाहे वह वाज-सनेयी संहिता हो, चाहे कारण स० उसे ‘यजुर्वेद’ ही लिखा करते हैं, चाहे वह शौनक स० हो, चाहे पैप्पलाद स०, उसे ‘अथर्ववेद’ ही लिखा करते हैं।

यह तो प्रश्न ही स्वर्ध है कि—किसी वेदकी नौ संहिता; तो किसी की एक-सौ एक क्यों? किसी की हजार तो किसी की इन्हीं क्यों? यह आश्चर्य नही कि—ऋग्वेद शाकल्यसंहिताके दस मण्डल हैं, अथवा आठ अष्टक हैं; तो अथर्ववेद शौनक वा पैप्पलादसंहिताके दस वा आठ कारण क्यों नहीं? यजुर्वेद वाजसनेयी वा कारणसंहिताके ४० अध्याय हैं; तो यजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिताके सात कारण ही क्यों? किसी के मण्डल हैं; तो दूसरे के अध्याय, अन्यके आचिक वा पर्वा वा कारण ही क्यों हों? यह तो आविष्टता की अपनी इच्छा है, इस पर किसीका निष्पन्न नहीं हो सकता।

यदि यह बात न मानी जावे, तब तो प्रश्नोंका अन्त ही न होगा। फिर तो प्रश्न होगा कि—अर्जो! अमुक वेद बड़ा क्यों है? अमुक छोटा क्यों है? चारों वेदोंकी मन्त्रसंख्या समान क्यों नहीं? यस्तुतः ये

सब निस्तार प्ररन हैं। इनका एक ही उत्तर है—'प्रमुः स्वातन्त्र्य-
भाष्यो यदिच्छति करोति तत् । पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना च, स्थली
नदी' । यह प्रमुकी इच्छा है, जैसा वह चाहता है, करता है। पाणिनि,
व्याकरणके प्रमु थे; उन्होंने गङ्गा यमुनाको 'यू स्यात्स्थी नदी' सूत्रा-
नुसार 'नदी' नहीं माना, 'स्थली' जिसमें पानीकी एक सून्द भी नहीं,
उसे 'नदी' माना है। क्यों? केवल स्वेच्छा।

कलतः श्रीपठञ्जलि ११३१ सभी सहिताओंको ही चार वेद
मानते हैं। समुदायस्वसे तो मानते ही हैं, 'समुदायेषु हि शब्दा
प्रवृत्ताः शब्दयवेष्वपि यतन्ते' इस स्वयम्मत न्यायसे पृथक् पृथक् भी
सब सहिताओंको वेद मानते ही हैं। इस न्यायसे यदि शाकलसंहिताको
कोई ऋग्वेद, वाजमनेयमंहिताको कोई यजुर्वेद लिखता है, उसे
काएव, तैत्तिरीय आदिको भी यजुर्वेद, वैष्णवादि आदि को भी अथर्व-
वेद आदि लिखना चाहिये।

शाखाओंके वेदत्वमें भाष्यकारकी अन्तरङ्ग सम्मति

(१२) इस पर मह भाष्यकारकी अन्तरङ्ग सम्मति भी द्रष्टव्य है।
इस पर विद्वानोंको सूक्ष्म दृष्टि कर्तव्य है। प्रत्याहारादिकमें 'पञ्चोः'
सूत्रमें अर्ध प्रकार ओंकारको सिद्ध करते हुए पूर्णपक्षीने कहा है—ननु
च भी ! छन्दोगाना मारयमुगिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं वा
धीयते—सुजाते एश्वसूतृते' इति । अर्थात्—सामवेदकी सायमुगि—
राणायनीय संहितामें अर्ध प्रकार पढ़ा गया है। इस पर भाष्यकारने
समाधान दिया है 'पारिषदवृत्तिरेषा तत्र भवताम् । नैव हि लोपे,
नान्यस्मिन् वेदे अर्ध प्रकारास्ति' अर्थात्—यह राणायनीय संहिताभी
अपनी शैली है, न अर्ध प्रकार लोके है, न दूसरे वेदमें।

महाभाष्यकार 'दीर्घप्लुतौ पुनर्नैव लोके, नैव च वेदे' संवृतौ स्तः' इस प्रकारके वाक्यमें 'नैव लोके, नैव च वेदे' ऐसा बहुत बड़ा करते हैं; पर ऊपरके वाक्यमें कुछ विनयेपता है। यहां 'नापि च वेदे'—न कह कर 'नान्यस्मिन् वेदे' यह कहा है। पहले वाक्यका अर्थ है—'न लोकमें, न ही वेदमें'; पर दूसरे वाक्यका अर्थ होता है—'न लोकमें और न अन्य वेदमें'। इस वाक्य पर विद्वान् सूक्ष्म दृष्टि डालें। इसका आशय यह है कि—अर्थ एकार सामवेद राजाध्यायीय संहितामें तो है, पर अन्य वेदमें नहीं। 'अन्य वेदमें नहीं' कहनेसे सिद्ध हुआ कि—इस वेदमें तो अर्थ एकार है। 'किस वेदमें?' उत्तर है कि—'सामवेद सायणपुराणायनीय संहिता' ॥ यह अर्थ एकार कौथुम समवेद संहितामें भी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि- भाष्यकार 'सायण्यन संहिता' को सामवेद मानते हैं। यदि वे न मानते, तो उत्तरका सीधा प्रकार था कि- 'नैव हि लोके, नैव च वेदे अर्थ एकारोऽस्ति, किन्तु केषलम् ऐकदेशिकेस्मिन् पुस्तकेऽस्ति' इति। पर ऐसा न कह कर 'नान्यस्मिन् वेदेऽस्ति' ऐसा वे कहते हैं; हमसे स्पष्ट है कि- वेदविद्वान् औपतञ्जलि सभी ११११ संहिताओंको 'चार वेद' मानते हैं।

(१३) इसका अन्य प्रमाण भी देखिये—'अप्रयुक्त' शब्दोंका प्रयोग दिखलाते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—'ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः, एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व?' इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है—'वेदे। तद् यथा- 'सप्तास्ये रेवतीरवदूष' 'यद्वा रेवती रेवायां तमूष'। जो लोग शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक इन संहिताओंको क्रमसे चार वेद मानते हैं, वे यह भी मानते हैं कि—'यह पूर्ण वेद हैं। न तो इनमें अक्षेप (अधिकता) है, और न ही न्यूनता है'। अब महाभाष्यप्रोक्त इन दो उदाहरणोंको उन

वेदसहिताओंमें ढूँढना चाहिये। उसमें पहला 'सप्तस्य रेवती' तो ऋ० शा० स० ४।२।१४ में मिल गया है। अब 'यद्वी रेवती रेवत्या तमूय' भाष्यकारसे प्रोक्त 'वेद' के इस दूसरे मन्त्रको ढूँढना चाहिये। पर यह इन आरों सहिताओंमें ही नहीं मिलता। अब स्पष्ट है कि यह किसी लुप्त वेदसहिताका है। अतः यह 'यजुर्वेद काटक सहिता' (३।१।०, म मिलता है।

इसी प्रकार 'वेदशब्दा अपि एवमभिवदन्ति' कह कर 'यामि प्योगेन यजते, य उ चैनमेव वेद' यह महाभाष्यका दिया वेदमन्त्र भी पतमान चार वेदसहिताओंमें नहीं है, किन्तु अन्य सहिता वा ब्राह्मणमें। इस प्रकार भाष्यकारके अन्य भी बहुतसे वैदिक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो वर्तमान चार वेदसहिताओंमें नहीं मिलते। इससे स्पष्ट है कि—महाभाष्यानुसार सभी ११३१ सहिता चार वेद हैं, बवल शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक सहिताएँ ही 'चार वेद' नहीं।

(१४) छतट विषयक महाभाष्यक प्रमाणाकी न्यूनता तो नहीं है, पर स्थान तथा समय न्यून है, अतः महाभाष्यका एक अन्य उदाहरण तथा आस शतपथ गृथ निरुक्तादिकी कुछ साक्षियाँ देकर यह निबन्ध उपसंहृत किया जायगा। भाष्यकारने यजुर्वेदकी १०१ सहिताएँ माना हैं—यह कहा ही जा चुका है। इनमें ८६ कृष्णयजुर्वेद सहिताएँ हैं, तथा १५ शुक्ल। इन दोनोंका जोड़ १०१ है। इन दोनोंको भी भाष्यकार समानरूपमें वन ही मानते हैं। वेद विषयसे परिचय रखने वाले पाठकोंका मालूम होगा कि—'ऋषि' भा 'वेद' को कहते हैं। जैसे कि—'सम्बुद्धी शम्भुस्येतावतापे' (पा० १।१।१६)। अन्धि विषय पृ० ६ म स्वामीजीने भी 'आर्य' का अर्थ 'वैदिक' कह कर 'ऋषि' का अर्थ 'ऋ' किया है। 'कनरि चरिद्वतयो (३।२।१८६) इत्यादिम भी।

‘प्राख्यातिक’ पृष्ठ ३६१ में स्वामीजीने इसी सूत्रके ‘अपि’ शब्दके लिए लिखा है—‘अपिर्वेदः’।

भाष्यकारने जगत्के सभी पदार्थोंको चेतनसिद्ध करनेके लिये १।१।७ सूत्रके भाष्यमें वेदका एक प्रमाण दिया है—‘अपिः (वेद इति कैयटः) पठति—शृणोत प्रावाणः’ श्रीपाणिनिको भी ‘सप्तनपुननयनारव’ (७।१।१३६) इस वैदिक सूत्रमें यही प्रयोग इष्ट है। ‘मीमांसादर्शन’ के मन्त्रभाग प्रामाण्याधिकरणमें ‘अचेतनेऽर्थबन्धनत्’ (१।२।३६) सूत्रके भाष्यमें भी यही मन्त्र उद्धृत किया गया है; परंतु यह शुक्ल यजुर्वेदमें नहीं मिलता। उसकी ‘वाजसनेयी संहिता’ में ‘श्रोता प्रावाणः’ (३।२६) मिला है, ‘शृणोत’ इत्यादि नहीं। यद्यपि ‘शृणोत, श्रोता’ आदिमें अर्थभेद तो नहीं, पर शब्दभेद तो है। शब्दभेद ही तो संहिता-भेद है। अर्थरूपसे दोनों ही वेद हैं। ‘शृणोत प्रावाणः’ यह कृष्ण-यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता (१।१।१३।१३) में है; तब यह भी वेदज्ञ भाष्यकारके मतमें वेद (अपि) सिद्ध हुआ। इसकी वेदत्वसिद्धिसं संहिताएँ चाहे वेद सिद्ध हुईं।

शाखाओंके वेदत्वमें ब्राह्मणभागकी साक्षी।

(१६) ब्राह्मणभाग भी ‘तस्याद् एतद् अपिणा अम्वनूतम्’ कह कर ‘अपि’ शब्दसे मन्त्रभागको स्मरण करता है, यह भी वेदज्ञ विद्वानों से तिरोहित नहीं। अब उसका भी एक प्रमाण देखना चाहिये। ‘शतपथ ब्राह्मण’ में आया है—‘तस्माद् एतद् अपिणा-अम्वनूतम्—‘दध्यद् ह यम्वधुः—इत्यादि’ (११।१।१२।२६) यहाँ पर ब्राह्मणने ‘अजवेद शाकल संहिता’ (१।१।६।१२) के इस मन्त्रको ‘अपि’ (मन्त्र-भागआत्मक वेद यवन) माना है। इसी प्रकार ‘शतपथ’ ने ‘तन्वत्र’ कहा है—‘तदाहुः—मग्नो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति इति। धनसा

संकल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो यातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः' (३।४।२।६) यहां पर देवता जोग मनुष्यका मन जान जाते हैं ऐसा कहा है।

इस विषयमें ब्राह्मणभाग, मन्त्रभागकी साची पूर्वकी भान्ति 'ऋषि' शब्दसे दिखलाता है। जैसे ऋ—तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम् 'मनसा संकल्पयति, तद् वातमभिगच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष! ते मनः' (शत० ३।४।२।७) यह पूर्ण मन्त्र जो शतपथने उद्धृत किया है, देखना चाहिये कि यह किस वेद-संहिताका है? 'ऋषि' शब्द दोनों स्थलोंमें समानार्थक है—यह तो स्पष्ट ही है।

यदि 'मनसा संकल्पयति, तद् देवा अपि गच्छति' (१२।४।३।१) इस 'शौनक अथर्ववेद संहिता' का मन्त्र ही शतपथको इष्ट माना जावे; तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनोंमें महान् अन्तर है। 'शतपथ' में पाठ है—'तद् वातमभिगच्छति', पर 'शौनकसंहिता' में पाठ है—'तद् देवा अपि गच्छति'। 'ब्राह्मण' में जो उत्तरार्ध है, संहितामें यह है ही नहीं। वहाँ तो 'ततो ह ब्रह्माख्यो वरामुपयन्ति याचितुम्' यह उत्तरार्ध है। अतः स्पष्ट है कि शतपथको यहाँ किसी अन्य वेद संहिताका पूर्ण मन्त्र इष्ट है, वह मन्त्र पूर्ण प्रतीत हो भी रहा है। जिस संहितामें वह पूर्ण मन्त्र मिलेगा, वह ब्राह्मणके मतमें वेद (ऋषि) होगा। उस शाकल्य, याज्ञसनेय, कौथुम, शौनक-संहितासे भिन्न संहिताका वेदत्व सिद्ध होने पर मभी ११३१ संहिताएँ वेद सिद्ध होंगी। यदि ऐसा न माना जावे, तो 'शतपथ' के मतमें उस मन्त्रसे हीन, वादिसम्मत अथर्ववेद संहिता 'मनुष' हो जायगी कि किसी मनुष्यने उसका पाठ परिवर्तन कर दिया। यदि चादिगण ऐसा नहीं मानते; तो फिर उन्हें सारी संहिताएँ वेद माननी पड़ेंगी। हमारा यह पक्ष मानने पर कोई अन्यवस्था न रहेगी। 'उमसे' मभी

११२१ संहिताएँ चार वेद हो जाएंगी, जैसा कि आर्यमत है। उन संहिताओंमें किसी भी संहिताका स्वकुलशाखात्ववश ध्येया 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु० २।१२) के अनुसार वेदके नामसे उद्धरण दिया जा सकता है।

शाखाओंके वेदत्वमें निरुक्तकारकी साक्षी

(१६) इसी प्रकारका 'निरुक्त' का भी एक उदाहरण देना चाहिये, क्योंकि पाणिनि, कारयायन, पतञ्जलि, शतपथप्रवक्ता श्रीयाज्ञ-वल्क्य तथा निरुक्तप्रणेता श्रीयास्क आदि वेदस्वरूपज्ञ तथा वादि-प्रतिवादि-सम्मत हैं। मन्त्रभागकी निरर्थकता-सार्थकता प्रकरणमें मन्त्रभागका एक मन्त्र आया है—'ओषधे! आयस्वैनम्' (नि० १।१२।१) वही मन्त्र 'मीमांसादर्शन' (१।२।३२, आदिमें भी उद्धृत किया गया है, पर शुक्लयजुर्वेद काण्वसंहिता (४.२, २।२४, ६।२०) में 'ओषधे! आयस्व' के साथ 'एनम्' नहीं आया। इसी भांति शुक्लयजुर्वेद वाजसनेय संहिता (४।१.२।४२, ६।१२) में भी 'काण्व' की तरह 'आयस्व' के आगे 'एनं' पाठ नहीं है।

यदि वादिप्रतिवादि-सम्प्रतिपक्ष श्रीयास्क केवल वाजसनेयी संहिता को ही 'यजुर्वेद' मानने वाले हैं और मन्त्रभागको नियतानुपूर्वीक, तथा नियतपद-प्रयोगपरिपाटीक मानने वाले हैं; तो उन्होंने 'आयस्व' के आगे 'एनं' डालकर क्यों वेद-संहिताको 'मानुषी' कर दिया? अथवा दूसरेके किये हुए परिवर्धनको कैसे मन्त्रभाग मान लिया?

वस्तुतः बात यह है कि यह श्रीयास्कने स्वयं परिवर्धन नहीं कर दिया, किन्तु उन्होंने इसे 'कुप्यायजुर्वेद संहिता' का ही प्रमाण माना है और उसे 'मन्त्रभाग' स्वीकृत किया है; अन्यथा वे षट्पादिक मन्त्रोंको 'अवेद' बताकर 'मन्त्रभाग' की अनर्थकता हटा देते; पर श्रीयास्कने

ऐसा न करके उन्हें 'मन्त्रभाग' स्वीकृत करके उनके दोषोंका उद्धार किया है। अतः स्पष्ट है कि वे भी ११३१ संहिताओंको चार वेद मानते हैं। समय-समय पर स्वतुलसंहिताके मन्त्र भी उद्धृत किया करते हैं। अन्य संहिताओंकी भी 'ऋचा' मानते हैं।

'त्रायस्व' के आगे 'एनं' कृष्ययजुर्वेद काठक संहिता' (१।२।६) तथा मैत्रायणी कृ० यजुर्वेद सं० (१।२।२, १ २।६०, १ २ ११०, ३।६।३) तथा तैत्तिरीय यजुर्वेद सं० (१।२।१।१, १ ३।६।१) आदिमें आया है। श्रीयास्क उस बड़े स्पष्ट रूपसे 'वेद' मान रहे हैं—यह प्रायश्चित्त है। तभी कोई ऋचा उद्धृत करते हुए श्रीयास्क 'शान्कल्प संहिता' (वर्तमान प्रचलित ऋग्वेद संहिता) की वैसा ऋचा होते हुए भी उस 'ऋचा' को उद्धृत न करके 'मैत्रायणी' आदि संहिताओंकी ऋचा भी उद्धृत कर दिया करते हैं। श्रीयास्कको 'वेद' भाष्यकर्ता वादी-प्रतिवादी दोनों ही आस मानते हैं। एक-दो उदाहरण विद्वान् पाठकगण इसके भी देखें।

'वनस्पति' का निगम देते हुए श्रीयास्क कहते हैं—'तस्यैषा अपरा भवति' (८।२०।१) यहां पर 'अपरा' शब्दसे श्रीयास्कको प्रधान स्तुति वाली 'ऋक्' इष्ट है। वह ऋक् श्रीयास्कने इस प्रकार लिखी है—
'वनस्पते ! रशनया नियूय पिष्टमया वयुनानि विद्वान् । यहा देवत्रा दिधिपो हवींषि च दातारममृतेषु वोचः' । पर यही ऋचा 'शाकल्य ऋग्वेद संहिता' में इस प्रकार आई है 'वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उपवृत्ति विद्वान् । स्वदाति देवः कृण्वद् हवींषि अवतां घावापृषिवी हवं मे' (१०.७०।१०) ।

पाठकोंने देख लिया होगा कि इनमें परस्पर कितना अन्तर है ? अथ यदि 'यथैवचानूनमेव अनुब्रूयाद् होतारं विश्वदेदसम्' (शत०

१।४।१।३३) इस कथिहकाके अनुसार 'श्रुचा' (शा० श्रु० सं० १।४।३।३) को ही श्रीमगवहत्तजी आदिके अनुसार मूल 'वेद' कहा जावे, तो यास्कलिखित 'श्रुचा' 'श्रुचा' (मूलवेद) न रहेगी। यदि उसे ही 'श्रुचा' माना जावे; तो श्रु० शा० सं० की श्रुचा 'श्रुक्' (मूलवेद) न रहेगी। यदि दोनों को ही मूलवेद माना जावे; तो सभी ११३१ संहिताओंको 'चार वेद' मानना पड़ेगा। यह हमारा ही पक्ष सिद्ध होगा।

यही निरुक्त प्रदर्शित 'श्रुचा' कुछ थोड़ेसे भेदसे कृष्णयजुर्वेद मैत्रायणी संहिता (४।१।३।६२) में मिलती है। 'निरुक्त' में 'दिधिपो' पाठ है और मैत्रायणीमें 'दधिपो' पाठ है। यदि इतने ही भेदसे मैत्रायणीके मन्त्रको 'श्रुक्' न कहा जावे; तो शा०श्रु०सं० (१०।१८८) में 'दिधिपो' पाठ है, और शौ० अथर्व० सं० में 'दधिपो' (१८।३।२) पाठ है, तो इनमें अन्यतरको 'श्रुक्' अथवा 'मूलवेद' न मानना पड़ेगा। पर यह वादियोंको भी अनिष्ट है; अतः स्पष्ट है कि सद्यः ११३१ संहिता वेद हैं।

(१७) निरुक्तकार वेदज्ञ थे, वेदके स्वरूपको जानने वाले थे, यह बात यदि-प्रतिवादि-सम्मत है। उनकी प्रवृत्ति यह भी बताती है कि वे भी अपनी कुलपरम्पराकी संहिताके मुक्ताविलेमें दूसरी संहिताको कभी-कभी मानुषी जैसी समझने लग जाते हैं। इस प्रियकरा उनका उदाहरण भी पाठ्यग्रन्थ देखें। वे लिखते हैं कि—'वने न वायी म्यधावि चाजन्' वायः—वेः पुत्रः' यह कहकर वे शाकल्य श्रुग्वेद संहिता जिसे आज श्रुग्वेद कहा जाता है—की त्रुटि दिखलाते हैं—'वा इति य इति च चकार शाकल्यः' (३।२८।३) अर्थात् शाकल्यने अपने संहितामें 'वाय' इस एक पदको 'वा' 'यः' इस प्रकार काटकर दो पद बना दिये—यह कहकर वे उसका म्यघटन करते हैं—'उदात्तं

ऐवमास्यातमभविष्यत्, असुसमासरच अर्थः (६।२८।३) इससे स्पष्ट है कि वे उस 'ऋग्वेद-संहिता' को मूलवेद मानते थे, जिसमें 'वायः' एक पद था।

अब आजकल की शास्त्र-ऋग्वेद-संहिता देखनी चाहिये, जिसमें आजकल वेद तथा अपौरुषेय माना जाता है। अजमेर वैदिक-ग्रन्थालय की छपी हुई 'ऋग्वेद-संहिता' (पुराने संस्करण) के २६० पृष्ठों में १०।२६।१ स्थल में उक्त मन्त्र है, उसमें 'वा' 'यः' इस प्रकार भिन्न भिन्न दो पद हैं, तब वादियों के अभिमत के अनुसार यह संहिता शास्त्र-भी कृति और अपौरुषेय माननी पड़ेगी। 'यदस्य पूर्वमपरं तदस्य...अहेरिव तस्यं शाक्लस्य न विजानन्ति' (ऐत० ब्रा० १४।२) इसके अर्थ में श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक ने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के १२४ पृष्ठ में 'शाक्ल शास्त्र' के आदि और अन्त के समान हांगे से उसकी अहि-गति मानी है। अर्थात् शाक्ल शास्त्र के प्रथम मण्डल में १६१ सूक्त और अन्तिम दशम मण्डल में भी १६१ सूक्त हैं। 'वेदसर्वस्व' प्रथम भाग के ३४ पृष्ठ में स्वा० हरिप्रसादजी ने भी ऐसा ही माना है। 'अहि' का अर्थ उन्होंने 'सूर्य' किया है। इससे वर्तमान 'ऋग्वेद संहिता' स्पष्ट ही 'शाक्ल' सिद्ध होती है। क्योंकि अष्टकों वाली संहिता में यह बात नहीं मिलती, उसमें प्रथम अष्टक में २६२ वर्ग हैं, पर अन्तिम में २४६।

इसी (शाक्ल) संहिता की सूची में (आर्यसमाजी) श्रीस्वामी विश्वेश्वरानन्दजी श्रीनिम्बानन्दजी ने भी 'वायः' इस प्रकार एक पद कहीं भी नहीं दिया। वहाँ पर इसी मन्त्र का 'वा' सूची के ३७१ पृष्ठ में है, और इसी का 'यः' उस सूची के ३२१ पृष्ठ में है। इसी प्रकार इसी वैदिक ग्रन्थालय की छपी 'अथर्ववेद संहिता' में भी 'वा, यः' (अथर्व० २७।७६।१) यह दो पद पृथक्-पृथक् हैं। इससे वादियों के अनुसार सर्वथा सुस्पष्ट होगा कि निरुक्तानुसार आजकल वाली शाक्ल ऋग्वेद-संहिता तथा शौनक

अथर्ववेदसंहिता दोनों पौरुषेय संहिता है, 'वेद' नहीं। किसी भी भाष्यकारने 'घा' और 'यः' यह पृथक्-पृथक् पद उपन्यस्त करके भी अर्थ उनका तदनुसार नहीं किया, किन्तु अर्थ 'वायः' इस एक पदके अनुसार किया है। तब क्या इन दो पद रखने वाली ये दोनों संहिताएँ पौरुषेय हैं? वेद नहीं हैं? यदि ऐसा नहीं, और यह दोनों शौनक और शाकलसंहिताएँ वेद हैं, तो वेदविद्वान् यास्ककी इष्ट संहिता 'वेद' न रहेगी। यदि दोनों संहिताएँ वेद रहेंगी, तो फिर हमारा ही यह पक्ष आकर उपस्थित होगा कि सभी संहिताएँ वेद हैं, पर अपने कुछ वा. सम्प्रदाय की संहिताको मुख्य रखना पड़ता है। उसमें अनन्यनिष्ठताके लिए किसी एक देवताके स्तावक पुराणमें दूसरे देवोंकी निन्दाकी तरह उससे भिन्न संहिताओंको निन्दार्थवात्से 'मानुष' भी कह वा मान लिया जाता है, पर वस्तुतः सभी शाखामूलक पाठभेद अपौरुषेय हैं। जैसे कि— 'महामारत' में कहा—'शास्त्राभिदार्ष्ट्यं ये केचिद् यारं च शाखासु गीतयः। स्वरवर्णसमुच्चारः सर्वास्तान् विद्धि मेत् (भगवत्) कृतान्' (शान्तिपर्व ३४२।१००-१०१(१७) यह भगवान्की उक्ति है। भगवान्की कृति अपौरुषेय ही मानी जाती है, जैसे कि—'तस्माद् यज्ञाद् (विष्णोः) सर्वहुत ऋषयः सामानि जज्ञिरे' (वाज० यजुः सं० ३।१।७) यहाँ पर 'जज्ञिरे' का अर्थ 'उत्पन्नाः' होने पर भी ऋग्वेदादिको अपौरुषेय ही माना जाता है।

निरुक्तकारके अन्य भी 'एक एव हृदोवतस्थे, न द्वितीयः' (१।१।२।७) 'अग्नये समिध्यमानाय अनुमूहि' (१।१।२।८) इत्यादि मन्त्रभागके नामसे दिये हुए षड्वत्से उद्धरण है, जो वर्तमान चार शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहिताओंमें न मिलकर अन्य संहिताओंमें मिलते हैं, यहाँ उनके बतानेका स्थान नहीं। निरुक्तानुसार इन्हें ही वेदमन्त्र मानना पड़ेगा, पर आजका मत इन चारों संहिताओंसे भिन्न संहिताओं

में मिले मन्त्रोंको वेदमन्त्र माननेको तैयार नहीं; फिर भी वह यास्क, पतञ्जलि, शतपथ-प्रवक्ता याज्ञवल्क्य आदिको आप्त मानता है, यह सम्प्रदायिक आग्रह है।

वेदोंकी वर्णानुपूर्वी अनित्य

(१८) महाभाष्यकारने किसी संहिताके पाठको पौरुषेय वा किसीके पाठको अपौरुषेय न मानकर; अपने वैयक्तिक मतके अनुसार अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वार्तिककारके अनुसार तदस्थ रश्मिसे ४।३।१०१ सूत्रके भाष्यमें सभी वेद संहिताओंकी वर्णानुपूर्वीको सभीमें परस्पर असमानता होनेसे, समानता न होनेके कारण अनित्य (असमान) कह दिया है। इसी असमानता-इसी वर्णानुपूर्वीकी अनित्यताका नाम ही उन्होंने 'संहिता' माना है। उसमें शाकल्य संहिता, याज्ञसनेय संहिता, कौथुम संहिता, शौनक संहिताएँ भी जिनको आजकल कई (आर्यसमाजादि) सम्प्रदाय वेधल वही चार वेद मानते हैं- ये (संहिताएँ) भी सन्निविष्ट हैं। अर्थात् भाष्यकारके मतमें इन वर्तमान चार वेद संहिताओंकी आनुपूर्वी भी अन्य संहिताओंकी अपेक्षासे अनित्य है।

पैप्पलाद आदि नाम तो भाष्यकारने अन्य सभी वेद संहिताओंके उपलक्षणार्थ ही रखे हैं, अन्यथा वही भाष्यकार निर्दिष्ट काठक, काला-परु, मौदक, पैप्पलाद ही अनित्य वर्णानुपूर्वी वाली तथा शाखाएँ हो जायेंगी, अन्य मैत्रायणी, काण्व, तैत्तिरीय, कपिष्ठलकठ, जैमिनि, राणायनीय, वाष्कल आदि संहिताएँ नित्य वर्णानुपूर्वी वाली एवम् आम्नाय हो जाएँगी, पर वादियोंको भी यह अनिष्ट होगा। भाष्यकारने तो वहाँ छन्दो (वेद) मात्रकी वर्णानुपूर्वीको अनित्य बतलाया है। जैसे कि वहाँका उद्धरण यह है—

(पूर्वपक्षः) ॐ 'छन्दोर्थे (वेदकृते) तर्हि इदं ['तेन प्रोक्तम् इति सूत्रं] वक्ष्यम्, नहि छन्दांसि [वेदाः] क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि [वेदाः, पूर्वमीमांसानुसारम्] इति । (उत्तरपक्षः) छन्दोर्थे [वेदकृते 'तेन प्रोक्तम्' इति सूत्रम्] इति चेत्, सुखमेतद्व्यति, ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते; तत्र अदशनात्, न च तत्र [नित्यच्छन्दः सु प्रोक्त-] प्राययो [सौशर्मणी काठक संहिता, सौशर्मणी शान्तल संहिता इत्येवं] दृश्यते । यत्र च [प्रोक्तप्राययो] दृश्यते, ग्रन्थः स भवति, तत्र [ग्रन्थस्य कृतत्वात्] 'कृते ग्रन्थे' इत्येष सिद्धम् [न तत्र 'तेन प्रोक्तम्' इत्यधिकारस्य प्रयोजनीयता] ।

[पूर्वपक्षः] 'ननु चोक्तम्— 'नहि छन्दांसि [वेदाः] क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसि [वेदाः] इति ? [उत्तरपक्षः] यद्यपि [छन्दसाम्-वेदानाम्] अर्थो नित्यः, वा तु असौ [सर्वेषां छन्दसाम्-वेदानाम्] वर्तानुपूर्वी, सा [सर्वेषां छन्दसां-वेदानाम्] अनित्या [असमाना] । तदभेदाच्च [तस्याः सर्वेषां छन्दसां-वेदानाम् आनुपूर्व्या अनित्यात्वाद्-असमानत्वाच्च] एतद् भवति—काठकम्, कालापकं, सौदकम्, पैप्पलादकम् [इत्यादि] इति ।'

इस सन्दर्भमें छन्द-वेदकी सभी ११२१ संहिताएँ दृष्ट हैं; जिनमें वर्तमान शान्तल, वाजसनेय आदि चारों संहिताएँ भी अन्तर्गत हैं। 'छन्द' स्या० दयानन्दजी भी वेद-संहिताको कहते हैं यह कहा जा

ॐ स्वामी दयानन्दजीने अपने अष्टाध्यायी माध्यमे 'छन्दः' शब्देन मंत्रभागका मूलवेदस्य ग्रहणं भवति (२।३।६२) पृष्ठ ३१० प्रथम भागमें लिखा है कि 'छन्द मूलवेदका नाम है' । आशा है श्रीजितसुजी आदि यहाँ स्वामीजी की मूल नहीं मानेंगे ।

चुका है। अतः यहाँ पर श्रीनागेशभट्टने भी कहा है—'तुल्यमेतत्—
पदानुपूर्वी अनित्या इत्यर्थः।'

'यद्यपि अर्थो नित्यः' से महाभाष्यकारने उन छन्दों (सभी वेद-
संहिताओं) का अर्थ नित्य (समान) ही माना है। जैसे कि—
'शृणोत प्रायाणः' यह सैत्तिरीययजुर्वेद संहिता (१।३।११।१) में आया
है; पर 'वाजसनेयी यजुर्वेद संहिता' में 'शृणोत' पाठ न आकर 'श्रोता
प्रायाणः' (६।२६) यह पाठ आया है। यही असमानता ही वार्तिकके
मतमें वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता है, और यही 'असमानता' ही 'संहिता'
है, अन्यथा ऋग्वेद आदि 'संहिताओं' से अतिरिक्त कहीं भी मिलते
होते, पर कहीं नहीं मिलते। पर अर्थ 'श्रोता, शृणोत' दोनोंका समान
है—जैसे कि वायुपुराणमें कहा है—'तर्प्यस्ता हि चतुष्पादाः सर्वाश्चै-
कार्षशाचका। पाठागारे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा (१।१।५१) यही
अर्थही नित्यता है। अतः भाष्यकारने कह दिया—'छन्दसान् अर्थो
नित्यः, परं छन्दसां वर्णानुपूर्वी अनित्या'।

इससे भाष्यकारने सूचित कर दिया है कि—वेदत्व शब्द और अर्थ
दोनोंमें ही, जैसे कि प्रकृत सूत्रके उद्घोषमें श्रीनागेशभट्टने भी लिखा
है—'यद्यपि अर्थो नित्यः' इति—अनेन वेदत्वं शब्दार्थोभयवृत्ति- इति
ध्वनितम्'। पर वेदके शब्द अन्योन्य सभी संहिताओंमें असमान
होनेसे अनित्य और वेदके छन्दोंका अर्थ सभी संहिताओंमें समान होनेसे
नित्य है। फलतः यहाँ 'नित्य' शब्द 'समान' अर्थ और 'अनित्य' शब्द
'असमान' अर्थ रखता है; अर्थात् सभी वेद-संहिताओंमें वर्णानुपूर्वी
असमान है, पर अर्थ सभीमें समान है। यह बात इन 'ऋग्वेद संहिता'
आदि नामसे प्रसिद्ध चारों संहिताओंके समान मन्त्रोंमें भी देखी जा
सकती है। जैसे पुरुषसूक्तके कई मन्त्र ही ले लीजिये—

'सहस्रशीर्षा पुरपः सहस्राङ्गः सहस्रपात् । स भूमिं निश्चितो वृत्वाऽ-

त्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' ऋ० सं० १०।६०।१) एवं इसी ऋग्वेद (शा०) संहिताके मन्त्रकी वर्णानुपूर्वी अन्य वेद-संहिताओंमें भी देखिये। 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (३।१।१) यह यजुर्वेद (वाज०) संहिताका मन्त्र है। अथ सामवेद (कौ०) संहितामें ही इस मन्त्रको लीजिये—'सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं सर्वतो दृष्ट्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (भारतपर्व ६।४।३) । अथ इसीको अथर्ववेद (शौ०) संहितामें देख लीजिये—'सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । ■ भूमिं त्रिष्वतो दृष्ट्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (१६।६।१) । इस प्रकार 'छन्दोसि जशिरे तस्मात्' (ऋ० सं० १०।३०।६) 'छन्दो ह जशिरे तस्माद्' (अ० सं० १६।६।१३) । 'त्रिपादूर्ध्वं तदैव पुरुषः...ततो विष्वङ् व्यक्रामत्' (ऋ० सं० ४) 'त्रिभिः पद्भिर्धामरोहत्... तथा व्यक्रामद् विष्वङ्' (अथ० १) । 'युताद्यानस्य भर्हिमाज्जो' (ऋ० ३) 'तावन्तोऽक्ष्य महिमानः ततो' (अ० ३।) । 'उतामृतत्वस्येश्वरानो' (ऋ० २) 'उतामृतत्वस्येश्वरो' (अ० ४) । 'ऊरु तदस्य यद् वैश्यः' (ऋ० १२) 'मर्ध्यं तदस्य यद् वैश्यः' (अ० ३) । 'कौ बाहु का ऊरूपादा' (ऋ० ११) 'किं बाहु किमूरूपादाः' (अ० २) । 'विराट्त्रे समभवत्' (अ० ६) 'ततो विरालजायत' (ऋ० २) इत्यादि ।

इनमें शब्द भिन्न-भिन्न हैं, पर अर्थ समान है, यही भिन्न-भिन्न-शब्दता ही भिन्न-भिन्न संहिता है। अथ इन मन्त्रोंमें किसीको मूल, किसीको पहिले की शाखा नहीं कहा जावेगा, किन्तु ये मन्त्र अपनी-अपनी संहिताके स्वतन्त्र समके जाएँगे। यही बात सभी वेदसंहिताओं (तैत्तिरीय, काथ्य आदि) के लिए लागू है—यह भाष्यकारका अभिप्राय है।

आम्नायकी वर्णानुपूर्वी नियत

(१६) अब शेष प्रश्न चादिबोका यह है कि- 'स्वरो नियत आम्नाये अस्यनाम-शब्दस्य; वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता अस्यवामशब्दस्य' (१।१।१५६) यहाँ भाष्यकारने आम्नाय (वेद) की वर्णानुपूर्वी नियत (नित्य) बताई है—भाष्यकारके इस बचनकी सङ्कति कैसे लागेगी ? यह तो परस्पर-विस्मया होगी कि—एक स्थान पर उन्होंने वेदकी वर्णानुपूर्वी अनित्य बता दी, दूसरे स्थान पर नित्य, यह तो 'उन्मत्त प्रलाप' होगा ।

इस पर प्रष्टव्य यह है कि—छन्द और आम्नाय शब्द आपसमें पर्यायवाचक वा समान हैं, वा भिन्न-भिन्न (असमान) हैं ? यदि समान हैं तो दोनोंकी वर्णानुपूर्वी भी समान होगी । यह नहीं कि—'छन्द' की वर्णानुपूर्वी तो हो अनित्य और 'आम्नाय' की वर्णानुपूर्वी हो नित्य । यदि काठकादि संहिताओंकी ही 'छन्द' माना जावे; तो 'यत्र ब्रह्मा यवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्' (ऋ० सं० १।१।१५६) 'छन्ध' वचः' (साम० पूर्वा० ३।१।३) इत्यादि स्थानोंमें जो छान्दस वाणीका बोलना कहा है, इससे क्या काठकादि संहिताओंका पदना माना जावेगा ? इस प्रकार 'छन्दां सिर्जश्वरे' (वा० य० ३।१७, अ० शी० १५।६।१३) में भी जानना चाहिये ।

यदि काठकादि संहिता 'आम्नाय' नहीं; तो भाष्यकारने 'गोब्रचर-याद् युज्' (१।३।१२६) सूत्रमें कठ, पैप्पलाद आदिको 'आम्नाय' अर्थ में ही युज् किया है; तो यहाँ भी धीपतञ्जलिका परस्पर विरोध होनेसे 'उन्मत्त प्रलाप' होगा । यदि ऐसा नहीं, किन्तु धीपतञ्जलि वेदके विषयमें सावधान रहने वाले हैं, तो तदनुसार काठक, पैप्पलाद आदि भाष्यकारके मतमें आम्नायसे भिन्न कैसे ?

वस्तुतः इस भाष्यकारके वचनमें 'नियत' का अर्थ 'निश्चिता' तो है, 'नित्य' नहीं। जैसे—'एतस्मिँश्च अतिमहति शब्दस्य प्रयोग-विषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियत-विषया दृश्यन्ते' इस भाष्यकारके वचनमें भी 'नियत' का अर्थ 'निश्चित' है, 'नित्य' नहीं, वैसे ही यहाँ पर भी 'निश्चित' अर्थ है 'नित्य' नहीं। इसके साथके भाष्यकारके शब्दोंके साथ भी मिलान करना चाहिये, फिर 'नियत' का अर्थ ठीक-ठीक ज्ञान हो जायगा। उक्त शब्दोंके साथ ही भाष्यकारके यह शब्द हैं—'दिश खल्वपि आम्नाये नियत—'श्मशाने नाप्येयम्, चतुष्पथे नाप्येयम्' इति। काल खल्वपि आम्नाये नियत—'नामावास्याया-मप्येयम्, न चतुर्दश्याम्' इति। पदैकदेश खल्वपि आम्नाये दृश्यते 'अस्य धामीयम्' इति। यह 'श्मशाने नाप्येयम्' इत्यादि वचन किस 'आम्नाय' (वेद) के हैं? यह यादियों (शार्यसमाजियों) को बताना पड़ेगा। पदैकदेश भी 'आम्नाय' में दीसता है— यह कह कर भाष्यकारने 'अस्यधामीय' यह पदार्थ आम्नायमें उद्धृत माना है। अब बताना चाहिये कि इन चारों वर्तमान संहिताओंमें कौनसी वेदसंहिता है, जिसमें 'अस्यधामीय' यह शब्द आया है?

अन्य विचारणीय यह है कि- इन स्थलोंमें क्या 'नियत' शब्दका अर्थ 'नित्य' है? नहीं नहीं, यहाँ भी 'नियत' का अर्थ 'निश्चित' है, 'नित्य' नहीं। लोम्में भी 'लौकिकेष्वपि षुतद्' [नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति] (११६१४) इस वाक्यके वचनके अनुसार 'पितापुत्री, इन्द्राग्नी' आदिकी आनुपूर्वी भी 'नियत' रहती है, विपरीत नहीं होती। इस लौकिक आनुपूर्वीके भी 'निश्चित' तो कहा जा सकता है, 'नित्य' नहीं। नहीं तो लौकिक पदोंमें भी 'नियत' का अर्थ 'नित्य' करना पड़ेगा।

'नित्य' का अर्थ भी 'अनित्य'

कुछ क्षणके लिए वादियोंके अनुसार 'नियत' का अर्थ 'नित्य' भी माना जाय; (यद्यपि वह यहाँ पूर्वापरप्रकरण-स्वारस्यवश भाष्यकारको इष्ट नहीं) तथा भी भाष्यकारके पूर्वोक्त अनित्यता-प्रतिपादक वाक्यसे कोई विरोध नहीं पड़ता; क्योंकि भाष्यकार 'अथवा नेदमेव 'नित्य' लक्षणम्-भ्रुं वं कृत्स्थमविचालि अनपायोपजनविकारि यत् तद्वित्यम्, तदपि नित्यम्, यस्मिन् तत्त्वं (तज्जायो) न विहन्यते' यह 'नित्य' का लक्षण मानते हैं।

अन्य स्थलमें भी 'अर्थ' खलु 'नित्य' शब्दो नावश्यं कृत्स्थेषु अविचालिषु भावेषु घटंते, किं तर्हि ? आभीक्ष्येपि घटंते । तद् यथा— 'नित्यप्रवृत्तः, नित्यमजल्पितः' । महाभाष्यकारने यह 'नित्य' का लक्षण किया है; अर्थात्—उन्होंने 'नित्य' का अर्थ 'अनित्य' भी बड़े धड़ल्लेसे माना है; तो यहाँ 'नियता' का 'नित्या' अर्थ कर देने पर भी पूर्वकी तरह 'अनित्या' ही अर्थ है । प्रलय-पर्यन्तकी नियतता अभिमत होनेसे यहाँ इतनी 'नित्यता' इष्ट है, जैसे कि—श्रीनागेशभट्टने भी यहाँ भाष्य-का हृदय दिया है कि—'ता आनुपूर्वी तत्तत्कल्पसमाप्तिपर्यन्तं नियता-हृत्यर्थः' । न्यायभाष्यकार श्रीशं स्यायन मुनिने भी २।१।६८ में 'अतीत, अतागत सम्प्रदायाम्यासप्रयोगाऽविच्छेद' से ही वेदकी 'नित्यता' मानी है, शब्दोंकी नित्यतामे वेदकी नित्यता नहीं मानी । नियतता होनेसे ही वेदवाक्य वा अपौरुषेयता मानने पर श्रीवात्सले उदाहृत नियतापूर्वक 'पितापुत्रौ' आदि लौकिक शब्द भी वैदिक शब्द वा अपौरुषेय बन जाएँगे, पर यह वादीको भी अनिष्ट है ।

अस्यवामीयकी आनुपूर्वी

(२०) इसके अतिरिक्त भाष्यस्थ इस 'आम्नाय' पदका अर्थ भी 'वेदसम्प्रदाय' है। इसका अर्थ यह हुआ कि—अपने अपने आम्नाय (वेद-सम्प्रदाय) में स्वर तथा वर्णानुपूर्वी प्रत्ययकाल तक बही रहती है, बदली नहीं जाती। यदि यहाँ पर यह अर्थ न मानकर "वेदमें 'अस्य-वाम' की स्वर-वर्णानुपूर्वी नियत हुआ करती है"—यह अर्थ माना जावे, तो असङ्गति पड़ेगी। 'अस्य वामस्य प--' (अ० सं० १११६४।१) 'अस्य वामस्य नि' (१११६४।७) इसी अपने वेदके सूक्तमें ही स्वरका भेद होगया है। 'स्व' पर एक स्थान 'स्वरित' है, दूसरे 'स्य' पर अनुदात्त है।

अब वर्णानुपूर्वी भी अस्यवामीय सूक्तकी देख लीजिये। अ० १० में 'मन्त्र स्वसारी अमिसंनवन्ते' (१११६४।३) है, पर अ० सं० में 'अमिसं-नवन्त' (६।६.३) यह 'वृ' और 'म' मात्राका ही भेद होगया है। 'अचिकि-त्वाच्चिकितुपः' (अ० सं० १११६४।६) 'अचिकित्वाच्चि-' (अ० ६।६।७) यह सन्धिभेद है। इसी मन्त्रमें 'विमने' (अ०) 'विद्वनो' (अ०) यह शब्दभेद है। इसी प्रकार 'सनेमि...तस्मिन्नापिताः' (अ० १७) 'सनेमि...परिमन्त्रावस्थुः' (अ० १७) यहाँ सर्वनाम तथा क्रियाका भेद है। 'अयं स शिङ्क्षते' इस 'अस्यवामीय' के प्रसिद्ध मन्त्रमें अ० सं० १११६४।२६ में 'मार्थ' पदवचन है, और अयंवेद संहिता (६।१०।७) में 'मार्थान्' बहुवचन है—यह वचनभेद है। इसी प्रकार इस सूक्तमें मन्त्रोंकी आनुपूर्वीमें भी परस्पर भारी भेद है—'इह प्रवीतु' यह मन्त्र अ० सं० (१११६४) में सप्तवाँ है; पर अथ० सं० (६।६) में पाँचवाँ है। अ० शा० सं० में 'अस्यवाम' पद सूक्त है; पर अ० शी० सं० में दो सूक्त है। अन्य बहुतसे भेद स्थानाभाववशा हम यहाँ दे रहे। यदि सारे

'अस्यवामीप' सूक्तकी वर्णानुपूर्वी आम्नायमें नियत इष्ट नहीं; किन्तु केवल 'अस्यवाम' इस पदांशकी आनुपूर्वी नियत इष्ट है; तो वह भी अन्य संहिताओंमें भी यही की यही है; तब अन्य संहिताओं तथा वर्तमान चार संहिताओंका आपसमें कोई भेद सिद्ध न हुआ ।

बस, इसी वर्णानुपूर्वीको भाष्यकारने छन्द (वेद) की सभी संहिताओंमें—उनमें वर्तमान चारों संहिताएँ भी अन्तर्गत है—एक दूसरेके प्रति असमान होनेसे ही 'अनिरय' बताया है, और 'आम्नाय' अर्थात् अपने अपने वेदसम्प्रदायमें—अपनी-अपनी वेदसंहिताओंमें, उसी वर्णानुपूर्वीको 'नियत'—निश्चित बताया है कि उसे परिवर्तित नहीं किया जाता, उसे वैसे का वैसे रखा जाता है, वैसे का वैसे पढ़ा जाता है । यदि उक्त भाष्य-सन्दर्भका यह अर्थ वा यह आशय न माना जाय; तो ऋग्वेद शाकल्यसंहिताके जो मन्त्र भिन्न-भिन्न वाजसनेय-यजुर्वेदसं०, शौनकी अथर्ववेदसंहिताओंमें लिये गये हैं—त्रिनका कुछ न-कुछ आनुपूर्वीभेद रहता है—उनके पढ़नेकी आवश्यकता नहीं रहेगी, पर वेदसम्प्रदायमें ऐसा न करके उसको भी पढ़ा जाता है; नहीं तो ७०-७५ मन्त्रों को छोड़कर शेष कौथुम सामवेदसंहिताके मन्त्र ही छोड़ने पड़ेंगे; क्योंकि ये शाकल्य ऋग्वेदसंहिताके हैं, अथवा यदि वे सामवेद कौथुम संहिताके हैं, तो ऋग्वेद शाकल्यसंहितासे निकालने पड़ेंगे । इस प्रकार ऋग्वेदसं० से लिये गये अन्य वेदसंहिता-स्थित मन्त्रोंको भी निकालना पड़ेगा । फिर वेद पुस्तकें भी हलकी हो जाएँगी, उनका मूल्य भी बहुत कम हो जायगा ।

पर ऐसा नहीं किया जाता, उसे अपनी अपनी वेद-संहिताका ही मन्त्र कहना पड़ता है, यही बात पैप्पलाद अथर्ववेदसंहिता, वाजसनेयी य० सं० आदि सभी संहिताओंके लिये लागू है । यज्ञों आदिमें अपनी

उन्हीं कुल या सम्प्रदायकी चार संहिताओंकी ही मुख्यतया लेना पड़ता है, उन्हींका क्रम, उन्हींकी सारी अनुपूर्वी रखी जाती है। यदि भाष्यकारको 'ग्राम्नाय' शब्दसे केवल वर्तमान चार संहिताएँ ही शुद्ध तथा पूर्ण वेद हुए हैं; तो 'श्मशाने नाप्येयम्, चतुष्पथे नाप्येयम्, न अमावास्यायामप्येयम्, न चतुर्दश्याम्,' 'अस्यवामीयम्' (१।२।१।१६) इत्यादि भाष्यकार प्रोक्त ग्राम्नाय-वाक्य इन वर्तमान चार संहिताओंमें दिखलाने होंगे, पर इनमें नहीं मिलते, किन्तु भिन्न संहिता वा ब्राह्मणों में; तब स्वयं हमारा पक्ष मानना पड़ेगा कि- भाष्यकार सभी संहिताओं और ब्राह्मणोंको 'वेद' मानते हैं, समय पर अपनी कुछ संहिताको उद्धृत करते हैं, उनके वेदविषयक सिद्धान्तमें कोई परस्पर विरोध नहीं है।

यही कारण है कि- भाष्यकार वैदिक शब्दोंके प्रतिपादनके अवसर पर अपने कुल या सम्प्रदायकी पैष्पलाद-अथर्ववेद संहिताके प्रथम-मन्त्रप्रतीक 'यं नो देवी' को देने का लोभ न संवरण कर सके। इसमें एक प्रमाण यह भी सम्भव है कि- महाभाष्यकार काश्मीरके गोनर्देश के रहनेवाले होनेसे 'गोनर्दीय' कहलाते हैं। उस देशमें उस समय सम्भवतः अथर्ववेद-पैष्पलादसंहिता प्रचलित रही हो। तभी तो 'ग्रामिजानासि देवदत्त ! कश्मीराम् गमिष्यामः' (३।२।१।१४) में उन्होंने अपनी जन्मभूमि काश्मीरका स्मरण किया है, क्योंकि- फिर वे पाटलिपुत्र वा सुपन (आगरा) में रहने लग गये थे; और यह पैष्पलाद-अथर्ववेदसंहिता डाक्टर वृक्षरको काश्मीरके ही पुस्तकालयमें शारदालिपिमें मिली। इस कारण काश्मीरी श्रीपतञ्जलिने भी आदिमें वही अपनी कुलशाखा 'पैष्पलाद-अथर्ववेदसंहिता' ली हो—यह बात भी सहज हो जाती है। 'राजतरङ्गिणी' जो काश्मीरका इतिहास है—में तीन गोनर्द राजाओंका निरूपण है। कैषट, राजशेखर आदि 'गोनर्दीय' शब्दसे भाष्यकारको ही लेते हैं। अस्तु :—

११३१ संहिता चार वेद

(२१) पैपलादी अथर्ववेदसंहिता श्रीपतञ्जलि की कुलसंहिता होने पर भी उनका सिद्धान्त यही रहा कि—'च वारो वेदा, एकशतम-
प्रयुशाखा, सहस्रवर्मा (शाखा) सामवेद, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्,
नवधा आथर्वणो वेद' इति । अर्थात् यह सभी ११३१ संहिता चार वेद
हैं । इसी प्रकार सब लोग अपनी चार वेदसंहिता स्वस्वकुल-परम्परा-
प्राप्त अध्या स्वगुरुसम्प्रदायप्राप्त ही मुख्यतया प्रयुक्त करें, अथवा
अनन्यनिष्ठाने लिए उन्हें ही अपौरुषेय मानें, पर शेष ११२७ संहिताओं
को भी सभी, अपनी चार संहिताओं की तरह वेद मानें, उनका भी
यथायत् सम्मान करें, यह हमें आप्त, वेदविद्वान् महाभाष्यकार श्री-
पतञ्जलिन ने अपनी कुलसंहिता 'अथर्ववेद पैपलादसंहिता' का आदिम
मन्त्र प्रयुक्त करके अविष्ट संहिताओं को भी वेद कहकर सम्मानपूर्वक
उनका उद्धरण करके सिद्धा दी है कि—'तुम लोग भा शैव पैपलादी
आदि की भाँति अपने-अपने सम्प्रदायमें ही रूढ़ निष्ठाने रहो, पर भेद
भाव तथा कलह-मृष्टि मत करा । यह पारस्परिक विवाद अविशेष-मूलक
है, यह भगवें वस्तुस्थिति की अनभिज्ञतावश ही है । तभी श्रीपतञ्जलिन
'मूल वेदसंहिता चार तथा शेष ११२७ शाखा हैं' यह नहीं न कह-
लिसकर सभी संहिताओं को शाखा कहा है; अर्थात् चारों वेदों की सभी
संहिता ११३१ ही मानी है । इनमें किसीको उच्च, किसी को नीच,
किसीको मूल, किसीको न ग्रा आदि नहीं कहा । इनमें किसीमें भी
विषमदृष्टि नहीं रखी । वे जानते हो हैं कि शाखाएँ ही मिलकर
शाखा कहाता है । शाखा शाखाओंमें कहीं स्वयन्त्र नहीं मिलता ।

यदि भाष्यकार आजकलके अनुसार वर्तमान चार शत० बा० काँ०
शौ० संहिताओं की ही चार वेद मानते, शेष ११२७ को उन्हीं चारोंका
व्याख्यान और उन्हें अंग मानते तो वे भी वैसा अपना अभिमत

लिखते, किन्तु उन्होंने ऐसा कहा भी न छिगवर ममी ११३१ संहिताओं को ही विशेषरूपमें चार वेद माना है। उक्त अपने वाक्यमें उन्होंने कहा भी वर्तमान चार संहिताओंके लिए कुछ भी विशेषता या विलक्षणता नहीं की; अतः उनका अनुदिपयक वेद-स्वरूप सुस्पष्ट है कि— ११३१ संहिताओं तथा तत्संगृहीत उतने ही प्राद्वरणोंके वे वेद मानते हैं। इसमें प्रमाण-स्वरूप इन सबके उद्धरण वे वेदके नामसे ही सम्य-समय पर देते हैं, यह प्रत्यक्ष ही है। जैसे कि—पस्पशाह्निकमें—‘वेदे न्वहपि—पयोवतो ब्राह्मणो’ इत्यादि। ‘आचारे पुनश्च’ (वेदो)—नियमं वेदयते—तेऽमुग हेजयः’ इत्यादि। ‘वेदेपि याज्ञिकाः संज्ञा कुर्वन्ति स्वयो यूपरचयालः’ (१११३१२)। ‘वेदे न्वहपि—‘वमन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टो-मादिभिः प्रभुभिर्यजेतेति’ (६।१।८४) इत्यादि बहुत उद्धरण उनके ग्रन्थ हैं जो भिन्न-भिन्न संहिता या प्राद्वरणोंके हैं। अतः वेदविषयमें उनके वाक्योंका कोई परस्पर-विरोध नहीं।

‘वेदकी सीमा वर्तमान चार संहिताएँ हैं’—यह प्रारम्भमाजसे मुख्य-तया प्रचलित मन ठीक है भी नहीं। इसमें पाठक स्वयं भी विचार करने का फट करें। श्रीपाणिनिने लौकिक महास्वाकरण-समुद्रकी सिद्धि अद्याप्यायीमें परिमित सूत्रोंके की है। यदि वेद वही वर्तमान चार संहितामात्र होते; तब इनके निदमोंकी व्यवस्थापनामें श्रीपाणिनिको क्या कष्टनाई थी ! तब उन्होंने वैदिक-सिद्धिके लिए बहुत स्थलोंमें व्यत्यय क्यों स्वीकृत किये ? क्यों बहुतसे ‘बहुलं छन्दसि’ ‘छन्दस्यमयवा’ ‘वा छन्दसि’ आदि सूत्र बनाये ? ‘छन्दसि दृष्टानुविधिः’ ‘मर्चे विधयः छन्दसि प्रिरूप्यन्ते’ आदि वेदकी अनन्तता बताने वाली परिभाषाएँ क्यों बनाई गईं ? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि—११३१ संहिताएँ, उतने ही प्राद्वरण, उतनी ही उर्पानपदे, उतने ही आरण्यक—इस प्रकार वेद अनन्त है—जिनके पारको प्राप्त न होकर अन्तमें पहुँच श्रीपाणिनिने व्यत्यय तथा बहुलताका आश्रय लिया। इसमें स्पष्ट है कि—वेदकी

मीमा यही वर्तमान चार पोथियाँ ही नहीं हैं; किन्तु मन्त्रमाहात्म्यक सम्पूर्ण समुदाय ही वेद है। सम्पूर्ण हिन्दुधर्मकी सिद्धि इसी सम्पूर्ण साहित्यसे होती है। केवल इन चार पोथियोंसे धर्मके सभी अङ्गोंकी सिद्धि नहीं हो सकती।

शास्त्रासंख्यामें वैषम्य

(२२) अब एक प्रश्न यह शेष रह जाता है कि—'कोई वेदकी ११३१ संहिता कहता है, कोई ११३७। कोई इनसे न्यून, कोई इससे अधिक। इस मतभेदमें किसकी बात मानी जाय?' इस पर उत्तर यह है कि यह भिन्न विषय है। जब संहितामात्र वेद ठीक ठीक मान लिया जाय, यह उसके बादके विचारका प्रश्न है। सभीके कथनों पर विश्लेषण करने पर यह बात भी निर्णय हो सकती है। इस नियन्धमें हमने वादि-प्रतिवादिमान्य महाभाष्यकारको ही लिया है, अतः हमने भी यहाँ उन्हींकी सम्मत ११३१ संहिताएँ ही ली हैं। यह उनका, पक्ष वादी-प्रतिवादी यदि स्वीकार फरलें, तो फिर उक्त प्रश्न भी हल हो सकता है।

नवीन प्रेरणा

(२३) यह अभिप्राय प्रदर्शित करके एक अन्य बात कहकर हम अपना यह नियन्ध उपसंहृत करते हैं। स्वा० दयानन्दजीको भी वादी वंशभक्त मानते हैं। उनकी भी प्रवृत्ति इस विषयमें देखनी चाहिये। वे निघण्टुको ऋग्वेदियोंका 'वेदिक' कोष मानते हैं, श्रीयास्क उसे 'सामान्याय' कहते हैं, स्वामीजी अष्टाध्यायी आदिके 'छन्द' को 'वेद' कहते हैं—यह पूर्व कहा जा चुका है। एक अन्य भी प्रमाण उनका देखें। उणादिकोषमें भी उन्होंने 'छन्दसीयः' (११२) का अर्थ लिखा है—'वेदे इष्टातोऽष्ट' इस प्रकार उनके मतमें 'छन्द' का अर्थ 'वेद' है।

है। 'छन्द' का एक शब्द 'निष्टव्य' है, जिसे श्रीपाणिनिने छान्दस ३।१।२३ सूत्रमें सिद्ध किया है। 'स्नाखी' एक छान्दस शब्द है, जिसे श्रीपाणिनिने छान्दस (७।१।४३) सूत्रमें प्रयुक्त किया है। वैदिक निघण्टुमें 'आष्टा' (१।६) दिशाका, 'शोकी' (१।७) रात्रिका, 'जातरूप' (१।९) सोनेका, 'यलिशानः' (१।१०) मेघका, 'वेङ्कुरा' (१।११) वाक्का, 'सर्णीकम्, स्तृतीकम्' (१।१२) यह उदकका नाम है। एतदादिक वैदिक शब्द इन वर्तमान चार श्रु० शारुल, य० वाजसनेयी, सा० कौथुम, अ० शौनक संहिताओंमें नहीं मिलते। कई इनसे भिन्न वेद-संहिताओंमें मिलते हैं, कई कुछ वेद-संहिताओंमें होंगे, तब क्या वे आजकी चार वेद-संहिताएँ अपूर्ण हैं; जो कि उनमें उक्त वैदिक शब्द तथा स्वा० दयानन्दाभिमत 'मास्म कमण्डलूँ शूद्राय दद्यात्' (स्त्रैण-तादित १।१।७१ में उद्धृत) आदि कई वेदमन्त्र भी नहीं मिलते। अथवा यदि 'छन्द' शाखाओंकी कहते हैं, और छान्दस शब्द मूल वेदके शब्दोंका कुछ हेर-फेर करके बनाये गये हैं, तो पाणिन्यादि प्रोक्त छान्दस शब्दोंके मूल शब्द इन वर्तमान चार संहिताओंसे दिखलाने चाहियें। यदि ये मूल वैदिक शब्दोंके हेर-फेरसे बने हैं, तो मानुष ही जानेंगे पाणिनि आदिने इनके लिए 'भाषायां' शब्द न देकर 'छन्द' वा 'निगम' आदि शब्द क्यों रखे ?

स्वा० दयानन्दजीने 'सत्यार्थप्रकाश' के द्वितीय पृष्ठमें लिखा है—
 'देखिये वेदोंमें ऐसे प्रकरणोंमें 'ओम्' आदि परमेश्वरके नाम हैं' यहाँ पर स्वामीजीने 'वेदोंमें' बहुवचन देकर चारों वेदोंमें 'ओम्' की मत्ता

मानी हैं, इस प्रकार मङ्गल, शनैश्चर आदि शब्दोंकी भी सत्ता मानी है। पर आर्यसमाजी स्वा० विश्वेश्वरानन्दजीकी चारों वेद संहिताओंकी अनुवमणिकाओंमें यजुर्वेद संहिताकी ही सूची (२।१३, ४०।१६-१७) में 'ओम्' शब्द मिलता है, अन्य संहिताओंमें नहीं। मङ्गल, शनैश्चर आदि भी चारोंमें किसी वादिसम्मत वेद-संहितामें नहीं मिलते। 'वैदिक सन्ध्या' में स्वामीजी से उद्धृत 'तैत्तिरीयाण्यक' का सप्तध्या-कृति मंत्र तथा अन्य दो ओ 'भूः पुनातु' और ओ 'याक्-वाक्' यह मंत्र क्या इन संहिताओंमें मिलते हैं? तब क्या इससे स्वामीजीकी बात अशुद्ध है? नहीं! वेद केवल इन चार संहिताओंमें विश्रान्त नहीं, किन्तु सभी ११३१ संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यकादिमें विश्रान्त है—यह इससे सूचित होता है। उनमें 'ओम्' का वर्णन वा व्याख्यान मिल ही जाता है। अन्य, वेदके नामसे कहे मन्त्र भी मिल जाते हैं।

हम अनुसन्धाताओंको प्रेरणा करते हैं कि ये स्वा० दयानन्दजीके वेदाङ्गप्रकाशके १४ भागों तथा अन्य नियन्त्रों (प्राचीन संस्करणों) में 'वेद' के नामसे जो उद्धरण दिये गये हैं, जैसे मन्धिविषयके पृष्ठ २ में 'ग्रामन्त्रिते छन्दसि' (३७) वार्तिकका अर्थ यह लिखा है—'ग्रामन्त्रित परे हो तो पूर्वको प्लुत हो वेदविषय में। जैसे 'अग्ना ३ इ पत्नी वः'। इस प्रकार १२६ वार्तिकमें भी उन्होंने 'छन्दसि' का अर्थ 'वेदस्थ प्रयोग' लिखा है। इस प्रकार १४८, १६१, २०२ आदि सूत्र वार्तिकोंमें एवम् अन्य स्थानोंमें भी, उनको तथा महाभाष्य, उणादि, निघण्टु, काशिका,

सिद्धान्तकौमुदी, न्यास, निरुक्त आदि पुस्तकोंमें उद्धृत किये हुए वेदके शब्दों वा मन्त्रप्रतीकोंको इन चार (शां० या० कौ० मौ०) संहिताओंमें इकट्ठा चाहिये, पर उनके इनमें न मिलनेसे स्पष्ट विदित हो जायगा कि इन्हीं चार संहिताओंमें चार वेद समाप्त नहीं किन्तु—

‘एकशतमध्वरुं शाखाः, सहस्रवर्मा सामवेदः, एकविंशतिधा ब्राह्म-
व्यम्, नवधा आयर्वणो वेदः’ इन्हीं ११३१ संहिताओंमें तथा माझण,
भारण्यक, उपनिषदादिमें—

चारों वेद विद्वान्त हैं, इसी बात को प्रस्पष्ट सिद्ध करनेके लिए ही वादिप्रतिवादिमान्य श्रीपतञ्जलिने आदिमें ‘वैष्णवाद् अथर्ववेद संहिता’ का ही आरम्भिक मन्त्र ‘शं नो देवीरभिष्टये’ दिया है। इसी वैदिक सिद्धान्तके माननेसे ही सभी वेद-सम्बन्धिनी अध्यवस्थाएँ मिलेंगी। परमेशान ब्रह्मणस्पति ऐसा वैदिक ज्ञान सभी अधिकारियोंको दें, जिससे वेदविषयमें फैला हुआ अज्ञान मिटे। इस निबन्धमें श्रीभगवद्भक्तजी एवं श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु तथा श्रीब्रह्ममुनिजीके आक्षेपों पर भी प्रायः विचार कर लिया गया है। जैसे मन्त्रभागकी संहिताएँ सभी वेद हैं, वैसे माझण-भाग भी वेद हैं; इस विषयमें नियन्ध किसी अन्य पुष्पमें उद्धृत किया जायगा।

(६) वेदादिशास्त्रोंमें जन्मना वर्ण-व्यवस्था

हिन्दु धर्म तथा हिन्दु-शब्दकी व्याख्या करके, हिन्दु धर्मक मूल धर्मग्रन्थ वेदके विषयमें आजके मतकी भूल दिगलारक, कुछ वेदका स्वरूप-निरूपण करके अब हिन्दु धर्म—सनातन धर्मके आधार स्तम्भ-स्वरूप वर्ण व्यवस्थाका निरूपण किया जाता है। सनातनधर्मका आधार-स्तम्भ वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था है। आज सनातनधर्मक भ्रष्टप्रतिरोधी ठसी वर्णव्यवस्था पर आक्रमण कर रहे हैं कि इसके भङ्ग हो जाने पर सनातनधर्मके अन्य सिद्धान्त भी गिर जायेंगे। हमी के फलस्वरूप वे वर्ण व्यवस्थाको जन्मसे न मानकर गुणकर्मसे प्रचारित करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि केवल कर्मसे वर्णको व्यवस्थित करनेसे वर्ण-व्यवस्थाका नाश ही होगा—इसका विशदीकरण हम अन्य भागमें करेंगे। वे बताते हैं कि शास्त्रोंमें ब्राह्मण प्रसादापरक वचन ब्रह्म गुणकर्मसे दत्त हुए ब्राह्मणोंके लिए हैं, परन्तु उन्हें जानना चाहिये कि वेदादिशास्त्रोंके सिद्धान्तमें वर्णोंकी व्यवस्था जन्मसे है, गुणकर्मसे नहीं। गुणकर्मसे तो उस उस वर्णकी स्वरूप रक्षा वा आदर सम्मान होता है, जैसे कि—‘निरुक्त’ में कहा है—‘जानपदेषु त्रिघात पुरुषविरूपो भवति। भूयोविष प्रज्ञस्यो भवति’ (१११६।१०) वर्णपरिवर्तन नहीं। देवियं—

अच्छ गुणकर्म वाले भी भगवान् श्रीकृष्ण और बुध्दिष्ठिर क्षत्रिय ही रहे; ब्राह्मण नहीं बने। ‘पृथी (दयालु) ब्राह्मणरूपोसि कथ क्षत्रेण जायया’ (महाभारत वनपर्व ३६।१०) यह भीमसेनजी बुध्दिष्ठिरके प्रति उक्ति है। ‘ब्रह्मवर्चसी पारदुनन्दन’ (उद्योगपर्व १३।८) यह एतराष्ट्र

युधिष्ठिरके लिए कह रहे हैं। यहां ब्राह्मण होनेकी योग्यतामें भी और 'युद्धे चाप्यपलायनम्' (गीता १८।४३) क्षत्रियधर्मविरुद्ध युद्धस्थलमें पलायन करने पर भी (दिव्या—कर्णपर्व २३।३८, ४६।१६) युधिष्ठिरको क्षत्रिय कहना शास्त्रके मत तथा उस समयके लोकमतमें जन्मसे धर्म-व्यवस्थाको बताता है। इसी कारण भीष्मने युधिष्ठिरको कहा था—
'क्षत्रधर्मरतः पार्थ ! पितृन् देवार्श्च तर्पय' (महा०, १३।११)।

इस प्रकार धीकृष्ण भगवान्के विषयमें भी जानना चाहिये। जैसे 'पश्यं (कृष्णः) जगतः कर्ता यदैनं मूर्ख ! भ्रम्यसे। कस्माच्च ब्राह्मणं सम्यग् आत्मानमवगच्छति' (सभापर्व ४२।६) यह वचन शिशुपालने युधिष्ठिरको कहा था कि—कृष्ण अपने आपको ब्राह्मण क्यों नहीं कहते या मानते? हमसे स्पष्ट है कि—धीकृष्णने ब्राह्मणयोग्य गुणकर्मों वाले होते हुए भी अपने आपको ब्राह्मण कभी नहीं कहा; क्योंकि—वे जन्मसे क्षत्रिय थे। दुर्योधन राक्षस भी रावण ब्राह्मण ही रहा, क्योंकि वह ब्राह्मण-पुत्र ही था। आचरुल्लके समयमें पुरुषोंसे महात्मा माने हुए भी गान्धर्वी वैश्य ही रहे, ब्राह्मण वर्गमें परिणत नहीं किये गये। कधीर आदि शब्दे गुणकर्म वाले होते हुए भी असत्पुरुषके अन्तर्गत तन्तुशाय ही माने गये, ब्राह्मण नहीं। यह ठीक भी है—'छात्रानामप्रमणी-कृत्वाऽस्मत्सु मण्येन्नस्यादमर्तव्योचिता' चिन्तामणि पर्यारोंको भी मण्डि कर दिया करती है; फिर भी स्वयं वह पर्यार ही रहती है वा कही जाती है। यदि वह भी मणि बन जाय; वा कही जाय तो वह साधारण मणि बन जाय, उसे कोई जाने ही नहीं। यदि कोई क्षत्रिय-वैश्य आद्यन्त उन्नति पा जाय; तो उसका सम्मान ब्राह्मणसे भी बढ़ जाता है—यह तो ठीक है। यदि वह ब्राह्मण बना दिया जायगा तो वह भी ब्राह्मणोंमें साधारण हो जायगा उसकी फिर कोई भी विशेषता नहीं रह सकती। विरोधता उसकी उमरी क्षत्रिय-वैश्यादि अपने वर्गमें रहनेसे ही होगी।

‘कल्याण’ परिवारके भोजयदयालजी गोयनका श्रीहनुमान्प्रसादजी पोद्दार आदि अपने वैश्य वर्णकी स्थितिमें भी प्रतिष्ठा पा रहे हैं।

फलतः वर्णव्यवस्था जन्मसे ही है, गुणकर्मसे तो इस लोकमें लोकसम्मान और अग्रिम जन्ममें वर्णपरिवर्तन हुआ करता है। यदि वह-वह वर्ण अपने नियत गुणकर्मोंसे युक्त हो; तब तो सुवर्णमें सुगन्ध का योग होता है। परधर्म तो भयावह ही माना गया है—‘श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः’ (भगवद्गीता ३।३५) हम इस विषयमें कि वर्णव्यवस्था जन्मसे ही हुआ करती है कि—‘आलोक’ पाठकोंकी सेवामें वेदादि-शास्त्रोंका मत उपस्थित करते हैं।

(१) इस विषयमें सबसे पूर्व ‘ब्राह्मणांश्च मुखमासीद्’ यह वेदमन्त्र जन्मसे वर्णव्यवस्था सिद्ध करनेमें उद्भरणयोग्य है; पर उसमें बहुवक्तव्य होनेसे उसे अग्रिम निबन्धके लिए रखकर ‘सूचीकटाह’ न्यायसे पहले अन्य मन्त्रोंका उद्धरण दिया जाता है।

(२) ‘ओम्—आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसो जायताम्, आ राष्ट्रं राजन्यः शूर इष्योतिष्याधी महारथो जायताम्। दोग्धी धेनुर्वोदान्द्वान् आशुः सन्तिः’—(यजुर्वेद वा० सं० २२।२२) यहाँ ब्राह्मणके लिए ब्रह्मवर्चसकी और छत्रियके लिए शूरत्व आदिकी प्रार्थना आई है। यदि वेदको वर्णव्यवस्था गुणकर्मसे दृष्ट होती; तब ब्राह्मणके लिए ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना उसमें न होती; क्योंकि तब वेदके मतमें ब्रह्मवर्चसयुक्तका ही नाम ब्राह्मण होता; ब्राह्मणके लिए ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना वा आशीः व्यर्थ होती। यह प्रार्थना ही यहां ब्राह्मणको जन्मजात सिद्ध कर रही है। ‘ब्राह्मोऽजार्ता’ (पा० ६।१।१५३) इस वेदवाक्यके सूत्रसे अपत्य एवं जातिमें ‘ब्राह्मण’ शब्द होता है। अब अर्थ हुआ कि हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मण

महवर्चसी होवे, अथवा महान्-महाशक्ति (सप्तम्या लुक्) महवर्चसी
 ब्राह्मण उत्पन्न होवे। इस प्रकार शूरतादि गुण' वाले जिस किसीके
 भी (गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था मानने वालोंके अनुसार) चरित्र होने पर
 वेदमें 'राजन्यः शूरो जायताम्' यह प्रार्थना व्यर्थ होती; क्योंकि—शूर-
 ण्यादि गुण होनेसे तो उसकी पदवी बाह्यीके मतमें चरित्र हुई, फिर
 उसीके लिए 'शूर हो' यह प्रार्थना कैसी? इससे सिद्ध है कि-वेद
 ब्राह्मण, चरित्रादिको जन्मसे मानता है, उसके लिए महवर्चस एवं
 शूरतादिकी प्रार्थना करता है। 'महामाय' में 'राजन्य' शब्दके
 विषयमें कहा है—'राज्ञोऽपत्यं जातिप्रहरणं कर्तव्यम्, राजन्यो नाम
 जातिः' (४।१।१३७) यहां पर श्रीकैयटने कहा है—“राज' शब्दः
 चरित्रशब्द-पर्यायः, तेन चरित्रजातौ प्रतिपिपादयिपितायां 'राजन्य'-
 शब्द-प्रयोगः”। इस प्रकार 'मीमांसादर्शन' (२३।३ सूत्रके शायरभाष्य)
 में भी कहा है—'चरित्रस्य राजसूयविधानाद्, राजा राजसूयेन यजेतेति।
 ननुक्तम्—'यौगिकी राजशब्द इति? एतदप्युक्तम्—यतो जातिवचन
 इति। ...चरित्रे तु प्रत्यक्षं (राजशब्दं) प्रयुञ्जानान् उपलभामहे, ...
 तस्माज्जातिवचनो राजशब्दः'। उक्त मन्त्रमें राजन्यशब्द होनेसे जन्मसे
 वर्ण इष्ट है, नहीं तो शूरके शूर होनेको प्रार्थना व्यर्थ होती।

उक्त संहितामन्त्र पर ब्राह्मण भी है—'ब्राह्मण एव महवर्चसं
 दधाति, तस्मात् पुरा ब्राह्मणो महवर्चसी जज्ञे' (शतपथ १३।१।१।१)
 'तद्धि एव ब्राह्मणेन पृष्टव्यं यद् महवर्चसी स्यादिति' (शत० १।१।३।१६)
 'राजन्य एव शौर्यं महिमानं दधाति, तस्मात् पुरा राजन्यः शूर इपव्यो-
 तित्व्याधी महारथो जज्ञे' (शत० १३।१।१।२। 'तस्मात् पुरा धेनुर्दोग्नी
 जज्ञे (३) पुराऽनङ्गान् वोढा जज्ञे (४) 'तस्मात् पुराऽश्वः सतां जज्ञे'
 (१३।१।६।६) इत्यादि। यहाँ पर ब्राह्मणका महवर्चसवाला होना,
 चरित्रका शूर आदि होना कहा है, महवर्चस' वालेका ब्राह्मण होना
 और शूरका चरित्र होना नहीं कहा, यह सूक्ष्म विचार कर लेना चाहिये।

उक्त मन्त्रमें 'ब्राह्मण' का 'ब्रह्मवर्चसी' और ऋग्विषके 'शूर' आदि विशेष्य विशेषण हैं—इसलिए उन्हें विशेष्यसे पीछे डाला गया है; नहीं तो यहां 'अविमृष्टविधेयांश्' दोष हो जाता। इससे स्पष्ट है कि वेदमें वर्ण-व्यवस्था जन्मसे है। यदि यहां पर 'हे परमात्मान् ! हमारे देशमें ब्रह्मवर्चस वाले ब्राह्मण उत्पन्न हों और शूर ऋग्विष पैदा हों' यह प्रार्थना भी मानी जावे, तथापि यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था न मानी जावे, तो उनके यह विशेषण व्यर्थ हो जावें। यदि यहां पर 'ब्रह्मवर्चस वाला ब्राह्मण होता है; शूर ही ऋग्विष होता है' यह विपरीत अर्थ किया जावे, वह तो ठीक नहीं। पहले तो यह अर्थ यहां हो ही नहीं सकता; क्योंकि वैसे शब्द नहीं हैं। यदि बिल्ट कल्पनासे यहां वह अर्थ किसी प्रकार माना भी जाय, तो 'दोग्ध्री धेनुः, घोडाऽनडूवान्, आशुः सप्ति-जीयताम्' यहां पर भी वही दोष प्राप्त होगा। तब तो जो दोग्ध्री-दूध देने वाली हो वह 'धेनु' हो जावेगी, तब तो बकरी, भेड़, भैंस आदि भी 'धेनु' (गाय) हो जाएंगी। घोडा (भार उठाने वाले) कुली-मजदूर भी 'अनडूवान्' (बैल) हो जाएंगे। शीघ्र चलने वाले पुरुष भी सप्ति (घोड़े) हो जाएंगे। परन्तु यह ठीक नहीं। इस कारण उक्त मन्त्रमें जन्मसे वर्ण-व्यवस्था वेदकी इष्ट है।

(२) अन्य वेदमन्त्र यह है—'विद्वांसं ब्राह्मणं (अथर्ववेद शौ० सं० १३।३।१) यहां पर ब्राह्मणका विशेषण 'विद्वान्' दिया गया है। तब इससे अविद्वान् भी ब्राह्मण सिद्ध हो गया। नहीं तो यदि विद्यासे ही केवल ब्राह्मण माना जावे, तो उसका 'विद्वान्' विशेषण पुनरुक्त है, व्यर्थ है। 'गुणवतो ब्राह्मणान् भोजयेत्' (मानवगृह्यसूत्र १।१६।१) यहां पर ब्राह्मणका 'गुणवान्' विशेषण देनेसे निगुण भी ब्राह्मण सिद्ध होगया; नहीं तो गुणकर्मसे ब्राह्मण होने पर उसका गुणवान् विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि विशेषणकी सार्थकता व्यभिचारमें ही हुआ करती

है अन्धभिचारमें नहीं, 'सम्भवान्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमयं वत्' । यदि 'ब्राह्मण' शब्द विद्वान् वा गुणवान्का ही नाम अथवा पर्याय-वाचक होता, तो उक्त विशेषण कभी भी न दिये जाते । उक्त न्यायकी स्पष्टता अन्यत्र की जावेगी ।

(४) इस विषयमें अन्य वेदमन्त्र भी दृष्ट्य है—'यद् अन्ये शतं माचेसुर्माक्षणा गोपतिं वशाम् । अथैनं देवा अमुक्न् एवं ह विदुषो यशा' (अथर्व० शौ० मं० १२।४।२२) इसमें यह बताया गया है कि—दूसरे सौ ब्राह्मण भी गायके स्वामीसे गाय मांगें, परन्तु देवताओंका यह मत है कि यह गाय उन दूसरे ब्राह्मणोंकी नहीं, किन्तु विद्वान् ब्राह्मणकी है । 'अन्ये' 'विदुषः' इन विशेषणोंसे ब्राह्मण विद्वान् तथा अविद्वान् भी सिद्ध होते हैं । तब अविद्वान्के भी ब्राह्मण सिद्ध हो जानेसे वेदके मतमें वर्णान्यस्था जन्मसे सिद्ध हुई । गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था होने पर 'अविद्वान्' ब्राह्मण कभी भी न होता ।

(५) इसी प्रकार 'यत्र ब्रह्म च सत्रं च तन्म्यंश्चौ चरतः सह । तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेपम्' (यजुः वा० सं० २०।२५) यहाँ पर वेदने ब्राह्मण एवं सत्रियके अपने-अपने कर्मानुष्ठानमें निरत होने पर देशको पुण्य (अच्छा) माना है । यहाँ यह अर्थ निकल रहा है कि—जहाँ पर ब्राह्मण-सत्रिय समीचीन (अच्छे) नहीं; वह देश अच्छा नहीं । यहाँ पर असमीचीनके भी ब्राह्मण-सत्रिय धतानेसे वेदके मतमें जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई । कर्मला होने पर ब्राह्मण असमीचीन कभी न होता ।

(६) 'शवारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः' (ऋ० शा० सं० १।१६।४२) यहाँ पर 'मनीषी' ब्राह्मणोंको ही वाणी-वेतुष्टवका ज्ञान बताकर अमनीषी (अविद्वान्) ब्राह्मण भी सिद्ध कर

दिये गये, तब वेदको वर्णव्यवस्था जन्मसे इष्ट हुई। इस प्रकार 'एकं मद्रिमाः' (अथर्ववेद ६ काण्डके अन्तमें) यहाँ 'सद्विप्राः' शब्दसे 'असद्विप्र' भी सिद्ध होगये। इस प्रकार 'वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्' (मनु० ३।६६) इस विशेषणसे वेदतत्त्वार्थका अविद्वान् ब्राह्मण भी सूचित किया गया है। इसीलिङ्ग 'भस्मी-भूतेषु विप्रेषु' (३।६७) यहाँ पर 'भस्मीभूत विप्र' भी माना गया है। इसी प्रकार 'विद्यातपः-समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु' (मनु० ३।६८) यहाँ पर उक्त विशेषणसे विद्या-तपःसमृद्धिरहित ब्राह्मण भी सूचित किया गया है; नहीं तो 'सम्मथ-अभिचाराम्नां स्याद् विशेषणमर्पवत्' इस न्यायसे वैसे विशेषणकी आवश्यकता नहीं थी। इसी कारण 'ब्राह्मणे चाऽननूचानं' (मनु० २।२४२) यहाँ पर अननूचान (वेदाऽपाठी) ब्राह्मण भी स्पष्ट स्वीकृत किया गया है। इससे यह मथितार्थ निकला कि—वेदादि-शास्त्रोंको ब्राह्मणादि वर्ण जन्मसे इष्ट है। विशेष कर्माँमें यह जन्म-ब्राह्मण भी विद्वान् इष्ट है। हमसे जन्मसे अब्राह्मण परन्तु विद्वान्का प्रदण वेदादिको इष्ट नहीं।

(७) राजा भोजकी यह घोषणा प्रसिद्ध है कि—'विप्रोपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद् बहिरस्तु मे। कुम्भकारोपि यो विद्वान् स तिष्ठतु पुरे मम' कई गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था मानने वाले अब्राह्मण इस वचनसे बहुत प्रसन्न होते हैं कि—राजा भोजने मूर्ख ब्राह्मणको देश निकाला देने तथा विद्वान् कुम्हारको देशमें रखनेकी घोषणा की थी और यद्ये वर्णसे वे इस पक्षको उद्धृत करते हैं, पर इसीसे जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है—यह वे नहीं विचारते। यहाँ पर अविद्वान्को भी ब्राह्मण माना गया है, विद्वान्को भी कुम्हार (शूद्र) माना गया है। तभी तो 'कथयामि वयामि। यामि' कहने वाला विद्वान् जुलाहा भी राजा भोजके राज्यमें शूद्र ही रहा। हम यह कभी नहीं कहते कि—ब्राह्मण निरक्षर हो रहें। हम तो कहते हैं कि—निरक्षर ब्राह्मण भी ब्राह्मण है और साक्षर ब्राह्मण भी

ब्राह्मण । यत्न-विचारसे दोनों ब्राह्मण हैं, उनमें एक ब्राह्मण, और दूसरा शूद्र नहीं । परन्तु साधर ब्राह्मण उत्तम ब्राह्मण है और निरधर ब्राह्मण साधारण या निम्न ब्राह्मण है । इससे स्पष्ट है कि—वेदादिमें जहाँ ब्राह्मण कहा है, वहाँ जन्म-ब्राह्मण ही इष्ट है; हाँ, उस जन्म-ब्राह्मणको उत्तम ब्राह्मण धनना चाहिये—नहीं तो लोकरष्टिमें उसका सम्मान न्यून होगा । यहाँ पर जन्मसे अब्राह्मण परन्तु विद्वान् वेदादिको ब्राह्मण इष्ट नहीं; यह स्पष्ट है ।

(८) 'महाभाष्य' में 'तपः धृतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मण्यकारकम् । तपः-धृतान्यां यो हीनो जाति-ब्राह्मण एव सः' (२।२।६) यह पद्य उद्धृत किया गया है । यहाँ पर ब्राह्मणत्वमें तपस्वा, अध्ययन तथा योनि (ब्राह्मणसे ब्राह्मण्यमें जन्म) 'यह तीन कारण बताये गये हैं । तपस्या तथा अध्ययनसे हीन होने पर ब्राह्मणको शूद्र नहीं कहा गया, किन्तु 'जाति-ब्राह्मण' कहा गया है । अथ यहाँ विचारणीय यह है कि—ब्राह्मणत्वके तीन कारणोंमें मुख्य कारण कौनसा है ? इस पर उत्तर यह है कि—तपस्या और अध्ययन तो अब्राह्मणमें भी सम्भव है; अतः ये दो कारण मुख्य या अनिवार्य कारण सिद्ध न हुए; परन्तु 'योनि' (ब्राह्मण माता-पितासे जन्म) अब्राह्मणमें असम्भव है, तब ब्राह्मणत्वका मुख्य कारण 'योनि' (ब्राह्मण माता-पितासे जन्म) ही सिद्ध हुआ । तब तपस्या और धृत (अध्ययन) ब्राह्मणत्वके अलङ्कारक—अथवा यों कहना चाहिये कि— उत्कर्षमात्राधिक्य हुए, स्वरूपाधिक्य नहीं । जैसे कि-मनुजीने भी कहा है कि- 'विद्यातपोभ्यां भूतात्मा शुध्यति' (२।१०६) यहाँ पर विद्या और तपस्याको आत्माका संस्कारक—अलङ्कारक कहा है । स्वरूपाधिक्य कारण योनि (ब्राह्मण्यमें ब्राह्मणसे जन्म) ही सिद्ध हुआ । तत्त्वमें स्वरूप ही दिखलाना पड़ता है, उत्कर्षाधिक्य नहीं । रत्नके लक्षणमें 'कीटानुवेधादि-रहितत्वं' नहीं कहना पड़ता, यह तो

उत्कर्षापकर्षमें सहायक हो सकता है, स्वरूप-निर्माणमें नहीं। इसीलिङ्ग ही महाभाष्यमें 'त्रीणि यस्यावदातानि योनिर्विद्या च कर्म च। एतत् शिवे ! विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्' (१।१।४८) इस पद्यमें योनिसे ब्राह्मणत्व और विद्या एवं कर्मसे ब्राह्मणकी अप्रपत्ता (श्रेष्ठता) बताई है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई और लोकसम्मान गुणकर्मसे सिद्ध हुआ। तब वेदादिमें कहा हुआ 'ब्राह्मण' शब्द जन्म-जाति परक ही सिद्ध हुआ। सभी वेद (यजु० २२।२२) ब्राह्मणके लिये ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना कराता है। प्रार्थना अप्राप्त वस्तुके लिङ्ग ही होती है, प्राप्त वस्तुके लिङ्ग नहीं। वेद किसी अन्य वर्णवाले को गुणकर्मसे ब्राह्मण नहीं कहता। यदि वेदको गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था इष्ट होती तो वह ब्राह्मणके लिङ्ग ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना कदापि न कराता, क्योंकि—तब जो भी कोई पुरुष ब्रह्मवर्चससे ब्राह्मण हो जाता, फिर ब्राह्मणके लिङ्ग ब्रह्मवर्चसकी प्रार्थना व्यर्थ थी। अतः यहां वेदको जन्मना वर्ण-व्यवस्था इष्ट है यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

इसी कारण वेदमें 'ब्रह्म (ब्राह्मणः) असृज्यत (सृष्टः)' (यजुः बा० सं० १।४।२८) 'सग्रमसृज्यत' (१।४।२९) 'गृदाऽर्थी असृज्येतान्' (१।४।३०) यहां पर ब्राह्मण, ऋषिय, वैश्व और शूद्रकी सृष्टिमूलक उत्पत्ति कही गई है। चार वर्णोंके इस प्रकार उत्पत्तिमूलक सिद्ध होनेसे वर्ण-व्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई।

(१) 'गुरु' वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुधृतम्। आततायिन-मायान्नं हन्यादेवाऽविचारयन्' (मनु० ८।२१०) इस प्रसिद्ध स्मार्त पद्यको—जिसे कोई भी प्रक्षिप्त नहीं मानता—यहां पर ब्राह्मणका विशेषण 'बहुधृत' है। इसमें 'अल्पधृत' ब्राह्मण भी होता है—यह सूचित होता है। इसके अतिरिक्त इस पद्यमें आततायी (क्रूरकमी) को भी ब्राह्मण स्वीकृत किया गया है। यदि वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे होती

लोग शूद्रादिको वेदका अधिकार देते हैं; [यद्यपि यह अर्थ ठीक नहीं, इसकी भीतांगा हम 'श्रीसनातनधर्मांशः' तृतीय पुष्पमें सम्यक्कृत्या कर चुके हैं, पाठकगण उमे इसीमें देखें] उनके अनुसार परमात्माको वर्ण-व्यवस्था जन्मसे अभिमत है, गुणकर्मसे नहीं। इसमें विस्तार तो पाठकगण तृतीय पुष्पमें देखें। इहमात्र यहां भी लिख देते हैं।—

उक्त अर्थकर्ता पूर्णज्ञानीको ब्राह्मण मानते हैं, सर्वथा मूर्खको शूद्र मानते हैं। यहां प्रष्टव्य यह है कि परमात्माने तिस ब्राह्मण वा शूद्रको वेद पढ़ाया था—वह ब्राह्मण वा शूद्र जन्मसे था वा गुणकर्मसे? यदि गुणकर्मसे, तो पूर्ण ज्ञानी ब्राह्मणको परमात्माने वेद कैसे पढ़ाया? उसे वेद पढ़ाने से सिद्ध हुआ कि वह ब्राह्मण पूर्ण ज्ञानी नहीं था; किन्तु अज्ञानी वा साधारण ज्ञानी था। यदि वह अज्ञानी वा अपूर्ण ज्ञानी था; तब वह गुणकर्मानुसार ब्राह्मण कैसे हुआ? वह जन्मसे ही ब्राह्मण सिद्ध हुआ।

यदि यहां शूद्र गुणकर्मसे था, अर्थात् जो पढ़नेसे भी कुछ ज्ञानको प्राप्त न कर सके वह शूद्र है—तो परमात्माने शूद्रको वेद पढ़ाया ही कैसे? कैसेको तो पढ़ाना ही व्यर्थ है। पढ़ाया हुआ भी तो वह शूद्र ही रहा। चारों वर्णोंको मुख्यतासे वेद पढ़ाया गया तथापि सभी ब्राह्मण न बने, ऐसेके वैसे जन्मसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्येज ही रहे। तब या तो वादीके ईश्वरके पढ़ानेकी शैली ही अच्छी

* इस तृतीय पुष्पको पाठक हमने मंगा सकते हैं। मूल्य ३)।

नहीं थी; जो कि उसके पढ़ानेसे सभी ब्राह्मण न बन सके; अथवा ईश्वरने जान-बूझकर सभीको समतासे नहीं पढ़ाया। किंवा—उसे वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही दृष्ट थी; तभी अपूर्ण विद्या वाले जन्म-ब्राह्मणको भी वह पढ़ाता था और शूद्रको वैसा नहीं पढ़ाता था जिससे वह शूद्रका शूद्र ही रहा। यदि वह उसे पढ़ाता; तो वह गुणकर्मानुसार शूद्र न रहता। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था परमात्माको जन्मसे अभिमत सिद्ध हुई। यदि वर्ण गुणकर्मानुसार होता, तो पढ़ानेसे पूर्व वे किस वर्णके थे—यह वह न जान सकता। परन्तु उक्त वेदमन्त्रमें वेदाध्ययनसे पूर्व ही उन्हें ब्राह्मण, शूद्रादि कहा है; तब वर्ण-व्यवस्था इस वेदमन्त्रसे भी जन्मसे ही सिद्ध हुई। अथ हम 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' मन्त्रसे भी जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है—यह बताते हैं।

(७) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (क)

[जन्मना वर्णव्यवस्था]

(?) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू (मध्यं) तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रो अजायत'

(पञ्चुः वा० सं० ३१।११, अथर्व० शौ० सं० १२।६।६, ऋ० शा० सं० १०।१०।१२) यह प्रसिद्ध मन्त्र है। इसी मन्त्रको जन्मना वर्णव्यवस्था मानने वाले सनातनधर्मी भी अपनी पञ्चपुष्टिकेलिप देते हैं, और गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था मानने वाले आर्यसमाजी एवं सुधारक भी। तब इस मन्त्रके अर्थमें विवाद स्वाभाविक ही है। उसमें सनातनधर्मी इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—सृष्टिकी आदिमें परमात्माने अपने मुख आदि अङ्गोंसे ब्राह्मण आदिको उत्पादित किया, तब ब्राह्मणत्व आदिकी व्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई। परन्तु दूसरे पक्ष वाले यह नहीं मानते। वे कहते हैं कि—“मन्त्रमें स्थित मुख आदि शब्द प्रथमान्त हैं, तब उनसे पञ्चमी विभक्तिका अर्थ कैसे हो सकता है? और वैसा अर्थ जहाँ असम्भव है, वहाँ प्रकरण-विरुद्ध भी है। उक्त मन्त्रसे पूर्व मन्त्रमें प्रश्न है कि उस विराट् पुरुषके मुख, बाहु, ऊरू, पाद कौन से हैं—‘मुखं किमस्यासीत्, किं बाहु, किमूरू पादो-उच्येते’ (पञ्चुः ३१।१०)। उसके उत्तरमें ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्’ यह मन्त्र है। यहाँ यद्यपि ब्राह्मण आदिका गुण होना भी असम्भव है; तथापि वे मुखादिरूप हैं—यह आशय है। तब उक्त मन्त्रमें मुख आदिवा पञ्चमीका अर्थ करना निर्मूल है।”

(२) यद्यपि इस मन्त्रके अर्थमें इस प्रकार विस्मृत मत मिलते हैं, तथापि एक ऐसा मार्ग भी है जिससे उक्त मन्त्र समन्वयको प्राप्त हो जावे। वह यह है कि उक्त मन्त्रमें ‘मुखं, बाहु, ऊरु’ यह पद प्रथमान्त हैं, ‘पद्म्याम्’ यह उपसंहारका पद पञ्चम्यन्त है। सब विभक्तिभ्यत्यय दोनों स्थान करना पड़ेगा। यदि सनातनधर्मी उपसंहारके ‘पद्म्या’ पदकी पञ्चम्यन्तताके अनुरोधसे मुख, बाहु, ऊरु पदको पञ्चम्यन्त करते हैं, तो बादी भी ‘पद्म्याम्’ इस पञ्चम्यन्त पदको प्रथमान्ततामें विपरिणमित करते हैं। तब यदि विभक्तिभ्यत्यय एक स्थानमें रूपण है, तो दूसरे स्थानमें भी रूपण है। यदि समन्वयकी दृष्टिसे दोनों विभक्तियोंकी योजना स्वीकृत कर ली जावे, जैसा कि उक्त मन्त्र स्वयं ही संकेतित कर रहा है तब सम्पूर्ण विवाद शान्त हो जावे।

यैद यहां स्वयं सूचित कर रहा है कि—पहले उपसंहारके पञ्चमी विभक्तिवाले पदके अनुरोधसे चारों पदोंको पञ्चम्यन्त बनाना चाहिये और उससे टापसिपरक अर्थ करना चाहिये। फिर पहले तीन पदोंके अनुरोधसे उपसंहारके पदको भी प्रथमान्त बनाकर अर्थ करना चाहिये, दोनों ही अर्थ वैदामीष्ट हैं। परन्तु जो आग्रही लोग पञ्चम्यन्त अर्थमें सर्वथा निमूर्खताकी भावना करते हैं, उनके सामने भी हम अपने इस पक्षको सिद्ध करते हैं, उनके अमीष्ट प्रथमा-विभक्तिके योजनापक्षसे भी अपने पक्षको सिद्ध करते हैं। पहले पञ्चम्यन्त अर्थमें प्रमाण पृथग् उपपत्तियों देखनी चाहिये—जिससे वादियोंके सब आक्षेप परिहृत होंगे।

(१) ‘माह्वयोस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः। ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्म्यां शूद्रो अजायत’ (यजुः ३१।११) इस मन्त्रमें ‘पद्म्यां शूद्रो अजायत’ यह उपसंहारवाक्य पञ्चम्यन्त है; उसके आगेके वाक्य ‘यन्द्रमा मनसो जातः, चक्षोः सूर्यो अजायत। ध्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च, सुखाद् अग्निरजायत’ (यजुः ३१।१२) ‘नाम्या आसीद् अन्तरिक्षं’

शोण्यो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान्
 अकल्पयन्* (३१।१३) यह मन्त्र भी पञ्चम्यन्त है, इससे स्पष्ट है कि—
 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में भी पञ्चमीका ही अर्थ है; और प्रकरणवश
 भी परमात्माके उन-उन अङ्गोंसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति बताई गई है।
 मीमांसाका सन्दिग्धार्थ-निरूपणाधिकरण न्याय भी यही बताता है कि—
 उपसंहारके वाक्यके अनुरोधसे पूर्व वाक्योंकी भी योजना वा व्यवस्था
 करनी चाहिये। इस प्रकार जब यहां परमात्मासे उत्पादित सृष्टिका ही
 इस सुक्तके मन्त्रोंमें प्रकरण है; तब वादिगणसम्मत वर्य व्यवस्थाका
 गन्ध यहां कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त यहां परमात्माके अङ्गोंका
 भी स्पष्ट वर्णन है, तब उसके साकार सिद्ध होनेमें भी वादियोंके पक्षकी
 हानि ही है।

उक्त मन्त्रमें ब्राह्मण आदि वर्णोंकी उत्पत्ति-मूलकता दिखलाई
 गई है, गुणकर्म-मूलकता नहीं—इस बातको हम पूर्वोत्तर-प्रसङ्गकी
 सङ्गतिसे तथा 'इतिहास-पुराणान्धो वेदार्थमुपशृंहयेत् । विभेत्पल्पश्रुताद्

* कई महाशय इस स्थलमें 'अकल्पयन्' पद देखकर वर्णों की
 कल्पना अर्थ मानते हैं, उत्पत्ति नहीं; पर यह ठीक नहीं। यहां 'कृपू
 सामर्थ्ये' (स्वा० आ० वे०) धातु है, उसका एतदादि स्थानमें 'कृतवन्तः
 उत्पादितवन्तः' यही अर्थ प्रकरणानुगृहीत है, जैसे—'पतिवरा क्लृप्त (कृत)
 विवाहवेषा' (शुक्ल ६।१०) इत्यादिमें। सुधारकोंके दादागुरु स्वा० ८०
 जीने भी उत्पत्तिकी ही अर्थ किया है। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व-
 मकल्पयत्' (ऋ० १०।१६०।३) यहां भी 'अकल्पयन्' का अर्थ 'उत्पन्न
 किया' यही वेदको दृष्ट है। 'लोकान् अकल्पयन्' (यजु. ३१।१३) यहां
 'अकल्पयन्' यह किया है। इससे पूर्व 'समवर्तत, आसीत्, अजायत'
 इत्यादि क्रियाएँ हैं। इससे उत्पत्तिकी अर्थ यहां वेदको दृष्ट है; तब वादीका
 कथन ठीक नहीं।

‘वेदो मामयं प्रहरिष्यति’ (महाभा० आदिपर्व १।२६७) इस वचनसे स्पष्टि, पुराण, इतिहास आदिकी साक्षीसे दिखलाते हैं—

(४) ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्’ वह मन्त्र वेदके पुरुषसूक्तका है— यह तो प्रसिद्ध ही है। उसी सूक्तके ‘सहस्रशीर्षा’ (३।१।१) इस प्रथम-मन्त्रमें पुरुष (परमात्मा) को प्रस्तुत करके पहले उसका सारी सृष्टिमें व्यापक होना कहा है, फिर ‘अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्’ (३।१।१) यहां उसे सृष्टिकी अपेक्षा महत्तर (बड़ा) दिखलाकर ‘ततो विराडजायत’ (३।१।२) इस मन्त्रमें उस पुरुष (परमात्मा) से विराट् (ब्रह्माण्ड) की उत्पत्ति दिखलाई गई है। इस प्रकार उक्त सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन ही प्रकृत (चालू) है। आगे भी भूमि और शरीरकी (२) वन्य तथा ग्राम्य पशुओंकी उत्पत्ति (६), ऋग्वेद आदि वेदोंकी उत्पत्ति (७), और अरवादिकी सृष्टि (८) बताई गई है। फिर उसी पुरुष (परमात्मा) के मनसे चन्द्रमा, आँखसे सूर्य, मुखसे अग्नि (१२) आदि देवताओंकी उत्पत्ति बताई गई है। इसमें पुरुष-सूक्तस्थ जातः (१२) अजायत (२) जशिरे (७) इत्यादि क्रियाओंकी साक्षी प्रत्यक्ष है; और फिर यह देवता एवं वेदादिकी सृष्टि मानवके द्वारा भी नहीं मानी जा सकती, अन्यथा वेद भी पौरुषेय हो जायें और सूर्य आदि देवताओंकी सृष्टि भी मानवीय हो जाय—पर यह अनिष्ट एवम् असम्भव है, अतः यहां ‘पुरुष’ से ‘मानव’ इष्ट नहीं, किन्तु यह परम पुरुष (परमात्मा) ही इष्ट है, तब देवता एवं वेदादिकी भांति पुरुष-सूक्तके ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्’ मन्त्रमें वर्णित ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति भी उसी परमपुरुषसे इष्ट है, मानवके द्वारा नहीं। जैसे कि स्वा० दयानन्दजी द्वारा भी इस बातको उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘सत्यार्थ प्रकाश’ में स्वीकार किया गया है—

‘(प्रश्न) जातिभेद ईश्वरकृत है या मनुष्यकृत ? (उत्तर) ईश्वर और मनुष्यकृत भी जातिभेद है। (प्र०) कौनसा ईश्वरकृत और कौन-

शोण्यौ द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान्
 अकल्पयन्* (३१।१३) यह मन्त्र भी पञ्चम्यन्त है, इससे स्पष्ट है कि—
 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में भी पञ्चमीका ही अर्थ है; और प्रकरणवश
 भी परमात्माके उन उन अङ्गोंसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति बताई गई है।
 मीमांसाका सन्दिग्धार्थ-निरूपणाधिररण न्याय भी यही बताता है कि—
 उपसंहारके वाक्यके अनुरोधमे पूर्व वाक्योंकी भी योजना वा व्यवस्था
 करनी चाहिये। इस प्रकार जब यहां परमात्मासे उत्पादित सृष्टिका ही
 इस सूक्तके मन्त्रोंमें प्रकरण है, तब वादिगणसम्मत वर्ण व्यवस्थाका
 गन्ध यहां कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त यहां परमात्माके अङ्गोंका
 भी स्पष्ट वर्णन है, तब उसके साकार सिद्ध होनेसे भी वादियोंके पक्षकी
 हानि ही है।

उक्त मन्त्रमें ब्राह्मण आदि वर्णोंकी उत्पत्ति-भूलक्षता दितलाई
 गई है, गुणकर्म-भूलक्षता नहीं—इस बातको हम पूर्वोत्तर प्रसङ्गकी
 संहतितसे तथा 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् । विभेत्पक्षश्रुताद्

* कई महाशय इस स्थलमें 'अकल्पयन्' पद देखकर वर्णोंकी
 कल्पना अर्थ मानते हैं, उत्पत्ति नहीं, पर यह ठीक नहीं। यहां 'कृप्
 सामर्प्ये' (भा० आ० वे०) धातु है, उसका एतदादि स्थानमें 'कृतवन्तः
 उत्पादितवन्तः' यही अर्थ प्रकरणानुगहीत है, जैसे—'पतिवरा वनृप्त (कृत)
 विवाहवैरा' (शुवश ६।१०) इत्यादिमें। सुधारकोंके दादागुरु स्वा० ८०
 जीने भी उत्पत्तिका ही अर्थ किया है। 'सूर्योचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व-
 मकल्पयत्' (ऋ० १०।१६०।३) यहां भी 'अकल्पयत्' का अर्थ 'उत्पन्न
 किया' यही वेदको दष्ट है। 'लोकान् अकल्पयन्' (२३ - १।१२) यहां
 'अकल्पयन्' यह किया है। इससे पूर्व 'समवर्तत, आसीत्, अजायत'
 इत्यादि किये हैं। इससे उत्पत्तिका अर्थ यहां वेदको दष्ट है, तब वादीका
 कथन ठीक नहीं।

वेदो मामयं प्रहरिष्यति’ (महामा० आदिपर्व १।२६७) इस वचनमें स्मृति, पुराण, इतिहास आदिकी साक्षीसे दिखलाते हैं—

(१) ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्’ यह मन्त्र वेदके पुरुषसूक्तका है— यह तो प्रसिद्ध ही है। उसी सूक्तके ‘सहस्रशीर्षा’ (३।१।१) इस प्रथम-मन्त्रमें पुरुष (परमात्मा) को प्रस्तुत करके पहले उसका सारी सृष्टिमें व्यापक होना कहा है, फिर ‘अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्’ (३।१।१) यहां उसे सृष्टिकी अपेक्षा महत्तर (बड़ा) दिखलाकर ‘ततो विराडजायत’ (३।१।२) इस मन्त्रमें उस पुरुष (परमात्मा) से विराट् (ब्रह्माण्ड) की उत्पत्ति दिखलाई गई है। इस प्रकार उक्त सूक्तमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन ही प्रकृत (थालू) है। आगे भी भूमि और शरीरकी (२) वन्य तथा प्राण्य पशुओंकी उत्पत्ति (६), ऋग्वेद आदि वेदोंकी उत्पत्ति (७), और अश्वादिकी सृष्टि (८) बताई गई है। फिर उसी पुरुष (परमात्मा) के मनसे चन्द्रमा, आँखसे सूर्य, मुँहसे अग्नि (१२) आदि देवताओंकी उत्पत्ति बताई गई है। इसमें पुरुष-सूक्तस्थ वातः (१२) अजायत (२) जज्ञिरे (७) इत्यादि क्रियाओंकी साक्षी प्रत्यक्ष हैं; और फिर यह देवता एवं वेदादिकी सृष्टि मानवके द्वारा भी नहीं मानी जा सकती, अन्यथा वेद भी पौरुषेय हो जाएं और सूर्य आदि देवताओंकी सृष्टि भी मानवीय हो जाय—पर यह अनिष्ट एवम् असम्भव है, अतः यहां ‘पुरुष’ से ‘मानव’ इष्ट नहीं, किन्तु वह परम पुरुष (परमात्मा) ही इष्ट है, तब देवता एवं वेदादिकी मान्ति पुरुष-सूक्तके ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्’ मन्त्रमें वर्णित ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति भी उसी परमपुरुषसे इष्ट है, मानवके द्वारा नहीं। जैसे कि स्वा० दयानन्दजी द्वारा भी इस बातको उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘सत्याय प्रकाश’ में स्वीकार किया गया है—

‘(प्रश्न) जातिभेद ईश्वरकृत है या मनुष्यकृत ? (उत्तर) ईश्वर और मनुष्यकृत भी जातिभेद है। (प्र०) कौनमा ईश्वरकृत और कौन-

सा मनुष्यवृत्त ? (उ०) मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, जलजन्तु आदि जातियाँ परमेश्वरवृत्त हैं। जैसे पशुओंमें गौ, अश्व, हस्ती आदि जातियाँ वृक्षोंमें पीपल, बट, आम्र आदि, पक्षियोंमें हंस, काक, बकादि, जलजन्तुओंमें मत्स्य मकरादि जातिभेद हैं, वेम मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरवृत्त हैं; परन्तु मनुष्यमें ब्राह्मणादिकी सामान्य जातिमें नहीं, किन्तु सामान्यविशेषात्मक जातिमें गिनते हैं (११ मनुस्मृतास २४१-२४२ पृ०)। फलतः देवता एवं वेदादिकी भान्ति 'ब्राह्मणोऽस्य मुख' में ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति भी परमात्माके मुखान्तिमें ही बताई गई है।

(२) (प्रश्न) पुरुषसूक्तके पूर्व प्रदर्शित मन्त्रोंकी भान्ति 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' में 'मुख' आदिमें पञ्चमी लो नहीं है, फिर 'परमात्माके मुख आदिते ब्राह्मणादिकी उत्पत्तिका अर्थ यहाँ माना ही कैसे जा सकता है ?' (उत्तर) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' (३१।११) पुरुषसूक्तके इस प्रवृत्त मन्त्रमें लो जन्य-जनक कार्य-कारण) का 'आयुर्धृतम्' की भान्ति अभेदसे उपचार दिखलाया गया है। 'धृत (कारण) से आयु (कार्य) की उत्पत्ति होती है' ऐसा कहना अपेक्षित होने पर भी 'आयुर्धृतम्' (धो आयु है) ऐसा शुद्ध लक्षणासे कार्य-कारणका अभेद मानकर कहा जाता है। इस प्रकार 'आमा वै पुत्र-नामासि' (शतपथ ब्रा० १४।६।४।२६) यहाँ पिता पुत्रके अभेदसे ऐसा वचन कहा गया है, वैसे ही 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' में भी कार्य-कारणको अभेदसे कहना उसमें उसकी उत्पत्ति बतलाता है। इस विषयमें 'ब्रह्मसूत्र' के अपने भाष्यमें श्रीमध्वाचार्य स्वामीने भी कई शब्द लिखे हैं। वे यह हैं— 'च' शब्देन सकलवेदतन्त्रपुराणादिषु विष्णुपरम्व पुरुषसूक्तस्य दर्शयति। तथा च ब्राह्मे—'यथैव पौरुष सूक्तं नित्यं विष्णुपरम्वक्ष्यम्'। चतुर्वेदशिक्षाया च—'सहस्रशीर्षा पुरुष' इति। यूप एव अचिन्त्यः

परः परमो हरिरादिरनादिरनन्तशीर्षोऽनन्ताधोऽनन्तबाहुरनन्तगुणोऽनन्तरूप इति । बृहत्संहितायां च—‘यथा हि पौरुषं सूक्तं विष्णोरेवामिधायकम्’ इत्यादि । ‘यस्माद् यजायते चाङ्गाहोक्वेदादिकं हरेः । तस्मात्वाच्यमङ्गं तद् यथा नक्ष्त्रादिकं मुखम्’ इति नारदीयवचनाद् भास्मेदोक्तिविरोधः’ (१।२।२६) यहां पर आचार्यने पुरुषसूक्तको विष्णुपरक मानकर उसमें विष्णुके अङ्गोंका कथन उत्पादकरूपसे माना है—इससे हमारे पक्षकी ही पुष्टि हुई ।

(६) इस विषयमें श्रीमद्भागवतपुराणका भी उक्त-विषयक पद्य तथा उसकी टीकाओं भी दृष्टव्य हैं जिससे उक्त पद्य पर प्रकाश पड़ता है । ‘पुरुषस्य मुखं ब्रह्म, चतुर्मेतस्य बाहवः । ऊर्वोर्वैरयो भगवतः, पद्भ्यां शृङ्गोऽन्यजायत’ (२।१।३७) इस पद्यकी व्याख्या करते हुए श्रीश्रीधरस्वामीने कहा है—‘वर्णानां ततः (परमात्मतः) उत्पत्तिं दर्शयति—पुरुषस्येति । ब्रह्म-ब्राह्मणः, मुखमिति कार्यकारणयोरभेदविवक्षया उक्तम्’ । यहां यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि—‘मुखात्’ के स्थान ‘मुखम्’ कार्य-कारणके अभेदको उद्दिष्ट करके कहा गया है, अर्थ वही पञ्चमीका रहेगा । ‘दीपनी’ व्याख्यामें भी कहा गया है—‘पुरुषस्य मुखम्’ इत्यादिना ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्’ इत्येव आचोर्थः’ । अर्थात् श्रीमद्भागवतका उक्त पद्य उक्त वेदमन्त्रका अनुवाद ही है । श्रीव्यासजीने उक्त पद्यमें दो पद ‘मुखम्, बाहवः’ प्रथमान्त राधे हैं, और दो पद ‘ऊर्वोः, पद्भ्याम्’ यह पञ्चमी अर्थवाले रखे हैं—उसका आशय वही है कि उक्त मन्त्रका अर्थ पञ्चमी विभक्तिसे करो । इस कारण उक्त पद्यकी ‘पदरत्नावली’ टीकामें भी कहा है—‘पञ्चम्यर्थे प्रमाणान्तरान्वेषणप्रयासो न कर्तव्यः, अथैव दर्शनाद् इति भावेनाह—ऊर्वोः, पद्भ्याम्’ । अर्थात् उक्त पद्यमें ही ‘पद्भ्याम्’ आदिमें पञ्चमी विभक्ति स्पष्ट रखी गई है, अतः सर्वपदोंमें प्रथमाके स्थान भी पञ्चमीका अर्थ करो और पञ्चमी अर्थमें अन्य

प्रमाण इ देनेकी आवश्यकता भी नहीं; क्योंकि—दो स्थलों पर स्वयं पञ्चमी रखी गई है। यद्यपि एक स्थल पर सप्तमी है; तथापि अर्थ वही उत्पत्तिका है; क्योंकि—‘पञ्चम्यामजातौ’ (पा० ३।२।१८) ‘सप्तम्यां जनेडः’ (पा० ३।२।१७) इन सूत्रोंके शापकसे जन्धान्तुके योगमें सप्तमी-पञ्चमी दोनों हुआ करती हैं, जैसे ‘मरमि जायते इति सरोजम्’ यहाँ उत्पत्ति अर्थके योगमें सप्तमी है, और ‘संस्काराजात इति संस्कारजः’ यहाँ पञ्चमी है इससे ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्’ मन्त्रमें भी मुखम्, बाहू, ऊरू’ इन प्रथमान्त पदोंमें भी पञ्चमी विभक्तिका अर्थ ही प्रमाणित है।

(७) अथवा-उक्त मन्त्रमें इस प्रकार योजना है—‘ब्राह्मणः अस्य परमात्मनः’ मुखम्—मुखाद्, आसीद्-उत्पन्नः’। ‘मुखाद्’ में ‘मुखम्’ ‘सुप्’ सुलुक् (पा० ७।१।३६) इस सूत्रसे ‘इति’ के स्थान पर ‘सु’ होनेसे हुआ है, नपुंसकलिङ्ग होनेसे ‘सु’ को ‘यम्’ हो गया। इस प्रकार उक्त मन्त्रके प्रथममन्त्रकी भी वही व्यवस्था है—‘मुखं किमस्यासीत्’ (यजुः ३।१।३०) ‘मुखात् किमस्यासीत्’? सिद्धि पूर्वकी तरह होगी। इस अर्थमें कारण है सृष्टि (उत्पत्ति) का प्रकरण। इस कारण वादियोंके स्वामी दयानन्दजीने भी उक्त मन्त्रमें पञ्चमीका अर्थ किया है—यह आगे कहा जावेगा।

(८) अथवा ‘मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किं ऊरू, किं पादौ’ यह प्रश्न है, उसका उत्तर है—‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्’ इत्यादि। अर्थात् उस परमात्माका मुख क्या था? इसे प्रश्नका उत्तर दिया गया है—जिससे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, वही परमात्माका मुख था’। इस प्रकार आगे भी योजना कर लेनी चाहिये। इस तरह उत्तरमें कार्यके परिचयमें कारणका परिचय कराया गया।

... (ग) अथवा सृष्टि प्रकरणके प्रकृत होनेसे, ‘अस्य, मुखम्-मुखात् [‘सुपां सुलुक्’ (पा० ७।१।३६) इससे पञ्चमीका लुक्] किमासीत्-किमुत्पन्नम् ? बाहु-बाहुभ्यां किमासीत्-किमुत्पन्नम् ? ऊरु, पादौ-ऊरूभ्यां पादाभ्यां च, किमासीत्-किमुत्पन्नम् ? ऐसा अर्थ होगा, नहीं तो ‘किं बाहु’ यह प्रश्न ही न होता, ‘कौ बाहु’ होता, ‘किमूरु पादौ’ न होता, ‘कौ ऊरु पादौ’ यह प्रश्न होता । परन्तु ऐसा नहीं है, तब सृष्टि-प्रकरण होनेसे यही अर्थ प्राकराणिक है, इस कारण यहाँ पर विभक्तिव्यत्यय भी दीपयुक्त नहीं है, क्योंकि यादीको भी तो ‘पद्म-पामजायत’ ‘मनसो जातः, चक्षोरजायत, श्रोत्राद्, मुखाद् अजायत’ इनमें पञ्चमीके स्थान पर प्रथमाका व्याख्य करना पड़ता है—तब वह, हमें उपासम्भ कैसे दे सकता है !

(घ) अथवा ‘मुखं किम्’ का अर्थ है कि—‘कारण मुखका कार्य क्या है ?’ इस प्रकार इस सृष्टि-प्रकरणमें कार्य-कारणके अभेदोपचारसे इस शैलीसे प्रश्न है; तात्पर्य-वही पञ्चमीका आकर बैठता है ।

(ङ) इस प्रकार ‘बाहु राजन्यः कृतः’ यहाँ भी ‘अस्य’ इस पदको अनुवृत्ति है । ‘अस्य-विराट् पुरुषस्य, बाहुः—बाहुभ्याम् [यहाँ पर ‘सुपां सुलुक्’ सूत्रसे ‘भ्याम्’ के स्थान पर ‘सु’ हुआ है, ‘रोरि’ (पा० ८।३।१४) से ‘र’ का लोप होकर दलोपदीर्घ (पा० ६।३।१११) हुआ । अथवा ‘भ्याम्’ के स्थानमें पूर्वसवर्णदीर्घ (७।१।३६) हुआ, जैसे ‘धीती, मवी, सुप्नुती’ वैसे ही ‘बाहु’ बाहुभ्याम् के स्थान पर हुआ । अथवा यहाँ पर भी ‘आयुष्टम्’ की भान्ति कार्य-कारणभावमें अभेद हुआ ।] राजन्यः-‘वैत्रियः, कृतः-उत्पन्नः । अस्य-परमात्मनः, ऊरु-ऊरूभ्यां वैश्यः कृतः-जनितः, यहाँ पर भी ‘कृतः’ की द्वितीयपादसे अनुवृत्ति है । यहाँ पर विभक्तिका व्यत्यय ‘व्यत्ययो बहुलम्’ (पा० ३।१।८६) सूत्रसे हुआ । अथवा ‘आयुष्टम्’ की भान्ति जन्म-जनकका अभेद-उपचार होनेसे प्रथमा हुई ।

प्रमाण है देनेकी आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि—दो स्थलों पर स्वयं पञ्चमी रखी गई है। यद्यपि एक स्थल पर सप्तमी है, तथापि अर्थ वही उत्पत्तिका है; क्योंकि—‘पञ्चम्यामजाती’ (पा० ३।२।६८) ‘सप्तम्या जनेदं’ (पा० ३।२।६७) इन सूत्रोंके जापक्रमे जन्धानुके योगमें सप्तमी-पञ्चमी दोनों हुआ करती है, जैसे ‘मरसि जायते इति मरोजम्’ यहां उत्पत्ति अर्थके योगमें सप्तमी है, और ‘संस्काराजात इति संस्कारज’ यहां पञ्चमी है इससे ‘ब्राह्मणोऽस्य मुत्तमासीद्’ मन्त्रमें भी मुत्तम्, बाहू, ऊरू’ इन प्रथमान्त पदोंमें भी पञ्चमी विभक्तिका अर्थ ही प्रमाणोपेत है।

(७) अथवा उक्त मन्त्रमें इस प्रकार योजना है—‘ब्राह्मण अस्य परमात्मन’ मुत्तम्—मुत्ताद्, आसीद् उत्पन्न’। ‘मुत्ताद्’ में ‘मुत्तम्’ ‘मुपा मुत्तम्’ (पा० ७।१।३६) इस सूत्रसे ‘उत्ति’ के स्थान पर ‘मु’ होनेसे हुआ है, नपुंसकलिङ्ग होनेसे ‘मु’ को ‘अम्’ हो गया। इस प्रकार उक्त मन्त्रके प्रारम्भकी भी वही व्यवस्था है—‘मुत्त किमस्यासीत्’ (यजु ३।१।१०) ‘मुत्तात् किमस्यासीत्’ सिद्धि पूर्वकी तरह होगी। इस अर्थमें कारण है सृष्टि (उत्पत्ति) का प्रकरण। इस कारण वादियोंके स्वामी दयानन्दजीने भी उक्त मन्त्रमें पञ्चमीका अर्थ किया है—यह आगे कहा जावेगा।

(८) अथवा ‘मुत्त’ किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरू, किं पादौ’ यह प्रश्न है, उसका उत्तर है—‘ब्राह्मणोऽस्य मुत्तमासीद्’ इत्यादि। अर्थात् उस परमात्माका मुत्त क्या था ? इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है—जिससे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, वही परमात्माका मुत्त था’। इस प्रकार आगे भी योजना कर लेनी चाहिये। इस तरह उत्तरमें कार्यके परिचयसे कारणका परिचय कराया गया।

(ग) अथवा सृष्टि प्रकरणके प्रकृत होनेसे, ‘अस्य, मुखम्-मुखात् [‘सुपां सुलुक्’ (पा० ७।१।३६) इससे पञ्चमीका लुक्] किमासीत्-किमुत्पन्नम्? बाहू-बाहुभ्यां किमासीत्-किमुत्पन्नम्? ऊरु, पादौ-ऊरूभ्यां पादाभ्यां च, किमासीत्-किमुत्पन्नम्?’ ऐसा अर्थ होगा, नहीं तो ‘किं बाहू’ यह प्रश्न ही न होता, ‘कौ बाहू’ होता, ‘किमूरु पादौ’, न होता, ‘कौ ऊरु पादौ’ यह प्रश्न होता। परन्तु ऐसा नहीं है, तब सृष्टि-प्रकरण होनेसे यही अर्थ प्राकृतिक है, इस कारण यहाँ पर विभक्तिव्यत्यय भी दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि वादीको भी जो ‘पद्म-मजायत’ ‘मनसो जातः, चक्षोरजायत, ओष्ठाद्, मुखाद् अजायत’ इनमें पञ्चमीके स्थान पर प्रथमाका व्यत्यय करना पड़ता है—तब यह हमें उपाजम्ब कैसे दे सकता है?

(घ) अथवा ‘मुखं किम्’ का अर्थ है कि—‘कारण मुखका कार्य क्या है?’ इस प्रकार इस सृष्टि-प्रकरणमें कार्य-कारणके अभेदोपचारसे इस शैलीसे प्रश्न है; तात्पर्य-यही पञ्चमीका आकर बैठता है।

(ङ) इस प्रकार ‘बाहू राजन्यः कृतः’ यहाँ भी ‘अस्य’ इस पदकी अनुवृत्ति है। ‘अस्य-विराद् पुरुषस्य बाहुः—बाहुभ्याम् [यहाँ पर ‘सुपां सुलुक्’ सूत्रसे ‘भ्याम्’ के स्थान पर ‘सु’ हुआ है, ‘रोरि’ (पा० ८।३।१५) से ‘र’ का जोष होकर एलोपदीर्घ (पा० ६।३।१११) हुआ। अथवा ‘भ्याम्’ के स्थानमें पूर्वसवर्गदीर्घ (७।१।३६) हुआ, जैसे ‘धीती; मती, सुपुती’ वैसे ही ‘बाहू’ बाहुभ्याम्के स्थान पर हुआ। अथवा यहाँ पर भी ‘आयुष्टम्’ की भान्ति कार्य-कारणभावमें अभेद हुआ।] राजन्यः-शत्रियः, कृतः-उत्पन्नः। अस्य-परमात्मनः, ऊरु-ऊरूभ्यां वैश्यः, कृतः-जनितः, यहाँ पर भी ‘कृतः’ की द्वितीयपादसे अनुवृत्ति है। यहाँ पर विभक्तिका व्यत्यय ‘व्यत्ययो बहुलम्’ (पा० ३।१।८६) सूत्रसे हुआ। अथवा ‘आयुष्टम्’ की भान्ति जन्म-जनकका अभेद-उपचार होनेसे प्रथमा हुई।

(च) 'पद्भ्यां शुद्धो यजायत' यह तो स्पष्ट ही पंचम्यन्त है—इस उपसंहारवाले पदके अनुसार पूर्व पदोंमें भी पंचमी करनी पड़ी, क्योंकि-व्यक्ताका सिद्धान्त अथवा अभिप्राय उसके उपसंहारसे ही व्यक्त होता है। उक्त मन्त्रमें ब्राह्मण आदि शब्द लिङ्ग एवं वचनकी अविवक्षासे जातिशब्द है, तब उनसे ब्राह्मणी आदिका ग्रहण भी हो जाता है। फिर इन ब्राह्मण-ब्राह्मणी आदिसे उत्पन्न बालक-बालिकाएँ भी 'सह-दास्यातनिर्माणा' इस महाभाष्यके वचनसे उस-उस जातिवाले हुए—यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

(द) एक ही पुरुष (परमात्मा) से उत्पन्न हुए भी ब्राह्मणदियोंकी उच्चता-नीचता एवं जन्मके कर्मके कारण, उत्पत्तिके द्वारभूत ब्रह्म, ऊरु, घरण आदि अङ्गोंकी उपाधिके कारणसे होती है। तब ब्राह्मण-शूद्रादियोंकी आपसमें उच्चता-नीचता भी जन्मसे ही सिद्ध होती है। इस प्रकार उत्पत्तिस्थानके कारण वर्योंकी उत्कृष्टता अपकृष्टता व्यवहारके साथ ही साथ वर्योंकी व्यवस्था भी जन्मसे ही सिद्ध हुई। उच्चता-नीचताकी जन्ममूलकतामें उत्पत्ति मनुजीके निम्न शब्दोंमें द्रष्टव्य है—'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः। तस्मान्मेध्यतमं स्वस्य मुलमुक्तं स्वयम्भुवः' (१।१२) यहाँ नाभिसे ऊपर के अङ्गोंसे उत्पन्न ब्राह्मण और कर्त्रिय मेध्यतम एवं मेध्यतर सिद्ध हुए। इस प्रकार नाभिसे नीचे ठहरे हुए ऊरु एवं पादके अमेध्यतर, अमेध्यतम होनेसे उनसे उत्पन्न वर्य भी वैसे सिद्ध हुए। तब वर्योंमें उत्कृष्टता अपकृष्टता उत्पत्तिमूलक सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण प्रथम उत्पन्न होनेसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। वैश्य 'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः' (अथर्व० १६।६।६) मध्य (कमर) से उत्पन्न होनेसे मध्यम हुआ। शूद्र पादज - अधरज होनेसे अधर (अधम) सिद्ध हुआ। इस प्रकार वर्योंमें उत्तमता, मध्यमता एवं अधमता सिद्ध होनेसे वेदकी भी हमका साम्यवाद इष्ट सिद्ध न हुआ। जिसे सुधारक लोग वैदिक कहने का साहस करते हैं।

(१) उक्त मन्त्रमें अपादान (पञ्चमी) अर्थ एवम् उत्पत्ति अर्थ (जिसे हमने किया है) निमूँल भी नहीं है—इस बातको सिद्ध करनेके लिए हम प्राचीन प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। ‘आलोक’ के विद्वान् पाठकगण इसमें अवधान दें।

(क) स्वा० दयानन्दजीसे भी मान्य श्रीभास्कराचार्य प्रणीत ‘सिद्धान्तशिरोमणि’ के गोलाध्यायमें ‘भुवनकोशनिरूपण’ में प्रलयके वर्णनमें कहा है—‘ब्राह्मं जगं ब्रह्मदिनान्तकाले भूतानि यद् ब्रह्मतनुं विशन्ति’ (१३) यहां पर श्रीभास्कराचार्यका अपना ही भाष्य द्रष्टव्य है—जिससे चारों वर्णोंकी परमात्माके अङ्गोंसे उत्पत्तिमे उपपत्ति भी दिखलाई गई है। उसमें कहा गया है—‘यो ब्रह्मदिनान्ते चतुर्गुणसहस्रावसाने लोकत्रयस्य संहारः, न ब्राह्मो जग उच्यते। तत्र अक्षीण-पुण्यपापा एव लोकाः कालवशेन ब्रह्मशरीरं प्रविशन्ति। तत्र मुक्तं ब्राह्मणः [प्रविशन्ति], बाह्वन्तरं क्षत्रियाः, ऊरुद्वयं वैश्याः, पादद्वयं शूद्राः। सतो निशावसाने पुनर्ब्रह्मणः सृष्टिं चिन्तयतो भूतानि स्थानेभ्यः कर्मपुटान्तरावाद् ब्राह्मणादयस्तत एव निस्सरन्ति’। यहां पर बहुत ही सुन्दर उपपत्ति दी गई है। उसका भाव यह है कि प्रलयमें प्राणी भरकर अपने यथास्थित कर्मोंके अनुसार ब्रह्माके शरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं। तब सृष्टि करनेके समय उत्तम कर्मोंमें मुक्तसे उत्पन्न हुए ब्राह्मण कहाते हैं, बाहु आदिसे उत्पन्न क्षत्रियादि हुआ करते हैं। इससे मुक्त आदिसे वर्णोंकी उत्पत्ति समूल सिद्ध हुई।

(ग) स्वा० द० से मान्य प्रशस्तपादभाष्यमें भी कहा गया है—‘सच महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मा... भूतानि ह्युत्पद्यतः चतुरो [ब्राह्मणादीन्] वर्णान् अन्यानि च उच्चावचानि भूतानि सृष्ट्वा’ (द्रव्यग्रन्थ) यहाँ भी ब्राह्मणादियोंकी ब्रह्माके मुख आदिसे उत्पत्ति कही है।

(ग) कृष्णयजुर्वेदमें भी यही स्वीकृत किया गया है—‘प्रजापतिर-
कामयत प्रजायेय इति । स मुखर्तास्त्रवृतं निरमिमौतः.. ब्राह्मणो
मनुष्याणां... तस्मात् ते मुख्याः, मुसतो हि असृज्यन्तः... अश्वश्च
शूद्रश्च । तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवश्लुप्तः, नहि देवता अन्वसृज्यत, तस्मात्
पादावुपजीवतः, पचो हि असृज्येताम्’ (सै० सं० ७।१।४।१) मीमांसा-
दर्शनके १।४।२४ सूत्रके शायरभाष्यमें भी यही श्रुति उद्धृत की गई
है। इस प्रकार यहाँ भी पञ्चमी धर्मकी स्फुटता ही है। इस प्रकार
शुक्लयजुर्वेदमें भी यही धर्म है।

(घ) ‘यस्माद् एते [ब्राह्मणाः] मुख्याः, तस्मात् मुसतो हि असृ-
ज्यन्तः’ यह वचन स्वा० द० जीने ‘शतपथब्राह्मण’ के नाम से ‘स० प्र०’
के ४४० समुक्तास २२ पृष्ठमें उद्धृत किया है—इससे भी पञ्चम्यकी
स्पष्टता है, पर धर्म करनेके व्यवहार पर स्वामीने अपनी कपोल-कल्पना
पर दी है।

(ङ) इस प्रकार ‘ताण्ड्यमहाब्राह्मण’ में भी कहा है—‘स मुखत-
स्त्रिभुवनसृजत, तं गायत्रीछन्दोऽन्वसृज्यत, अग्निदेवता, ब्राह्मणो मनुष्यः,
तस्मान्मुत ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, गायत्री छन्दसाम्, अग्निदेवतानाम् ।
तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन चोप करोति, मुसतो हि सृष्टः’ (६।१।१६) ‘स
उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत, राजन्यो मनुष्यः, इन्द्रो देवता,
तस्माद् बाहुवीर्यं, बाहुभ्यां हि सृष्टः’ (१।१।८) । स मध्यत एव
प्रजननात् सप्तदशमसृजत, वैश्यो मनुष्यः, विश्वेदेवा देवताः, तस्माद्
वैश्वोऽस्तमानो न लीयते, प्रजननाद्भि सृष्टः । तस्माद् ब्राह्मणस्य राज-
न्यस्य च आघोऽधरो हि सृष्टः [यहाँ पर भीसायणने लिखा है—
‘यस्माद् अघरः परबाहवी निसृष्टः-सृष्टः तस्मात्] ६।१।६ ॥ एत
एव (पादात्) प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत, न काचन देवता, शूद्रो मनुष्यः ।
तस्मात् शूद्रोऽभ्यजियः, निदेवो हि, नहि न काचन देवताऽन्वसृज्यत,

तस्मात् पादावर्नेज्यान्नातिवर्धते, पक्षो हि स्पष्टः” (६।१।१०) यहां पर ताण्ड्यब्राह्मणने भी स्पष्ट शब्दोंसे उन-उन वर्णोंकी उन-उन श्रृंखलाओंसे उत्पत्ति मानी है। यहां पर अङ्ग-वाचक चारों ही शब्द पंचमी विभक्ति वाले हैं।

(घ) ‘वैखानसधर्मसूत्र’ में भी कहा है—‘ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यशूद्रा-मूल-बाहुरु-पादेषु जातारचत्वारो वर्णाः, यस्माद् ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्’ इत्यादिधृतिः’ (१।१।२) क्या अब भी कोई वादी ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्’ का पंचमीसे विरुद्ध अर्थ कल्पित कर सकता है ?।

(ङ) प्रसिद्ध स्मृति, स्वा० दयानन्दजीके ‘सत्यार्थ प्रकाश’ स्थ एकादशसमुल्लासके आरम्भिक वचनके, एवं यास्कादिके वचनके अनुसार सृष्टिकी आदिमें बनी हुई ‘मनुस्मृति’ में भी इस विषयमें स्पष्ट कहा है—‘लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखवाहुरुपादतः। ब्राह्मणं, क्षत्रियं, वैश्यं, शूद्रं च निरवर्तयत्’ (१।३१) यहां पर श्रीमेधातिथिने भाष्य किया है—‘यथाक्रमं मुखाद् ब्राह्मणम्, बाहुभ्यां राजन्यम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, शूद्रं पादत इति। तसिरपादाने। कारणान् कार्यं निष्कृष्यते इति भवति अपाये (विश्लेषे) सति अपादानत्वम्। अथ कंचिद् ब्राह्मणं स्वमुखा-पवनेभ्यो देव्या शक्त्या निर्मितवान्’। यहां पर कितने स्पष्ट रूपसे श्रीमेधातिथिने पंचमी अर्थकी पुष्टि की है। श्रीबुल्लूकभट्टने भी उक्त पद्यकी व्याख्या इसी प्रकार लिखी है—‘देव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादि-निर्माणं ब्राह्मणो न विशङ्कनीयम्. धृतिमिदत्त्वत्। तथा च धृतिः—‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्’ इत्यादि”।

(ज, ‘तं [ब्राह्मणं] हि स्वयम्भूः स्वाद् आस्यात् (मुखात्) तपस्त-पवाऽऽदितोऽमृजन्’ (मनुस्मृति १।६४) ‘आदितोऽमृजन्’ और ‘आस्याद् अमृजन्’ कहनेमें ब्राह्मणोंकी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता सिद्ध हुई। अब भी

माता-पितासे जो आदिमें जन्म प्राप्त कराता है; वही ज्येष्ठ, ध्येष्ठ एवं पूज्य माना जाता है, इस प्रकार ब्राह्मण भी विराट् द्वारा प्रथम टापत्र होनेसे अन्य वर्गोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। 'मुखवाहुरपज्जानां' (११८७) यहां भी वही बात है। 'उत्तमाहोदयाद्' (मुखोपपत्त्याद्) ज्येष्ठ्याद् (आदित उत्पत्त्याद्) ब्रह्मक्षेत्रज्ञेय धारयाद्। सर्वस्यैवायं तर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः' (मनु० १।१३) यहां भी वही बात कही गई है।

(क) 'हारीतस्मृति' में भी कहा है—'यज्ञसिद्धयर्थमनघान् ब्राह्मणान् मुरतोऽसृजत्। अमृजन् अग्नियान् याहोर्वैश्यान्प्यूस्तेयतः। शूद्राश्च पादयोः सृष्ट्वा तेषां चैशानुपूर्वशः' (१।१२-१३) यहां भी पंचमी धर्मकी स्पष्टता है; यथा—'जनकतुः प्रकृतिः' (पा० १।१४३०) जनन अर्थ वाली धातुके योगमें पंचमी प्रसिद्ध ही है, और 'सप्तम्यां जनेई' (३।२।१७) इस सूत्रके लिहसे जननार्थक धातुके योगमें सप्तमी भी दुबारा करती है; इसलिष्ट हारीतवचनमें पंचमी एवं सप्तमी दोनों ली गई है।

(ग) 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के प्रायश्चित्ताध्याय बर्तितर्क प्रकरणमें भी कहा है—'सहस्रात्मा मया यो य आदिदेव उदाहृतः। मुखवाहुरपज्जानाः स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम्'। (१२६ पद्य) यहां पर मिताक्षराने लिखा है—'सकलजगद्हेतुतया आदिदेवी मया युष्माकमुदाहृतः, तस्य यदन-भुव-सत्रिय-चरणजाता यथाक्रममप्रजन्मादयश्चाधारो वर्णाः।' यहां पर 'सहस्रात्मा' कहनेसे 'सहस्रशीर्षा' इस सूत्रके उक्त मन्त्रका यह अर्थ है—यह सूचित किया गया है। इसलिष्ट इसके अग्रिम पद्योंमें 'वृथिवी पादतस्तस्य मुखात् शिखी' (१२७) मनसरचन्द्रमा जातश्चक्षुपश्च दिवाकरः' (१२८) उक्त मन्त्रके साथ वाले 'चन्द्रमा मनसो जातः' ॥ यदि मन्त्रोंका ही अर्थ श्रीयाज्ञवल्क्यने निरूपित किया है—यह स्पष्ट है। तब उक्त मन्त्रके उक्त पदोंका पंचमीका अर्थ करना समूल ही है।

(द) अथ ‘आलोक’ पाठकण्ठे ‘वृहत्पराशरस्मृति’ में भी दृष्टि डालें ‘ब्रह्मा वै ब्राह्मणान् अस्याः (श्रुतिधाः) प्रभून् असृजदास्य (मुखं) तः । सद् (श्रुतिवी) रचणाय आहुभ्यामसृजत् सत्रियानपि । ३।१४६) पाशुपा-
स्याशनोत्पत्तयै, ऊरुभ्यां च तथा विशः । द्विजदास्याय पश्याय पद्भ्यां
शूद्रमकृत्वरयत् (१२०) यहां भी पंचमी अर्थकी स्पष्टता है ।

(ड) इसी प्रकार ‘बाल्मीकि रामायण’ में भी कहा है—‘मुखतो
ब्राह्मणा जाता उरसः सत्रियास्तथा । ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः, पद्भ्यां
शूद्रा इति श्रुतिः’ (अरण्यकाण्ड १४।३०) यहां पर श्रीबाल्मीकिने उक्त
अर्थका श्रुति (वेद) में सन्नाय प्रकाया है । तब उक्त वेदमन्त्र इसी
अर्थवाला है—यह भिन्न हो गया । यहां ‘उरसः’ का अर्थ है
‘आहुमध्यत्’ । कहीं ‘आहुभ्यां’ पाठ भी है ।

(इ) वादित्वादिमांथ ‘महामारण’ में भी बहुत स्थलोंमें
ऐसा ही कहा है—‘मुखतः सोऽसृजद् विप्रान् (ब्राह्मणान्) आहुभ्यां
सत्रियोस्तथा । वैश्याश्चाप्युरुतो राजान् ! शूद्रान् वै पादतस्तथा’ (भीष्म-
पर्व ६७।१८-१९) ब्राह्मणो मुखतः सृज्यो ब्रह्मणो राजसत्तम ! आहुभ्यां
सत्रियः सृष्टः, ऊरुभ्यां वैश्य मय च । वर्णश्रुतयः सम्भूतः पद्भ्यां शूद्रो
विनिर्मितः’ (शान्तिपर्व ७२।४-५) । इसी प्रकार ‘ततः कृष्णो महाभागः
पुनरेव युधिष्ठिर ! ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः ।’ (शान्तिः
२००।३१) ‘आहुभ्यां सप्रदशतं, वैश्यानामुरुतः शतम् ।’ पद्भ्यां शूद्र-
शतं चैव केशवो भरतर्षभः’ (३२) स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य
महातपाः । अभ्यर्च्य सर्वभूतानां घातारमकरोन् स्वयम्’ (३३) यहां भी
वही पूर्वोक्त अर्थ स्पष्ट है ।

(इ) श्रीरवामी शङ्कराचार्यने ‘अथ अम्बुमन्थन् स मुखाच्च योनेर्ह-
न्नाभ्यां च अग्निमसृजत्’ (१।४।६) इस ‘वृहदारण्यक’ की कण्विकाकी

व्याख्या करते हुए लिखा है—‘अथ इति शब्दद्वयमभिनयप्रदर्शनायम् । अनेन प्रकारेण मुखे हस्तीं प्रक्षिप्य अस्वमन्यत् आभिमुख्येन मन्यनम-
करोत् । स मुखं हस्ताभ्यां मयित्वा मुखाय योनेर्हस्ताभ्यां च योनिभ्या-
मपि, ब्राह्मणततिरनुप्रदकर्तारमभिनममृजत् - स्पृशन् । तथा ब्राह्मणोपि
मुखादेशं जज्ञे प्रज्ञापतेः । तस्माद् गुरुयोनिर्वाज्जपेक्षेनेव अनुजोनुगृह्यते
अग्निना ब्राह्मणः । तस्माद् ब्राह्मणोग्निदेवस्यो मुखवीर्यंश्च- इति धृति-
स्मृतिसिद्धम् । तथा यज्ञाश्रयाभ्यां बाहुभ्यां यज्ञाभ्यादिकं क्षत्रियजाति-
नियन्तार क्षत्रियं च । तस्माद् वेन्द्रं यत्र बाहुवीर्यं च- इति धृती स्मृती
च सप्तमं । तथा ऊरुत ईहा-चेष्टा तदाध्याद् वंस्वादिलक्ष्यं विशो-
नियन्तार विशं च । तस्मात् कृत्वादिपरो वंस्वादिवैवायश्च वैरयः ।
तथा पूषणं पृथ्वीदेवतं, शुद्धं च पद्भ्यां परिचरन्त्यमममृजत्- इति
श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेः । यदा पर आचार्येण सीमातीत स्पृशता कर दी है ।

(ग) ‘वायुपुराण’ में भी कहा है—‘वक्त्राद् यस्य ब्राह्मणाः संग्र-
मृतास्तद्वक्षस्तः क्षत्रियाः पूर्वमागौः । वैश्याश्चोर्वीर्यस्य पद्भ्यां च शुद्धाः,
सर्वे वर्णा गात्रतः सम्प्रसृताः’ (६।७७) यहाँ भी वही कहा गया है ।

(त) प्रसिद्ध ‘श्रीमद्भागवत’ पुराणमें भी कहा है—‘मुखतोऽर्जुनं
प्रहा पुरुषस्य कुरुद्वह ! बाहुभ्यामर्जुनं यत्र क्षत्रियस्तदनुमतः । विशोऽय-
तन्त तस्योर्वीर्योऽभ्युत्तिहरीभिः । पद्भ्यां ममवतो जज्ञे शुद्धपाकम-
सिद्धये । ताभ्यां जातः पुरा शुद्धोः’ (३।६।३०-३३) । ‘वायुपुराण’ में अन्यत्र
भी कहा है—‘मिथुनानां सहस्रं तु (ब्राह्मणान्) सोमं च वै मुखात्तदा ।
सहस्रमन्यद् (क्षत्रियान्, वक्षस्तो मिथुनानां ससर्जं ह । स्पृश्या सहस्र-
मन्यत् (वैश्यान्) इन्द्रानामुत्तः पुनः । पद्भ्यां सहस्रमन्यात् (शुद्धान्)
मिथुनानां ससर्जं ह’ (८ ३७-४०, श्रीमद्भागवतमें अन्यत्र भी कहा है—
‘मुखबाहुहस्तादेभ्यः पुरुषस्याधर्मैः सह । चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्वि-
प्रदयः पृथक्’ (१।१।१२) ‘गुणैः पृथक्’ का अर्थ है ‘मित्र-मित्र गुण-

धारी' । 'विष्वक्त्रियविद्यूद्वा मुखवाहृपादजाः' (भाग०-११।१०।१२)
अर्थ पूर्वकी भान्ति है ।

(घ) 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में भी कहा है—'बभूवुर्ब्रह्मणो वक्त्राद्
अभ्या ब्राह्मणजातयः ।' (१८।१४) ब्रह्मणो वाहुदेशाच्चैवान्याः त्रिय-
जातयः । १५ । ऊरुदेशाच्च वैश्याश्च, पादतः शूद्रजातयः । तासां सङ्कर-
जातेन बभूवुर्ब्रह्मसङ्कराः' (ब्रह्मसंह १०।१६) ।

(ङ) 'भविष्यपुराण' ब्राह्मणपर्वमें भी कहा है—'लोकस्थेह विवृद्ध्यर्थं
मुख-वाहृपादतः । ब्रह्मस्रं तथा सोमौ वैश्य-शूद्रौ नृपोत्तमः' (२।६२)
'तस्मान्मुखाद् द्विजो जात इतीयं वैदिकी धृतिः' (२।१२६) 'वैदिकी
धृतिः' कहने से स्पष्ट है कि— उक्त वेदमन्त्रका सभी को यही पञ्चमी-
विभक्तियाला अर्थ इष्ट है ।

(च) इस प्रकार 'सूतसंहिता' में भी कहा है—'सिरोभागाद् ब्राह्मण-
ब्राह्मण्योः, बाहुतः त्रियया-त्रिययोः, वैश्य-शूद्रावपि वैश्याशूद्राभ्यां
महैव ऊरुपद्भ्याम्' ।

(न) 'विष्णुपुराण' प्रथमप्रश्ने भी कहा है—'सत्याभिधायिनः पूर्वं
मिमृचोर्ब्रह्मणो जगत् । अजायन्त द्विजश्रेष्ठ ! सत्त्वोद्विक्ता मुखात् प्रजाः
(ब्राह्मणाः) । यक्षसो रजसोद्विक्ताः त्रिययाः) तथाऽभ्या ब्रह्मणोऽभयन् ।
रजसा तमसा चैव समुद्विक्तास्त्वथोरुतः (वैश्याः) । पद्भ्यामभ्याः प्रजाः
(शूद्राश्च) । ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम ! तमः-प्रधानास्ताः सर्वारचातुर्वर्ण्यमिदं
ततः' (६।२१) 'श्रीमद्भागवत' अष्टम स्कन्धमें भी कहा है—'विप्रो-
मुखाद् ब्रह्म च यस्य गुह्यं, राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च । ऊर्वोर्विडो-
जांस्रिग्वेदशूद्रा, प्रसीदतां नः स महाविभूतिः' (२।४१) ।

(१) 'मनूनां सर्गमकरोद् मुखाद्वाहुरपादतः । चतुर्णां ब्राह्मणार्दानां सर्गद्वारं जगत्पतिः । द्विजयुग्मं, चतुरयुग्मं, वैश्ययुग्मं तथैव च । मिथुनं च चतुर्यस्य (शूद्रस्य) पतन्मनुचतुष्टयम्' ('तत्त्वप्रव' स्थित 'त्रिप्वक्त्रेन-संहिता' में) ।

(२) 'मार्कण्डेयपुराण' में भी कहा है—'मिथुनानां सहस्रं तु मुस्ता सोऽपासृजन्मुने । जातास्ते ह्युपपद्यन्ते सत्त्वोद्विक्ताः सचेतसाः' (ब्राह्मणाः) (४६।३) सहस्रमन्यद् वक्षस्तो-मिथुनानां ससर्जं ह । ते सर्वे रजसोद्विक्ताः शुष्मिण्य (बल्यन्त) रचाप्यमर्षिण्यः (चश्रियाः) । (४) सप्त-जान्यद् सहस्रं तु द्वन्द्वानामुरुतः पुनः । रजस्तमोऽप्यामुद्विक्ता ईहाशी-क्षास्तु, ते स्मृताः (वैश्याः) (५) पद्भ्यां सहस्रमन्यद् मिथुनानां ससर्जं ह । उद्विक्तास्तमसा सर्वे निःश्रीका ह्यल्पचेतसाः' [शूद्राः] (४६.६) ।

(१०) यही आशय अन्य बहुतसे ग्रन्थोंमें पाया जाता है, विस्तार-भयसे हम उसे उद्धृत नहीं करते । इस प्रकार 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इस वेदमन्त्रका बहुत ग्रन्थोंकी स.पीसे मुख आदि द्वारा ब्राह्मण आदि-की उत्पत्तिका अर्थ समूह सिद्ध हुआ, इससे व्यर्थ-व्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध हुई । प्रारम्भिक सृष्टिमें असम्भवका प्रारंभ ही स्वर्थ ॥ कि—मुख आदिसे ब्राह्मणादिकी सृष्टि कैसे सम्भव हो सकती है ? संसारके सभी सम्प्रदायोंने प्रारम्भिक सृष्टिमें असम्भवको बाँधव दिया ही है । उस समय सभीने अमैथुनसे उत्पत्ति मानी ही है; चाहे उनके अनुसार, सृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकारसे हुई हो, किसीके मतमें अज्ञोंसे उत्पत्ति हुई हो; चाहे मटीसे हुई हो, थपवा संकल्पसे होगई हो; वा वचनमात्रसे हुई हो । स्वा० द० जीने भी 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है—'परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती' (अष्टम १३८ पृष्ठ) ।

इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि चारों वर्ण परमात्माके भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे उत्पन्न हुए; तब यह भी सिद्ध हो गया कि वर्ण-व्यवस्था का मूलधार जन्म ही है। प्रलयके समयमें जीव अपने-अपने गुणकर्म-वासना आदिको अन्तर्हित करके ब्रह्ममें विलीन हो जाया करते हैं, और प्रजापति उनके गत जन्मके गुणकर्मके अनुसार उनके लिए उपयुक्त सुख-आदि अङ्गोंसे ब्राह्मणादि वर्णरूपमें उत्पत्ति करता है। ऐसा नहीं है कि—परमात्मा जीवोंको उत्पन्न करके उनके इस जन्मके गुणकर्मके आधारसे उनको उस-उस वर्णमें करता हो। तब ‘ब्राह्मणोऽस्य सुखमासीत्’ मन्त्रसे गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है।

(११) अब हम इस विषयमें वेदभाष्यकारोंके उक्त मन्त्रार्थको भी उद्धृत करते हैं।

(अ) अथर्ववेदके उक्त मन्त्रमें सायणभाष्य इस प्रकार है—
‘ब्राह्मण-जातिविशिष्टः पुरुषः अस्य मुखाद् उत्पन्न इत्यर्थः।...मध्यभागाद् वैश्य उत्पन्न इत्यर्थः। पद्भ्यां-पादाभ्यां शूद्रः अजायत-उत्पन्नः। इत्थं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिं तैत्तिरीयाः समामनन्ति—‘स सुखत-स्त्रियुतं निर्दिशति’ इत्यादि’ (अ० १६।६।६)।

(आ) उक्त मन्त्रके भाष्यमें श्रीउवटने लिखा है—‘तदास्योत्पन्न-त्वादिति’। यही श्रीमहीधरने भी लिखा है—‘ब्राह्मणः—ब्राह्मणजाति-विशिष्टः पुरुषोऽस्य सुखमासीत्-मुखादुत्पन्न इत्यर्थः।...ऊरुभ्यामुत्पा-दितः। तथास्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत-उत्पन्नः’।

(इ) 'सैचिरोपारण्यक' सं सायणभाष्य इस प्रकार है—'प्रापुरः
 व्यदधुः—प्रश्नोत्तर-रूपेण ब्राह्मणादिमृष्टि वस्तुमत्र ब्रह्मवादिनां प्रश्ना
 उत्पद्यन्ते । प्रजापतेः प्राणस्या देवा यद्-यदा पुरन्दे-विराड्-रूपं व्यदधुः-
 संकल्पेन उरपादितवन्तः, तदानीं कतिधा-कतिभिः प्रकारैर्विविधं कल्पित-
 वन्तः । एष सामान्यरूपः प्रश्नः । मुखं हिम्-इत्यादयो विशेषप्रश्नाः'
 (१।१।२।५) 'ब्राह्मणोऽस्य-योऽयं ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः, सोऽयमस्य
 प्रजापतौ मुखमासीत्-मुखाद् उत्पन्नः-इत्यर्थः । योऽयं राजस्यः—अग्नि-
 जातिः, स बाहुत्वेन निष्पादितः—बाहुभ्यामुत्पादितः इत्यर्थः । तह-
 तदानीं यौ प्रजापतेरुरु तदरूपो वैश्यः सम्पन्नः—उरभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः ।
 तथा पद्भ्यां शूद्र उत्पन्नः । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः
 सप्तमकाण्डे 'स मुखवस्त्रिवृत्तं निरमिमीत' इत्यादौ विस्पष्टमाप्नोता । अतः
 प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेनैव योजनीये । चन्द्रमा मनसो—'यथा
 दध्माज्यादिद्रव्यार्ण गणादिपराव श्रृगादिवेदा ब्राह्मणादिमनुष्यारव
 तस्मादुत्पन्नाः, एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेव उत्पन्नाः' । 'नाभ्या
 आसीत्—यथा देवास्तस्मादुत्पन्नाः, तथा लोकानपि अन्तरिक्षादीन्
 प्रजापतेर्नाभ्याद्यवयवभ्योऽकल्पयन् उत्पादितवन्तः' ।

इस प्रकार बहुतांकी सारी होनेसे उत्पत्ति अर्थ सिद्ध होनेसे पंचमी
 विभक्तिका ही अर्थ सिद्ध हुआ; और ब्राह्मणादि वशोंकी व्यवस्था जन्मसे
 ही सिद्ध हुई । मुख आदिसे जन्म भी पूर्वजन्मके कर्मोंसे होता है; तब
 उन्ही ब्राह्मणादिके पुत्र भी 'सङ्कदारयातनिर्वाह्या' (४।१।२।६३) इस
 महाभाष्यके वचनसे ब्राह्मण जाति वाले सिद्ध हुए । इस मन्त्रमें गुण-
 कर्मोंका गन्ध भी नहीं है ।

(ई) ब्राह्मणोंके आचार्य स्वा० ६० जीने भी ‘ऋग्वेदादिभाष्य-
भूमिका’ के सृष्टिविद्याविषयमें ‘मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, विभूरुपादा
वच्येते’ इस प्रश्नमन्त्रमें भी प्रश्नमीका और उत्पत्तिका ही अर्थ किया
है। जैसे कि—‘मुखं किम् ? अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणैः (१)
किमुत्पन्नमासीत् ? किं बाहू बलवीर्यादिगुणैः (१) किमुत्पन्नमासीत् ?
किमूरु-व्यापारादिगुणैः (१) किमुत्पन्नमासीत् ? पादा उच्येते-पादी
अर्थान्मुखं व्यादिभीचगुणैः किमुत्पन्नं वसते ? (१० १२६) इस प्रश्न-
मन्त्रमें स्वा० दयानन्दजीने स्वयं पञ्चमीका अर्थ तथा यणोंकी उत्पत्ति
माना है। इस प्रकार इसके उत्तरमन्त्रमें स्वामीने वही अर्थ किया है।
जैसे कि—‘ब्राह्मणोऽस्य अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः,
तेभ्यो ब्राह्मण उत्पन्नो भवति। बाहू-क्षत्रियस्तेन कृतः उत्पन्नो भवति।
ऊरू तेभ्यो वशिष्ठजन उत्पन्नो भवति। पद्भ्यां जडबुद्धिवादि-
गुणैः शूद्रः... अजायत-जायते-इति वेद्यम्’ (श्रु० भा० भू० १२७)

यहाँ स्वामीने जब परमात्माके मुख आदि को पञ्चम्यन्त माना है
और यणोंकी उनसे उत्पत्ति स्वीकृत की है; तब बादी, वैसा अर्थ करते
हुए हमें उपालम्भ दे सकनेके अधिकारी कैसे हैं ? यह तो उनके अपने
आचार्यने उन्हींका खण्डन कर दिया। गुण-रूपना तो स्वामीने
मन्त्रमें अविद्यमान होने पर भी स्वयं ही कल्पित की है, अतः वह ठीक
नहीं। वह स्वामीके कथन द्वारा भी ठीक नहीं; क्योंकि—द्रव्यके द्वारा
तो गुणकी उत्पत्ति होती है, परन्तु गुणोंसे द्रव्यकी उत्पत्ति कभी नहीं
होती। विज्ञा आदि गुण हैं और ब्राह्मण आदि द्रव्य। तब विद्यादि
गुणोंसे द्रव्य ब्राह्मणकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यह बात स्वा० ६०
जीने भी ‘संस्मृतप्रकाश’ में स्वयं स्वीकृत की है—“गुणोंसे द्रव्य कभी नहीं
बन सकता; जैसे रूपसे अग्नि और रससे जल नहीं बन सकता”
(१३ समु० ३०० पृष्ठ)। इस प्रकार बहुतोंकी मासो होनेसे तथा

वास्तविकता होनेसे उक्त मन्त्रमें पञ्चमी निमित्त और उत्पत्ति अर्थ सिद्ध हुआ। इससे 'पद्म्याम्' में चतुर्थीकी कल्पना करते हुए श्रीधर्मदेवकी जैसा रि-‘भारतीय समाजशास्त्र’ (प्रथम संस्करण) के १३ पृष्ठमें उन्होंने लिखा है ‘पद्म्या शब्दों अजायत’ इस चतुर्थ चरणके विषयमें कुछ सन्देह हो सकता है, उसकी निवृत्तिके लिए ‘पद्म्यां’ यहाँ चतुर्थी निमित्त माननी उचित है—पैरोंके कामके लिए शूद्र बनाया गया’ तथा अन्य अर्थ करते हुए श्रीमगधदाचार्यजी आदि प्रायुक्त हो गये। यह व्यक्ति अपने अशुद्ध पक्षको सिद्ध करनेके लिए ही इस प्रकारके परिवर्तन करते हैं। यहाँ पर ‘जनिकतुः प्रकृतिः’ (पा० १।४ ३०) से ‘अजायत’ के योगमें ‘पंचमी’ हुई है आगेके मन्त्रोंमें भी। ‘पद्म्यां शब्दों अजायत’ में ‘पुल्लेभ्यो याति’ की चतुर्थीका प्रयोग दिखाताकर ‘चतुर्थी’ की कल्पना विषम होनेसे निर्मूल है, क्योंकि- उक्त उदाहरणमें, जन्मातुका प्रयोग नहीं। फिर यही लोग ‘चन्द्रमा मनसो जातः’ इस पूर्वके समान प्रयोगमें ‘चतुर्थी’ की कल्पना न करके पृथीका अर्थ करते हैं। यह सब अपने निर्मूल पक्षको सिद्ध करनेके निर्मूल प्रयत्न हैं। इससे उनका पक्ष ‘बालुकाभित्ति’ सिद्ध हो जाता है।

(१२) जो कि स्वा० दयानन्दजीने शङ्का की है कि—‘यदि ब्राह्मण-आदि, मुग्ध आदिसे उत्पन्न हुए, तो उनकी आकृति भी वैसे गोल आदि होनी चाहिये थी’ यह ठीक नहीं। ऐसा होने पर भी योनिसे उत्पन्न पुरुषोंकी आकृति भी क्या योनिसे समान होनी चाहिये? जैसा योनि उत्पत्तिद्वारा है वैसे मुख भी। अथवा राज धीर्य द्वारा उत्पन्न होने वाले पुरुषोंका आकार भी तरब वा अस्थि के आदिसे रहित होना चाहिये? यदि नहीं, तब यहाँ भी वही उत्तर जान लेना चाहिये। तब मुख आदिसे उत्पन्न और ब्राह्मणादि नामसे कहे हुए उन धर्मोंके सन्तान भी ‘सृष्टादस्योत्पत्तिर्वाजा’ (एकस्या व्यक्तौ मुखस्य रूपस्योत्पत्त्या ब्राह्मणस्य-

क्षत्रियाद्यवैश्याद्यशूद्रास्ते उपदिष्टे तदपत्यतत्सहोदरादिषु तदुपदेशं विनापि तस्य सुप्रहावम्—एक व्यक्तिमें मुख आदिकी उत्पत्ति होनेसे ब्राह्मणत्व आदि कहने पर उसके सन्तान एवं भाई आदियोंमें बिना भी कहे वही ब्राह्मणत्व आदि जाति गृहीत होती है। इस महामाध्यप्रोक्त जातिलक्षणसे, तथा ‘आत्मा वै पुत्रनामासि’ (शतपथ० १४।६।४।२६) ‘सर्वेऽणेषु तुल्यासु परमीप्सवतयोनिषु । आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते’ (मनु० १०।२) इत्यादि प्रमाणोंसे उस-उस जाति वा वर्ण वास्ते होते हैं । इसलिये ‘वैखानसधर्मप्रश्न’ में कहा गया है ।

‘ब्राह्मणो मुखाद् उद्भूता ब्राह्मण्या ब्राह्मण्यश्च, ..तेषां गोत्रोत्पन्नाद् ब्राह्मण्याममगोत्रायां विधिना समन्त्रकं गृहीतायां जातो ब्राह्मणः शुद्धो भवेत्’ (३।११।३) तस्माद् अथो बाहुभ्यामुत्पन्नात् क्षत्रियात् क्षत्रियाणां विधियज्जातः क्षत्रियः शुद्धः (२) अथस्ताद् ऊरुभ्यामुत्पन्नाद् वैश्याद् वैश्याणां तथा वैश्यः शुद्धः (८) अथ पद्भ्यामुत्पन्नात् शूद्रात् शूद्राणां न्यायेन शूद्रः शुद्धः’ (३।१२।१) तेषामेव सङ्करेण उत्पन्नाः सर्वेऽनुलो-माद्याः [सङ्कराः]’ (३।१२।३) । इससे “जो मुखादि अङ्गोंसे ब्राह्मणादि उत्पन्न होते; तो उपादान कारण (?) के सदृश ब्राह्मणादिकी आकृति अवश्य होती । जैसे मुखका आकार गोलमोल है, वैसे ही उनके शरीर भी गोलमाल मुखाकृतिके समान होना चाहिये...ऐसा नहीं होता । और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि—जो-जो मुखादिसे उत्पन्न हुए थे, उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो, परन्तु तुम्हारी नहीं, क्योंकि—जैसे और सब लोग गर्भाशयसे उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते हो,

तुम मुरादिसे उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो, इसलिए तुम्हारा वहाँ अर्थ व्यर्थ है” (म० प्र० ४ १० १३) यह कहते हुए स्वा० ६० जीका खण्डन हो गया। क्योंकि—मुख उपादान कारण नहीं, किन्तु उत्पत्ति-द्वार है। मुरादिये उत्पन्न ब्राह्मणादिकी सन्तानों का ब्राह्मणत्वादि ‘सकृदात्म्यातनिर्वाह्य’ इस महाभाष्यके तथा पूर्व कहे हुए मनु (१०।२) याज्ञवल्क्य (शाचा० ६०) वैखानस (३।१।३-४-८) आदिके वचनों में होना है—यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

हम पूर्व कह चुके हैं कि—समन्वयकी दृष्टिसे ‘ब्राह्मणोऽस्य मुख-मासीद्’ इस मन्त्रका पञ्चमी अर्थ भी वेदकी सम्मत है, प्रथमा अर्थ भी। उसमें पंचमीका अर्थ तो हम सप्रमाण दिखाया ही चुके हैं—जिनसे हमारे पक्ष ‘जन्मना वर्णा-व्यवस्था’ की सिद्धि हुई, पर बादी लोग अपने पक्षके खण्डनके डरसे उस अर्थको स्वीकृत नहीं करना चाहते; वे प्रथमान्त अर्थमें विशेष परिधम करते हैं, कदाचित् वे उससे अपने पक्ष ‘गुणकर्मणा वर्णा-व्यवस्था’ की सिद्धि समझते हैं, परन्तु प्रथमाका अर्थ भी हमारे ही पक्षका साधक है—यह हम श्रीशालग्रामजी शास्त्रीके शब्दोंकी अपने क्रमसे अवलम्बित करके दिखाते हैं, ‘श्रीसनातनधर्मालोक’ के विद्वान् पाठक इधर ध्यान दें।

(८) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (ख)

[जन्मना वर्णव्यवस्था]

(१) उक्त मन्त्रका 'यस्य ब्रह्म (ब्राह्मणं) मुखमाहुः' (अथर्व० १०।७। ११) इत्यादि मन्त्रकी सान्ध्यामें 'ब्राह्मण इह परमात्माका मुख है, चत्रिय बाहु है, ऊरु वैश्य है, पद्म शूद्र है'—यह अर्थ भी माना जावे; तथापि हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं, क्योंकि—मुख बाहु ऊरु या पाद और बाहु मुख, ऊरु पाद और ऊरु मुख, बाहु या पाद और पाद-मुख, बाहु, ऊरु जैसे नहीं हो सकते, जैसे ब्राह्मण- आदि भी ब्राह्मणादि ही रहते हैं; अन्य जातिवाले नहीं माने जाते—यह हम स्पष्ट करते दिखलाते हैं।

(२) यदि समाजको विराट्-पुरष (परमात्मा) के रूपमें माना जाव, तो ब्राह्मण उसका मुख रहेगा, चत्रिय बाहुस्वरूप रहेगा, वैश्य कटि-स्वरूप ('मध्य सदस्य यद् वैश्यः' अथर्व० १६।६।९) और शूद्र पाद-स्थानीय रहेगा। वैदिक सिद्धान्तमें एक विशेषता है, वह जैसे समष्टिमें घटता है वैसे व्यक्तिमें भी। वह जैसे जातिमें घटता है, वैसे ही व्यक्तिमें भी। जैसे ब्रह्माण्डमें समन्वित होता है, वैसे ही पिण्डमें भी। एक स्थल पर उसका समन्वय विस्तीर्ण है, दूसरे स्थलमें संहित। ब्राह्मण, चत्रिय, वैश्य, शूद्र जैसे भारतमें दीव्यते हैं, वैसे ही एक शरीरमें भी विद्यमान हैं। अब यहां उसका समन्वय देखना चाहिये।

मुख और ब्राह्मणकी समानता देखिये। यह ज्ञानभाग है। ब्राह्मण सम्पूर्ण ज्ञानका अधिष्ठाता तथा लोभपरिग्रहसे रहित हो। यदि ब्राह्मण

ज्ञानहीन और लोभी होगा; तो वह न केवल अपना, प्राप्त सम्पूर्ण समाजका अनिष्ट करेगा। अब मुखको देखिये। हाथ, पैर, पांव आदिकी अपेक्षा आकारमें तो छोटा है; परन्तु ज्ञानके सम्पूर्ण साधन उसीके पास है, अन्यके नहीं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, इन्हींसे सब प्रकारका ज्ञान होता है। वे इन्द्रियाँ हैं—दो आँखें, दो कान, नाक, जीभ और त्वचा।

यदि हम किसी वस्तुको देखना चाहें, तो उसका साधन (आँखें) कहाँ है? इसका उत्तर है कि—मुखमें। सुनने का साधन (कान) कहाँ है? मुखमें। भाषणकी शक्ति कहाँ है? मुखमें। त्वचा यद्यपि सारे शरीरमें है, शीत, उष्ण, मृदुता, कठोरता आदिका ज्ञान यद्यपि इसी आँखोंसे भी हो सकता है; तथापि ज्ञानके सम्पूर्ण साधन मुखसे अतिरिक्त किसी अङ्गमें नहीं है। इसलिये मुखको ही प्राज्ञाण कहा गया है। पुरुष अपने आँखोंकी विविध अवसरोंमें विभिन्न वस्त्र-आभूषणोंसे ढकता है, परन्तु ज्ञानकी खान मुख (प्राज्ञाण) को अनावृत ही रखता है। यदि आँखें ढक जावें; तब दर्शन न हो सके। कान बन्द कर दिये जावें; तो सुनना समाप्त हो जावे। मुँह बन्द कर दिया जाए, तो भाषण बन्द हो जावे। नाक बन्द कर दिया जावे; तो नाकके साथ ही साथ प्राणवायु भी समाप्त हो जावे। बाहर जानेके समय यदि मुखको भी कपड़ोंसे ढक दिया जावे; तो न केवल मुखका ही अनिष्ट हो, बल्कि—सारा शरीर गढ़में जा पड़े। वैसे ही प्राज्ञाणके ज्ञानहीन वा लोभी होने पर समाज अधोगतिको प्राप्त हो जावे।

और देखिये कि—आपके शरीरमें भोजन कौन प्राप्त कराता है? इसका उत्तर भी यही है कि—मुख। भोजनकी परीक्षा करना और उसका शरीरोपयोगी बनाना किसका काम है? मुखका। वासी, जले हुए, विरुत, अहितकर भोजनकी कौन परीक्षा करता है? यही मुख।

अहित वस्तुको धूँक देना, और हितकर भोजनको चबाकर उसे शरीरोप-योगी बनाना जिसका काम है ? मुखका । यदि मुख बिना ही चबाये यड़े-यड़े टुकड़े भीतर निगलना जावे, तो/उसका फल क्या होगा ? पहला ही प्रास हृदयमें पहुँचकर रुक जाए ? पहले खाया हुआ भी सभी बाहर निकल पड़े ।

मुखका भी कर्तव्य है कि—वह अपनेमें भोजन स्थापित न करे, भीतर ही भेज दे । जो कुछ दाँतोंमें भी बच जाए, उसे भी कुल्ले आदि या तिनकेसे बाहर कर दे; नहीं तो दाँतोंमें पीड़ा होगी । ब्राह्मणका यह काम है कि—बाहरसे आती हुई और अपने समाजमें प्राप्त होती हुई वस्तुओंमें अच्छी तरह ध्यान दे । अहितकर पदार्थोंको अन्दर न घुसने दे । हितकर वस्तुओंको अपने समाजमें हज़म करने योग्य बनाकर अन्दर प्रविष्ट करावे; और बाहरी ज्ञानमें अपनी मुहर लगावे, पर यह ज्ञान-विभागका कार्य राजशक्तिकी सहायताके बिना नहीं हो सकता । पिण्ड (शरीर) में हाथोंकी सहायता, मक्षाण्डमें राज्यशक्तिकी सहायता आवश्यक है, परन्तु राज्यशक्ति भी वही हो, जो अपनी सुत्ताकी तरह अपने समाजका ही अङ्ग हो; बाहरकी या अपने धर्मसे भिन्न, या भिन्न स्थानकी न हो । उस अपनी तथा अपने धर्मवाली सरकारके बिना, बाहरसे आई हुई, अनिष्टकारिणी विशृङ्खलताका अवरोध नहीं हो सकता । अस्तु ।

मुखका कार्य तो यह है कि—हितकर वस्तुको शरीरोपयुक्त करके भीतर भेजे । यदि मुखमें लोभ पैदा हो जावे; और वह अपनी खाई वस्तुको अपनेमें ही रख छोड़े, गलेके नीचे न उतारे; उसका फल क्या होगा ? केवल मुग्धका नहीं, बल्कि सारे शरीरका अनिष्ट होगा । यदि मुखसे हित-अहित आदिके परीक्षणकी शक्ति नष्ट हो जावे, तब भी

यही परिणाम होगा। व्याकरणसे यदि ज्ञान चला जाये, उसमें लोभ छपना घर कर ले; तब भी समाजकी यही अवस्था होगी। मुख ही पढ़ाता है और मुख ही पढ़ाई है, मुखका भाग मस्तिष्क ही समझता है और याद करता—रखता है। यदि मुख न रहे, तो पढ़न-पाठन लुप्त हो जाये। यदि मुख न हो तो शरीरकी पहिचान भी कठिन हो जाये। इसलिए शरीरके नाशार्थ पहले मुखको ही काटा जाता है। आज लोग इस मुखको काटना चाहते हैं, परन्तु इससे समाजका शरीर स्वयम् उच्छिन्न हो जायगा, मर जायगा। उस शरीरकी पहिचान भी कठिन हो जायगी—यह वे नहीं जानते। यही कारण है कि उक्त वेदमन्त्रमें मुखको वाक्षण कहा गया है।

(३) परन्तु यह भी सम्भव है कि मुख और आँखें होने पर भी कारणवश आँख कानी हो जाय, दृष्टिमें 'मोक्षियाविन्द' का आवरण हो जाये, या अन्धापन हो जाये, यद्यपि उसमें आँखका मल भी रहे। काल होने पर भी एकमे, वा दोनोंमें बहिरापन हो जाये, कालमें मल भी रह सकता है। जिह्वा होने पर भी रोगादिके कारण उससे रमा-त्वादके प्रहणकी शक्ति हट जाये या गूँगापन हो जाये वा मौनिता हो जाये। उसकी नाक होती हुई बुकाम आदिसे ठीक-ठीक सूँघ न सके, उसमें नाकका मल भी हो सकता है, उसके मस्तिष्कमें श्रुति होनेसे ज्ञानकी शिखिलता सम्भव हो सकती है। मुखसे अपशब्द भी निकल सकता है, अज्ञानमूलक बातें भी निकल सकती हैं। बेसा होने पर मुख कदाचित् निन्दित तो माना जाये; तथापि वह रहेगा सुस्त ही, सारे शरीरके ऊपर ही रहेगा। वह न कमी चाहू, न कमर, न पांव हो सकता है। बेसा अर्थ खेने पर भी वर्षा-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध होगी। शास्त्र-ज्ञानरहित भी, बकनूता शक्तिसे रहित भी व्याकरण, निन्दित व्याकरण ही रहेगा, शूद्र आदि कभी नहीं हो सकता !

(४) अब बाहुओंको देखिये—यह चत्रिय कहे गये हैं, यह वीरभाग है। यदि शिरमें लगुडप्रहार हो रहा हो, तब उसे रोकनेमें कौन आगे होना है? उसका उत्तर है—बाहु, हाथ। यदि चरणोंमें कांटा चुभा हो, तब कांटेको कौन निकालता है? हाथ। यदि कमर से धोती गिर रही हो, तब उसे कौन ठीक करता है? वही हाथ। यदि शयु पर लाठी चलानी हो, तब कौन उद्यत होना है? बाहु। कोई मुखसे, बा जांघसे, बा पांयसे लाठी नहीं मारता। इस प्रकार सारे शरीरकी रक्षाका भार बाहुओंके ऊपर है। इसी तरह ब्राह्मण, वैश्य, एवं शूद्रोंकी रक्षाका भार भी चत्रिय पर है? व्यायाम, मुद्गर आदियोंका प्रधान आधार भी बाहु है। यदि मुजःपूँ व्यायामको छोड़कर दुर्बल हो जायँ, तो सिर पर दूसरोंका जूठा भी पड़ेगा। चत्रियकी दुर्बलताका फल ब्राह्मणसे लेकर शूद्र तकको भोगना पड़ता है !

(५) सिर वा मुख ब्राह्मण है, बाहु वा छाती चत्रिय है—यह तो हो गया। हमसे निचला भाग पेट, कमर, बा जांघें वैश्य हैं। ‘ऊरु तदस्य यद् वैश्यः’ (यजुः वा० सं० ३१।११) ‘मध्यं तदस्य यद् वैश्यः’ (अथर्व० १६।६।६) यह संप्रह भाग है। शरीरोपयोगी सब वस्तुएँ पेटमें जमा होती हैं, समाजोपयोगी सब वस्तुएँ वैश्योंमें संगृहीत होती हैं। आँखने उत्तम भोजन देखा, हाथने उसे उठाया, मुखने उसे चबाया गलेसे नीचे उतारा। अब वह कहाँ जमा हुआ? इसका उत्तर है पेटमें, मध्यमें। सब शरीरके पालन-पोषणकी सामग्रीका केन्द्र क्या है? वही उदर। यदि उदर खाली हो, तो आँखें व्याकुल हो जायँ, शिरमें चकर आने लगें, बाहुमें शक्ति न रहे! जांघ और पांय फिमल जायँ। वैश्योंके दारिद्र्यमें समस्त समाज नीचे गिरता है। पेटका काम है बाहरसे आई सामग्रीको संस्कृत तथा परिवर्तित करके सम्पूर्णा शरीरके पालन-पोषण योग्य बनावे। वैश्यका काम है बाहरसे आई हुई

वस्तुओंको परिवर्तित-परिवर्धित करके उसके सारभागसे सारे समाजका पोषण करके अधिक अवशिष्ट वस्तुका उत्सर्ग (दान) करदे।

यदि उदरका भाग अपने पास प्राप्त धनको केवल अपनेमें ही रक्के, इधर उधर न पहुंचावे तो बद्धकोष्ठता होनेसे उसके साथ ही साथ सम्पूर्ण शरीरका मरण हो जावे। इसके अतिरिक्त यदि भोजनादिकी राशि उदरमें न जमा की जाय, किन्तु अन्य अङ्गोंमें, तब भी उन्हींकी हानि हो। इस प्रकार वैश्यको मध्य (कमर) मानकर भी घटा लेना चाहिये। कमरकी निर्बलतामें पुरुष उठने योग्य भी नहीं रहता, न कुछ कर ही सकता है। परु अन्य भी घात है। यदि सारा शरीर नंगा हो जावे, तो उसकी हानि नहीं है, परन्तु कमरमें कुछ आवरण आवश्यक है। जो आवरण पुरुषके मुखमें दूषण है, वही उसकी कमरमें भूषण है। जो लोभ प्राप्तिका दूषण है, वही वैश्यवृत्तिका आवरणक अङ्ग है। कमरमें आवरणके हटने पर निर्लज्जताका भ्रकायदतायदव हो जाता है।

(५) अब उससे नीचे उतरिये। पाँव शुद्ध है, यह संवाभाग है। सम्पूर्ण शरीरका भार पाँवों पर आश्रित है। इनके बिना ऊपरके अङ्ग व्यर्थ हैं। पाँव यदि दृढ नहीं हैं, तो शरीरका पतन अनिवार्य है। जब शरीरकी कहीं जाना हो, तो पाँव अपने ऊपर मारे शरीरको उठाकर फट चले पड़ते हैं। पाँव यह कभी नहीं कहते कि - छः महीने हम चलेंगे और छः महीने सारे शरीरके भारको उठाकर सिर चले। पाँवोंमें कभी कांटा चुभ जाए; यदि हाथ उसे न निकाल सके, तो उसे मुख भी निकालता है; पर अपने दान्तोंसे। फिर दान्तोंमें भी प्रायः पाँवकी भूल के अंशकी वह थूकसे बाहर कर देता है और जलसे अपनी शुद्धि करता है। इस प्रकार हाथ भी यदि कभी पाँवको छूता है; तो जलसे अपनी शुद्धि करता है। पाँवोंकी कभी बुमार्गमें गमनकी आशा हो सकती है; पर मुखका मस्तिष्क भाग हानि सोचकर उसे उधरमें हटवा देता है।

पाँवमें स्वयं शान नहीं हुआ करता; इस कारण मस्तिष्क भाग उसे जैसे चलाना चाहे; वह वैसे चले, अपनी इच्छानुसार नहीं, नहीं तो स्वयं भी गिरेगा; सारे शरीरको भी गिराएगा। पाँवमें सर्दी-भरी द्वारा शरीरमें हानि प्राप्तिको आशङ्का भी रहती है; तब हाथ उसे जूता तथा चुराव आदि द्वारा ठक देता है। शरीर पर बाहरसे आया हुआ कोई कीड़ा आदि दिखाई पड़े; और उससे खुजली हो जाए, तो हाथ अपने नखोंसे उस खुजली को दूर कर देता है, परन्तु यदि नख ही बहुत बड़ जायें, तो उनको भी चाकूसे सीमित रूपसे काटना पड़ता है।

(७) यह है वेदमोक्त वर्णधर्मका संक्षिप्त चित्र। वर्णाश्रमधर्म ही इस सिन्धुदेश (भारतवर्ष) की विशेषता है। वैदिककाल (सृष्टि-प्रारम्भ) में ही ब्राह्मण आदि वर्ण थे—और उनके धर्म-कर्म भी निर्धारित थे—यह उक्त वेदमन्त्रसे स्पष्ट हो रहा है। यह भी सिद्ध हो रहा है कि—मुख, बाहु, ऊरु आदि अङ्ग जन्मसे उत्पन्न और परस्पर-सापेक्ष रहा करते हैं, कृत्रिम अङ्ग परस्पर-निरपेक्ष रहा करते हैं; उस अङ्गका कार्य भी नहीं कर सकते। एक-दूसरेके बिना यह सब व्यर्थ है। इस प्रकार ब्राह्मणादि भी परस्पर सापेक्ष तथा जन्मजात हुआ करते हैं। समाजमें सभी अङ्गोंकी आवश्यकता हुआ करती है। अपने-अपने स्थानोंमें सभी अपेक्षित हुआ करते हैं, एकके भी बिना कार्य-निर्वाह नहीं हो सकता। एक के स्थानमें दूसरा नहीं रखा जा सकता। शूद्रको क्षत्रिय बनाना, वैश्यका ब्राह्मण बनाना, ब्राह्मणादि का शूद्र आदि बनाना उक्त वेदमन्त्रको इष्ट नहीं, उसमें मुख्य आदिका माहर्ष्य ही प्रमाण है। सभी अङ्गोंके कर्म, उनके वस्त्र-आभूषणादि अलग अलग हैं। उनकी अपने-अपने स्थानमें स्थिति होने पर ही प्रतिष्ठा एवं मर्यादा है; उनसे ऊपर उधर करने पर किसी अङ्गकी प्रतिष्ठा बढ़ नहीं सकती, हाँ, वर्णमें उच्छृङ्खलता और लोकोपहास अवश्य हो सकता है। जूता पहननेसे पाँवोंमें अप्रतिष्ठा जानकर यदि पाँवोंमें पगड़ी बांध दी जाय, कमरकी प्रतिष्ठाके लिए—

वैर्योंको ब्राह्मण बनानेके लिए उसको मुख की तरह नंगा कर दिया जाय, पाँवके जुते शिरको पयड़ीके स्थान रख दिये जावे—इस श्राकृतिसे यदि कोई बाहर जाये, तो कैसी दशा हो ?

इसके अतिरिक्त अङ्गोंका परिवर्तन बिना पाटनेके नहीं हो सकता, अतः उनके परिवर्तनका यत्न उनके कष्टनेके लिए ही है। ब्राह्मणोंका आयाचार उद्धुष्ट करके वर्णाश्रम धर्म पर आरंभ करने वालोंको इस मन्त्रसे शिक्षा लेनी चाहिये। अङ्ग पूर्वजन्मकर्मवशा उत्पत्तिमूलक ही हैं, ऐहिक कर्ममूलक नहीं। ऐहिक कर्मोंसे उनकी पुष्टि-विपुष्टि ही होती है, उत्पत्ति नहीं। इन अङ्गोंके कर्म निर्यामक हैं, पर वे अपने कर्मोंसे पतित भी हो सकते हैं। तब वे कर्मपतित अङ्ग दिन्दारपद तो हो सकते हैं, पर वे उस अङ्गसे भिन्न अङ्ग नहीं हो जाते। मुख—पाहु, ऊरु, पैर, पाहु—मुख, ऊरु पैर, ऊरु—मुख, पाहु, पैर, और पैर—मुख, पाहु, ऊरु नहीं हो जाते।

ब्राह्मण ज्ञानभूषण होनेसे मुख है। ज्ञानका पद उच्च हुआ करता है; इसलिये ईश्वरने मुखको सारे शरीरके ऊपर विराजमान बनाया है, और पैरोंको सबसे नीचे। सेवकता सबसे नीचे स्थान है। यदि यह अश्लाघ्य है, तो पाश्र्वोंको ऊँचा और सिरको नीचा करके व्यवहार चलाइये। जलमें सारा शरीर डूब जाय; पर सिर ऊपर रहे; तब तो कुछ भी हानि नहीं, परन्तु शिरके डूबने पर अवशिष्ट सारा शरीर कपल दहरा हुआ भी व्यर्थ है। सोमेक समय भी सिरको कुछ ऊपर ही रखना पड़ता है, उसे तक्रिया देना पड़ता है, तक्रिया न मिले सके तो भुजा ही उसका तक्रिया बनती है। अतः भेष भी इसीमें है। यह ईश्वरीय नियम है। एक ही शरीरके अङ्ग होने पर भी सब अङ्गोंका कार्य और उपयोगिता भिन्न-भिन्न है। अपने-अपने कार्यमें लगे हुए की कोई

अप्रतिष्ठा नहीं। एक दूसरेके कार्य करने की अनधिकार चेष्टासे सबका सर्वनाश सम्भावित है। सांपकी पूँछने भी सिरका स्थान ग्रहण किया था—कितनी ठोकरें खाई थीं। जैसे पैर मुख नहीं हो सकता, वैसे शूद्र ब्राह्मण बनाना भी उक्त वेदमन्त्रसे विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त मुख सुन्दर भी हो सकता है, बीभत्स भी। उसका मस्तिष्क प्रयत्न भी हो सकता है, निर्वल भी। बाहु पीन या दृढ भी हो सकती हैं, निर्वल और दृश भी हो सकती हैं। कटिप्रदेश निर्वल या जायें बहुत स्थूल होनेसे गमनमें अयोग्य भी सिद्ध हो सकती हैं। पांर सुन्दर भी हो सकता है, धूल-धूसरित एवं मलिन भी और न चलने योग्य भी। तथापि इनकी संज्ञामें परिवर्तन नहीं हुआ करता।

ब्राह्मणत्वके लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, तपस्या, शास्त्र-ज्ञान और योनि (जन्म ब्राह्मण पितासे जन्म ब्राह्मणी मातासे उत्पत्ति) यह हम गान निघन्धमें महाभाष्यके प्रमाणसे बता चुके हैं। जो ब्राह्मण तपस्या एवं शास्त्रसे हीन है, वह जाति-ब्राह्मण है। वह ब्राह्मणकी भिन्दा है। तपस्या और शास्त्रसे शुद्ध ब्राह्मण प्रशंसित होता है। इस प्रकार तपस्या एवं श्रुतके भाव-अभावसे ब्राह्मणकी स्तुति निन्दा है। तब वास्तविक उसका स्वरूपभूत कारण अवशिष्ट हुआ योनि अर्थात् ब्राह्मण माता पितासे जन्म। इस प्रकार जन्मसे वर्ग व्यवस्था और गुणकर्मसे उसकी प्रतिष्ठा सिद्ध हुई।

(८) उक्त मन्त्रका यह भाव नहीं कि—वैदिककालमें उपर.चार वर्णोंसे अतिरिक्त कोई जाति वा उपजाति नहीं थी; अथवा उस समय विरान्-पुरषके मुग्ध, बाहु, ऊरु चरणसे अतिरिक्त अन्य अङ्ग थे ही नहीं। नहीं, तब भी अन्य अनेक जातियाँ थीं, जिनका संकेत यजुर्वेद या० सं० के तीसवें अध्यायमें है। केवल पूर्वके चार वर्णोंसे प्राणीका

जीवन असम्भव है। मेल-मूत्र त्यागके लिये शरीरमें अस्पृश्य अन्न, गुद, उपस्थ आदिकी भी अनिवार्य रूपसे आवश्यकता हुआ करती है। यह उन चार अङ्गोंसे सङ्कीर्ण होनेसे अस्पृश्य है। जैसे शरीरमें अस्पृश्य अङ्गोंकी आवश्यकता भी हुआ करती है, वैसे ही समाजमें भी। जैसे कोई भी प्राणी इन अङ्गोंके बिना जीवित नहीं रह सकता, वैसे अस्पृश्य जातियोंके बिना समाज भी रिपर नहीं रह सकता। यह जातियाँ भी समाजके आवश्यक और अनिवार्य और सुख आदियोंके ही सङ्कर अन्न हैं, साथ ही कोमल तथा असहिष्णु भी हैं। इनकी समुचित रक्षाका प्रबन्ध भी समाजका धर्म है। इनका अपनेसे जिस प्रकार विभेद न हो जाय, वैसे प्रयत्न करना चाहिये। तथापि इनके स्पर्शमें तो अपनी शुद्धि कर लेनी चाहिये।

इस प्रकार वेदमें एक ही मन्त्रमें सब कुछ कह दिया है। जैसे शरीरमें सब अङ्गोंकी सीमा, मर्यादा, अधिकार और कार्य विभक्त हैं, वैसे समाजमें भी होना चाहिये। एक के स्थानमें अन्य के रहनेसे, वा एक के दूसरा बना देनेसे, एक के योग्य कार्य को दूसरे का सौंप देनेसे यही अल्पवस्था और उच्छृङ्खलता अनिवार्य है। वैर्योंको आक्रान्त बनाने की चेष्टा धैरे हैं, जैसे पेट वा कमरको सिर बनाने का उद्योग करना। शरीरके दृष्टान्तसे ही यह स्पष्ट है। इस प्रकार उक्त मन्त्रका अर्थ करने पर भी जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है, कर्म से नहीं; क्योंकि-सुप्त, बाहु, ऊरु, पाद जन्मसे ही उत्पन्न होते हैं। जन्ममूलक ही उनका यह-यह नाम हुआ करता है, कर्मसे यह नामकरण नहीं। जन्मसे शुरू करके भस्मता तक उनका यही नाम हुआ करता है, चाहे मुख मुखवाला कार्य करे या न करे।

जैसे वास्तवमें जन्मके समय मुख निरक्षर शब्द करता है, फिर भी उसे मुख ही कहा जाता है, तब आँखोंमें अक्षर आदि पहिचाननेकी शक्ति नहीं होती, जो उसका कर्म है, फिर भी उसका नाम नेत्र हुआ।

करता है। इस प्रकार घृदावस्थामें भी और यौवनमें रोग विशेष होने पर भी जानना चाहिये। इसी तरह वा-न्यावस्थामें, बाहुमें रक्षणकी शक्ति नहीं होती, बुगप्पेमें भी नहीं होती। जवानीमें भी रोगादिवश वा दुवलेपनसे वैसी शक्ति नहीं होती, फिर भी उसका नाम बाहु वही रहता है। इस प्रकार ऊरु वा कमर और पात्र भी जन्म समयमें अंगनी शक्तिको धारण नहीं करते, इस प्रकार घुडापेमें भी। जवानीमें भी रोगादिवश वा दुर्बलतावश उनमें अपना-अपना कर्म नहीं होता, तथापि उनका नाम यथापूर्व ऊरु और पाद ही हुआ करता है। इस प्रकार निरक्षर भी ब्राह्मण, बालक और घृदके मुखकी तरह ब्राह्मण ही रहता है। जैसे बालकको काममें नहीं लाया जाता और घृदको कामसे रिटायर कर दिया जाता है, वैसे ही निरक्षर भी ब्राह्मणको चाहे श्राद्ध, दान-ग्रहणादि कार्य में न लाया जाय, तथापि उसे मानना ब्राह्मणादि ही पड़ेगा। दानग्रहणादि कार्य में विद्वान् जन्म ब्राह्मणको ही लाया जावेगा, विद्वान् भी क्षत्रियादिको नहीं। जैसे कार्यसे रिटायर किये गये हुए भी वृक्षकी रक्षा की जाती है, कार्यसे अप्रगणित वा कार्यमें न लाये गये भी गालफका संरक्षण ही किया जाता है, ऐसे ही निरक्षर भी ब्राह्मणों श्राद्धादिमें न बुलाने पर भी उसका निर्वाह-योग्य वृत्तिदानसे संरक्षण करना ही चाहिये। क्योंकि वह उसके पूर्व जन्मके कर्मोंका सम्मान है जिससे वह इस जन्ममें ब्राह्मण वशमें उत्पन्न हुआ। जैसे नेत्र आदिते युक्त मुद्रके शिथिल होने पर भी उसके स्थानमें सखल भी बाहु वा ऊरु वा पादको आश्रित नहीं किया जाता, किन्तु नेत्रादिकी शुद्धि ही की जाती है, मुद्र आदिकी चिकित्सा ही की जाती है, अथवा उसका प्रतिनिधि अन्य नेत्र आदि उपयुक्त किया जाता है वैसे ही उस साधारण ब्राह्मणादिकी भी गुरु आदि द्वारा योग्यता करानी चाहिये, अथवा उसके साक्षर पुत्रको नियुक्त करना चाहिये, योग्यतावाले भी क्षत्रिय-वैश्य आदिको नहीं—यह अवश्य स्मर्तव्य है।

यह मुख, पाद, ऊरु, पाद शैश्वसे आगे छोटी आकृतिसे यदी आकृतिको तथा पर्याप्त शक्तिको भी प्रभसे धारण करते हैं, दुबलेपनका वा ह्रस्वाकार वा अशक्तिको भी धारण करते हैं, तथापि नाम उतथा यदी रहता है; इस प्रकार आहार्य निरचर भी अन्त तः आहार्य ही रहता है। एप्रिय रचयमें असंलग्न भी जन्मसे मरण तक एप्रिय ही रहता है। वैश्य और शूद्र कृषि एवं सेवा आदिमें न लगे हुए भी वही रहते हैं, इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध होती है। परन्तु जैसे सब अर्होंके अपने-अपने कर्ममें लगने पर शरीरकी सुव्यवस्था रहती है; वैसे ही आहारादिके भी अपने-अपने कर्ममें लगने पर ही संसारमें सुव्यवस्था होती है। एक-दूसरेकी वृत्ति वा कर्मकी छीना-भपटो करने पर भी अव्यवस्था होती है, स्वर्ण-कर्म-व्यागमें भी। जन्मसे वर्ण-व्यवस्था मानने वाला भी सनातनधर्म उन उन वर्णोंकी स्वस्व-कर्मपरिचायमें कभी मोक्षोपान नहीं देता, प्रायुत वैश्योंकी निन्दा करता है।

— (६) इस प्रकार स्पष्ट है कि—शरीरके यह चारों ज्ञान-विभाग, धीर-विभाग, संप्रद-विभाग, सेवा-विभाग, अपने-अपने नियत कर्मोंको करते हैं, एक-दूसरेसे ईर्ष्या नहीं करते। यह इस प्रकार से मिले हुए हैं कि—दर्शक इनकी वृथक् नहीं समझता। इनमें प्रेमकी भी पराकाष्ठा है। चलनेके समय पाँच भंगा हो जावे, उसमें काँटा चुभ जावे; तब मुख चिह्नीता है कि—हाथ ! मैं मर गया। शशु सिर पर लटकी मारने लगे, तब दोनों हाथ सिरको बचानेके लिए झट तैयार हो जाते हैं, स्वर्ण प्रहार सह लेते हैं; परन्तु सिरको बचाते हैं। जैसे हाथ सिर की रक्षा करते हैं, वैसे ही पेट वा पाँव पर चढ़ते हुए दुष्ट जीवोंको भी दूर करते हैं। पाँवमें यदि काँटा चुभ जावे तो हाथ झट पाँवके पास पहुँचते हैं। जब तक यह काँटा नापून द्वारा वा सुई द्वारा न निकले;

तब तक धीरे-धीरे श्वेतवस्त्रों को समाप्त नहीं करता। मुँहा, उदर, पाँवमें आती हुई विपत्तियोंका दूर करना, शुद्धिमत्तासे उनके दूर करनेका उपाय सोचना—इसको सिरका मस्तिष्कभाग ही सदा करता है। पेट यथा-योग्य स्थानमें रस पहुँचाता है। एक पुरुष बाहिर जाना चाहता है, गमनका अन्य साधन नहीं है, तो पाँव शिर, बाहु, कमर आदिको दठाकर मत्त चल पड़ते हैं। इनके खाने-पीने आदिसे उपन्न हुए मल-मूत्र गाँगको इन्हीं मुख, ऊरु आदि अङ्गोंकी सङ्करतासे घने अछूत अङ्ग बाहर ढाल आते हैं—जिससे उक्त शुद्ध अङ्ग सुरक्षित रहें। अन्य शुद्ध अङ्ग भी इन सङ्कर अङ्गोंको स्पर्श न करते हुए भी, अथवा आवश्यकतापश स्पर्श करते हुए भी जलसे अपनी शुद्धि करके इनकी भी रक्षा करते हैं, इनको कभी नंगे नहीं रहने देते। पर रखते इनकी अपने शरीरके पृष्ठमें हैं, जैसे अन्तर्यामियोंको नगरसे बाहर ही उनकी आरोग्यकार्य रखा जाता है। अथवा आगे रखते हुए भी उन्हें आवृत रखते हैं। उनके छूने पर अपनी शुद्धि करते हैं।

इन सब अङ्गोंमें यह विवाद कभी नहीं होता कि—अब तो हम ही मुख धर्मे, शीर शार्ङ्गे। मुँहा भी कभी आप्रह नहीं करते कि—हम अपना कार्य छोड़ देंगे और शिर पर चढ़कर बैठ जायेंगे। पाँव भी आप्रह नहीं करते कि—हम सब अङ्गोंके भार उठाने का कार्य छोड़ देंगे, अब मुखका कार्य देखना, सुनना तथा मधुरास गाना हम करेंगे। किन्तु वे अपनी रक्षाकी नियुक्ति उनकी देख-रेखमें छोड़ देते हैं और समय पर कुछ आराम मांगते हैं। असृश्य (अछूत) अङ्ग मल निकालकर शुद्धि प्राप्त किये हुए भी यह आप्रह नहीं करते कि—अब तो हम शुद्ध हो गये, अब हमें हाथ भी धुने, मुँह भी अवश्य धुने। न वे चेला आप्रह करते हैं, न शुद्ध अङ्ग विना अत्यन्त आवश्यकताके उनको छूते ही हैं।

यही वर्ण-व्यवस्थाका विज्ञान है। जैसे शरीरमें मुख आदि चार भाग असङ्कीर्ण हैं; पाँचवां सङ्कीर्ण अपानआदि अस्पृश्य भाग भी है, वैसे ही हिन्दु जातिके समाजमें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र यह चार असङ्कीर्ण-वर्णभाग और पाँचवां सङ्कीर्ण वा अपर्ण अन्त्यज समाज है। जैसे यह शरीरके चार भाग तथा पञ्चम अपान आदि अपने-अपने कर्मोंको करते हुए, शरीरको उद्यत करते हैं, वैसे ही ब्राह्मण आदि चार वर्ण तथा पञ्चम अपर्ण भी अपने-अपने नियत कर्मोंको करते हुए हिन्दु जातिको उद्यत कर सकते हैं। जैसे शरीरके इन चारों अङ्गोंमें आपसमें प्रेमकी पराकाष्ठा है वैसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें भी आपसमें प्रेम आवश्यक है। जैसे शरीरके चार भाग शृणक्-शृणक् होते हुए भी शरीरको संघटनासे एक बने हुए हैं, वैसे ब्राह्मणादि चारों वर्ण शृणक्-शृणक् होते हुए भी हिन्दुत्वके सम्बन्धसे एकताको ही प्राप्त हुए हुए हैं। जो लोग प्राचेष्ट करते हैं कि—यूद्ध ब्राह्मण हो सकता है, वैश्य क्षत्रिय हो सकता है, विज्ञान उनके मतकी पुष्टि नहीं करता। तब यह ब्राह्म भी कैसे हो सकता है ?

फलतः 'ब्राह्मणोऽस्य भुवमासीद्' मन्त्रके इन दोनों प्रकारके ही अर्थोंसे सनातनधर्मके पङ्क्ति ही पुष्टि है। सनातनधर्मों तथा आर्य-समाजी दोनोंका ही इस मन्त्र द्वारा अपने पङ्क्ति सिद्धिमें विशेष अभि-निवेश रहता है, इसलिए हमने भी इस मन्त्रका विशेष विशदीकरण किया है। अब अन्तमें हम इस विषयमें आर्यसमाजी विद्वान् श्रीबुद्धदेवजी विद्यालङ्कारके अर्थकी आलोचना करते हुए इस निबन्धको उपसंहृत करते हैं।

(१०) 'ब्राह्मणोऽस्य भुवमासीद्' में पूर्व अर्थ बताते हुए हमने गत निबन्धमें ब्राह्मणका मुखसे जन्म, क्षत्रियका बाहुसे जन्म, वैश्यका जन्म, और पाँचसे शूद्रका जन्म बहुत प्रमाणोंसे सिद्ध किया है—इस

विषय पर श्रीबुद्धदेवजीने ‘सायंदेशिक’ (सितम्बर सन् १९४६ पृष्ठ २१३-२१६) में लिखा है—

(क) प्रथम ब्राह्मण तो मुख अथवा भुजासे उत्पन्न होनेसे ध्रुव हुए, परन्तु उसके पश्चात् उनके सन्तान तो मुख अथवा भुजासे उत्पन्न हुए नहीं; तब ये ब्राह्मण, अग्नि कैसे कहलाये ?

(ख) बात तो सच यह है कि—ब्राह्मणका जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव आज भी मुखसे होता है। हजार मनुष्य सभामें चुपचाप बैठे हों, कौन ब्राह्मण है, कौन मूर्ख—यह पता नहीं लगता, परन्तु जब रास्त्रचर्चा चलती है, तब ब्राह्मणोंके घबनोंको सुनकर सब उसका लोहा मान लेते हैं। यही ब्राह्मणका ‘मुखसे प्रादुर्भाव’ है।

(ग) इसी प्रकार भीरू तथा अग्नि इकट्ठे बैठे हों, तो कुछ पता नहीं लगता कि—कौन भीरू है, कौन अग्नि ? परन्तु संकट पड़ने पर भुजयत्नसे अग्निका प्रादुर्भाव हो जाता है।

इस पर उत्तर हम निम्न पंक्तियोंमें देते हैं।—

(क) मालूम होता है कि—इस प्रश्नको श्रीबुद्धदेवजी एक बड़ी भारी बात मान बैठे हैं कि—‘सृष्टिकी आदिमें तो परमात्माके मुखसे उत्पन्न ब्राह्मण तथा भुजासे उत्पन्न अग्नि कहलाये, परन्तु उनके सन्तान तो मुख-भुजा आदिसे उत्पन्न न होनेसे ब्राह्मण, अग्नि कैसे कहलाये ?’ स्था० दयानन्दजीने भी अपने स० प्र० में इस प्रश्नको महत्त्व दिया है। हमें इसका उत्तर देते हैं। जब आप दोनों गुरु-चेलोंने ‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्’ में पञ्चमी अर्थ मान लिया और परमात्माके मुख आदिसे ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति भी मान ली, सृष्टिकरण भी मान लिया; तब आगे कोई कठिन बात नहीं रही। उक्त मन्त्रमें ‘ब्राह्मण’ शब्द तथा ‘राजन्य’ शब्द ‘ब्रह्म हि ब्राह्मणः, अयं राजन्यः’ (शतपथ० ११।१।११)

यही वर्ण-व्यवस्थाका विज्ञान है। जैसे शरीरमें मुख आदि चार भाग असदीर्घ हैं; पाँचवां सदीर्घ अपानआदि अस्थिर भाग भी है, वैसे ही हिन्दु जातिके समाजमें भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र यह चार असदीर्घ-वर्णभाग और पाँचवां सदीर्घ वा अथवा अन्त्यज समाज है। जैसे यह शरीरके चार भाग तथा पञ्चम अपान आदि अपने-अपने कर्मोंको करते हुए शरीरको उद्यत करते हैं, वैसे ही ब्राह्मण आदि चार वर्ण तथा पञ्चम अथवा भी अपने-अपने नियत कर्मोंको करते हुए हिन्दु जातिको उद्यत कर सकते हैं। जैसे शरीरके इन चारों अंगोंमें आपसमें प्रेमकी पराकाष्ठा है; वैसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंमें भी आपसमें प्रेम आवश्यक है। जैसे शरीरके चार भाग पृथक्-पृथक् होते हुए भी शरीरकी संघटनासे एक बने हुए हैं, वैसे ब्राह्मणादि चारों वर्ण पृथक्-पृथक् होते हुए भी हिन्दुत्वके सम्बन्धसे एकताको ही प्राप्त हुए-हुए हैं। ओ लोग धारण करते हैं कि—शूद्र ब्राह्मण हो सकता है, वैश्य क्षत्रिय हो सकता है, विज्ञान इनके मत्की पुष्टि नहीं करता। तब यह ब्राह्म भी कैसे हो सकता है ?

फलतः 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' मन्त्रके इन दोनों प्रकारके ही अर्थोंसे सनातनधर्मके पक्षकी ही पुष्टि है। सनातनधर्मों तथा आर्य-समाजी दोनोंका ही इस मन्त्र द्वारा अपने पक्षकी सिद्धिमें विशेष अभि-निवेश रहता है, इसलिए हमने भी इस मन्त्रका विशेष विशोदीकरण किया है। अब अन्तमें हम इस विषयमें आर्यसमाजी विद्वान् श्रीबुद्धदेवजी विशालङ्कारके अर्थकी आलोचना करते हुए इस निबन्धको उपसंहृत करते हैं।

(१०) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' में पूर्व अर्थ बताते हुए हमने गत निबन्धमें ब्राह्मणका मुखसे जन्म, क्षत्रियका बाहुसे जन्म, करसे वैश्यका जन्म, और पाँचसे शूद्रका जन्म बहुत प्रमाणोंसे सिद्ध किया है—इस

इस ध्वनिके अनुसार स्वार्थ-वाचक है, तब 'परमात्माके मुखमें क्या ब्राह्मण-ब्राह्मणीका जोड़ा बैठा था' यह आपका उपहास उपपन्न नहीं हो सकता ।

अब शेष रहा यह प्रश्न कि—उन ब्राह्मणों-क्षत्रियोंके सन्तान पर-मात्माके मुख-भुजासे उत्पत्तिके दिना ब्राह्मण-क्षत्रिय कैसे हुए? इस विषयमें श्रीमुद्देवजी वेदाङ्ग व्याकरणकी देखें । वहाँ 'ब्राह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः' यह अपत्य प्रत्ययार्थक अण् होगा । इसमें प्रमाण—'ब्राह्मोऽजाती' (पा० ६।४।१७१) अथवा—'ब्राह्मणस्यापत्यं ब्राह्मणः' यह अपत्यार्थक (पा० ४।१।६२) अण् प्रत्यय भी हो सकता है । इसी प्रकार 'राज्ञो-अपत्यं राजन्यः' 'राजशशुराद् यत्' (पा० ४।१।१३७) 'राज्ञोऽपत्यग्रहणं जातावेव कर्तव्यम्' (पा०) 'क्षत्रस्य अपत्यं क्षत्रियः' 'क्षत्राद् घः' (पा० ४।१।१३८) इससे जपत्य अर्थमें 'यत्' प्रत्यय वा 'घ' प्रत्यय करने पर 'राजन्य' वा 'क्षत्रिय' कहलाता है । अथवा 'राजन्यस्यापत्यं राजन्यः' 'तस्यापायम्' (पा० ४।१।६२) से अण् प्रत्यय होने पर भी 'राजन्य' बनता है, इससे ब्राह्मण और क्षत्रियोंके सन्तान भी ब्राह्मण, क्षत्रिय सिद्ध हो गये ।

यदि विद्यालङ्कारजी कहें कि—ब्राह्मण, राजन्यके सन्तान ब्राह्मण, क्षत्रिय शब्दवाच्य तो सिद्ध होगये—यह ठीक है, परन्तु ब्राह्मण, राजन्य जाति वाले तो न हुए, इस पर हम कहेंगे कि—यह भी सुन लीजिये । वेदाङ्ग व्याकरणके 'जातेरस्त्रीविषयात्' (पा० ४।१।६२) सूत्रके 'सकृदा-प्यातनिर्वाहः' यह ब्राह्मणदि जातिके लक्षण बताने वाला धार्मिक आया है । उसका अर्थ यह है कि—'सकृद् एकस्यां व्यवहृत् कथनात् (मुख-भुजायुत्पत्त्या ब्राह्मणोऽप्यम्, क्षत्रियोऽप्यम्, इत्युपदिष्टे) तद् व्यवयन्तरे (तदपत्यसहोदरादी) तदुपदेशं विनापि सा जातिर्भवति' यह महाभाष्यका आशय है अर्थात् एक बार यह सिद्ध हो जाने पर कि यह ब्राह्मण है वा

‘अग्निः’ है—फिर उसके सन्तान आदिको भी यही माना जाता है—यह दूसरा जातिलक्षण है। तब जब परमात्माके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए, तब उनका ब्राह्मण यह वेदोक्त नाम होनेसे उनके सन्तान-सहोदर आदिको भी उक्त वेदाङ्गोक्त जातिलक्षणानुसार उसी जातिका कहा जाता है। इसी प्रकार बाहुज अग्निः, ऊरुज वैश्यः, तथा पादज शूद्रकी सन्ततियोंमें भी उसी अग्निः, वैश्यः, शूद्र इस जन्मसिद्ध जातिका व्यवहार ‘सष्टदाख्यातनिर्माणा’ इस वेदाङ्गके कथनसे हुथा करता है—यह बात वेदको भी सम्मत है। यह हम गत निबन्धमें सिद्ध कर चुके हैं। और ‘ब्राह्मोऽजातौ’ सूत्रमें ब्राह्मणको ‘राज्ञोऽपत्यं’ ग्रहण जातावेब’ इस पार्श्विकमें राजन्यको जातिवाचक ही माना है। हो गया आपकी यही भारी युक्तिका वेद-वेदाङ्ग द्वारा समाधान।

(ख) अब आपकी कही ब्राह्मणके मुखसे जन्मकी विवेचना पर भी सुनिये। आपके अनुसार सभामें जो अग्नि-वैश्य बैठे होंगे, वे शास्त्र-अर्थोंमें आपके अनुसार कुछ भी थोड़ा नहीं सकेंगे तब कदाचित् आप अग्नि तथा वैश्यका ब्राह्मण—इतनी विद्या पढ़ना न मानते होंगे। कहीं आप शूद्रको वेदविद्या पढ़ाना मानते हैं, कहीं आपने अग्नि, वैश्यको भी शास्त्र पढ़ाने वेदानुसार बन्द करवा दिये। तब, अजातशत्रु आदि अग्नि-वैश्योंका उपनिषदोंमें निरूपण आया है, उन्होंने यहां ब्राह्मणोंको भी ब्राह्मविद्या सिखाई। पर यदि आपका किया उक्त मन्त्रका अर्थ ठीक है, तो उपनिषद्को मुखसे जन्म वाले अग्नि-वैश्योंको ब्राह्मण कहना चाहिये था, और मुखसे जन्म-रहित ब्राह्मविद्यानभिज्ञ ब्राह्मणोंको शूद्र कहना चाहिये था, पर जब उसने वैसा नहीं कहा, उपदेष्टा भी अग्नि-वैश्य ही कहा है, अनभिज्ञ भी ब्राह्मणोंको ब्राह्मण ही कहा है, तब श्रीबुद्ध-देवजीका अर्थ जहाँ मनगढ़न्त सिद्ध हो गया, वहाँ धर्मा-व्यवस्था भी गुणकर्मसे न बनकर जन्मसे ही सिद्ध हुई।

श्रीबुद्धदेवजीके अनुसार कई आदमी बैठे हों, कोई पुरुष मुखसे किसीको गाली देता जाय, तो वह उनके 'वैदिक' मतके अनुसार माह्वण होगा—क्योंकि उसकी उस समय मुखसे उत्पत्ति हो रही है। जो चुप बैठे हैं, वे मुखसे उत्पन्न न होनेसे शूद्र होंगे। इस अपने घनावटी अर्थमें आपने सन्ध्रमें स्थित 'अस्य' पद ('माह्वणोऽस्य मुख') को कहाँ दिया दिया ? सृष्टि-उत्पत्तिके प्रकरणमें परमात्मासे निश्च तो सर्वनामका अर्थ हो नहीं सकता। और फिर जो वक्ता न हो, लेखक ही आपको परास्त करदे, वह तो माह्वण न हुआ, क्योंकि—वह मुखसे उत्पन्न नहीं हुआ। यदि आप शास्त्रचर्चामें परास्त होकर चुप हो जाएं, तब आप माह्वण रहेंगे या अमाह्वण—इसका निर्णय भी कर लीजिये। जो विद्वान् ममामें चुप किये बैठे हैं, वे आपके अनुसार मुखसे उत्पन्न न हो रहे होनेसे क्या शूद्र हैं ?

क्या 'मुख' भी कोई 'वर्ण' है, जिसे आपने 'माह्वणवर्ण' की प्रतियोगितामें रखा है ? रातको शयनके समय आप अपनी स्त्रीके साथ शास्त्रचर्चा तो करते न होंगे, तब आप माह्वण भी न रहते होंगे। तब आप अपनी माह्वण स्त्रीका परिवर्तन भी करेंगे या नहीं ? अथवा शास्त्रचर्चामें आपकी पत्नी आपसे पराजित हो जाय, प्रत्युत्तर देनेमें उसका मुख चन्द हो जाय, तब आप तो माह्वण होंगे, वह शूद्रा। तब आपका उसके साथ संयोग क्या शास्त्रीय होगा ? क्या वह वर्णसङ्कर उत्पन्न करने वाला न होगा ? इधर आपका जन्म। पुत्र आपकी तरह मुखसे उत्पन्न तो होगा नहीं, वह माह्वण भी न होगा। तब आप क्या उसे अपने स्वामीके अनुसार किसी शूद्रको देनेके लिए तैयार होंगे ? अथवा रोनेसे ही उसकी उत्पत्ति भी मुखसे मानें, तो सभी रोने वाले लड़के माह्वण होंगे।

(ग) अब आपका चरित्रका ‘बाहुसे जन्म’ परीक्षित किया जाता है। आपके हिसाबसे शुद्धमें कर्मा, द्रोणाचार्य आदिके मुकाबलेमें भाग जाने वाले युधिष्ठिर तो अब चरित्र न रहे, द्रोणाचार्य आदि चरित्र हो गये, क्योंकि—उनकी भुजबलसे उत्पत्ति हुई। पर ‘महाभारत’ में द्रोणाचार्यकी ब्राह्मण तथा युधिष्ठिरको चरित्र बताया गया है। यह क्यों? क्या यह बात आपके उक्त अर्थकी अशुद्धता की परिचायक नहीं? क्या ‘भारु’ भी कोई बर्ण है, जिसमें आपने चरित्रकी प्रतियोगिता में रखा है? आप भील्की कौनसा बर्ण देंगे? यह भी बताएँ कि—भीष्मकी शास्त्रज्ञ होनेसे (देखिये उसका आदर्श ‘शान्तिपर्व’ तथा ‘अनुशासनपर्व’ में) तथा भुजबलसे मुक्त होनेसे (देखिये उसका आदर्श ‘भीष्मपर्व’ में) क्या ब्राह्मण-चरित्रका सङ्कर मान लेंगे? फिर तो वृश्ती खेलने वालोंकी चरित्र कह देंगे। आप जब गुरुकुलमें भुजबल दिखलाया करते थे, भुजबलसे मुद्गर घुमाते थे, आप तब चरित्र तथा विद्याभ्ययन-व्यापृत होनेसे ब्राह्मण—इस प्रकार बर्णालङ्कार थे?

तब जो चरित्र भुजबल न होनेसे चरित्र न रहेंगे, उनका कौनसा बर्ण होगा? स्त्रियाँ स्वभावतः अचला होती हैं, क्योंकि वे शुक्रकी गौणता तथा रजकी अधिकतासे उत्पन्न होती हैं। रज शुक्रधामुकी अपेक्षा बहुत निर्धूल होता है, तब स्त्रियाँ तो चरित्र सर्वथा होंगी नहीं, तब चरित्र वैचारे तो अविवाहित ही रहे। स्त्रियाँ मुखसे गालिप्रदान-दण होती हैं, तब मुखसे उत्पत्तिके कारण वे आपके मतमें ब्राह्मणी हो जाएंगी। वैश्य स्त्रियाँ क्या व्यापार करने जाएंगी? परन्तु उन गज-गामिनियोंके ऊरु शीघ्र न चल सकेंगे, तब वे वैश्य भी न होंगी, तब वैश्य भी अविवाहित ही रहेंगे। शास्त्रानुसार मेवामें संलग्न स्त्रियोंको क्या आप शुद्ध मानेंगे? तब तो स्त्रीमात्र शुद्ध हो जाएंगी, तब आप उन्हें वैदार्थिकार ही कैसे दे सकेंगे? फिर तो ‘जन्मना जायते शुद्धः’

यह धार्यममाजियोंका अभीष्ट वचन भी अशुद्ध हो जायगा, क्योंकि—
उत्पन्न होते हुए सभी सेवा नहीं कर रहे होते, किन्तु माता-पिता द्वारा
सेवा करा रहे होते हैं। लंगदे शुद्ध पुरषोंको तो आप पैरसे उत्पत्ति न
होनेसे धन्य ही मान लेंगे।

श्रीगुरुदेवजी केवल ब्राह्मण, क्षत्रियकी मुल, पाहुसे उत्पत्ति यत्-
नाकर चुप हो गये। न तो आगे उन्होंने वैश्यको करसे उत्पत्ति किया,
न शुद्धको पैरोंसे उत्पन्न कराया। कदाचित् यहां उनकी तर्कशक्ति
हुरिहत हो गई हो? कदाचित् इस विचारसे कि हैदराबाद आदि
नगरोंमें करके बल या पैरके बलसे जाने वाले आप ऊद वा पांवसे जन्म
ही जानेके कारण वैश्य या शुद्ध न बन जाएं! महाशय! बनावटी
अर्थ परनेमें ऐसे ढोप स्थतः उपस्थित हो ही जाया करते हैं। आप इन
कृत्रिमताओंको बन्द कीजिये। धर्मको कर्मसे व्यवस्थित करना अल्प-
वस्थाओंको उत्पन्न करना है, जन्मसे व्यवस्थापित करनेमें ही धर्म-
स्थापन दूर हो सकती है। हम इसको श्री पं० गङ्गाप्रसादजी शास्त्रीके
शब्दोंसे लिखते हैं।

(११) धार्यममाज्ये प्रश्न है कि—

(क) जय मनुष्य शुद्धके कर्म करनेसे शुद्ध है, उसको यज्ञ करना,
तथा वेदपठनादिका अधिकार है या नहीं? यदि है तो यह ब्राह्मण
ही गया, या शुद्ध ही रहा? यदि शुद्ध; तो कर्मसे ब्राह्मण बनता है—
यह आपका सिद्धान्त कहा गया? यदि ब्राह्मण बन गया, तो यह
अधिकार ब्राह्मणको मिले, शुद्धको कहाँ मिला? शुद्ध तो अधिकारोंसे
यज्ञिन ही रहा।

(ख) धार्यममाजी विद्वान् श्रीधार्यमुनिने श्री० द० ३११२२ में
शुद्धको यज्ञाधिकारका निषेध ही किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शुद्ध

अपने कर्म-सेवा शिल्पादिका त्याग नहीं कर सकता, तब उसे द्विजोंके अधिकार वेदाध्ययनादि प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

(ग) शूद्र भी वेद पढ़े—यह हो नहीं सकता, क्योंकि—आर्य-सामाजिक सिद्धान्तमें मूल्यका नाम शूद्र है। इस प्रकार सामर्थ्याभावके कारण तो शूद्रको वेदसे अवश्य ही वञ्चित रहना पड़ेगा। फिर ‘यथेमां याचं’ मन्त्रसे शूद्रको वेदाध्ययन कैसे प्राप्त होगा ?

(घ) यदि शूद्र नाम मूल्यका ही है, तो क्यों कोई अपना नाम शूद्र रखावेगा ? कोई मूल्य भी अपने लिए मूल्य शब्द नहीं सह सकता : इस प्रकार एक वर्णका अभाव ही हो जावेगा और आर्यसमाजमें भी शूद्र अपमानित रहा।

(ङ) यदि सब शूद्र अपने कर्मोंकी छोड़कर ब्राह्मण बनने चला दिये, तो शिल्पके नाशमें देशका नारा अक्षय्यम्भावी है। आज शूद्रकर्म छोड़ा, कल घँस्य बने, समय पर कुछ चित्रित्र और ब्राह्मण बननेके कर्म किये, ऐसी दशामें उस मनुष्यका क्या वर्ण बनेगा—यहां तो ‘इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः’ वाली कहावत होगी। कर्मसे वर्ण मानना अव्ययस्थाओंका आह्वान करना है।

(१२) सनातनधर्मानुसार जन्मसे वर्ण मानना एक महत्त्वकी वस्तु है। यदि समस्त चित्रित्र ब्राह्मण बननेकी धुममें अपने कर्म राष्ट्ररक्षाका परित्याग कर दें, तो राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट होकर चकनाचूर हो जावे। ऐसी दशामें उस राष्ट्रनाशका उत्तरदायी कौन होगा ? यदि चित्रित्रोंसे जवाब तलब किया जावे, तो कर नहीं सकते, क्योंकि—वे कहेंगे कि—हम तो ब्राह्मण बनने चल दिये थे। इसी प्रकार यदि शूद्र या वैश्यसे शिल्प और घाणित्यके नाशका उत्तर मांगा जावे, तो वे भी कह सकते हैं कि

हम तो ब्राह्मण या क्षत्रिय बननेमें लगे थे—हमें शिल्प और वाणिज्यका क्या पढ़ी ? सचमुच, कर्मसे यहाँ मानने पर उनका कोई भी दोष नहीं रह जाता, प्रत्युत वे पुरस्कारके भागी हो जाने चाहिएँ, परन्तु सनातन-धर्ममें ऐसा नहीं है । गीतामें कहा है—“श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पर-धर्मात् स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः” (३।३६) अपने साधारण यहाँ धर्मका निर्वाह करते हुए मर जाना अच्छा, परन्तु पर धर्मके उत्तम भी धर्मका स्वीकार करना अच्छा नहीं । अग्निस्मृतिमें लिखा है—“ये व्यपेताः स्वधर्माच्च परधर्मे व्यवस्थिताः । तेषां शास्ति-करो राजा स्वर्गोऽस्मिन् महीयते” (१७) जो अपने यहाँके धर्मसे विरक्त आचरण करके दूसरे यहाँके कर्म करते हैं, उनको दण्ड देने वाला राजा स्वर्गका अधिकारी होता है । यही कारण था कि—क्षत्रियधर्म छोड़कर ब्राह्मणधर्म करने चल दिये अर्जुनका धीकृष्णभगवान् ने निग्रह किया था ।

कर्मानुसार यहाँ मानने पर न तो आज राष्ट्रीय परवन्धनका प्रश्न क्षत्रियोंमें पड़ सकता है, और न वाणिज्यके नाशका वैश्यसे, न शिल्प-भारका शूद्रोंमें ही कुछ पड़ा जा सकता है । इस प्रकार कर्मसे यहाँ मानना उच्छृङ्खलताका साम्राज्य खड़ा करना है, उसमें समाज-स्थिति कभी चल ही नहीं सकती; अतएव यहाँव्यवस्था जन्मसे ही मानी जाती थी है—इसीसे राष्ट्रक्षा अच्छी प्रकार हो सकती है ।

(१३) यहाँविभाग एक ईश्वरीय नियम है । प्रत्येक मनुष्यको अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए वस्तु-समूहकी आवश्यकता पड़ती है, इन वस्तुओंको बना कर सेवा करने वालेकी आवश्यकता भी हुआ करती है । यह सेवा समयके हेर-फेरसे कहीं नष्ट न हो जावे, अतः इसके पालनार्थ एक ऐसा समूह हो — जो उसे शिल्पको अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता चला जावे; और उससे उसकी वृत्ति भी चले । उस समूहको ही वेदमें शूद्र कहा है, यही समूह समाजको प्रतिष्ठित

करने वाला वा धारक है, इसलिए इसे विराट् (ब्रह्ममय जगत्) का चरण कहा है, चरण शरीरका धारक होता है। यह सेवक है। शिल्पसे यनी धस्तुओंको इधर-उधर जगत्में वाणिज्यसे फैलाने वालेकी भी आवश्यकता होती है—अतः वैश्य वर्णकी रचना नैसर्गिक ही है। वह वैश्यसंज्ञक समूह भी ऐसा होना चाहिये जो वाणिज्यको अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझे। वेदमें उसे विराट्का ऊरु इसलिए कहा है कि—इधर-उधर घूमनेका साधन जैसे ऊरु हैं, वैसे ही इधर-उधर घूमकर वाणिज्य करनेका अधिकारी वैश्य ही है। यह कोपाध्यक्ष है।

इन दोनोंही दुष्टोंसे रक्षा करनेका जन्म-सिद्ध अधिकारी क्षत्रिय है—जिसको विराट्की भुजा कहा है। भुजा शरीरकी रक्षक है, क्षत्रिय भी ऐसे ही जगत्का रक्षक है। यह राजा है। क्षत्रियको ही राज्यकर्ममें क्यों नियुक्त किया गया; अन्य वर्णोंको क्यों नहीं? इसमें भी रहस्य है। सत्त्वगुणमें क्रियाशक्ति न होनेसे सत्त्वप्रधान ब्राह्मण वर्ण राजा बनने का अधिकारी नहीं। तमोगुणमें प्रमादकी अधिकतासे तमःप्रधान शूद्र भी उसमें अधिकारी नहीं। वैश्यवर्णमें क्रियामूलक रजोगुण होने पर भी उसकी प्रवृत्ति कुछ तमोगुणकी ओर होती है; अतः वह भी राज्यका अधिकारी नहीं। क्षत्रिय वर्ण तो क्रियाशक्तिमूलक रजोगुणसे युक्त भी है, उसकी सत्त्वगुणकी ओर प्रवृत्ति भी होती है। रजोगुणके कारण उसमें क्रियाशक्ति, बुद्धशक्ति, शत्रुदमनादि शक्तियों की प्रचुरता रहती है, सत्त्वगुणके कारण धर्मभावके भी साथ होनेसे धर्मानुसार प्रजापालन तथा राजकार्य-सञ्चालन होता है, यही सोचकर राजतन्त्रके सञ्चालनका भार क्षत्रियवर्णमें नियुक्त किया जाता था। तथापि वह शासन भी निरंकुश न होकर धर्मतन्त्र-शासनाधीन था। धर्मतन्त्रको व्यवस्थाका भार सर्वश्रेष्ठ, ज्ञान-विज्ञानयुक्त और दूरदर्शी ब्राह्मण वर्णके अधिकारमें

था। वही योग्य राजाको निर्वाचित करता था। धर्मतन्त्रावहेलक राजा को येनकी तरह नष्ट कर दिया जाता था—जिससे धर्मतन्त्र तथा राज-तन्त्रके सामञ्जस्यसे प्रजा पर सुशासन होता था। उपदेश द्वारा इन तीनों वर्णोंको ठीक-ठीक व्यवस्थामें रखनेका अधिकारी ब्राह्मण है, यह संकेत दिया हो जा चुका है। इसके उपदेशके बिना तीनों वर्णोंके विकृत हो जानेकी आशङ्का रहती है—अतएव इसको समाजका कण्ट्रोलर 'मुख' कहा है। वह सब जन्मसे मरण तक अपनी अपनी हथूटी पर सावधान रहें—अत इन वर्णोंको भी जन्मसे ही नियमित किया गया है। जन्मसिद्ध वर्णसे ही उसरी हथूटी पूरी न करने पर जवाब-तलब किया जा सकता है, कर्म-सिद्ध वर्ण 'घालेसे नहीं'। वस्तुतः कर्म वर्ण कभी एक रूपमें नहीं रह सकता, अतः उससे जवाब-तलब भी नहीं किया जा सकता। यदि किया भी जावे, तो वह बहाना कर सकता है कि मैं तो अमुक वर्ण बननेका प्रयत्न कर रहा था। 'स्वतन्त्रः कर्ता'। अतः उसे कोई दण्ड भी नहीं दिया जा सकता। पर जन्मजात वर्ण उसमें कोई बहानेबाजी नहीं कर सकता। अपने वर्ण-कर्मसे प्रेम भी जन्मजात वर्णका ही हो सकता है, कर्मजात वर्णका नहीं।

इनमें मुख, बाहु, ऊर, पाद तथा अस्पर्श्याह-स्थानीयता रखकर जो परस्पर वैद्यम्य किया गया है—यह हाथके, पाँच अंगुलियोंके वैपम्य की तरह जहाँ नैसर्गिक है, वहाँ समाज-हितकारक भी है। सभी समाज रख दिये जाते; तो कौन किसकी आज्ञा मानता? अतः शूद्रका कर्म सेवा होनेसे संयुक्त दूर्वा सबसे कम रखा गया। इससे ऊपर घनकी शक्ति

वैश्यको रखा गया। पर वह भी धनके मदमें चूर होकर बिगड़ न बैठे और सेवक भी सेवा का शिल्पके नशेमें चूर न हो जावे, अतः उन दोनों के ऊपर राज्यशक्ति, शासनशक्ति क्षत्रियको रखा गया, वह भी दोनों वर्णोंका शासक होनेसे अपने आपको ही ‘कर्तुं मं कर्तुं मन्यथा कर्तुं शक्त’ न समझ लें और कुमार्गों पाँव न रख दें, तो सेवनशक्ति, धनशक्ति, शासनशक्ति इन सबसे ऊँची धर्मशक्ति ब्राह्मण रखा गया। इसी वर्णव्यवस्थासे भारतवर्ष सृष्टिकी आदिसे सदाके लिए अमर हो गया। इस जन्मना वर्णव्यवस्थाका नाश भारतवर्षका नाश है, अपने देशको विदेश बनाना है। स्वदेश-प्रेमियोंको इस जन्मना वर्णव्यवस्थाके आये हुए कतिपय दोषोंका सुधार करके फिर इसे शुद्ध कर लेना चाहिये—जिससे यह फिर पूर्वकी भान्ति सब देशोंका शिरोमणि बन सके। सुधारके व्याजसे वर्णव्यवस्थाका संहार कर देना तो अपने देशको विनाशमिमुख ले जाना है।

(६) गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था पर विचार

[हमारा एक निबन्ध वर्ण व्यवस्थाके विषयमें संस्कृत पत्र 'सूर्योदय' (आषाढ़. १९६२ से कार्तिक १९६६ तक) (काशी) में निकला था। उसके एक लेखको केवल दो तीन पंक्तियोंकी आलोचना डा० भगवान् दासजीने 'आज' पत्र (१६ मार्गशीर्ष सं० १९६६ के अंक) में की थी; उसका प्रत्युत्तर हमने 'सूर्योदय' में दिया था। उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है। इससे जन्मना वर्ण-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ेगा]

(१) डाक्टर महाशयका सन्दर्भ यह है—“काशीसे 'सूर्योदय' नामकी मासिक पत्रिका संस्कृत भाषामें निकलती है। उसमें 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' निबन्ध 'पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत मुञ्जतान' के नामसे छपा देल पड़ा। उक्त सज्जन निश्चयेन बहुत विद्वान् ज्ञान पवते हैं। लेखमें विविध ग्रन्थोंके पाठ्योंका उद्धरण उन्होंने किया है। आशय भी उनका अच्छा ही होगा, पर निबन्धकी दूसरी ही पंक्तिमें 'ग्राह्यो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन्' (१११२०।१३) यह महाभारतका, और आठवीं पंक्तिमें 'मनुस्मृति' से 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेभ्यश्चि स्थितम्' (मनु० ८।३८०) यह श्लोक उद्धृत किया है। 'मनुस्मृति' का जैसा आदर मेरे हृदयमें है, और उसके पीछे 'महाभारत' का, ऐसा स्यात् और किसी एक ग्रन्थका नहीं है।”

डाक्टर महाशयका दोनों पुस्तकों पर आदर कथनमात्र ही है। इन लोगोंके हृदयमें 'महाभारत' वा 'मनुस्मृति' का तभी तक आदर रहता है, जब तक कि इनसे स्वीकृत सिद्धांतका उनमें भङ्ग नहीं पड़ता। जब इनका

यह तथाकथित सिद्धान्त मनुके वाक्योंसे खण्डित होने लगता है, तब कहाँ मनु तथा कहाँ महाभारतकार ? तब यह लोग उस वचनको धूर्तका वचन तथा स्वाभीष्ट वचनको मनु आदिका वचन मानने लग जाते हैं।

इसका उदाहरण भी देख लीजिये। 'त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां ह्यथा द्वादशवार्षिकीम्। अष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा' (६।१४) यह मनुजीका पद्य प्रसिद्ध है, सर्वत्र इसी रूपमें उद्धृत किया जाता है, परन्तु मनुके सम्मानकर्ता (?) यही डाक्टर-महाशय वहाँ मनुकी मूर्खता जानकर 'द्वादश (१२) वार्षिकीम्' के स्थान 'द्विदश (२०) वार्षिकीम्' इसी पाठको ठीक मानते हैं। 'अष्ट (८) वर्षा वा' में 'अष्टि (१६) वर्षा वा' इस पाठको ठीक मानते हैं। यह है ऐसे महाशयोंकी खीला ! यदि मनुको द्वादश-वर्षा कन्याका विवाह इष्ट न होता, किन्तु 'द्विदश (२०) वार्षिकीम्' का इष्ट होता, तो क्या मनु 'ह्यथा विंशतियार्षिकीम्' इस स्पष्ट पाठको नहीं खिल सकते थे; जिसमें कोई छन्दोभङ्ग या अस्पष्टता भी नहीं थी। 'अष्टवर्षा' के स्थान 'अष्टि (१६) वर्षा वा' यह पाठ मनुका बताते हुए डाक्टर महाशयने कभी सोचा कि—मनुजीने कभी कहीं संख्यामें एक-देशी (छन्दोजातीय) प्रयोग करके अश्रुतीत दोष किया है ? इससे स्पष्ट है कि इनकी कपोल-कल्पना तो इनके मतमें मनुकी हो जाती है, पर मनुकी रचना इनके मतमें धूर्तका वचन हो जाता है।

इस प्रकार यदि इन्हें 'महाभारत' में श्रद्धा है, तो उसके आदिपर्व २८ अध्यायमें माताने भूले गरुडको कहा था कि—अमुक स्थानमें निपादोंको जाकर खा लो, पर निपादाचार ब्राह्मणोंको न खाना। तब गरुडने कहा—निपादोंके आचार वाले निपादसदृश-वेषधारी ब्राह्मणोंको मैं कैसे जानूँगा ? माताने उत्तर दिया—'यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं यद्विशं यथा। दहेद्गङ्गास्वत् पुत्र ! तं विद्या ब्राह्मण्यमम्। विप्रस्त्वया

न हन्तव्यः संक्रुदेनापि सर्वदा' (१।२८।११) अर्थात् तुम्हारे गलेमें आने पर जिससे तुम्हें जलन मालूम पड़े, उसे ब्राह्मण समझना । 'तस्य कण्ठमनुश्रातो ब्राह्मणः सह भार्यया । दहनं दोष इवाङ्गारस्तमुवाचान्-
रिषगः (भरद्वाजः) (२।३।१) द्विजोत्तम ! निनिर्गच्छ तूर्णमास्वादयावृतात् ।
नहि मे ब्राह्मणो बध्यः पापेष्वपि रतः सदा' (२।३।२) वैसा ही दुष्मा ।
इससे महाभारतकारको वर्ण-व्यवस्था जन्मसे इष्ट है—यह प्रत्यक्ष है ।'

इस प्रकार पूर्वोक्त मनुपद्यमें डाक्टरजी ३०-२०, २४-१६ वर्षके स्त्री-पुरुषोंका विवाह चाहते हैं; परन्तु यह नहीं विचारते कि इस अन्तरमें दोनोंके समान गुणकर्म कभी भी नहीं हो सकते । पुरुष तो पदे ३० वा २४ वर्ष, स्त्री उनके मतमें २० वा १६ वर्ष पदे; तो क्या दोनोंकी समान विद्या, वा समान कर्मक्षमता हो सकती है ? यदि नहीं, तो दोनोंकी समान-वर्णता कभी हो सकती है ? समान वर्ण न होनेसे 'गुरुष्वनुमतः स्नात्वा समावृत्तो ब्याविधि । उद्वहेव द्विजो भार्यां सवर्णां लक्ष्णान्विताम्' (मनु० ३।४) इस सवर्णाविवाहको बताने वाला मनुका यह पद्य भी निर्विषय हो जायगा—यह डाक्टर महारायने कभी सोचा है ? परन्तु सभी इस मनुके पद्यको माननीय मानते हैं; तब क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो रहा कि—मनुको जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था इष्ट है, गुण-कर्मसे नहीं । परन्तु यह लोग कभी सूक्ष्म विचार करते ही नहीं । आपाततः विचारमें लगे हुए यह लोग तब अपना सिद्धान्त जहां स्पष्ट दृष्टता हुआ देखते हैं; वहां इन्हें असमीचीनता, वा प्रसिद्धता, वा परिवर्तितता सूझने लग जाती है । जहां किसी एकदेशी वा क्वाचित्क वचनमें इन्हें अपनी अनुकूलता प्रतीत होती है, वहां यह सार्वदेशिकता वा सार्वत्रिकता, वा अप्रसिद्धता, वा सुष्ठता, वा वैदिकता कहने लग जाते हैं—यह है इनका मनु आदिमें यज्ञका रहस्य ।

आगे यही लिखते हैं—“पर यह भी मुझे निश्चय है कि मनुस्मृति के वर्तमान रूपमें कितने ही श्लोक प्रचिप्त हैं, कितने परिवर्तित हैं, कितने ही प्राचीन परम उपयोगी श्लोक लुप्त कर दिये गये हैं” पर यह कहते हुए डाक्टरजी कोई प्रमाण नहीं देते। जहां उनके सिद्धान्तका स्पष्ट खण्डन है, क्या वहीं प्रचिप्ता होती है? जहां उनके सिद्धान्तसे भेद है, वहीं परिवर्तन है क्या? जहां उनके सिद्धान्तका प्रदर्शन मनु आदिने नहीं किया, वे ही क्या परमोपयोगी पद्य थे? “ऐसे दृष्टिकोण! घन्य हो, पक्षपात! तुम समृद्ध हो।

(२) आगे कहते हैं—“महाभारतका तो कहा हो क्या है, अस्सी पचासी सहस्र श्लोकोंसे एक लाख दस बारह सहस्र तक श्लोकोंकी मिलित और शय सुद्रित प्रतियाँ मिलती हैं” यहाँ प्रष्टव्य है कि—डाक्टरजी कितनी भ्रम्याके महाभारतको यास्तविक मानते हैं? क्या ८० सहस्र पद्य वालेको, या एक लाख दस-बारह हजार श्लोकों वाले महाभारतकी? यदि पहली बात मानते हैं, तो उनके पास महाभारतका अपना क्या प्रमाण है कि उसके ८० हजार पद्य हैं, और उसमें भी प्रचिप्ता मानते हैं या नहीं? यदि दूसरी बात मानते हैं, तो उसमें भविष्यत् क्यों? यदि कहा जावे कि—‘एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम्’ (१।१०७) अस्मिन्स्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्। शिष्यो भ्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः’ (१।१।१०८) यहां एक लाख संख्या बताई गई है, तब एक लाख से ऊपरकी १०-१२ हजार संख्या प्रचिप्त है’ इस पर कथन यह है कि—यहां पूर्वापर न सोचकर आप जैसे पुरुष भ्रममें पड़ जाते हैं।

यहां स्पष्ट कहा है कि श्रीभ्यासने महाभारत मनुष्यलोकके लिए एक लाख श्लोकोंका कहा है। ‘त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायो कृष्यद्वैपायनो

मुनिः । महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्' (१।२६।३२) 'त्रिभिर्व-
पैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः । अतिलं भारतं चेदं चकार भगवान्
मुनिः' (स्वर्गारोहणपर्व २।४८) यहां पर 'श्रीवेदव्यासने तीन वर्षों तक
निरन्तर परिश्रम करके महाभारत पूर्ण किया' यह सिद्ध होता है । तो
वेदव्यास जैसा बड़ा अनयक विद्वान् तीन वर्षोंमें केवल २४००० श्लोक
ही बना सके, (जैसा कि कई कहते हैं), एक लाख श्लोक नहीं—यह
आश्चर्य की बात है । आज-कलके ही लेखक जिन्हें संसारी विविध
कार्योंसे अयकाश नहीं मिलता; वे ही तीन वर्षोंमें पर्याप्त लिख डालते
हैं, तब जिसे पृथक्पृथक् कार्योंसे भिन्न कोई कार्य ही न हो, वे महान्
योग्य मुनि व्यास केवल २४००० ही अनुष्टुप्-श्लोक बना सकें—
यह संगत नहीं । एक लाख अनुष्टुप्के पद्य बना लेना उनके लिए
साधारण बात है । आजकलके श्रीसम्प्रदायके श्रीभगवद्गोपायजीने
गान्धिभक्त बजाजजीके प्रोत्साहनसे गान्धिमहाभारतको बनाना शुरू कर
दिया था, २०-६० हजार श्लोक बना भी चुके थे । पर फिर बजाजजीका
अनुत्साह देखकर रुक गये ।

उसी एक लाख श्लोकोंके महाभारतको व्यासशिष्य वैशम्पायनने भी
सुनाया । उसी वैशम्पायनसे सुनाये हुण्को सौविने भी सुनाया । इसमें
काश्मीरजी सावधानतासे विचारें कि—यदि मैं आपके ही किसी संस्कृत-
लेखको उद्धृत करूँ, तो आदिमें उसकी भूमिका तथा अन्तमें उपसंहार
भी मुझे दिखलाना पड़ेगा । तब वही आपका लेख उतना भी मुझसे
बनाये भूमिका, उपसंहार आदिसे कुछ बढ़ जावेगा । ऐसा होने पर भी
वहाँके हमारे भूमिका-उपसंहार आदिको कोई प्रचिप्त न मानकर उसे
उसकी पूर्वापर स्फुटताके लिए साधनमात्र मानेगा । इस प्रकार फिर
कोई उसी आपके लेखको हमारी भूमिका आदिसे युक्त उद्धृत करे; उसे
भी अपने लोगोंको ज्ञात करानेके लिए अपने शब्दोंसे पूर्वापर दिख-
लाना पड़ेगा । इसमें कोई प्रचिप्ता नहीं मान लेता ।

यही बात 'महाभारत' की है। एक लाख श्लोकोंका महाभारत श्रीन्यासका बनाया है यह पूर्व कहा ही जा चुका है। उसके पूर्वापर को दिखलानेके लिए कभी वैशम्पायन भी अपने पद्योंसे कहता है—हे मुनियो ! उस इस श्रीन्यासजीसे बनाये हुए, बहुत गुणोंसे युक्त महाभारतको सुनो' इत्यादि। एक लाख श्लोकोंके इस पुस्तकमें प्रत्येक अध्यायके आदि-अन्तमें प्रसंगकी संगति वा उपक्रम-उपसंहारके प्रतिपादनार्थ एक-एक श्लोक भी कहा जाये, फिर याचक जनमेजय आदि श्रोतासे किये हुए किसी प्रश्नका समाधान भी करे, इस प्रकार प्रश्नोत्तर के श्लोकोंकी वृद्धिसे उसके एक लाख श्लोकोंसे श्लोकसंख्या कई सौ श्लोकोंकी संख्यामें स्वतः ही बढ़ जावेगी। फिर तीसरा सौति फिर उसी वैशम्पायनसे सुनाये हुए वैशम्पायनके पूर्वापर प्रसंग-निर्देशक पद्यों सहित महाभारतको मुनियोंको सुनावे, तब सौतिको भी कहना पड़ेगा कि इस प्रकार वैशम्पायनने जनमेजयको सुनाया। जनमेजयने तब अमुक प्रश्न किया, वैशम्पायनने उसका यह उत्तर दिया—इत्यादि। तब फिर मुनियोंका सौतिसे भी कोई प्रश्न हो; तो उसे भी उसको ग्रन्थमें श्लोकबद्ध करना पड़ेगा, अपना उत्तर भी; तब इस प्रकारके महाग्रन्थमें मूल श्लोक-संख्यासे वृद्धि होना स्वाभाविक ही है, इसमें प्रसिद्धताका प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकारके पद्योंको यदि पृथक् कर दिया जाये, तो शेष मूल-संख्या ही बच जावेगी।

इस प्रकार कोई कथायाचक उसी महाभारतको सुनावे, वो जितना समय उसका उसकी समाप्तिमें लग सकता है, फिर उसके व्याख्यानमें, उसकी स्पष्टार्थ अर्थ प्रमाण देनेमें उस नियत समयसे अधिक समय लगेगा—वह स्वाभाविक है। पर वहां कोई यह नहीं कहता कि यह सुनाता तो है महाभारत, पर बीचमें अपने प्राप्ति वचन भी कहता जाता है। बल्कि सभी जान जाते हैं कि—यह ग्रन्थकी स्पष्टार्थ ही

मिश्र वचन कह रहा है, प्रचलित नहीं कर रहा। यही बात एक लाखसे अधिक श्लोकों वाले महाभारतकी उपलब्धिमें जाननी चाहिये। न्यून श्लोक होने पर तो उसके पाठका कारणवश विलोप हो जाना स्पष्ट है, जैसे ११३१ वेदकी संहिताओंमें आजकल दस-बारहके लगभग संहिताएँ मिलती हैं। क्या डाक्टरजी तथा अन्य आक्षेपकर्ता वादी इधर ध्यान देंगे ?

हम यह भी नहीं कहते कि—महाभारत आदिमें प्रचलितता सर्वथा नहीं है। नहीं नहीं। उसमें प्रचलितता सम्भव है। जबकि—अच्छी तरह सुरक्षित किये हुए वेदोंमें भी कई आपके सहवर्गी प्रचलितता वा पाठभेद मानते हैं, तो यहाँ ही क्या असम्भव है ? पर जहाँ पर आपका अर्था-चीन सिद्धान्त दूरता हो, वहाँ प्रचलितता हो, जहाँ हमारे सिद्धान्तका भङ्ग जैसा प्रतीत होता हो, वहाँ आपके अनुसार उपयोगिता हो, यह आपका मत मान्य नहीं हो सकता। इस प्रकार तो हम भी कह सकेंगे कि—जो पद्य आपने उपयोगी समझ रखे हैं, वे प्रचलित वा एकदेशी हैं, हमारे पक्षके साथक श्लोक ग्रन्थकर्ता के हैं।

(३) यदि डाक्टरजी कहें कि—‘इस तरह तो आपका मत भी ठीक नहीं, वस्तुतः, ग्रन्थकर्ताका हृदय या मुख्याभिप्राय वा पूर्वापर प्रकरण, वा उत्तरपक्ष तथा उपक्रम-उपसंहार आदि ही प्रचलित वा अप्रचलित सिद्ध करनेमें कसौटी बन सकता है’, तब हम भी कहेंगे कि—आप यदि मनुके बाद महाभारतको ही आदरणीय मानते हैं, तब महाभारतकारका हृदय या मुख्य अभिप्राय, वा उत्तरपक्ष जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थामें है, गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें नहीं। गुणकर्मसे तो कर्ता को प्रतिष्ठाका सारतम्य ही इष्ट है, वर्ण-परिवर्तन वा वर्णोंकी व्यवस्था नहीं।

आप लोग महाभारतके पात्र कौरव पाण्डवोंके जीवन तथा युद्धको मुख्य कथावस्तु मानते हैं, शेष भागको उपाख्यान कहते हैं।

उपाख्यानोको सम्भवतः आप लोग वेदव्यासकृत नहीं मानते, किन्तु सौति द्वारा बनाया मानते हैं, तो आप लोग जिन महाभारतके श्लोकोंको अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ उपस्थित किया करते हैं, वे मुख्य कथावस्तुमें से नहीं होते, किन्तु उपाख्यानोमें से। तो वे आपके अनुसार श्रीव्यासके कैसे हो सकते हैं ? मुख्य कथावस्तु तो श्रीव्यासकी है—यह सर्वसम्मत है, उससे जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है, अतः वह श्रीवेदव्यास-सम्मत हुई, और आपसे अभिमत उपाख्यानोमें प्रोक्त तथाकथित गुण-कर्मणा वर्ण-व्यवस्था अवैयासिक सिद्ध हुई। तो आप अवैयासिक चर्चा को तो मानें प्रमाण, और वैयासिक मुख्य कथाको देखें नहीं, यही क्या आपकी महाभारतकारमें श्रद्धा है ?

(क) इसको यों समझिये कि—चरित्रकर्मको स्वीकृत किये हुए भी द्रोणाचार्य या कृपाचार्यको महाभारत ब्राह्मण ही कहता है, चरित्र नहीं। ये जन्मसे ब्राह्मण होनेसे ही ब्राह्मण कहे गये हैं। अश्वत्थामामें तो न ब्राह्मणोचित गुण थे और न ब्राह्मणोचित उसके कर्म थे। उसने चरित्र-कर्म ही स्वीकृत कर रखे थे। तभी युधिष्ठिरने उस पर आक्षेप किया था कि—‘ब्राह्मणेन तपः कार्यं दानमभ्ययनं तथा। चरित्रेण धनुर्नाम्यं स भवान् ब्राह्मणप्रवः’ (कर्णपर्व १५।३३) तुम ब्राह्मण होकर चरित्रोंके धनुषको उड़ाया करते हो। स्वयं अश्वत्थामामें भी कहा था—‘सोस्मि जातः कुले श्रंष्टे ब्राह्मणानां सुपूजिते ! मन्दभाग्यतयाऽस्म्येतं क्षत्रधर्ममनुष्ठितः’ (सौप्तिकपर्व ३।२१) ‘क्षत्रधर्मं विदित्वाहं यदि ब्राह्मण्यमाश्रितः। प्रकुर्यां सुमदत्तं कर्म न मे तत् साधु सम्मतम्’ (२२) श्रीव्यासजी ने भी अश्वत्थामाको कहा था—‘ब्राह्मणस्य सतश्चैव यस्मात् ते वृत्तमोदशम्। ... असंशयस्ते तद्भावि क्षत्रधर्मस्त्वयाश्रितः’ (सौप्तिक-१६।१७-१८)।

(ख) यदि अश्वत्थामाके गुणोंकी या कमोंकी आलोचना की जावे, तो उसका स्वभाव ही इतना क्रूर था कि—उसने सोते हुए द्रौपदीके पुत्रोंको ही मार दिया, अपने मामा कृपाचार्यसे (महा० सौप्तिकपर्व १ अध्याय) सम्झाने पर भी न रुका । पाण्डवोंको निर्वेश करनेके लिए उसने उत्तराके गर्भ पर छल भी फैक दिया (सौप्तिकपर्व १५।३५) । इससे भी निदंश कर्म अन्य क्या हो सकता है ? छष्ट्युम्नको भी पशुकी भांति मारा । महाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाके गुणकर्म देखिये—
 'दुरात्मनः' (१२।७), 'सतां मार्गं जातु न स्याता' (१२।६) दुष्टात्मा, (१२।१०), संरम्भी, दुरात्मा, चपलः (१२।४१) क्रोधी, 'कृतं पापमिदं महान् ! रोपाक्षितेन चेतसा' (१५।१८) यह अश्वत्थामा अपने लिए कह रहा है । 'त्वां तु कापुरुषं पापं त्रिदुः सर्वे मनीषिणः । अस्तकृत् पाप-कर्मणि बालजीवितघातकम्' (१६।३) यह धीकृष्णजीने अश्वत्थामाके गुणोंका वर्णन किया है । 'यस्माद् अनादृत्य कृतं त्वयाऽस्मान् कर्म दारुणम् । ब्राह्मणस्य सतश्चैव यस्मात्ते वृत्तमीदृशम्' (१६।१०) यहाँ श्रीव्यासजीने उसे दारुणकर्म ब्राह्मण कहा है । 'स्रग्धर्मस्त्वयाश्रितः' (१६।१८) यहाँ उसे स्रग्धर्म कहा है । 'पापेन क्षुद्रेयाकृतकर्मणा । द्रौणिना' (१७।२) यहाँ युधिष्ठिरने अश्वत्थामाकी पापिष्ठता कही है । इस प्रकारके पापीको महाभारतने (सौप्तिक० १५।३५) ब्राह्मण कहा है । प्रत्युत असारकर्मके आचरण वाले भी उसे राजा युधिष्ठिरने मरवाया नहीं, किन्तु 'राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' (८।३८०) इस महाभारतनी सम्मत और आपकी असम्मत मनुकी उक्तिही पालन किया (सौप्तिकपर्व १६।३२) क्या अब भी डाक्टरजी 'कर्मणा वर्णं व्यवस्था' को महाभारतका उत्तरपत्र तथा 'जन्मना वर्णं व्यवस्था' को तथा 'राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्' (८।३८०) इस मनुष्यको प्रहिप्त कहने का साहस कर सकते हैं ?

(ग) अन्य भी देखिये—पाण्डव महाभारतके मुख्य पात्र हैं। उसमें युधिष्ठिरके गुणकर्म देखिये। क्या उसके ब्राह्मणोंवाले राम-दम आदि गुणकर्म नहीं थे ? जिसके लिए उसे भीमसेनने भी कहा था—
 ‘पृणी (दयालुः) ब्राह्मणरूपोसि कथं चत्रेषु जाययाः’ (वनपर्व ३६।२०)
 ‘ब्रह्मवर्चसी...पाण्डवमन्दमः’ (उद्योगपर्व ५३।८) यह धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरके लिए कहा था। परन्तु भीमसेन तो बात-बातमें थोड़ी-सी भी प्रतिकूलतामें क्रुद्ध हो जाता था; उसके गुणकर्म जगत्प्रसिद्ध हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न गुणकर्म वाले भी दोनोंको महाभारतकारने क्षत्रियकी सन्तान होनेसे जन्मसे ही क्षत्रिय माना है, क्या यहाँ जन्मसे वर्ण-व्यवस्था उत्तर-पक्ष नहीं ? यदि गुणकर्म ही वर्ण-निर्णायक होते, तो दोनों का वर्ण भिन्न-भिन्न होना चाहिये था, पर ऐसा नहीं है। बल्कि—‘युद्धे चाप्यपलायनम्’ (गीता १८।४३) इस शास्त्रसे विरुद्ध कर्णादिके युद्धमें भागते हुए भी युधिष्ठिरको क्षत्रिय ही माना गया है। देखिये उसका भागना—‘एवं पार्थोभ्युपायात् स मिहः पार्थिवसारथिः। अशक्नुवन् प्रसुप्तः स्थातुं कथंस्व दुर्मनाः’ (कर्णपर्व ४६।४६-५०) इस प्रकार भागने पर कर्णने कहा था—‘कथं नाम एले जातः क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः। प्रजह्यात् समरं भीतः प्राणान् रक्षन् महाहये। न भवान् क्षत्रधर्मेण कुशलोस्तीति मे मतिः। माहो बले भवान् युक्तः स्वाध्याये यज्ञकर्मणि। मा स्म युष्यस्व कौन्तेय ! मा स्म वीरान् समासदः’ (कर्णपर्व ४६।५४-५६-५६) ततोऽपराधाद् द्रुपदं राजन् ! मीडतिव नरेन्द्रः’ (४६।६०) यहाँ पर युधिष्ठिरको ब्राह्मणधर्मा कहने पर भी महाभारतने उसे ब्राह्मण नहीं माना, न उसका किसी ब्राह्मण-कन्यासे विवाह हुआ। इस तरह अश्वत्थामासे युद्ध करते हुए भी युधिष्ठिर उसके आने से भी भाग गये। जैसे कि—‘स प्लाघमानस्तु तदा द्रोणपुत्रेण मारिष ! पार्थोप-यातः शीघ्रं वै विहाय महतीं चमूम्’ (कर्णपर्व ५६।३०) इस प्रकार अन्यत्र (६२।३१) भी।

(घ) भगवान् श्रीकृष्णको ही देखिये, जो महाभारतके आराध्यदेव हैं, पादि-प्रतिपादिमान्य भगवद्गीताके उपदेष्टा हैं। महाभारत उन्हें परमात्माका अवतार मानता है, गीता भी उन्हें उत्तम गुणकर्मवाला मानती है। क्या डाक्टरजी उनमें ब्राह्मण-विरुद्ध गुणकर्म बता सकते हैं ? फिर भी महाभारतने उन्हें ब्राह्मण नहीं माना, किन्तु क्षत्रियपुत्र होनेसे क्षत्रिय कहा। श्रीकृष्णके पिता वसुदेवजीको ही देख लीजिये। किसने उनके क्षत्रिय-योग्य कर्म सुने हैं, तथापि उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। तब क्या डाक्टरजी महाभारतमें सिद्धान्तित 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' को प्रक्षिप्त कह सकते हैं ? जब महाभारतकी यह सिद्धान्त मान्य है, तब उसके अन्तर्गत गीताको भी वही सिद्धान्त मान्य है, नहीं तो गीता रथ-वाचक श्रीकृष्णको सूतजातिवाला या गीतापदेशकको ब्राह्मण कहती, पर ऐसा नहीं। वह तो उन्हें 'वृष्णीनां वसुदेवोऽस्मि' (१०।३०) वसुदेवका पुत्र और वृष्णि (क्षत्रिय) वंशका कहती है।

(ङ) और देखिये—महाभारतीय धर्मव्याधमें ब्राह्मणोचित गुण तथा कर्म थे। व्याध भी वह हिंसारहित कर्मवाला था। कौशिक नामक ब्राह्मणने तो उसे ब्राह्मणसदृश कहा भी था, तथापि वह रदा शुद्ध ही। ब्राह्मणत्वके लिए उसने इस शरीरकी समाप्तिकी प्रतीक्षा की, दूसरे जन्ममें ही वह ब्राह्मण हुआ।

(च) इस प्रकार कर्णका वृत्त भी डाक्टरजी जानते ही हैं कि वह क्षत्रिय-कर्मा भी, वास्तवमें क्षत्रिय भी सूत-पिताकी सन्तानमात्रताकी प्रमिद्विसे सूत ही माना गया। क्या यहाँ स्पष्ट नहीं कि—महाभारतको जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था उल्लंघन है ? । । । ,

(छं) इस प्रकार आदिपर्व (२६ अध्याय) में निजधर्म कर्मसे हीन निपादाचार ब्राह्मणको भी ब्राह्मण माना गया । तभी उसके निंगलनेके समय गरुड़के गलेमें दाह दिखलाया गया है । इससे म० भा० को जन्मसे वर्ण-व्यवस्था ही सम्मत सिद्ध है । इससे स्पष्ट है कि—महा-भारतके 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाभास' प्रदर्शक क्वाचित्क घचन केवल कर्म के प्रशंसार्थवादभास हैं । अर्थवादमें शब्दार्थमें ध्यान नहीं देना पड़ता, किन्तु उसका तात्पर्य ही देखना पड़ता है ।

(ज) महाभारत वर्ण-व्यवस्थाको जन्मसे मानता है, और गुणकर्मसे तो स्तुति-निन्दा हो मानता है । जैसे कि—उसीमें लिखा है—'प्रजा-पतिः प्रजाः सृष्ट्वा कर्म तासु विधाय च । वर्णे-वर्णे समाधत्ते ह्येकैकं गुणभागगुणम्' (सौप्तिकपर्व ३।१८) ब्राह्मणे वेदमग्र्यं तु क्षत्रिये तेज उत्तमम् । दास्यं वैश्ये च, शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम्' (३।१९) 'अदान्तो ब्राह्मणोऽसाधुर्निस्तेजाः क्षत्रियोऽधमः । अदत्तो निन्द्यते वैश्यः, शूद्रश्च प्रतिकूलयान्' (३।२०) यहाँ पर अपने वर्णके गुणकर्मसे हीन ब्राह्मण आदियों को निन्दित तथा असाधु माना गया है । उससे उन्हें अन्य वर्णका होजाना नहीं कहा है । ब्राह्मण आदिको वेद आदिसे अग्र्य वा उत्तम बताया है, अन्य वर्णमें हो जाना नहीं कहा । आशा है कास्टरजी महाभारतके इस हृदय पर ध्यान देंगे ।

(झ) आपके लेखानुसार 'अध्यात्ममयी' महाभारतकी शिरोमणि भगवद्गीताका मुख्य प्रतिपाद्यका आधार भी 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' ही है । जब अर्जुन युद्धसे हटने लगा और भिषावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेको तैयार हो गया; तब भगवान् कृष्णने उसे कहा था कि—ऐसा करनेसे तुम्हें पाप होगा । यदि वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार होती; तो अर्जुनको युद्धसे हटनेसे पाप क्यों होता ? जब तक वह युद्ध करता; तब तक क्षत्रिय कहा जाता । भिषा आदि शान्तवृत्ति स्वीकार करने

पर वह ब्राह्मण कहा जाता। जन्मना वर्ण-व्यवस्थामें तो कोई वृत्ति उसी जाति वाले व्यक्तिविशेषके लिए टाँचित हो सकती है, और उस वृत्तिका त्याग उसके लिए पाप हो सकता है। कर्मणा वर्ण-व्यवस्थामें तो दूसरे वर्णके कर्म लेने पर किसीकी निन्दाकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि तब सबको सब कर्मोंके अनुष्ठानमें स्वतन्त्रता होती है, परन्तु तब निन्दा करनेसे, तथा 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (१॥४६) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनृष्टिनात्' (१॥४७) महजं कर्म कौन्तेय ! सदापमपि न त्यजेत्' (१॥४८) 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (२।३६) इस प्रकार महाभारतान्तर्गत भगवद्गीताके द्वारा निषेध करनेसे उसमें जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थामें तात्पर्य सिद्ध हुआ।

(४) यह है 'महाभारत'का हृदय, यदि उसीसे हमने जन्मना वर्ण-व्यवस्था सुचक पद्य उद्धृत किया है, तो उसमें इस विषयमें प्रतिज्ञा कैसे हो सकती है? अथवा महाभारतकी छोट्टिये—स्थूल-बुद्धिसे भी यही जाना जाता है कि—गुणकर्मसे जाति वा वर्णका निर्णय असम्भव है। किसी मनुष्यमें ब्राह्मणोचित गुण हो सकते हैं, परन्तु उसके कर्म एतियके हो सकते हैं, तब उसके वर्णका कैसा निर्णय हो सकता है? क्या हम कह सकते हैं कि—अमुक पुरुषके गुण ब्राह्मण-सदृश हैं वा एतिय सदृश हैं? वैश्य-सदृश हैं वा शूद्र-सदृश हैं? यदि हम इस विषयमें अपनी सम्मति देनेका साहस करें, तो क्या इसमें सबका ऐकमत्य हो सकता है? यदि नहीं, तब गुणोंके द्वारा वर्ण-निर्णय क्या बहुमतसे किया जायगा? इसके अतिरिक्त एक ही मनुष्यके गुण वा कर्म समय-समय पर बदल भी सकते हैं। इस दशामें क्या उसका वर्ण पुनः-पुनः बदला जायगा? इस प्रकार होने पर क्या घोर अव्यवस्था नहीं आ पड़ेगी?

वस्तुतः कर्मसे वर्ण-व्यवस्था असम्भव ही है। समान माता-पितासे उत्पन्न हुए-हुए भी बालकोंके मुख्यकर्ममें आकार-पातालका अन्तर भी देखा गया है। एक ही मनुष्य सारा दिन कभी ब्राह्मणके सदृश, कभी शूद्रके सदृश कर्म करता है, तब उसके वर्णका निश्चय कैसे हो ? ऐसा होने पर शूद्र या नीच कौन होना चाहेगा ? खान-पानकी व्यवस्थामें, विवाह आदिमें, दायभागके विभाग आदिमें बहुतसी रूकावटें आ पड़ेंगी। फलतः कर्मणा वर्ण-व्यवस्था वर्ण-विप्लव है। इस प्रकारकी वर्ण-व्यवस्थामें बड़ी बाधाएँ उपस्थित हो जावेंगी।

(५) इस प्रकार जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था मानने वाले उसी महा-भारतमें यदि 'ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सद् असद् वा समाचरन्' यह पद्य मिलता है; तो उसमें प्रवृत्तिता कैसी ? इससे महाभारत ब्राह्मणके लिए सदाचारका निषेध वा असदाचरणका प्रोत्साहन नहीं करता, अपितु दोनों ही अवस्थाओंमें उसको ब्राह्मण बताकर, कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्तको खण्डित करके, अपने परम उद्देश्य जन्मना वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्तको स्पष्ट करता है। तब यहाँ प्रवृत्तिताका अवकाश ही कैसा ? यह पद्य प्रवृत्तिकारके हृदयसे विस्फोट कैसे हो सकता है ?

शेष प्रश्न है कि—असदाचारी भी ब्राह्मणके लिए 'नावमन्तव्यः' (उसका अपमान मत करो) कैसे कहा ? इस पर उत्तर यह है कि—यह अन्य कुछ नहीं; केवल जन्मसे स्वयं हुए वर्ण-व्यवस्थाके मूलभूत पूर्वजन्मके गुणकर्मोंका यह सम्मान है। स्वयं उत्तम माने हुए जन्म-ब्राह्मणका यह अन्य वर्णकी अपेक्षा दण्डादिविधानमें तारतम्यमात्र है। वस्तुतः ही यहाँ असदाचरणकी विधि नहीं है। यह डाक्टरजी समझ लें। इसका पूर्वार्थ यह स्पष्ट कर रहा है—'दुर्बला अपि विप्रा हि बली-यांसः स्वतेजसा' (आदिपर्व १६०।१३)। केवल महाभारतमें यहीं

नहीं, किन्तु दूसरे स्थानमें भी कहा है—‘दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राहिताः संस्कृतास्तथा । ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छया इवाग्नयः’ (वनपर्व २००।८८) यथा स्मशाने दीप्तौ जा. पात्रं नैव दुष्यति । एवं विद्वान् अविद्वान् वा ब्राह्मणो देवत्वं महत्’ (२००।८९) यहाँ भी अविद्वान् ब्राह्मण कहा गया है । इससे अधिक स्पष्ट तो इस श्लोकमें कहा है— ‘अविद्वान् ब्राह्मणो देव’ पात्रं वै पावनं महत् । विद्वान् भूयस्तरो देव’ पूर्णसागरसंज्ञिभू’ (अनुशासनपर्व १५२।२०) इस प्रकारके बहुतसे श्लोक, श्लोक क्या, अध्यायके अध्याय भी महाभारतमें भरे हुए हैं जो मान्य-गिरु हैं; क्या सब जगह प्रसिद्धता ही है ? वस्तुतः ‘प्रसिद्धता’ कहना अपने पक्षकी नियंत्रिता बताना है ।

(१) अब मनुस्मृतिका श्लोक भी देखिये—‘न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेन बहिष्कृत्वात् समप्रघनमचतम्’ (८।३८०) इससे तथा महाभारतके पूर्व श्लोकमें हमने जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका मण्डन तथा कर्मसे वर्ण-व्यवस्थाका लण्डन किया था । पर डाक्टर भगवान् दासजीने हममें निम्तर होकर अपने पक्षके बचावके लिए इन श्लोकोंकी प्रसिद्धतायें प्रयत्न करके अपने पक्षको शिथिल सिद्ध कर दिया है । हमने तो इसका ‘राष्ट्रादेन बहिष्कृत्वात्’ यह उत्तरार्थ लिखा था, पर डा० जी ने उसे छोड़ दिया, कदाचित् इससे उन्होंने आगेके अपने लण्डनका लण्डन देव लिया ही ।

डाक्टर महाशय ! मनुजीने ‘न ब्राह्मणो हिंसितव्यः’ (अथर्व० २। १८।१, २।१९।८) इत्यादिक वेदमन्त्रोंके अनुकूल ब्राह्मणकी हिंसा-निषिद्ध की थी, परन्तु उसे सर्वथा दण्डसे छोड़ा भी नहीं गया, राष्ट्रमें बाहर पर देनेका दण्ड उसे भी दिया गया है । यह अन्य वर्णोंकी अपेक्षा दण्डमें तात्तम्य तो है, बड़े पापमें दण्डका सर्वथा

अभाव नहीं है, वा पापार्थ प्रोत्साहन नहीं है। हाथसे निकाल देना एक बड़ेके लिए छोटा दण्ड नहीं है। जबकि मनुस्मृति ब्राह्मणकी अन्य वर्णोंकी अपेक्षा बड़ा माफती है, तब इससे स्पष्ट है कि उसके लिए दण्डका तारतम्य भी रखना चाहिये। पर मनुजी इससे ब्राह्मणोंको सब पापोंके करनेकी विधि नहीं बताते; बल्कि सर्व पापोंमें स्थित भी उसे ब्राह्मण कहकर और उसे अन्य वर्णोंकी अपेक्षा लघु दण्ड देकर जन्मसे वर्ण-व्यवस्था बताते हैं।

(७) जब मनुजीने 'सर्ववर्णेषु तुल्यासु परस्मिन्वर्तयोन्यिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या शेषास्त एव ते' (१८१) इस पद्यमें तथा दूसरे पद्योंमें अपना उत्तरपक्ष जन्मसे वर्ण-व्यवस्थाका स्थिर किया है, तब उन्हीं मनुजीका वर्ण-व्यवस्थाका साधक यह (८३८०) श्लोक (जिसका समर्थन महाभारतकारने अश्वत्थामाके अपराधके दण्डके अवसर पर किया है) प्रसिद्ध कैसे हो सकता है ? वा ग्रन्थकारके अभिप्रायके विरुद्ध कैसे हो सकता है ? इसी प्रकारका मनुजीका यह श्लोक भी देखिये—'एवं यद्यप्यनिन्द्येषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु। सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं देवतं हि तत्' (१३१६) इस प्रकारके अन्य भी श्लोक हैं।

(ख) अन्य देखिये—मनुजी ब्राह्मणके, क्षत्रियके, वैश्यके दान, अध्ययन, तथा यज्ञकर्म आी समान कहते हैं; परन्तु उनकी वृत्तिमें केवल भेद बताते हैं। यदि कर्मसे वर्ण-व्यवस्था मनुजीका सिद्धान्त होता; तो तीनोंके समान कर्मविभागमें वे वर्ण तीन क्यों मानते हैं ? सभीको चर्च पहले (जन्म) से बताते हैं; पीछे उनके लिए कर्म बताते हैं, परन्तु डाक्टरजी मनुजीके अभिप्रायसे विरुद्ध पहले कर्मोंको मानते हैं, पीछे वर्णोंको मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि—मनुजीके मतमें कर्मसे वर्ण-व्यवस्था नहीं; किन्तु यह जन्मसे ही है। जहां कर्मसे वर्ण-व्यवस्था प्रतीत होती है; वहां पूर्वजन्मके कर्म दृष्ट होते हैं—इस जन्मके नहीं।

जब ऐसा है, तो हमसे उद्धृत, मनुजीके उत्तरपक्षका पौपख रजोख प्रसिद्ध वा परिवर्तित कैसे हो सकता है ?

(८) जो मि—डा० भ० दा० जी बताते हैं मि—“जो श्लोकार्थ उक्त सज्जनने उद्धृत किये हैं [हमने मनुजीका पौना रजोख उद्धृत किया था, आधा नहीं । इसमें डाक्टरजीका कर्म असत्यका है । हमसे उद्धृत मनुके पक्षका तीसरा पाद श्री भ० दा० के सारे पक्षको ही काट रहा है क्योंकि मनुजीने ब्राह्मणके लिए कुछ दण्डविधान कहा ही है, अपराधमें उसे दण्डसे सर्वथा उन्मुक्त भी नहीं किया गया ।] उनके विषयमें क्या लिखें । सिर नीचा करके चुप रहना ही अच्छा होता, किन्तु जो प्रसंग चला है, यह इतना लिखनेको विषय करता है कि— कोई सद्व्यवस्थाका सद्ब्राह्मण उनको अपनी जिद्दा पर नहीं लाएगा । जो ‘सदसद् वा समाचरन्’ होगा, ‘सर्वापापेष्ववस्थित’ होगा, वही उचित दण्डसंघटनेके लिए ऐसा कहेगा ।”

यह लिखकर डा० भ० दा० जीने अपनी असर्वतोमुखीन दृष्टिका परिचय दिया है । हमने उक्त पक्षको ‘ब्राह्मणको पाप करना चाहिये’ इतने विधिके लिए नहीं दिया । हमने तो “इन रजोखोंसे ‘कर्मणा वर्णव्यवस्था’ का सिद्धान्त मनुजीको तथा व्यासजीको इष्ट नहीं, किन्तु उन्हें इनसे ‘जन्मना वर्ण व्यवस्था’ ही इष्ट है” इस बातको बतानेके लिए दिया है । यह डाक्टरजीने देखकर भी क्यों नहीं देखा ? जिसलिए हमसे लिखे तीसरे पादको छिपाया ? क्या यह उनका सत्य व्यवहार है ? क्यों उन्होंने प्रकरणको छोड़कर अप्राकरयिकता वा अन्य सरणिका आश्रय लिया ?

तथापि डाक्टरजीको यहां यह जानना चाहिये कि एक पुरषके चार पुत्र हो, उन चारोंने असत्यवचनरूप अपराध किया हो, समाज भी दण-

राधमें 'प्रजावत्सल' पिता यथाधिकार दण्डमें तारतम्य करता है। 'वह अपने बड़े लड़केको उस अस्त्य व्यवहारके अपराधसे वैसा दण्ड नहीं देता, जैसा छोटे पुत्रको। छोटेके गाल पर वह थप्पड़ मारता है, पर बड़ेसे वैसा व्यवहार नहीं करता, किन्तु उसे इतना ही कहता है कि—'मुझे तुमसे ऐसी आशा नहीं थी'। दूसरेको कुछ डाँटकर इतना ही कहता है—'हुट ! फिर ऐसा न करना'। तीसरेका कान मरोड़ लेता है। चौथेको अस्त्य व्यवहारके लिए चपेट मारता है वा छड़ीसे मारता है। इस प्रकार विद्यालयोंमें भी दण्डका तारतम्य देखा जा सकता है। इस तारतम्यको यदि कोई धर्मशास्त्रकार कहे, तो क्या डाक्टरजी यही कहेंगे कि इस पिताने बड़े पुत्रको छोटे पुत्र वाला दण्ड न देकर बड़ेको अस्त्य व्यवहारके लिए प्रोत्साहन दिया है ! नहीं-नहीं, ऐसा नहीं। ऐसा कोई निष्पक्ष विचारक नहीं मान सकता।

बीरबलने ६० बार चोरीके अपराधमें पकड़े हुए चार पुरुषोंको उनका पद देखकर दण्डविधान कर दिया। उसमें पहलेको कहा कि—'मुझे तुमसे तो ऐसे दुष्कर्मकी आशा नहीं थी। दूसरेको कठोर शब्दोंसे डाँटा। तीसरेको पेट मरवाया। चौथेका मुँह काला करके उसे गधे पर चढ़ाकर नगरमें घुमवाया। फिर उसने उनका परिणाम जाननेके लिए जासूसोंको छोड़ा। पता लगा कि—पहलेने तो इससे अपनी येइज्जती समझकर आत्महत्या करली। दूसरा भी इस प्रकारके काममें फिर शामिल न होनेकी प्रतिज्ञा करके उससे हट गया। तीसरा भी फिर वैसे अपराधमें पकड़ा नहीं गया, पर चौथा फिर वैसे अपराधमें पकड़ा गया। तो क्या डाक्टरजी यही कहेंगे कि—पहले-दूसरेका भी काला मुँह फरके उन्हें भी गधे पर चढ़ाकर घुमाना चाहिये था, नहीं, कभी नहीं। जैसे साहित्यमें 'क्वचिद् दोषस्तु ममता मार्गाऽभेदस्वरूपिणी' समता गुण भी रचनाका दोष माना गया है, वैसे दण्ड तथा श्रद्धा

समान दण्ड भी दोषाधायक ही है। यह डाक्टरजीको दूरदर्शितासे सोचना चाहिये।

(६) मनुस्मृतिमें ऐसा ब्राह्मण आदियोंमें व्यवहार-तारतम्य सर्वत्र देखा गया है। कच्छद्वारीके अश्वका ही तारतम्य देखिये—‘ग्रहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्, सत्त्वं ग्रहीति पार्थिवम्। गोवीजकाञ्चनैर्वैश्यं, शुद्रं सर्वैस्तु पातकैः’ (८।८८) यहाँ आर्यसमाजी श्रीगुलसीराम स्वामीसे किया अर्थ देखिये—‘कहो’ ऐसा ब्राह्मणसे पूछे और ‘सच बोल’ ऐसा क्षत्रियसे पूछे, और ‘गाय, बीज, सुवर्णके चुरानेका पातक तुमको होगा जो कूठ बोलोगे तो’ ऐसा कहकर वैश्यसे पूछे, ‘सब पातक तुमको लगेंगे, जो कूठ बोलोगे तो’ ऐसा कहकर शुद्रसे पूछे। देखिये—ब्राह्मण-का दूसरोंकी अपेक्षा मनुजीने प्रदत्त भी तारतम्य बताकर कितना सम्मान रखा है? और देखिये—‘शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति। वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शुद्रस्तु वधमर्हति’ (८।२६७) ‘पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिर्धंसने (आघेपे)। वैश्ये स्याद् अर्धपञ्चाशत्, शुद्रे द्वादशको वधः’ (८।२६८) यहाँ कुल्लूकने कहा है—‘ब्राह्मणः क्षत्रियस्य उक्तरूपाघेपे कृते पञ्चाशत् पणान् दण्ड्यः। वैश्ये, शुद्रे च यथोक्तान्मोशे कृते पञ्चविंशतिर्द्वादश पणाः। ममेव ब्राह्मणस्य दण्डः स्यात्’। मनुजीने यहाँ ब्राह्मण आदियोंके दण्डविधानमें कैसा तारतम्य किया है? पूर्व-श्लोकमें ब्राह्मणको दण्ड क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा न्यून मात्रामें दिया गया है। उसे दण्डसे सर्वथा छोड़ा भी नहीं गया।

(१०) डा० भगवान्दासजी कहते हैं—‘कोई सदहृदयका सद-ब्राह्मण उन दो श्लोकोंकी अपनी जिह्वा पर नहीं लावेगा। जो ‘सर्वपापे-त्वंवस्थित’ होगा, वही उचित दण्डसे बचनेके लिए ऐसा कहेगा’ परन्तु डा० जी यह नहीं सोचते कि—यह पद्य म सो हमने कहा है, न ही किसी अन्य ब्राह्मणने, किन्तु आपके शब्दोंमें ‘अनाजसत्’ वेदमूलक

यथाधिकार दण्डविधि बनाने वाले, प्रजापति मनुने कहा है; और मनु ने उसे अनूदित किया है। पूर्व दण्डान्तकी भाँति इसमें भी कोई अनौचित्य नहीं, जिससे प्रक्षिप्तताकी शङ्काको अवकाश मिले। ज्येष्ठ-पुत्र होनेसे ब्राह्मणको कनिष्ठ-पुत्रकी तरह शारीरिक दण्ड न देकर राष्ट्रसे बहिष्कार रूप दण्ड ही मनुजीने दिया है। केवल उसीने नहीं, बल्कि—‘गीतम-धर्मसूत्र’ में भी कहा है—‘राजा सर्वस्य ईष्टे ब्राह्मणवर्जम्’ (१।२।१, १।१।१)। तब वहाँ प्रक्षिप्तता कैसे हो सकती है? वा उसके लिए पापा-शायिधानरूपता कैसे हुई?

हमने तो उक्त श्लोक मनुजीके इस हृदयके प्रकाशनार्थ उद्धृत किया था कि—डाक्टरजीसे भी आदरणीय मनुजीको ‘कर्मणा वर्ण-व्यवस्था इष्ट नहीं; किन्तु ‘जन्मना’ ही इष्ट है, परन्तु डा० जीने इसका उत्तर क्यों नहीं दिया? इसमें वे क्या अनुपपत्ति देखते हैं जिससे वे शिर नीचा करना या चुप रहनेका संकेत करते हैं, वा प्रक्षिप्तताकी शङ्का करते हैं। मनुने उसके लिए राष्ट्रनिर्यासनका दण्ड दिया ही है, यह उसके लिए छोटा दण्ड भी नहीं है। इसलिए इसमें कोई अनुपपत्ति, वा प्रक्षिप्तता, वा मनु-भिन्न प्रणीतता भी नहीं। इसकी अप्रक्षिप्ततामें प्राचीन नाटक ‘मृच्छकटिक’ भी साक्षी देता है। उसमें कहा है—‘अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मंनुरवधीत् । राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवै-रक्षतैः सह’ (१।३।१)। इसकी ‘न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समप्रघनमक्षतम्’ (८।३।८०) इस मनु-पद्यसे तुलना कीजिये। इसी तरह का अन्य श्लोक भी मनुस्मृतिमें देखिये—‘आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यम—साहसः । विवास्यो वा भवेद् राष्ट्रात् सद्रव्यः सपरिच्छदः’ (६।२४१) मनुस्मृतिमें प्रक्षिप्तता मानने वाले धीतुलसीराम स्वामीने भी इसे प्रक्षिप्त नहीं माना। तब उक्त मनुपद्यका प्राचीन नाटकसे स्मरण किया जानेसे, दूसरे स्थलमें

उसका अनुवाद करनेसे, इसके उदाहरणमें पापिष्ठ अश्वत्थामा प्रक्षय को दैहिक-दण्ड = मित्रनेसे उसकी अप्रतिष्ठता ही सिद्ध हुई। इस प्रकार प्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' में भी इसका समर्थन देखिये—'सर्वापराधेषु अदण्डनीयो ब्राह्मणः' (४।८।३२), 'ब्राह्मणं पापकर्माणमुद्गुप्याङ्ककृतवणम् । पुर्यान्निविष्य राजा वारुण्येदा-
क्रेषु वा' (४।८।३८) । अब क्या डाक्टरजीकी उक्त मनुपद्यकी प्रदिष्ट कहने की शक्ति है ?

(११) 'प्रयुक्त कोई सद्बुद्धका मदब्राह्मण उनको अपनी जिह्वापर नहीं लायेगा' यह वाक्य उसी 'आज्ञ' पत्रके १ म पृष्ठ, २ व स्तम्भमें लिखकर तथा अपने 'मानवधर्मसार' के ४६ पृष्ठमें 'नहि सद्ब्राह्मणः कश्चिन् पयतुमेवमिहाहंति' लिखकर श्रीभगवान्दासजीने अपना (कर्मणा वर्ण-व्यवस्था) मिद्धान्त भी काट दिया है। 'सद्ब्राह्मण' शब्द से डा० जीने 'असद्ब्राह्मण' को भी मान लिया है; नहीं तो 'ब्राह्मण' के साथ 'सद्' शब्दके देनेकी आवश्यकता नहीं थी। इसीलिए उसी पत्रके छठे पृष्ठके १म स्तम्भमें डा० जीने 'असद्ब्राह्मण' की घोर निन्दा भी की है। इस अपने वाक्यमें 'असद्ब्राह्मण' शब्द स्पष्ट कह दिया है। और 'जो 'सर्वपापेष्वस्थित' होगा' इस अपने वाक्यमें डा० जीने 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' को चरुनाचूर कर डाला है।

इसका यों समझिये—'आज्ञ'में प्रकाशित डा० जीके लेखमें लेखकका नाम सम्पादकने लिखा है—'अद्वेय भगवान्दास'। यह भगवान्दासजी मनुष्य है, पर उक्त नामके साथ सम्पादक वा लेखकने 'मनुष्य' विशेषण क्यों नहीं दिया ? वहाँ यही उत्तर होगा कि इस लेखके लेखक डाक्टर भगवान्दास कभी 'अमनुष्य' नहीं हो सकते। तब क्यों 'मनुष्य' यह शब्द विशेषण दिया जाय ? 'अद्वेय' विशेषण तो सम्पादकने इसलिये दिया है कि अन्य अग्रवाल वैश्यगणकी अपेक्षा डा०जी अधिक सद्-

गुणकर्म वाले हैं, अथवा अधिक संस्कृत विद्वान् हैं। सद्यैश्य तो ऐसे नहीं। इस कारण अन्य वैश्योंके नामके साथ 'अद्वेष' विशेषण न लगाकर सम्पादकने इन्हींके नामके साथ उक्त विशेषण दिया। इसीसे यह व्याय प्रसिद्ध है—'सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्वाद् विशेषणमर्थवत्' अर्थात् विशेषण तब सार्थक हुआ करता है, जब अपने विशेष्यमें हो भी सके, और जैसे अन्य विशेष्यमें व्यभिचरित भी हो (न हो सके), परन्तु 'मनुष्य' यह विशेषण सद्यै विशेष्यभूत लेखकोंमें सम्भव होता हुआ भी किसीमें व्यभिचारको प्राप्त नहीं हो सकता, तब 'अव्यभिचारमें विशेषण नहीं हुआ करता' यह सोचकर 'मनुष्य' यह विशेषण मनुष्यों के नामके साथ नहीं दिया जाता।

अब प्रकरण पर आइये—कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाके आग्रही डा० जी सत्कर्मोंसे ही ब्राह्मणत्व मानते हैं, असद् गुणकर्मोंसे नहीं। इस प्रकार यदि ब्राह्मणत्वका सद्गुणकर्मोंसे सर्वथा अव्यभिचार है, तो ब्राह्मणके साथ 'मनुष्य' विशेषणकी व्यर्थताकी तरह 'सद्' यह विशेषण भी अव्यभिचार होनेसे व्यर्थ है। इस कारण 'कर्मणा वर्णः' मानने वालोंको तो 'ब्राह्मण' शब्दके साथ 'सद्' यह विशेषण भी व्यर्थ होनेसे प्रयुक्त नहीं करना चाहिये। परन्तु इस पक्षके डा० जी 'सद्ब्राह्मण' शब्द लिखकर दो ब्राह्मण सिद्ध कर रहे हैं कि—'सद्ब्राह्मण' तो 'सर्वपापे-ष्ववस्थित' न होना चाहेगा, परन्तु 'असद्ब्राह्मण' तो 'सर्वपापेष्ववस्थित' होना चाहेगा। यदि ऐसा है; तो 'सर्वपापेष्ववस्थित' ब्राह्मणको भी डा० जीने 'आज्ञ' पत्रमें स्वयं ही कहे हुए 'असद्ब्राह्मण' शब्दसे

‘ब्राह्मण’ मान लिया, तब ‘कर्मणा धर्माभ्यवस्था’ उनके सिद्धान्तका सर्वथा रसखेन हो गया। भेद केवल यही रहा कि—डा० जी असद्-ब्राह्मणको भी शुद्ध जैसा दण्ड दिखाया चाहते हैं, परन्तु ब्राह्मणको ज्येष्ठपुत्र मानने वाले मनुजी ‘विश ! एष वोऽमी ! राजा सोमोस्मार्कं ब्राह्मणानां राजा’ (यजुः वा० सं० १।४०) इस मन्त्रसे ब्राह्मण पर राजशासनको वेद-विरुद्ध मानते हुए राजा द्वारा ब्राह्मणको शुद्धादिकी तरह मारना पीटना दण्ड न दिखवाकर लोकव्यवस्थार्थ अपने शासनसे बाहर कर देना ही दण्ड चाहते हैं। डा० जी तो जायद उस ब्राह्मणको अब्राह्मणके मुख्य दण्ड इसलिए दिलाना चाहते हैं कि वे स्वयं ब्राह्मण न हों, या ब्राह्मणवासल न हों, या ब्राह्मणको बड़ा मानने वाले न हों, या यथाधिकार दण्डका तारतम्य मानने वाले न हों, सभीको एक लाठी-से हांकना चाहते हों, पर मनु ब्रह्माके पुत्र होनेसे ब्राह्मणवासल थे, ब्राह्मणको ही वेदानुसार बड़े मानने वाले थे और यथाधिकार दण्डके तारतम्य मानने वाले थे, इस कारण उन्होंने अपनी स्मृतिमें ब्राह्मणादिके दण्डमें तारतम्य भी रखना ही था।

अब डा० जी ही कहें कि आपके लेख में लिखा ‘असद्-ब्राह्मण’ शब्द प्रसिद्ध है, या आपका अपना है ? यदि ‘प्रसिद्ध’ है, तो इसमें क्या प्रमाण है, क्योंकि उस उल्लेखमें प्रकरणका व्याकोप या कोई भी असंगति नहीं दीखती। यदि ‘असद्ब्राह्मण’ शब्द डा० जी ने ही लिखा है, ‘प्रसिद्ध’ नहीं, तो उसी शब्दसे ही ‘कर्मणा धर्माभ्यवस्था’ यह

डाक्टरजीका सिद्धान्त* सखिडत हो गया, क्योंकि—उनके मतमें 'असत्' कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता। इस प्रकार उनका लिखा 'असद्-ब्राह्मण' शब्द उनके मतसे विरुद्ध होने पर भी यदि उनके लेखमें प्रक्षिप्त नहीं, तब 'पापयुक्त भी ब्राह्मण (असद्-ब्राह्मण) को भी ब्राह्मण कहेंगे था' वैसा मानने वाले श्रीमनु और श्रीग्यासका वचन भी उनके मतसे विरुद्ध होने पर भी प्रक्षिप्त नहीं। इसमें विश्वास भी करना पड़ता है, नहीं तो मनुस्मृतिके डा०जी से लिखें श्लोक ही शायद मनुके न हों, किन्तु किसी ब्राह्मणद्वेषीने ही प्रक्षिप्त कर दिये

* इसी प्रकार डा० भ० डा० जीने स० १६७७ में पौप मायकी 'आज्ञ' की कई संख्याओंमें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि—'कारण' हिंदुविश्वविद्यालयके 'धर्म-विज्ञान' विभागका यह निश्चय कि—'धर्म-शिक्षकके पद पर ब्राह्मणोत्तर व्यक्तिकी नियुक्ति नहीं होगी—यह अनुचित है; क्योंकि—वर्ण-व्यवस्था केवल कर्मसे ही शास्त्र सम्मत है'। इस उनके वाक्यसे भी 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' ही सिद्ध होती है। यदि वे 'कर्मणा वर्णः' मानते हैं, और अब वे विद्वत्तासे ही ब्राह्मण मानते हैं, तो 'अब्राह्मण हिंदुविश्वविद्यालयके धर्मविज्ञान विभागके अध्यापक न हों' इस विश्व-विद्यालयकी घोषणाका विरोध क्यों करते हैं? अब करते हैं, इससे वे अविद्वान् भी जन्मके ब्राह्मणको ब्राह्मण सिद्धान्तित करते हैं, नहीं तो 'ब्राह्मणोत्तर जातिवाले भी 'हिंदुविश्वविद्यालयके अध्यापक हो सकते हैं' इस श्री-मगधोन्दासजीके अभिप्रेत वाक्यका अन्य क्या अर्थ है? क्योंकि—अविद्वान् तो वहां स्वतः ही पढ़ा नहीं सकेगे, तब स्वयं ही अविद्वान्के अब्राह्मण होने से उनके मतमें उसका निषेध प्रतिफलित हो जाता है। तब उन्होंने अब्राह्मण को भी धर्मशिक्षकके पदमें रखनेका आन्दोलन क्यों चलाया? इससे उनके सिद्धान्तमें भी जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हो गई। यह उनका अपनेसे ही स्वयं खण्डन हो गया।

हों। डा०जीके पास उनकी अप्रचिप्ताता क्या प्रमाण है? तब प्रचिप्ताताके इयाजको हटाकर डाक्टरजी तथा तत्सदस्य अन्य वादियोंको 'उक्त पद्यसे जन्मसे वर्ण व्यवस्था नहीं निरुल्ल सकती' यही सिद्ध कर दिवाना चाहिये। यदि डा० जी ऐसा न करके प्रचिप्ताताके यद्धानेमें अपने निदान्तकी सरखिके काटे इस रूलोम्को हटाना चाहें, तो उनके सिद्धान्तकी सरखिका कण्टकाकीर्ण होना छिप न सकेगा, इसमें उनके पक्षकी शिथिलता स्वयं ही सिद्ध हो जायगी।

(१२) फलत 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्तमें 'असद्-ब्राह्मण' शब्दका भी अत्यन्ताभाव होना चाहिये, 'सद्-ब्राह्मण' शब्दका भी। 'कर्मणा वर्णः' सिद्धान्तमें ब्राह्मणके 'असद्' इस विशेषणका अत्यन्ताभाव असम्भव होनेसे होगा, और 'सद्' इस 'ब्राह्मण' के विशेषणका अत्यन्ताभाव 'कर्मणा वर्णः' सिद्धान्तमें व्यर्थताके कारण होगा। इस प्रकार 'कर्मणा वर्णः' सिद्धान्तमें 'असत् शूद्र' और 'सत्-शूद्र' का भी अत्यन्ताभाव होना चाहिये। उक्त सिद्धान्तमें 'सत् शूद्र' शब्दका अत्यन्ताभाव सर्वथा व्यवभिचारके कारण होगा, और 'असत् शूद्र' शब्दका अत्यन्ताभाव सर्वथा अव्यभिचारमूलक व्यर्थताके कारण होगा। परन्तु जबकि 'असद्-ब्राह्मण' और 'सद् ब्राह्मण' शब्दकी, तथा 'असत् शूद्र' तथा 'सत् शूद्र' शब्दकी सत्ता डाक्टरजीके लेखमें है, जैसाकि—'भारतीय संस्कृति सम्मेलन देहलीके चतुर्थाधिवेशनके उनके भाषणके २२-२६ पृष्ठमें उन्होंने लिखा है—'सर्व ब्राह्मणों, सर्व क्षत्रियोंकी प्रशंसा प्राचीनों नहीं की है, प्रत्युत कुत्सितों [ब्राह्मण क्षत्रियों] को घोर जुगुप्सा और भर्त्सना की है। यह दिखानेके लिए मनुके कुछ श्लोक यहाँ पर्याप्त होंगे, अन्य बहुतसे मनु, महाभारत आदिमें भरे हैं—'वैदालवतिके द्विजे' (४।१।६१) 'हेतुकान् वरवृत्तींश्च' (४।२०) 'न वरवृत्तिके विभ्रे, नावेदविदि धर्मवित्' (४।१।६२) 'सद् ब्राह्मण, सत्-क्षत्रियोऽने भारतको

बहुत ऊंचे उठाया, असद्-माहणों और असत्-क्षत्रियोंने उतना ही नीचे गिराया' यहां डा० जीने 'कुमाहण कुक्षत्रियकी कुत्सा' इस शीर्षकमे लिखा है। जबकि शास्त्रमें भी ऐसा लिखा है, जैसे कि—'धर्मनिष्ठान् श्रुतयतो देव-महा-समाहितान्। अर्चयित्वा भजेथास्त्वं गृहे गुणवती द्विजान्' (महाभारत शान्तिपर्व ७१३) 'दुर्माहणं शिरःकम्पेन न सोपा-यनमपि' (बार्हस्पत्य अथंशास्त्र ७०) 'कुमाहणः, सुमाहणः, कुवृषलः, सुवृषलः, दुर्माहणः, दुष्टपलः' (महाभाष्ये २।२।१८) यहां सुमाहण, सुमाहण शब्द आये हैं, तब इन शब्दोंकी सत्तासे 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' सिद्धान्तका ही खण्डन हो गया। केवल सुकर्मसे उन-उन वर्णोंकी प्रतिष्ठा, तथा कुकर्मसे उन-उन वर्णोंकी अप्रतिष्ठा ही सिद्ध हुई, वर्ण-परिवर्तन नहीं। इस जन्मके कर्म अपने-अपने वर्णमें उत्तम, मध्यम, अधम करने वाले होते हैं, उन-उन वर्णोंके उत्पादक नहीं। हां, इस जन्मके कर्म अग्रिम जन्ममें तदनुकूल वर्णको कर दिया करते हैं।

यदि सुकर्म तथा कुकर्मसे वर्ण-व्यवस्था हो तो क्षत्रिय-वैश्य वर्णोंकी पृथक् आवश्यकता ही नहीं रहती। तब केवल माहण और शूद्र ही हो सकते हैं। इन्हीं माहण और शूद्रोंमें जो शुद्धादि कार्य सम्भाज लें वही क्षत्रिय, जो घनादि कार्य करें, वे इन्हींमें वैश्य हो जाएंगे। तब क्षत्रिय और वैश्यके साथ सुकर्म तथा कुकर्मका सम्बन्ध ही अनुपपन्न हो जायगा, परन्तु शास्त्रोंमें जब चार वर्ण कहे गये हैं, तब जन्मसे ही इनका भेद है, कर्मसे नहीं। कर्मसे प्रतिष्ठामें तारतम्य होता है, वर्णमें परिवर्तन नहीं। क्या डा० भगवान्दासजी तथा अन्य वादी यहां ध्यान देंगे ?

इससे 'सज्जनं विद्वान् विचार करें कि—ऐसे श्लोकों पर—आग्रह करनेसे अहङ्कार-तिरस्कार और परस्पर वैमनस्य बढ़ता है, अथवा सौमनस्य, और परस्पर वैमनस्य बढ़ता है, अथवा सौमनस्य और

शान्ति, तुष्टि पुष्टि प्रीति' डा० जीका यह वाक्य प्रसुक्त हो गया ।
 "मैं तो ऐसे रत्नोंको प्रसिद्ध ही मानता हूँ" ऐसा क्यों न कहें,
 क्योंकि—इससे आपका पक्ष बढता है । पर एक व्यक्ति वा पक्षपाती
 वादिसमाजके कथनमात्रसे इन प्रमाणोंकी प्रसिद्धता कैसे हो जावेगी ?

(१३) "क्योंकि इनके विरोधी रत्नोंके विस्पष्ट और न्यायोचित
 'मनु महाभारत' में मिलते हैं" डा० जीके सामने हमने महाभारत तथा
 मनुका उत्तरपक्ष तथा हृदय दिखला ही दिया है । इससे जन्मना
 वर्ण-व्यवस्थाके प्रतिपादक वचन तो इन दोनोंका सिद्धान्त पक्ष ही है ।
 कर्मणा वर्ण-व्यवस्था तो उन दोनोंने कहीं दिखलाई ही नहीं । जहा-
 कहीं उसका आभास दीखे, वहा कर्मका प्रशंसार्थवाद तथा कर्म म
 करने वालेका निन्दार्थवाद ही होता है, ऐसा आन लेने पर विरोध
 स्वयं हट जाता है । जैसे 'मानवधर्मसार' (५० ४६) में डा० जीसे
 दिया गया हुआ—'योनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुश्ते श्रमम् । स जीवन्नेव
 शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः' (२।१६८) यह मनुपक्ष ही देर लीजिये
 यह स्पष्ट अर्थवाद है । नहीं तो पढ़ता वेद नहीं है एक पुरष, पर
 उसका निरपराध भी, वेदपाटी भी सारा वंश (पुत्र, पौत्रादि) उससे
 शूद्र कैसे हो सकता है ? ऐसा होने पर तो बिना अपराध शूद्रत्व
 होने पर 'अकृताभ्यागम' वेद पढ़ने पर भी शूद्रत्व होनेसे 'वृत्तहान'
 दोष उपस्थित होता है । तब स्पष्ट है कि—यह 'साहित्यसङ्गीतकला-
 विहीन' साक्षात् पशु पुच्छविपात्यहीन.' (भर्तृहरि.) 'विद्याविहीन' पशु'
 (भर्तृ०) आदि की तरह निन्दार्थवादात्मक गुणवाद है । जैसेकि—इस
 पर श्रीमेधातिथिने लिखा है—'शूद्रत्वप्राप्तिवचनं निन्दातिशयः' ।
 इसलिए इससे उस ब्राह्मणका शूद्र हो जाना इष्ट नहीं, जैसेकि—
 'शूद्रत्वाप्तिस्तु तथापि' यह 'मानवधर्मसार' में उक्त पद्यके आगे
 डा० जीने लिखा है, किन्तु यहां 'शूद्रत्वं' का अर्थ 'शूद्रसदृशता' ही

है। केवल हम ही नहीं कहते, वसिष्ठजी भी अपने धर्मसूत्रमें इसका अर्थ यही कहते हैं। जैसेकि—‘अश्रोत्रियाः [अवेदपाटिनः]... शूद्रसधर्माणो भवन्ति (३।१) मानवं चात्र श्लोकमुदाहरन्ति (३।१) ‘योनधीत्य द्विजो वेदं ..सजोवन्नेव शूद्रस्य’ (वसिष्ठधर्मसूत्र ३।३)।

बहिक—‘जीवन्नेव शूद्रस्य’ में ‘जीवन् एव’ इस ‘एव’ शब्दसे बल देना ही सिद्ध कर रहा है कि—वर्ण-परिवर्तन मरणोत्तर होता है, जीते जी नहीं। इसी अर्थकी सिद्धिके डरसे इस जीवनमें वर्ण-परिवर्तन मानने वाले स्था० दयानन्दजीने स० प्र० में इस श्लोकके अर्थ करनेके समय ‘जीवन्नेव’ पदका अर्थ ही छिपा लिया, नहीं लिखा। पर वेद-विद्याकी छोड़ देना ऐसा भारी पाप है कि—वह जीते जी शूद्र जैसा हो जाता है। इसे संभी स्पष्ट ही अर्थवाद मानेंगे, यदि यह अर्थवाद न होता, तो ‘जीवन्नेव’ में ‘एव’ शब्द न होता, प्रशुत ‘एव’ ‘अनियम-नियमः’ दोषयुक्त होता। यह इस प्रकारका अर्थवाद है, जैसेकि—‘वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् । इदं लोकं तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते’ (मनु० १२।१०२) इस लोकमें ब्रह्मभाव (मुक्ति) नहीं होता, किन्तु परलोकमें। यह इसीमें स्थित ‘एव’ शब्दसे सिद्ध होता है। यह वेद पढ़नेका प्रशंसा-अर्थवाद है, पूर्व पद्य वेद न पढ़नेका निन्दा-अर्थवाद है। नहीं तो डा० जीके अपने ही लड़के वेदविचारसहितसे शूद्र हो जावेंगे। क्या डा० जी तथा वे यह स्वीकार कर लेंगे? इसी प्रकार डा० जीसे दिया हुआ ‘न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमात् । स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः’ (मनु० २।१०३) यह श्लोक भी समाहित हो गया। इसमें ‘शूद्रवद्’ है, ‘वति’ प्रत्यय तुल्यतामें होता है, वही हो जानेमें नहीं। यदि डा० जी कहें, कि—‘तत्रापि दण्डो हि मनुना धृतः’ (मानव० घ० सा० ४०-४६); सो मनुने सर्वपापेभ्यश्चि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्’ (दा३८०) यहाँ भी तो

राष्ट्र-यहिष्कारका दण्ड दिया है; तब इन दो पक्षोंके दृष्टान्तसे डा० जी उक्त पक्षको प्रक्षिप्त कैसे कह सकते हैं? तब इससे 'नैतद् धीरतमं पापं वेदानध्ययनं तु यत् । सर्वपापक्षमं नापि मन्थोपासनवर्जनम् । शूद्रत्वा-
प्लिस्तु तत्रापि दण्डो हि मनुना धृतः । ब्राह्मण्यमवशिष्येत सर्वपापस्थितौ कथम्' (पृ० ४६) डा० जीके इस कथनका भी स्पष्टन हो गया । क्योंकि—मनुके उक्त पक्षोंमें शूद्रसंश्लेष तो बताई गई है, पर शूद्रवर्ण होना, ब्राह्मण वर्ण हरना नहीं बताया । 'द्विजकर्मणो यहिष्कार्यः' कहा है 'द्विजाद्याद् यहिष्कार्यः' नहीं कहा । सो ऐसा ब्राह्मण यज्ञादि दूसरेको न करावे—यह आशय है । तब स्पष्ट सम्भ्या न करनेका निन्दार्थवाद तथा सम्भ्या करनेका प्रशंसार्थवाद होनेसे पूर्व पक्ष (सर्वपापेप्यवस्थितम्) मनुका अनर्भट सिद्ध न हुआ । इसी प्रकार 'सिनवधर्मसार' में डा० जीके दिये हुए 'ये वक्ष्यन्ति नो विप्रो ये च मार्जारतिष्ठिन । न वार्यपि प्रयच्छेत् तान्' इस मनुपक्षसे शूद्र मार्जारवती विप्रको पानी देनेका निषेध तो किया गया है, पर उसका विप्रत्व (ब्राह्मणत्व) नहीं छीना गया । इससे जहाँ डा० जीका 'धर्मणा वर्णः' सिद्धान्त स्पष्टित होता है, वहाँ उससे दिखलाया हुआ मनुपक्षोंका परस्पर विरोध भी हट जाता है, पर यायू भगवान्दास आदि वादी पक्षदादि वचनोंको एक धार्यसे ही देना करते हैं, उन पर सर्वतोमुखी दृष्टि नहीं डालते । इस कारण उनके दृष्टिकोणमें अपने सिद्धान्तकी रक्षार्थ प्रक्षिप्ततायोपस्थाके बहानेके बिना काम नहीं चलता, और उन्हें पुस्तकोंमें विरोध भी मालूम होता है ।

(१४) यदि कोई जन्मका ब्राह्मण पक्षदादिक श्लोकोको प्रक्षिप्त कहे; तो वह जम्ह हो सकता है, उसके कथनका कुछ गौरव भी हो सकता है, परन्तु यदि कोई सत्रिष-चैरय आदि वैसा कहे, तो लोग स्वयं जान जाते हैं कि—यह कुछ बिधा पाकर स्वयं ब्राह्मण बनना चाहता है, या ब्राह्मणके समान मान पाना चाहता है, अथवा उनकी

प्रक्षिप्तता की घोषणा करने वाला ब्राह्मण भी एक ऐसी संस्थाका होता है, और उससे जीवन प्राप्त कर रहा होता है वा उस संस्थाका कई कारणोंसे पड़पाती होता है, जो संस्था गुणकर्मोंसे वर्ण अपनी इच्छानुसार मानती हो। इस कारण स्वार्थवश होनेसे उसकी प्रक्षिप्ततोद्घोषणाका कुछ भी मूल्य नहीं माना जाता। परन्तु अब्राह्मणोंको यह जानना चाहिये कि—क्षत्रिय, वैश्यको भी ब्राह्मण- इतनी विद्या अपेक्षित होती है, यज्ञ तथा दान तो उन्हें ब्राह्मणसे भी अधिक करने पड़ते हैं। बलिक उपनिषद्के ब्रह्मविद्याभिज्ञ क्षत्रिय तो ब्राह्मणोंसे भी अधिक विद्वान् थे, ये ब्राह्मणोंको ब्रह्मविद्या पढ़ाते थे, इस प्रकार होने पर भी उन्हें न तो उपनिषद्में ब्राह्मण बनाया, न कोई धर्मशास्त्र ब्राह्मण बनाता है, न ही ब्राह्मणसदृश मानको वह या सकनेका अधिकारी है। तभी तो समर्थ भी क्षत्रिय-वैश्यका प्रतिग्रह तथा आचार्यरूपमें अध्यापन तथा यज्ञ कराना धर्मशास्त्र निषिद्ध है।

इसी कारण डा० जीके भी मान्य मनुजीने कहा है—‘अथो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणाश्च क्षत्रियं प्रति । अध्यापनं याजनं च गृहीष्यथ प्रतिग्रहः’ (१०।७७) वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरस्मिन् स्थितिः । न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः’ (१०।७८) इससे भी अधिक मनुके हृदयकी स्पष्टता कैसी हो, जिसमें स्पष्ट ही जन्ममें वर्ण-व्यवस्था सूचित हो रही है। क्या डा० जी सब स्थान प्रसन्नता ही मानेंगे? उन्हें जानना चाहिये कि—‘प्राप्तौ सत्यां हि निषेधो भवति’ प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है। प्राप्ति यही है कि—क्षत्रिय-वैश्यमें भी विद्यावश अध्यापन-याजन आदि की शक्ति है। इस प्रकार सामर्थ्यमें भी उन्हें ब्राह्मण न कहकर, उन्हें क्षत्रिय-वैश्य ही कहकर, उन्हें ब्राह्मणकर्म सर्वथा ही निषिद्ध करके मनुजी ने अपना हृदय स्पष्ट ही जन्मकी वर्ण-व्यवस्थाका बता दिया। तब उनका ‘सर्वपापेऽपि स्थितम्’ वचन कैसे प्रक्षिप्त हो सकता है? क्षत्रिय

आदिका अध्यापन आपत्तिकालमें ही मनुने सप्र माना है—‘ब्रह्माक्षणाद्
अध्ययनमापत्काले विधीयते’ (२।२४१)। सभी उपनिषदोंके छत्रियोंमें
ब्राह्मणोंको ब्रह्मविद्या पढ़ानेके समय उनका उपनयन नहीं किया, जो कि
आचार्यको अपेक्षित होता है; इसमें उपनिषदात्मक वेदोंमें भी अपनी हृदय
ज्योत्स्नकर रूप दिया कि—वर्ण-व्यवस्था जन्मसे होती है, सुधारमें नहीं।

इस प्रकार उन्होंने मनुजीने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको ही जन्ममें
द्विजत्वमें अधिकार दिया, जन्ममें ही, जन्मसे ही क्या, बहिष्कृत गर्भसे
ही ब्राह्मणका ८ वें, क्षत्रियका ११ वें, वैश्यका १२ वें वर्षमें आचार्य-
करण (उपनयन) कहकर उनके विद्याकालमें भी बन्धी कर दी, जब
क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मणसे ३-४ वर्ष विद्या कम पढ़ेंगे; तब वे ब्राह्मण कैसे
बन सकेंगे ? उन्होंने शास्त्रकारोंने शूद्रको जन्मसे ही द्विजत्वमें अनधिकारी
यता दिया, उसको सदाके लिये ‘एकज’ रख दिया। आचार्यकरणसे
उसे पृथक् रखकर उसे वेदविद्यासे भी पृथक् कर दिया। शूद्र तो वर्ण
भी था, पर अन्यज तो अवर्ण ही माने गये, और अपपात्र कर दिये
गये। तब वे ब्राह्मण कैसे हो सकते हैं ? क्या इससे भी अधिक स्पष्ट
प्रमाण मनुजीका जन्मसे वर्ण-व्यवस्था-पक्षपाती होनेमें अपेक्षित हो
सकता है ? यदि यही पर्याप्त है, तो उसके ‘जन्मना वर्ण-व्यवस्थापक’
श्लोकको प्रसिद्ध कैसे कहा जा सकता है ? इससे स्पष्ट है कि—दा०
जी का मनुमें आदर वाणी-विलासमात्र है, आदर इनका स्वार्थपूर्ण अपने
मतमें ही होता है। अपने मतसे विरुद्ध मनुका वच इनके मतमें प्रसिद्ध
हो जाता है, और यह लोग प्रसिद्धताके व्याजके बिना अपने मतका
निर्वाह नहीं कर सकते। प्रसिद्धताका यह व्याज ही इनके पड़की
शिथिलताका प्रमाण है। मनुजी तो ‘अप्येनैव तु संसिष्येद् ब्राह्मणो
नात्र सशयः’। कुर्याद् अन्यद्, न वा कुर्याद् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते’ (२।८७)
यहां पर साधारण-अपकर्ता, तथा अन्य कुछ भी न करनेवाले ब्राह्मणको

भी ब्राह्मण माना है। 'सावित्रीमात्रसारोपि वरं विप्रः सूर्यान्वितः। नायन्त्रिनस्त्रिवेदोपि सर्वाशी सर्वविक्रयी' (२।११८) यहाँ भी मनु साधारण गायत्री अपवालेको भी ब्राह्मण कहते हैं, सर्वभक्षकको भी अत्राह्मण न कहकर अथर ब्राह्मण ही कहते हैं। डाक्टर भगवान्दासजी तथा आर्यसमाजके श्रीतुलसीराम स्यामी आदि कर्मणा वर्ण माननेवाले भी इन श्लोकोंको प्रसिप्त नहीं मानते। तब पूर्वोक्त श्लोकमें भी मनुजीको यही जन्मसे वर्ण-व्यवस्था इष्ट है, ब्राह्मणका पाप करना नहीं।

(१५) आगे डा० जी कहते हैं—'भागवतमें पृथुके आत्मानमें 'वासत्यं मनुयन्मृणाम्' ऐसी उपमा कही है। न केवल एक जाति या एक वर्णके, किन्तु सर्व मानवमात्रके आदि प्रजापति, ऐसे क्रूर वाक्य, पापाचारके प्रोत्साहक कैसे लिख सकते हैं?' इसका उत्तर हम एक पिताके चार पुत्रोंके दृष्टान्तसे दे चुके हैं। हममें प्रदूषणको पापका प्रोत्साहन नहीं है, किन्तु अम्रजन्माको अथर-वर्णकी अपेक्षा थोड़ा दण्ड देना है, और कुछ नहीं। वह भी उनके पूर्वजन्मोंके सुकर्मोंके सम्मानका लक्ष्य करके किया जाता है, जिनके कारण उनका इस जन्ममें ब्राह्मण-वंशमें जन्म हुआ। इससे उन्हें इस जन्ममें भी सुकर्म करनेके लिए प्रोत्साहित किया जाता है; जिससे इस जन्ममें भी उनका सम्मान हो, और भविष्य जन्म भी उनके अच्छे वर्णमें हो। स्मृतियोंमें चाण्डालोंका वर्णन भी है, उनकी उत्पत्तिका प्रकार भी वर्णित है, तो क्या उसे देखकर डा० जी यही कहेंगे कि—'यहाँ मनुजीने शुद्ध जातियाँ लोको ब्राह्मणोंके ग्रहणके लिए प्रोत्साहित किया है, अतः यहाँ भी प्रसिप्तता है' नहीं, ऐसा नहीं। ऐसा होने पर तो 'सारी अनुस्मृति ही प्रसिप्त बनाई जा सकती है। तब तो मनुका सच्चा आदर (?) होगा।

(१६) डा० जी आगे कहते हैं—'यदि ऐसे श्लोक प्रामाणिक और उचित माने जाएँ, तब तो महात्माको प्रवर्तमान भारतीय दण्डविधानमें

यह लिखवा देना अत्युचित होगा कि—‘अंग्रेजों नावमन्तव्यः सद्भद्र वा समाचरन् । न जानु हन्याद् अंग्रेजं सर्वपापेष्वपि स्थितम् । पत्नीहानं स्फोटयेद् वापि यद्भद्रं वा भेदयेत् पदा । त्रिजैकजानाम्, अंग्रेजो नैव दोषेण लिप्यते ॥ प्रत्यक्षं रवेतवर्णोऽयं सर्ववर्णोत्तमोत्तमः । सर्वपापेषु वर्णानां अंग्रेजो न्यायतः प्रभुः । महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति । पृथिव्यामिन्द्रवशापि प्रसर्पति नमस्तले’ ।

यद्यपि इस यातना प्रकृत विषयसे सम्यन्ध नहीं है, तथापि वा० जोसे प्रष्टव्य है कि—अंग्रेजी राज्यमें ऐसा दीपता था या नहीं ? जिस अपराधको काला आदमी करे, उसको गोरा भी करे, तो यदि उस अपराधमें कालेको फाँसी दी जाती थी, तो गोरेको उसीमें केवल देश-निर्यासन होता था, उसमें कारण क्या ? कारण यही कि—अंग्रेजी राज्यमें अंग्रेज अग्रजन्मा था, अतएव उसको बध-दण्ड न देकर राज्यसे ही बाहर किया जाता था । यही सुधारक लोग गांधीजीको, या स्वामी दयानन्दजीको शतशः दोषयुक्त होने पर भी वैसे बाग़्बाणोंसे क्या हिसित करते हैं, जैसे कि जन्म-ब्राह्मणको । वही भांग-तमाखू पीनेमें स्वा० व० की वैसी निन्दा नहीं करते, जैसे कि—भांग तमाखू पीनेवाले किसी सनातनधर्मी की । यह प्रसङ्ग सर्वत्र ही होता है ।

यदि प्राच्य धर्मशास्त्रकार ‘मनस्यैकं वचस्यैकं कर्मण्येकं’ यह विचार पर जैसे आचरण करें, वैसा ही लिखें, पर अंग्रेजी सम्य ‘मनस्यन्यद्, वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्यद्’ इस नीतिको अवलम्बन करके जो न लिखें, उसे भी आचरण कर ले, तब क्या इससे ‘न जानु हन्याद् सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राजादेनं बहिष्कुर्यात्’ यह कहने वाला धर्मशास्त्र अपराधी होगा ? अथवा क्या हिन्दुराज्य तथा अंग्रेज ? राज्योंके नियमोंको समानरूपसे लिखनेकी व्याप्ति हो सकती है ?

‘महती देवता ईषा नररूपेण तिष्ठति’ इस पद्यको उपहास्य बना कर डा० जी मनु पर चोट कर रहे हैं। यह है मनुके आदरका आदर्श। क्योंकि यह ग्रंथ ‘मनुस्मृति’ का है; अब डा० जी बतायें कि—राजाके लिए लिखा यह मनुका पद्य क्या आपके मतमें प्रसिप्त है कि—आपने उसे उपहास्य बना लिया। यदि ऐसा है, तो ‘नराणां च नराधिपम्’ (१०।२७) अपनी प्रमाणित गीताके इस वचनको तथा ‘राज्ञो विश्व-जनीनस्य यो देवो मर्त्यान् अति’ (अथर्व० शी० सं० २०।१२५।७) पूर्व पद्यके मूलभूत इस वेदवचनको भी डा० जी प्रसिप्त मान लेंगे ? ऐसा हो तो आप धन्य हैं। श्रीमन् ! जो आपको असम्मत है, यह वेदानुकूल भी क्या प्रसिप्त है ? यदि ऐसा है—तो यह अपने बचावका आपने उत्तम उपाय बना रखा है !

(१७) ‘न जातु ब्राह्मणं हन्याद्’ (८।३८०) यह मनुपद्य भी ‘न ब्राह्मणो हिंसितव्यः’ (अथर्व० २।१८।६) इस वेदमन्त्रके अनुकूल ही है। यहां ब्राह्मणकी हिंसाका निषेध है, निषेध, प्राप्ति होने पर होता है; प्राप्ति, वैसी योग्यतामें होती है, पर गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें ब्राह्मणका गुण-कर्म हिंसायोग्य नहीं। तब यहां वही ‘सर्वपापेष्ववस्थितम्’ आदिका संकेत मिलता है—जो हिंसाकी योग्यताका आधायक है। परन्तु हिंसाकी योग्यतामें भी उसका निषेध करनेसे जहां जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है, वहां मनुका उक्त पद्य वेदमूलक भी सिद्ध हो जाता है। इसी कारण मनुने इसकी स्पष्टता की है कि—‘न ब्राह्मणवधाद् भूयान् अधर्मो विद्यते भुवि। तस्माद् अस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्’ (८।३८१) यह ठीक है और वेदानुकूल है। ‘ब्रह्महा च एते पतन्ति’ (छान्दो० २।१०।६) इस प्रकारके बहुतसे इसके मूल हैं। अथर्व०सं० का २।१८-१९ आदि सूक्त तो ब्राह्मणको तंग करने चाहेके लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। देखिये—उसके लिए वेदने कैसे दन्तघर्षण किया है—‘बृथ प्रबृथ,

संवृध, दह, प्रदह, संदह, ब्रह्मज्यं देवि ! अघ्न्ये ! ग्रामूलाद् अनुसन्दह ।
 यथा ग्राद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः' (अथर्व० १२।११।१ २-३)
 इसका आर्यसमाजी श्रीराजारामजी शास्त्रीने मा० अर्थ दिया है—'काट,
 काट डाल, टुकड़े-टुकड़े करदे, जला दे, जला डाल, जलाकर राम परदे
 ब्रह्मण्यके सताने वालेको । हे न मारने योग्य देवि ! जड से लेकर सारा
 जलाकर राख करदे । जैसेकि वह यमके घर [खोक] में दूरवर्ती पाप-
 लोकोंको जाए' हम मकारके हम बहुतसे मन्त्र दे सकते हैं । वेदको
 ब्राह्मण जन्मसे इष्ट है—यह हम गत निबन्धमें सिद्ध कर चुके हैं । हम
 प्रकार 'ब्राह्मणो नावमन्तव्यः' (१।१२०।१३) वह महाभारतका पद्य भी
 'तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेद-विद्भ्यो दिवे-दिवे नमस्तुत्यात्, नाक्षीलं कीर्त-
 येद्, यता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २।१२) इस कृष्णयजुर्वेदकी
 कण्विकाके अनुकूल है । 'नाक्षीलं कीर्तयेत्' का अर्थ श्रीसायणने ऋ०
 भाष्यके उपोद्घातमें लिखा है—'न तु तस्मिन् [ब्राह्मणे] विद्यमानमपि
 दोषं कीर्तयेत्' । तब वेदानुकूलको प्रसिद्ध कैसे माना जा सकता है ?
 क्या डाक्टरजी तथा उन—जैसे वादी ध्यान देंगे ?

'सो याद रखनेकी बात है—शास्त्रकी दुहाई-तिहाई देनेसे यह
 लाभ नहीं हुआ, प्राप्त इत्यादि शास्त्र अथवा शास्त्राभाम अथवा
 प्रसिद्धके विपरीत न्यायिष्णुत उपज्ञात प्रकारोंसे' यह भी डा० जीका
 कथन वाग्बिलासमात्र है । वस्तुतः जब शास्त्रोंका पूर्ण आचरण था;
 तभी सब प्रकारकी शान्ति थी । जब आप लोगोंने 'यह प्रसिद्ध है, यह
 गप्प है' इत्यादि नये आविष्कारोंको प्रवृत्त करके जनताको शास्त्रोंमें
 श्रद्धा हटवाई, और जनताको अपनी छान्दोंके नीचे खींचा; इधर लोगों
 की शास्त्रोंमें अविश्वास-प्रवर्तिका अंग्रेजी शिष्टा में सबसे रति हुई; तभीसे
 अशान्ति भी बढ़ी है, जहां-तहाँ हानियां भी हुई हैं, स्वराज्य भी बहुत
 समय तक नष्ट रहा । अवशिष्ट स्वराज्य भी आप—जैसे लोग शास्त्रके

यवनोंको अन्यथा करके अन्तर्वर्णविवाहसदृश धर्मशास्त्रनिन्दित कुवर्मों को, कन्याओंको बड़ी वर्षकी आयुमें विवाह, देवमन्दिरोंमें अन्त्यजप्रवेश, विवाहोच्छेद आदि कुनियमोंको राजकीय शासनमें लाकर शास्त्रोंका भी अतिक्रमण कर रहे हैं; शास्त्रविश्वासी पूर्वोक्त कानूनोंका उल्लंघन करने वाले अपने ही भाइयोंको दण्ड भी दिलवाते हैं। इधर आप लोग अपने शास्त्रोंको वैदेशिक दृष्टिकोणसे देखकर उनमें आपाततः विरोध दिखलाकर शास्त्रोंका प्रभाव भी कम करते जाते हैं, जिससे उच्छृङ्खलता प्रवृत्त होती है।

‘हे भाई ! थोड़ा विचारो, ऐसे पापिष्ठ प्रद्विष्ट श्लोकोंका ही फल है कि—इस अभाग्य देशमें भयंकर अनाचार, अत्याचार, दुराचार, प्रजापीडन होने लगा’ डा० जीका यह कथन निष्प्रमाण ही है, विधि-शास्त्रकी आज्ञाका त्याग ही इसमें कारण है। जब ‘राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात्’ यह दण्ड उस श्लोकमें भी लिखा है; तो उन वर्योंको पापिष्ठ कैसे कहा जा सकता है ? राष्ट्रीय बहिष्कार एक अग्रजन्माकी बड़ी अप्रतिष्ठा है जो कि—‘सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते’ (गीता २।३४) के अनुसार उसकी मृत्युसे भी बढ़कर है। तब इससे भयंकर अनाचार कैसे फैलेगा ? उन्हीं शास्त्रोंमें जहाँ ब्राह्मणमें कर्तव्यभार डाला गया है; उनमें ही गुरुको उससे बचाया गया है। शास्त्रमें सदा उत्सर्गमात्र (केवल सामान्यशास्त्र) नहीं होता, किन्तु उत्सर्ग भी तथा अपवाद भी होता है। कई अपराधोंमें ब्राह्मणोंको दण्ड सर्वथा ही नहीं होता, कह्योंमें ब्राह्मणोंको गुरुसे भी अधिक दण्ड मिलता है। इसे उत्सर्ग पथम् अपवादके व्यवस्थापक बहुश्रुत ही निर्णीत कर सकते हैं, आपा-ततोद्घाटनों या उत्सर्गमात्रदृष्टान्तोंको जहाँ-तहाँ विरोध ही दीयेगा। इसमें ऐकदेशिक दृष्टिकोण अपेक्षित नहीं होता, किन्तु सर्वमुखीन ही। इसलिए जो डा० जीने ‘आज’ पत्रमें ‘गुरु’ या बालवृद्धी या ब्राह्मण या

बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' (मा३५०) इस मनुपद्यका विरोध दिखलाकर 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेऽपि स्थितम्' (मा३५०) इस मनुस्मृतिके श्लोकको प्रसिद्ध माना है; इसमें धैर्य रखनेकी आवश्यकता है, जल्दबाजीकी नहीं। यहा उत्सर्गपवाद व्यवस्थासे विरोध या प्रसिद्धता नहीं रहती—वे यह ध्यानसे सुनें।

(१८) यदि पतदादिक श्रेणोंमें उत्सर्गपवाद-व्यवस्था न मानी जाये, तो 'एनस्त्रिभिरनिश्चितैर्नार्थं किञ्चित् सहाचरोत् । वृत्तनिर्णयज्ञो-
इत्येव न जुगसेत कर्हिचित्' (१११३८६) इस और 'बालघ्नोश्च वृत्तघ्नोश्च निगुहानपि धर्मतः । शरणागतहन्तृश्च स्त्रीहन्तृश्च न सप्तमेन' (१११३९०) इस मनुश्लोकका भी आपसमें विरोध हो जावे, परन्तु वैसा कोई भी नहीं मानता। सभी विद्वान् पूर्वश्लोकको उत्सर्ग और दूसरेको अपवाद मानते हैं। तब 'अपवादाविषयपरिहासेण उत्सर्गस्य व्यवस्थिति-
र्भवति' इस व्यायसे उत्सर्गमें अपवादातिरिक्ता ही माननी पड़ती है, इससे विरोध हट जाता है।

इस प्रकार 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' यदि यह उत्सर्ग है, तो 'गुर' वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मण वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवा-
विचारयन्' (मा३५०) यह अपवाद भी मितता है। इसमें विरोध क्या है ? 'परीयादान् खरो भवति', वा वै भवति निन्दक' (मनु० २।००१) विद्यमान दोषका कहना 'परीवाद' होता है, अविद्यमान दोषका कहना 'निन्दा' होता है। यहाँ पर गुरके विद्यमान दोषके कहनेमें भी दूसरे जन्ममें गधेकी योनि पाना कहा है। यदि यह सामान्यशास्त्र है; तो 'गुर' वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मण वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यात्' (मा३५०) इस डा० जीमे उद्धृत श्लोकमें आततायिच दोषसे मिले हुए गुरका मारना भी कहा है। क्या यहाँ डा० जी विरोध मानेंगे ?

अथवा पहले श्लोकको गुरुको दोष करने के प्रोत्साहनसे प्रसिप्त मान लेंगे ? प्रसिप्तता वे कहाँ-कहाँ मानेंगे ? इसी अपनेसे उद्धृत श्लोकको डा० जी सोचें । इसमें 'आततायी भी ब्राह्मणको ब्राह्मण कहकर मनुने इस श्लोकके देनेवाले 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' के पक्षपाती डा० जी का पक्ष क्या समूल नहीं काट दिया, क्योंकि—डा० जी सुकर्मको ही ब्राह्मण सिद्धान्तित करते हैं, पर वहाँ मनुजीने कुकर्म आततायीको भी ब्राह्मण मान लिया । जब डा० जीके शब्दोंमें इस 'सच्छास्त्र' ने उनके पक्षको काट दिया है, तो वे इस श्लोकको तो मनुका 'सच्छास्त्र' मानते हैं, और पहलेको 'असच्छास्त्र' तो क्या वहाँ उनके पक्षका स्पष्ट खरडक नहीं ? इस श्लोकको भी कर्मणा वर्ण-व्यवस्था रूप अपने पक्षका खरडक होनेसे प्रसिप्त क्यों नहीं मानते ?

तब इस आततायी ब्राह्मणके मारनेको बताने वाले मनुके अपवाद-श्लोकसे 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्' इस उत्सर्ग श्लोकके 'सर्वपापेषु' इस शब्दमें सब पाप आततायित्वसे भिन्न ही इष्ट हैं; क्योंकि—उत्सर्गकी व्यवस्था अपवाद-विषयको छोड़कर ही हुद्या करती है, क्योंकि—आततायीपन एक विशेष पाप है, इसीलिए मनुजीने उसकी निन्दार्थ एक अलग श्लोक ही बना दिया कि—'आततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' (२२२१) इससे मनुजीने आततायित्वको एक अलग पाप घोषित करके, आततायी भी ब्राह्मणके बधने अदोष कहकर, दूसरे सब पापोंमें ब्राह्मणका बध न कहकर देशसे निर्वासनमात्र कहकर पूर्व पक्षको स्वसम्मत तथा अप्रसिप्त सूचित कर दिया है । डा० जी कहें कि—अब उनका बताया हुआ विरोध कहाँ गया ? क्या वे 'अपवादविषयपरिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थितिर्भवति' (काव्य-श्रकाश १० उ० असङ्गति अलं०) 'प्रकल्प्य अपवाद-

विषयं ततः दत्तसर्गोभिनिविशते' (महाभाष्य ३।२।१२४) इस न्यायोंको नहीं जानते ?

यस्तुतः आततायी ब्राह्मणका वध भी शास्त्रानुसार शारीरिक नहीं होता । इसीलिए डा० जीते भी मान्य श्रीमद्भागवतमें आततायी ब्राह्मण अश्वत्थामाके लिए उक्ति आई है—'ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधा-
हंशः । यपनं, द्रविणादानं, म्यानास्त्रियापणं तथा । स एष ब्रह्मबन्धूनां
वधो, नान्योस्ति दैहिकः' (१।०।२३-२७) । इस प्रकार डा० जीमें
महामान्य महाभारतमें भी पाण्डवोंने आततायी अश्वत्थामाके न मारनेका
हेतु कहा है—'जित्वा मुक्तो [न निहतो] द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद्
(ब्राह्मणत्वाद्) गौरवेण च । यशोस्य पतितं देवि ! शरीरं त्वयशेषितम्'
(गौहिरूपधं १६।३२) । इस प्रकार आततायी ब्राह्मणको दण्ड दताने
वाले मनुष्यकी व्यवस्था भी जाननी चाहिये । वहाँ पर आततायी
तथा 'विदितं चापलं द्यासीद् आत्मजस्य (अश्वत्थामनः) दुरात्मनः' (महा०
मौक्तिक० १२।७) इस प्रकार दुष्टात्मा तथा चपल 'न त्वं जानु सतां
मार्गं स्थापेति' (१२।१६) यह द्रोणाचार्यका कथन है 'स तदाजाय
दुष्टात्मा पितुर्यचनमप्रियम् । निराशः सर्वकल्याणैः शोकान् पर्यचरन्महीम्'
(१२।१७) 'स संरम्भी दुरात्मा च अपलः क्रूर एव च' (१२।४१) इस
प्रकार दुराचारी, क्रोधी और क्रूर अश्वत्थामाको ब्राह्मण कहना जहाँ
'कर्मणा वर्यः' के मूलको काट रहा है, वहाँ वैसे ब्राह्मणका भी दैहिक
वध नहीं होता, किन्तु मुण्डनादि रूपवध ही वहाँ दृष्ट होता है, ऐसा
कहना हमारे तथा आपके उद्धृत मनुके पहले तथा दूसरे श्लोकके विरोध
को काट रहा है ।

मनुस्मृतिकी भांति महाभारतमें भी 'दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः
संस्कृतास्तथा । ब्राह्मणा भावमन्तव्या भस्माच्छुद्धा इवाग्नेयः' धनपर्व

२००।८८) यथा स्मृत्याने दीप्तौजाः पावको नैव शाम्यति । एवं विद्वान्
 आर्विद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत् (२००।८९) यह कहा है । अन्यत्र
 भी कहा है—‘नहि मे ब्राह्मणो बध्यः पापेष्वपि स्तः सदा’ (आदिपर्व
 २६।२) ‘सापराधानपि हि तान् (ब्राह्मणान्) विषयान्ते (देशतो बहिः)
 समुत्सजेत्’ (शान्ति० ५६।३१) ‘विधीयते न शरीरं दण्डमेपां कदाचन’
 (शान्ति० ५६।३२) ‘अग्निरेण हि हन्तव्यः अग्निरो लोभमास्थितः ।
 अग्निरो वा दारार्ह ! स्वधर्ममनुतिष्ठता । अन्यथ ब्राह्मणान् तात !
 सर्वपापेष्ववस्थितात् । गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसूताप्रभुक्’ (उद्योग०
 ८२।११-१७) इस प्रकारके महाभारतीय श्लोक मनुस्मृतिके डा० जीसे
 आक्षिप्त उक्त पद्यके उपजीवक हैं; तब वह प्रक्षिप्त कैसे हो सकता है ?

क्या सब स्थान डा० जी प्रक्षिप्तता ही मानेंगे ? ऐसा नहीं हो
 सकता । वास्तवमें उक्त पद्य टीका भी है, क्योंकि इससे ब्राह्मणके पूर्व-
 जन्मके कर्मोंका—जिनसे इस वर्णने उसका जन्म हुआ है—सम्मान
 ही किया जाता है, उसकी अप्रजन्मनाका बृह सम्मान किया जाता है,
 अप्रज और अवरजके दण्डमें तारतम्य भी स्वाभाविक ही होता है । इस
 कारण मनुजी डा० जीसे उद्धृत श्लोकमें आततायी ब्राह्मणका बध कहकर
 भी उसके बधकी व्यवस्था यह कहते हैं—‘मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो
 ब्राह्मणस्य विधीयते । इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत्’
 (८।३०६) यहां पर मेघातिथि लिखता है—‘यत्र अग्निवादीनां वध उक्तः,
 तत्र ब्राह्मणस्य मौण्ड्यम्’ । सर्वज्ञनारायण टीका करता है [ब्राह्मणस्य]
 प्राणान्तिकदण्डस्थाने मुण्डनमेव कार्यम्’ । श्रीकृष्णकर्म लिखा है—
 ‘ब्राह्मणस्य यधदण्डस्थाने शिरोमुण्डनं दण्डः शास्त्रेण उपदिश्यते’ ।
 राघवानन्दने लिखा है—अन्येषां प्राणान्तिके दण्डे ब्राह्मणस्य मौण्ड्यं
 विधत्ते । जायन्तरस्य प्राणान्तिकेऽपराधे यत्र दण्डस्तत्र विप्रस्य
 मौण्ड्यमात्रमिति सार्वत्रिकः’ । नन्दनने यहां लिखा है—‘ब्राह्मणस्य

वधाहें दण्डे प्राप्ते मौण्ड्यमेव, न वधः, इतरेषां वध एव' । इस प्रकार मनुजीने ब्राह्मणका सिर मुण्डवा देनां हों ब्राह्मणदस्थानीय माना है । कितनी स्पष्टता है ? इससे डा० जीने दिखलाया हुआ मनुजीका पूर्वापर विरोध कट गया । यह ब्राह्मणको पापकरणार्थ प्रोत्साहन भी नहीं है; प्रत्युत जिन गतजन्मके कर्मोंसे उमका ब्राह्मण वर्णमें जन्म हुआ है; उनका सम्मान करके उसे भविष्यत्में भी ब्राह्मण वर्णके पाने के लिए सुकर्मोंके करनेका प्रोत्साहन दिया गया है । 'सत्यम् उत्तरः पत्त' (तैत्तिरीयोपनिषत् २.४) यही मनुजीका उत्तरपत्त है । तब हमसे दिया उस मनुका वध प्रक्षिप्त कैसे हो सकता है ? डाक्टरजी या उनके विचार वाले बादी इधर ध्यान दें । आततायी अश्वत्थामाको ब्राह्मण होनेके नाते मृत्युदण्ड न देने वाली प्रसिद्ध घटना कभी प्रक्षिप्त नहीं हो सकती । इसलिए महाभारतमें राजाको ब्राह्मणसे अतिरिक्त ही वर्णकी शासनमें अधिकृत कहा है । जैसेकि—'ब्राह्मणेभ्यो नमेश्चित्यं धर्मयैव च सञ्जय ! नियच्छन्नितरान् वर्णान् विनिघ्नन् सर्वदुष्कृतः । वावर्जीवं तथा भवेः' (उद्योग० १३४।४०-४१, यहाँ विदुला अपने पुत्रको ब्राह्मणातिरिक्त अन्य वर्णोंके नियमनकी बात कहकर उसे राज्य-प्रबन्धका ढग सिखला रही है ।

(१६) जोकि—'अष्टापापं तु शूद्रस्य....ब्राह्मणस्य चतुःप्रष्टिः' (सा३३७-३३८) यह मनुके श्लोक डा० जीने उद्धृत किये हैं, वे वर्णोंकी चोरीके पापके परिणामको दिखाने वाले हैं; दण्ड बताने वाले नहीं । 'स्तेये भवति किञ्चिद्वषम्' अर्थात् चोरी करनेमें शूद्रको पाप आठगुणा होता है, पशुपिको १६ गुना, वैश्यको ३२ गुना, ब्राह्मणको ६४ गुना वा सौ गुना; क्योंकि—'तद्दोषगुणयिद् हि सः' ब्राह्मण चोरी आदिके गुण-दोष जानता है । सो पापका फल अन्तर्गत्तमें होता है, जैसेकि—'वेतितस्तु यथान्तर्यं हृष्यकण्ठे द्विजोत्तमः । कर्षाद्दुष्यतिक्रमन् पापः

सूकरतां भजेत्' (मनु० ३।१६०) यहां पर पापसे मुंथर बनना कहा है—
 सो इस जन्ममें न होकर परलोक वा जन्मान्तरमें इष्ट है—यह स्पष्ट है।
 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' यह पूर्व मनुष्य ब्राह्मणको इस लोकमें हिंसा-
 का निषेधक था; परन्तु परलोकमें उसको पापका फल भला कौन न
 मानेगा? क्योंकि इस जन्मके पाप-पुण्य अग्रिम जन्मके शरीरके आर-
 म्भक होते हैं। अथवा 'अष्टापाद्य' वाला श्लोक चोरीके ऐहिक दण्डके
 लिए भीमाना जाय; तथापि इस श्लोकसे धर्मके अङ्ग अस्तेय-कर्मसे हीन
 चोरको भी ब्राह्मण कहकर कर्मसे वर्ण-व्यवस्था पक्षको काट ही दिया
 है। चोर शूद्रको भी दिखलाया गया है, ब्राह्मणको भी, क्षत्रिय-वैश्यको
 भी। 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' से इन श्लोकोंका विरोध भी नहीं।
 उसमें तो यह लिखा है कि—पापी भी ब्राह्मणको मृत्युदण्ड न दे;
 'अष्टापाद्य' वाले पद्यमें कोई मृत्युदण्डकी बात नहीं है; जो कि-इतका
 आपसमें विरोध हो। हां, वर्णोंके दण्डोंमें तारतम्य तो सर्वसम्मत है।
 कई अपराधोंमें ब्राह्मणको शूद्रादिकी अपेक्षा अधिक प्रायश्चित्त, तथा
 अधिक पवित्रता रखना, तथा अधिक दण्ड कहा है; कई अपराधोंमें
 अवपत्तम दण्ड कहा है—पर विशेष अपराधोंमें अन्य वर्णोंको मृत्युदण्ड
 कहकर ब्राह्मणको वहाँ मृत्युदण्ड न दिलवाकर राष्ट्र-बहिष्कार दण्ड ही
 दिया है—यह अवसर-अवसरकी दण्ड-व्यवस्था होती है, इससे प्रशि-
 स्तता-अमरिष्यता नहीं हुआ करता। 'अनायंमार्यकर्मांशमार्यं चानायं-
 कर्मिणम्। सम्प्रधार्याप्रवीद् धाता न समौ नासमौ इति (मनु० १०।७३)
 अर्थात् शूद्र द्विजोंके कर्म करता हुआ, द्विज शूद्रोंके कर्म करता हुआ—
 न सम है, न विषम है; इस पर श्रीबुल्लूकने भाव दिया है—'शूद्र
 द्विजोंके कर्म करता हुआ भी द्विजकं समान नहीं हो जाता, क्योंकि—
 अनधिकारी होनेसे द्विजकर्म करने पर भी उसमें उनकी समता नहीं होती।
 इस प्रकार द्विज शूद्रकर्मा भी शूद्रसमान नहीं होता, क्योंकि—निषिद्ध
 मेवम करने पर भी उसकी उत्कृष्ट जाति नहीं हटती। वे दोनों अगम्य

भी नहीं; क्योंकि—निपिढाचरणमें दोनों समान हैं। इसमें मनुजीको जन्मसे वर्ण व्यवस्था दृष्ट है, कर्मणा वर्ण व्यवस्था दृष्ट नहीं—यह स्पष्ट है। एक मनुजीका अन्य श्लोक भी देखें। डाक्टर भगवान्दासजी 'भारतीय संस्कृति सम्मेलन' के चतुर्थ अधिवेशनमें अपने 'समापतिके भाषण' (पृ० ८१-८२) में लिखते हैं—'मनुने तो यहाँ तक कहा है—'जप्येनैव तु सस्तिष्येद् ब्राह्मणो नात्र संशय'। कुर्याद् अन्यद् न वा कुर्याद् 'मैत्रो' ब्राह्मण उच्यते' [१।८७] [ब्राह्मण] और कुछ परे वा न परे, केवल गायत्रीका जप करे, उसके अर्थकी भावना करे, तो भी ब्राह्मण सिद्ध हो जायगा। ब्राह्मण 'मैत्र' है, मित्र अर्थात् सूर्य, उसके देवता हैं'। इसमें कुछ न करते हुए भी गायत्रीजपमात्रमें लगे भी ब्राह्मणको ब्राह्मण माना गया है। इससे जन्मना ही ब्राह्मणत्व-सिद्धि स्पष्ट है।

(२०) आगे डा० जी लिखते हैं—'लिखनेको तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है और जैसा ऊपर कहा—बहुत वर्षोंसे लिखता ही रहा हूँ, पर निष्कर्ष यह है कि—'कर्मणा वर्णः' का ही सिद्धान्त माननेसे हिंदू समाज क्या, मानवसमाजकी सुव्यवस्था और कल्याणसाधना हो सकती है'। यहाँ डा० जी 'जन्मना वर्णका ही सिद्धान्त माननेसे तथा तदनुपूल कर्माचरणसे' इस पाठको करके अपने वाक्यको पढ़ लें, तो हमारा इसमें प्रत्युत्तर हो जायगा। क्योंकि—कर्मणा वर्ण व्यवस्था तो अव्यवस्था तथा कई प्रकारकी हानियाँ पैदा करने वाली है, कारण—पुरषका चित्त परिवर्तनशील तथा नवीनताप्रिय होनेसे समान कर्मोंमें स्थिर नहीं रहता। ऐसा होनेसे अपने वर्णके कार्यभारका उत्तरदायित्व कोई भी न लेगा, न उसे इस विषयमें कुछ पूछा भी जा सकता है; फिर तो वर्ण प्रतिष्ठण बदलते रहेंगे, व्यवहारमें बहुतसी 'अव्यवस्थाएँ' होंगी—स्थानाभापसे उन विषमताओंका यहाँ निरूपण न कर उन्हें मित्र निश्चयमें बताया जायगा।

डा० जी 'जन्मना वर्णः' माननेसे इसके विपरीत समाजकी दुर-वस्था, समाजमें अनन्त प्रकारके दोषों और मानस और शारीर दुराचारों और रोगोंकी वृद्धि और नित्य नयी थापत्ति विपत्ति होती रहेगी, जैसी हो रही है' इस अपने वाक्यमें 'जन्मना वर्णः' के स्थान 'कर्मणा वर्ण' पाठ कर दें; तो यही वाक्य हमारा पक्ष-पोषक हो जायगा। यदि डा० जीको इस पर विश्वास न हो, तो 'कर्मणा वर्ण व्यवस्थामें हानि' यह हमारा नियन्ध देखें। पर यह लोग अपना ही बात सुनाते हैं, दूसरेकी बात न तो सुनते हैं, और न उस पर ध्यान ही देते हैं; पाप समझकर उस पर दृष्टि ही नहीं डालते।

यदि डा० जी वर्ण-व्यवस्था कर्मसे मानते हैं, तो कर्म तो जन्मसे शुरू करके मरने तक होते ही रहते हैं, तब तदनुकूल वर्ण दे कब देंगे? कर्मोंके समकाल तो आप वर्ण दे ही नहीं सकते, क्योंकि—आपके अनुसार ऐहिक कर्मोंका परिणाम ही वर्ण है। पर परीक्षा और उसका परिणाम समकाल कदापि नहीं होते और फिर समय-समय पर कर्म बदलते भी रहते हैं, तब क्या आप भी वर्ण बदलते रहेंगे? यदि एक बार एक वर्णको स्थिर करके फिर कर्म-परिवर्तनमें भी आप उस वर्णको नहीं बदलेंगे; तब फिर आपका जन्मना वर्ण-व्यवस्थापक सना-तनधर्मियोंसे क्या भेद रहेगा? क्या यही भेद रहेगा कि—वे परमात्मासे दिये हुए जन्म-प्राप्त वर्णोंकी ही स्वीकार करते हैं और आप विस्मृति-शील, प्रमाद-पक्षपात आदि दोषोंसे व्याप्त, कुछ स्वान्दीके सिक्के लेकर बिना योग्यताके ब्राह्मणत्व आदिके प्रमाण-पत्रको दे देने वाले अनीश्वर मनुष्यसे दिये हुए कृत्रिम वर्णोंको स्वीकार कर लेते हैं। यदि ऐसा है तो ईश्वरका उसलङ्घन कर देने वाले आप धन्य हैं! यदि डा० जी गुणकर्मकी परीक्षाके बाद वर्ण दे देना मानते हैं; तो यह बात लोक

एव शास्त्रसे विरुद्ध ही है। उनके वचनोंका मूल्य वहानेवाजीके अधिक कुछ भी नहीं।

(२१) अथ डा० जीके 'न विशेषोस्ति वर्णानां' तथा दो तीन अन्य चार्योंमें प्रकाश डालकर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है।

'न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वे ब्राह्ममिदं जगत् । ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णता गतम्' (महा० शान्ति० १८८ १०) इस पद्य पर डा० जीने कहा गवं है। अतएव इसको उन्होंने 'बहुत प्रसिद्ध श्लोक' कहा है। यदि हम भी महाभारतके श्लोकोंको अपने पसंदी पुष्ट्यर्थ दें, और मतज्ञ आदिक यहांक इतिहास दें, तो डा० जी उन्हें तात्पर्य 'अप्रसिद्ध, प्रचलित' आदि विशेषणोंसे सज्जित करने लग जायेंगे। इस-लिप् हम उन्हें छोड़कर डा० जीके प्रिय पद्यका ही अपनी मीमांसाका विषय बनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि—

'वर्णानां कोपि विशेषो नास्ति—ब्राह्मणादि चार्योंमें कोई आंतरका भेद नहीं है। सर्वमिदं जगद् ब्राह्मम्, हि ब्रह्मणा पूर्वसृष्टम्—यह जगत् 'ब्राह्म' है, क्योंकि—ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ हुआ है। इस अर्थमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं। यहां ब्रह्माकी सन्तान होनेसे उसे अपस्यार्थक अणु-प्रचयान्त होनेसे शब्दमात्रसे 'ब्राह्म' कहा गया है। इसी कारण श्रीपाणिनिने भी कहा है—'ब्राह्मोऽनाती' (३।४।१७१) यहां 'ब्रह्म' शब्दसे अपत्य और अजाति अर्थमें निरूपका निपात हो जाता है। महाभारतीय उक्त पद्यमें 'सर्वे ब्राह्ममिदं जगत् । ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि' यह दूसरा-तीसरा पाद आपसमें सम्बद्ध हैं। दूसरा पाद प्रतिज्ञावाक्य है, तीसरा पाद हेतुवाक्य है, इसीलिप् तीसरे पादमें हेतु अर्थवाला 'हि' शब्द साहाय्य लिया गया है। इसमें पहले पादमें चार्योंकी कोई विशेषता नहीं कही गई, दूसरे और तीसरे पादमें जन्मसे वर्ण व्यवस्था

सिद्ध की गई है; क्योंकि ब्रह्मासे सृष्ट (निर्मित) होनेसे ही उसे ब्रह्म कहा गया है, गुणकर्मसे नहीं। चौथे पादमें ब्रह्मासे सृष्ट वर्णोंका भेदक कर्म कहा गया है।

इससे घादियोंकी कोई भी इष्ट सिद्धि नहीं, क्योंकि—यहाँ यही विचारणीय है कि—यहाँ ब्रह्मासे सृष्ट वर्णोंके जो कर्म संकेतिग किये गये हैं, वे पूर्व जन्मके हैं या इस जन्मके? यदि संसारप्रवाहके अनादि होनेसे पूर्वजन्मके ही कर्म हैं जिनसे ब्रह्माने उन वर्णोंको बनाया; वे ही ब्रह्मासे सृष्ट वर्णोंके मूल हैं; तब तो जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त सिद्ध हो ही गया, क्योंकि—जन्मसे वर्ण-व्यवस्था पूर्वजन्मके कर्मसे ही मानी जाती है, इस जन्मके कर्मसे नहीं।

यदि डा० जी आप्रह्वना इस जन्मके कर्मोंको ही मानें; तो ठीक नहीं, क्योंकि वर्णोंकी जब ब्रह्माजीने सृष्ट की, उस समय उनके ऐहिक वर्ण कहाँसे आ गये? क्या जन्मके समकालमें ही वर्ण उस-उस वर्णके योग्य कर्मोंको कर लेता है, जिनमें उसे जन्ममें ही ब्राह्मणादि कहा जा सके? यदि हाँ, तो यह प्रत्यक्षका अपवाद है। यदि जन्मके साथ ही ऐहिक कर्म असम्भव है, घैसे ही वर्णोंके ब्रह्मा-द्वारा सृष्टिक समयमें भी उनके ऐहिक कर्म असम्भव हैं। इस श्लोकके आगेके श्लोकों में सुफेद, लाल, पीले, काले रङ्ग जो दिखलाये गये हैं, उनसे भी वर्ण-परिवर्तनका अन्य जन्ममें होना स्पष्ट है। उसी जन्ममें पुरुषका जो रङ्ग होता है—वह बदलता नहीं, वही रहता है, अग्निस जन्ममें भिन्न शरीरकी प्राप्तिसे रङ्गमें परिवर्तन आना तो सम्भव है। इससे पूर्वजन्मके कर्मोंकी इस जन्ममें कारणता होनेसे डा० मगवानुदासजीका इस श्लोकमें भी पक्ष 'उल्लुपुड' न्यायसे कट गया। तभी तो न्यायदर्शनमें भी कहा गया है—'अथापि....धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपादीयते; तथापि पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः। तत्र [पूर्वजन्म-शरीरे] हि तस्य [धर्मा-

धर्मलक्षणादृष्टस्य] निवृत्तिः (मत्त-), न अस्मिन् जन्मनि [पूर्वजन्म-
कृत-कर्मणामेव अत्र जन्मनि भोग्मवीकारात्] । [पूर्वजन्मनः] कर्म
फलं इदं-जातिविशेषनिवर्तकम् (वात्स्यायनः ३।१।२७) तब पूर्वजन्मके
ही कर्मोंके कारण होनेमें इस जन्ममें तदनुसार भिन्न-भिन्न वर्ण वर्णमें
उत्पत्ति स्वाभाविक ही है । इसमें सनातनधर्मके ही सिद्धान्त 'जन्मना
वर्णं व्यग्रस्था' का भण्डन होगया ।

फिर इस जन्मके कर्मोंमें अग्रिम जन्ममें ही वर्ण परिवर्तन होता है;
क्योंकि महाभारतके उक्त प्रकरणमें इसी जन्ममें वर्ण-परिवर्तन स्वीकृत
नहीं किया गया । तभी इसी अध्यायके आदिम श्लोकोंमें 'असृजद्
ब्राह्मणानेष पूर्वे ब्रह्मा प्रजापतीन् । ब्राह्मणां क्षत्रिया वैश्यां शूद्रारच
द्विजसत्तम ! ये चान्ये भूतसङ्घानां वर्णास्तोरिचापि निर्गमे' (शान्तिः
१८८ १-४) यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंकी ब्रह्मा द्वारा उत्पत्ति
कही गई है, ऐहिक गुणकर्मसे नहीं । इस प्रकार श्रीमद्भागवतजीके
प्रधान प्रमाणका उत्तर हो गया ।

(२२) सत्ययुगके क्षिप्र 'वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न सकरः'
। ८।६१) इस 'वायुपुराण' के श्लोकार्थको उद्धृत करके—न मालूम
होगा जीने अपना पक्ष कैसे सिद्ध करना चाहता है, प्रत्युत इससे तो
उनके पक्षका खण्डन हो रहा है; क्योंकि जब उस समय वर्णाश्रमकी
व्यवस्था नहीं थी, तब भी ब्राह्मणादि थे या नहीं ? यदि थे; तो वे
जन्मसे ही सिद्ध हुए । यदि नहीं थे, तो क्या लोग तब कोई भी कर्म नहीं
करते थे ? यदि करते थे फिर भी यदि किसी वर्णको प्राप्त नहीं होते थे,
तब कर्मसे वर्ण-व्यवस्था कट गई । इस श्लोकमें सङ्करका अभाव
दिखानेसे स्पष्ट मालूम होता है कि- तब पूर्वजन्मके कर्मोंसे उत्पन्न वर्ण थे,
परन्तु वर्णोंका आपसमें सङ्कर, कर्मसंकर, और मिवाहादि-सङ्कर नहीं

था। अन्यथा वर्णों कि न होनेसे संकर-निषेधका बताने वाला यह वचन व्याहत हो जायगा। इस पद्य में सङ्करकी निन्दा की गई है, परन्तु अन्तर्यणविवाहके पक्षपाती डा० जी उसकी प्रशंसा करते हैं। तब क्या यह श्लोक उनके मतमें प्रसिद्ध नहीं? क्या वे पुराणोंमें प्रलेप नहीं मानते, जोकि उनके वचन अपने पक्षकी पुष्टिमें देनेकी उद्यत हो गये हैं?

डा० जीमें प्रष्टव्य है कि वेद पहले थे, वा सत्ययुग पहले था? यदि वेद पहले थे, तो उसके 'ब्राह्मणास्यमुखमासीद्' (ऋ १०।६०।१२, यजु १।११ अथर्व० ११।६।६) इत्यादि मन्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णोंका वर्णन आता है, इससे स्पष्ट है कि सत्ययुगमें भी वर्ण थे। यदि सत्ययुग वेदसे पहले था, तब वेदोंका अनादि व कदा है, जो आपको भी अनिष्ट है। क्या सत्ययुगमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास—यह आश्रम भी नहीं थे, क्योंकि उक्त पुराण-पद्यमें आश्रमोंका भी निषेध किया गया है? तब पुत्र उत्पन्न कैसे होते थे? वस्तुतः यहाँ डा० जीस सम्मत अर्थ नहीं। उक्त पद्यमें वर्ण एवं आश्रमोंका निषेध नहीं कहा गया, किन्तु वर्ण-आश्रमकी व्यवस्थाका निषेध किया गया। ६। 'वर्णाश्रम-व्यवस्थाश्च न तदासन्' यही पाठ वहाँ पर है। इससे स्पष्ट है कि तब वर्ण आश्रम थे, तभी तो 'न सङ्कर' वर्णसङ्कर एवम् आश्रमसङ्कर नहीं थे—यह कहना सङ्गत हो जाता है, नहीं तो यहाँ पर 'प्रावर्जोऽमहं भोनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम बन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामह' यह न्याय चरिताय हो जायगा।

तब वर्णाश्रमकी व्यवस्था न होनेका यह आशय है कि तब वर्ण तुमागामी नहीं थे, अपने धर्मका अनुसरण करते थे, इस कारण उस समय व्यवस्था अर्थात् नियन्त्रण (कंट्रोल) नहीं था। वर्ण-सङ्करता, आश्रमसङ्करताको हटानेके लिए नियन्त्रणरूप व्यवस्था अपेक्षित

होती है। परन्तु जब सत्ययुगमें स्वभावतः ही सभी वर्ण अपने-अपने नियम कर्मोंमें लगे थे; तब उस युगमें व्यवस्था (नियन्त्रण) की आवश्यकता भी क्या थी? नियन्त्रण तो आजकलके समय उपयोगी है, आजकल अध्यापन भी पाठन, अध्यापन, प्रतिग्रह कर रहे हैं, ब्राह्मण भी वणिग्वृत्ति, सेवावृत्ति कर रहे हैं। जब वर्ण अपने-अपने कर्मोंको छोड़ देते हैं, तब उनके प्रबोधनार्थ व्यवस्था आवश्यक होती है। तभी हमी प्रकरणमें कहा है—‘तासां (प्रजानां) विशुद्धात् संकल्पाज्जायन्ते मिथुनाः प्रजाः’ (वायुपुराण ८।१८) क्या आप बिना ही मैथुनके संकल्पमात्रमें प्रजाकी उत्पत्ति मान लेंगे? यदि नहीं, तो पहला पद्य ही कैसे प्रमाणित कर लिया?

जोकि—भविष्यपुराणको ‘कर्मणा वर्णव्यवस्था’ बताने वाला ८।० जी कहते हैं—यह भी ठीक नहीं, वहां तो कर्मणाका भी खंडन किया है—‘तस्माद् देहार्थके नैतद् ब्राह्मण्यं नापि कर्मजम्’ (ब्राह्मण ४।१२७)। उसमें वर्ण-व्यवस्थाका मिथान्त जन्म और कर्मका समुच्चय माना है (४।१२-१-४) हमें अग्रिम निबन्धमें स्पष्ट किया जायगा। अतः पुराणका वचन भी अन्ततः कर्मप्रशंसाभात्रपर्यवसायी ही रहता है। यदि किसी पुराणवचनमें स्मृतिविस्मृता मिले, तो वह ‘द्वयोद्वेये स्मृतिर्वरा’ (व्यासस्मृति १।४) इस कथनसे स्मृतिसे बाधित हो जाता है। पुराणका मुख्य विषय लोक व्यवहारकी व्यवस्था करना नहीं; किंतु लोकवृत्तको बताना ही उसका मुख्य विषय है। जैसे कि—४।१।६३ न्यायदर्शनके धात्स्यायनभाष्यमें कहा है—‘लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः’। पुराण-इतिहासका विषय वहां पर ‘लोकवृत्त मित्रिहासपुराणस्य’ लोकवृत्तका प्रतिपादनमात्र बताया है। पुराण तथा धर्मशास्त्रका यहां अपने-अपने विषयमें ही अधिक प्रामाण्य माना गया

है। जैसेकि—‘यथाविषयमेतानि [मन्त्रब्राह्मण-धर्मशास्त्र इतिहास-पुराणानि] प्रमाणानि इन्द्रियादिवदिति’।

(२३) आगे डा० जी कहते हैं—‘वर्णपरिवर्तनके लिए, स्वयं मनुमें तथा आपस्तम्ब आदिमें वचन है [यह स्वच्छ असत्य है] पर उनकी व्याख्यामें लोग विवाद करते हैं। जैसे बकौल लोग अपने पक्षके अनुकूल ही कानूनके शब्दोंका लापन और प्रतिकूलका अपलापन करते हैं, जिससे भी अवान्तरूपसे यही सिद्ध होता है कि शास्त्रका अर्थ व्याख्याता की बुद्धि है’ यह डा०जीका वाक्य सनातन-धर्मियोंमें वस्तुतः नहीं घटता, जैसा आप लोगोंमें। उसका आदर्श भारतीय संस्कृतिसम्मेलनके चतुर्थाधिवेशन (२ मार्च १९६२) के अपने भाषण (४६ पृष्ठ) में देखिये—उसमें आपने ‘तपो विद्या च विप्रस्य नि श्रेयसकरं परम्’ यह मनुका आधा श्लोक दिया है। उसका उत्तरार्ध ‘तपसा कित्वपं हन्ति विप्रयामृतमश्नुते’ (१२।१०४) यह छिपा लिया है—उसका अर्थ बलसे खींचा-तानीका किया है कि—‘जिस मनुष्यमें तपस्या और विद्या नहीं, वह ब्राह्मण नहीं। जिसमें यह हों, वही ब्राह्मण है’। यहाँ यह आशय नहीं है। यहाँ तो यह आशय है—तपस्यासे ब्राह्मणका पाप क्षीण होता है और ज्ञानसे उसे मोक्ष मिलता है। यहाँ पर ज्ञान और तपस्या पारलौकिक सुगतिमें सुविधा करने वाले माने गये हैं, उनके होने-न होनेसे ब्राह्मणताका होना-न होना कहीं नहीं माना गया। ‘विद्यातपोभ्या भूतात्मा शुध्यति’ (मनु० २।१०६) यहाँ मनुजीने विद्या और तपस्यासे आत्माकी शुद्धि कहकर उनको उत्कर्षाधायक माना है, स्वरूपाधायक वा जातिप्रद सर्वथा नहीं माना। निःश्रेयसका अर्थ पारलौकिक कल्याण है, ब्राह्मण बनना-न बनना नहीं। इस प्रकार तोड़-मरोड़ आप लोगोंमें स्पष्ट है। आप हमें उपालम्भ कैसे दे सकते हैं? आपने मनुका वचन कोढ़ दिया, नहीं—जिससे वर्णपरिवर्तन सिद्ध होता हो।

(य आपस्तम्बको भी 'चवरो' वर्णों ब्राह्मण छत्रिय वैश्य शुद्रा, तेषा पूर्वपूर्वो जन्मत श्रेयान्' (आप धर्मसूत्र १।१।४ ५) इन शब्दोंमें जन्मसे वर्ण व्यवस्था इष्ट है। 'ब्राह्मणमात्र च [हावा मलम्ना भवति]' (१।२४/७) इस आपस्तम्बके वचनमें मात्रशब्दमें जन्मना वर्ण-व्यवस्था इष्ट है। इसलिङ्ग यह श्रीहरदत्तने टीका की है—'मात्रग्रहणाद् नाऽमिजन-विद्या-सस्कारादपेक्षा' कितनी स्पष्टता है ? और देखिये—'गर्भं च तस्य [ब्राह्मणस्य] अविज्ञातम्' [स्त्रीषु नपु सकभेदन अविज्ञातम्] (१।२४।८) 'आत्रेयी [रत्नस्वला] च स्त्रियम्' (आ ध सू १।२४।९) यहा पर ब्राह्मणोंके गर्भको माननेसे भी ब्रह्म हत्या मानी गई है, इसमें भी ब्राह्मणवर्ण जन्म वस्ति गर्भसे ही सिद्ध हो रहा है। तर्था यहा श्रीहर दत्तने लिखा है—'सम्भवस्यम्या ब्राह्मणगर्भं । इत्यादि द्रुत स्थलोंमें जन्मना वर्ण व्यवस्था सिद्धान्तित है। तब डा०जी आपस्तम्बका नाम कर्मणा वर्ण व्यवस्थामें कैसे लेते हैं ? कदाचित् डा०जीका आपस्तम्ब का 'धर्मधर्म्या जघन्यो जघन्या वर्ण पूर्व-पूर्य वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। अधर्मधर्म्या पूर्व पूर्वो वर्णो जघन्य जघन्य वर्णमापद्यत जातिपरिवृत्तौ' (२।१।१० ११) स्वा० ६० जीस स० प्र० में उद्धृत यही पद्यन गुणकर्मणा वर्ण व्यवस्थामें अभिमत हो—जैसे कि उन्होंने उसे 'मानव धर्मसार' (४४ पृष्ठ) में उद्धृत किया है—यहा पर भी डा०जीका प्रम है। जैसे स्वा ६ जीने स० प्र० के १२ पृष्ठमें 'जातिपरिवृत्तौ' पदका अर्थ छिपाकर अपने ण्टद्विषयक मतको निर्मूलक सूचित किया है वैसे डा० जीने भी उस पदमें ध्यान न देकर अपने पक्षका 'सिद्धतामिति' सिद्ध कर दिया है।

'जातिपरिवृत्तौ' का अर्थ है 'जाते —जन्मन मनुष्यत्वनातेयां परिवृत्तौ परिवर्तने। 'जाति' का अर्थ जन्म होता है, जैसे कि—'मृत्तु कटिक्' में—'अन्यस्यामपि जातो (जन्मनि) मा धेस्या भूस्त्व हि

सुन्दरि !' (८।७३) । 'जातिः सामान्य-जन्मनोः' (३।३।६८) यह श्रमरकोपका वचन भी इसमें मारी है । 'जाति' का अर्थ 'मनुष्यजाति' भी होता है जैसे कि—'समानग्रमवामिका जातिः' (न्यायदर्शन २।२।७०) यहां पर श्रीहरदत्तमिश्रकी टीका भी हमारे पक्षको स्पष्ट कर रही है—
'धर्मधर्म्या-स्वधर्मानुष्ठानेन जयन्त्यो वर्णः-शूद्रादिः पूर्व-पूर्व वर्णमापद्यते वैश्यादिकं प्राप्नोति जातिपरिवृत्तौ-जन्मनः परिवर्तने शूद्रो वैश्यो जायते; तथापि स्वधर्मनिष्ठः क्षत्रियो जायते । तथापि स्वधर्मपरो ब्राह्मण इति । एवं क्षत्रिय-वैश्ययोरपि द्रष्टव्यम् ।'

सो जन्मका परिवर्तन, मरकर पुनर्जन्ममें होता है । इस जन्ममें स्वकर्म करके और मरकर शूद्रादि नीच-वर्ण पुनर्जन्ममें उत्तम-वर्ण प्राप्त करें, और ब्राह्मणादि उत्तम-वर्ण इस जन्ममें स्वकर्मभ्रष्ट होकर फिर मरकर पुनर्जन्ममें शूद्रादि नीच वर्णको प्राप्त करें—इसमें सनातन-धर्मके पक्षकी कोई हानि नहीं; क्योंकि यही तो सनातनधर्मका मिद्धान्त है । विप्रतिपत्ति तो इस जन्मके कर्मोंमें इसी जन्ममें वर्ण-परिवर्तनमें है, जन्मान्तरमें वर्ण-परिवर्तनमें तो विप्रतिपत्ति नहीं । यदि उसका साधक यचन 'छान्दोग्योपनिषद्' में सुप्रसिद्ध है—'यथा हि रमणीयचरणा अम्बारी ह यन् ते रमणीयां धानिमापद्ये रन् श्वयोनिं वा, मूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा' (२।११.१०) तो क्या डा० जीने कुत्सित आचरण वाले पुरुषको इस जन्ममें कुत्ता वा सुखर आदि बना हुआ देखा है ? 'केतितस्तु यथान्यायं हव्यकर्म्ये द्विजोत्तमः । कर्माद्भिदप्यतिक्रामन् पापः शूकरतां व्रजेत्' (मनु० ३।१२०) तो माने हुए न्योतेमें न पहुँचे हुए ब्राह्मणको डाक्टर जीने इस जन्ममें सुखर बना हुआ देखा है ? यदि नहीं; किन्तु जन्मान्तरमें वैसा बनता है, या ऐसे वचन सिद्धिके प्रसंगार्थ-वाद तथा निषिद्धके निन्दार्थवाद है, यन्मुतः वैसा वह नहीं हुआ करता; जैसे ही आपस्तम्बादिके वचनमें भी अन्य वर्णता-अन्य जन्ममें इष्ट है;

इस जन्ममें नहीं; अथवा निन्दार्थवादमात्र है। 'जातिपरिवृत्ति' का अर्थ 'जन्मपरिवर्तन' है; इसका अर्थ स्वा. २. जीने अपनी 'श्रुतिवेदादिभाष्य-भूमिकामें बहुत बिगाड़ा है; पदोंका अर्थ अपनी इच्छानुसार करना भाषाशास्त्रपर आक्रमण करना है। विज्ञानमित्र तथा वाष्मीकि आदिके विषयमें भिन्न नियममें कहा जायगा'।

(२४) आगे डा० जी लिखते हैं—'उन्हींकी देगा-देखी वैश्य और शूद्र भी स्वस्वप्रवृत्तचित काम, काम, आरामका न्यायानुसार बदबारा नहीं करना चाहते। सब वस्तुओंके लोलुप सभी हो रहे हैं। शिकार तो बंदक, रसक तो भक्षक, पोषक तो मोषक हो गया है और संवक भी अब धर्पक हुआ जाता है' यहां पर डा० जीकी जानना चाहिये कि—यह कृपा ब्राह्मणोंकी नहीं, बल्कि आप जैसे सुधारक नामधारियोंकी ही है। क्योंकि—आप लोगोंने 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (गीता १८।४५) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् ध्वनुष्ठतात् (३।२५) 'सहजं कर्म कौन्तेय ! यदोपमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दायेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) एतदादि श्लोकोंको मुखवाकर वा उन्हें उन्नतिका बाधक मिट्ट करके 'सभी उन्नति करो' ऐसी प्रेरणा करके कर्मस्वातन्त्र्य जारी कराया, तभीमें स्वयं ही कर्मसाक्षर्य जारी हुआ। इसमें ब्राह्मणोंका क्या अपराध ? ब्राह्मणोंके ही कर्म वा वृत्तिको सब छीन रहे हैं वा छीनना चाहते हैं। ब्राह्मण फिर भी पढ़ने-पढ़ाने, बजन-याजन, दान-प्रतिग्रह आदि मनुष्यों कर्मोंमें प्रायः लगे हुए हैं। परन्तु क्षत्रिय आदि ही ब्राह्मण आदियोंका संरक्षण कर्म छोड़कर ब्राह्मणोंके ही कर्म उपदेश तथा अध्यापन एवं प्रतिग्रहादि स्वीकार करनेको उद्यत हो

। " वाष्मीकि के विषयमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' ३५ पुष्पमें देखें। वह हमारे पतेसे (३) में मंगाने।

गये हैं। तब ब्राह्मण भी अपने लिए आपसकाल देखकर लाचारीसे मनु० (१०।८१-८२) के संकेतसे कहीं पत्रिय, वैश्योंके कर्म करते हुए भी दीख जाते हैं। इस प्रकार अवब्राह्मण लोग ब्राह्मणोंकी वृत्ति छीनकर ब्राह्मणोंकी भी हानि करने वाले सिद्ध हो रहे हैं; अपनी भी हानि करते हैं। तब वे ही लोग 'इतो भ्रष्टास्ततो नष्टाः' के उदाहरण बनकर यदि ब्राह्मणोंको गालियां दें; तो इसमें ब्राह्मणोंका क्या दोष ?

“यह सब ‘जन्मनैव वर्णः’ का विलसित-विक्रीडित” हैं यह बाबू भगवान्दासजीका कथन निमूँल ही है। वस्तुतः आप लोगोंसे प्रवर्तित कर्मस्वातन्त्र्यका ही यह फल है। सनातनधर्म उन-उन वर्णोंके कर्म बताता है, कर्मोंसे वर्ण नहीं बताता। परन्तु आप लोग इस सिद्धान्तको पलटकर स्वयं ही पूर्वोक्त हानियाँ बरवा रहे हैं। और सनातनधर्म जन्मसे वर्ण स्वीकार करके भी उन-उनके लिए कर्मोंका कहीं निषेध नहीं करता; बल्कि अपने कर्मको छोड़ने वालोंकी अग्रिम जन्ममें बड़ी दुर्दशा बतलाता है। तब डा० जीका तथाकथित दोष कैसे उपस्थित हो सकता है ?

यह आलोचना विस्तीर्ण हो गई है। डा० जीको वर्ण व्यवस्था-विषयक हमारे सब निबन्ध पढ़ लेने चाहियें—जिनसे उनके सब संशय मिट जावें। डा० जीको यह जानना चाहिये कि—सर्वभक्षी च गौः श्रेष्ठः सर्वत्यागी न गर्दभः। निदुग्धापि च गौः पूज्या न तु दुग्धवती खरी’ (सत्यार्थप्रकाशमें पराशरस्मृतिके नामसे उद्धृत) ‘दुःशीलोपि द्विजः पूज्यो न तु शुद्रो जितेन्द्रियः। कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छोलवती खरीम्’ (पराशरस्मृति ८।३३) इस बातको अवलम्बन करके यदि शास्त्रकारोंने कहीं कर्महीन भी ब्राह्मणकी प्रशंसा की है; वहां कारण वास्तविकता ही है, कर्मत्यागकी वहां प्रोत्साहना नहीं है। स्वकर्महीनता

में शास्त्रकारोंने अग्रिम जन्ममें उनकी दुर्दशा सूचित कर ही दी है, देविये मनुस्मृति (१२।७०-७१-७२) । ऐहिक कर्महीन भी ब्राह्मणकी प्रशंसा जो कि शास्त्रकारोंने सूचित की है; वह गतजन्मके सुकर्मोंकी ही कारणसे है। जबकि ऐहिक-कर्मोंमें हीनकी अग्रिम जन्ममें दुर्दशा शास्त्रकारोंने बताई है; तब वहां गतजन्मके सुकर्मोंवाले उन ब्राह्मणोंकी प्रशंसा-प्रतिपादक श्लोक प्रक्षिप्त कैसे माने जा सकते हैं? हमारा यह शरीर गतजन्मके कर्मोंसे बना हुआ है। इस जन्मके कर्मोंमें बतने वाला शरीर तो अग्रिम जन्ममें होगा। इस कारण पूर्वजन्मके सुकर्मोंमें ही ब्राह्मण वर्ण वाले पिताके घरमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणकी इस जन्ममें कर्महीन होने पर भी यदि प्रमांसारूप पुनर्जायता न मानी जाये, यदि पूर्व जन्मके सुकर्मोंसे ही शुद्र वर्ण वाले पिताके घरमें उत्पन्न शुद्रकी अप्र सुकर्ममें लगे होते पर भी अपुनर्जायता न मानी जाये, तो स्पष्ट होगा कि इस प्रकारके लोग पूर्वजन्म और पुनर्जन्मको नहीं मानते। इस कारण यह दीर्घ रहे हुए चन्द्रको मानने वाले नास्तिक हैं या प्रच्छन्न-बौद्ध हैं, या श्वेच्छाधर्मी हैं, या शास्त्रोंके उल्लंघन करने वाले हैं। वे इसी वर्तमान जन्मको तथा उसीके कर्मोंको मानते हैं, पूर्व और परजन्मों तथा उनके कर्मोंके फल नहीं मानते। परन्तु यदि वे पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्मवादको मानते हैं; तब पूर्वजन्मकमानुसार ही हुए-हुए इस जन्ममें ही उन्हें वर्ण-व्यवस्था माननी चाहिये। इस जन्मके कर्मोंसे तो उन्हें अग्रिम ही जन्ममें वर्ण व्यवस्था माननी पड़ेगी, नहीं तो गतजन्मके कर्म व्यर्थ हो जाएंगे। जबकि कर्म मरण तक होते ही रहते हैं; तब उनका परिणाम भी उन्म समय तक कैसे निकल सकता है? उन कर्मोंका परिणाम तो मरण और पुनर्जन्मके बीचके समयमें ही घोषित होता है। चादियोंके मतानुसार इस जन्मके कर्मोंका फल यदि 'यहीं' मिल जाय, तो अग्रिम जन्म ही न हो सकेगा, क्योंकि अग्रिम जन्मके मूल इस पूर्व जन्मके कर्म ही हुआ करते हैं।

यह है शास्त्र व्यवस्था, शेष है लोक-सम्मान, सो वह अपने गुण-कर्मोंसे श्रेष्ठ, अवर जाति वालेका भी होता है। सनातनधर्मी ही कधीर जैसे जुलाहेका भी सम्मान करते हैं प० भी० बुलनर-जैसे भिक्षधर्मी वैदेशिकको भी सभापति पद देकर सम्मानित कर चुके हैं। डाक्टर भगवान्दासजी जैसे वैश्यको भी 'श्रद्धेय' मानते हैं। श्रीगान्धिसदृश वैश्यको भी 'महात्मा' मानते हैं। वही सनातनधर्मी रावण जैसे ब्राह्मण को भी प्रतिवर्ष अपमानित करते ही रहते हैं। इस प्रकार सम्मान तो सगुण होने पर ही होता है। निगुण होने पर तो ब्रह्मकी पूजा भी नहीं होती, ब्रह्मकी भाँ सगुण ईश्वर होने पर ही पूजा हुआ करती है। पर इससे सनातनधर्मी वर्ण व्यवस्थामें परिवर्तन नहीं चाहते। वे कुरुर्मा रावणको भी *नाबल* ही कहते हैं, ज्ञानी धर्मन्यायको भी *गूढ़* ही कहते हैं। वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्धान्तित की हुई कट्टर प्रकारकी हानियोंमें बचावगी। इससे जैसे कह रहें हुए शास्त्रका उल्लङ्घन भी नहीं होगा। अग्रा है या० भगवान्दास M A महाशय, तथा उन जैसे दूसरे सुधारक भी निष्पक्ष होकर ध्यानसे विचार कर इस विषयको निर्णीत कर लेंगे, प्रसिद्धता आदिके बहानेसे शास्त्रवचनोंका तिरस्कार न करेंगे। उन्हें हमारे वर्ण व्यवस्था विषयक मय निबन्धोंका मनोयोगसे अध्ययन कर लेना चाहिये, जिनमें पृथक्सम्बन्धी उनही शङ्काएँ दूर हो जायें।

[डाक्टर महाशयने इस हमारे निबन्धका प्रत्युत्तर नहीं दिया]

(१०) वर्ण-व्यवस्थाविषयक कुछ भ्रमोंका परिहार

कई महाशय कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिसमें उन्हें गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था प्रतीत होती है। कुछ थोड़ेसे प्रमाणोंकी वहा आलोचना दी जाती है; शेष प्रमाण अग्रिम पुष्पोंमें उद्धृत तथा आलोचित किये जावेंगे।

मनुका प्रसिद्ध श्लोक

(१) स्वा० दयानन्द आदि बहुतसे सुधारक 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणरथैव शूद्रताम्' (मनु० १०।६५) इस श्लोकको बड़े संरम्भसे देते हैं, और इससे गुणकर्मकृत वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई समझ लेते हैं।

प्रत्युत्तर—यहा प्रष्टव्य है कि उक्त पद्यमें 'शूद्र' शब्द जन्मसिद्ध इष्ट है, वा गुणकर्मसे? यदि जन्मसिद्ध, तब वर्ण-व्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध हुई। यदि गुणकर्मसे शूद्र इष्ट है, तब वह ब्राह्मण कैसे हो सकता है? इस पद्यमें गुणकर्मका कहीं गन्ध भी नहीं है। तब ऐसा कह देना आदियोंका पहला चूल्हा है। दूसरा चूल्हा यह है कि इस श्लोक का पहलेके ६४वें श्लोकसे सम्बन्ध है, क्योंकि ६४-६५ श्लोक युग्मक हैं। वादी इन्हें इकट्ठा नहीं कहते, क्योंकि वैसा करनेसे उनका पक्ष कटता है। जबकि उनसे दिये जाते हुए पद्यमें कोई हेतु नहीं कहा गया कि—शूद्र ब्राह्मण कैसे होता है और ब्राह्मण शूद्र कैसे होता है, तब उक्त श्लोक उनका इष्टसाधक कैसे हो सकता है? इससे स्पष्ट उन्हें भी इससे पूर्वका श्लोक मानना पड़ेगा, जिससे यह विषय स्पष्ट हो जाता है। वह युग्मक पद्य इस प्रकार है—

‘शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते । अधेयान् श्रेयसी जाति गच्छत्यासत्तमाद् युगात्’ (मनु० १०।६४) शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च (१०।६५ यदि ६२ पद्यका ६४ पद्यमे सम्बन्ध न माना जावे; तो ६२ पद्यमें ‘एधं’ पदका कयन भी व्यर्थ हो जाता है । और फिर ६४ पद्य भी असम्बद्ध हो जाता है ।

इस पद्यमें पारशवका सातवें जन्ममें (एक जन्ममें नहीं) ब्राह्मण हो जाना कहा है । ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न हुआ पारशव कहा जाता है । यहां रक्तकी अपेक्षा धीर्यकी प्रधानता बताई गई है । जब इसी जन्ममें वर्ण-परिवर्तन नहीं कहा गया, किन्तु सातवें जन्ममें, तब बादियोंका पक्ष तो कट गया । घैसेकी ब्राह्मणता भी मसम जन्ममें रक्तकी अपेक्षा शुक्लकी प्रधानता-प्रतिपादनार्थ है; नहीं तो तल् प्रत्यय भी तद्धर्मत्व, तथा तद्भावको बताता है, साक्षात् उसीको नहीं, नहीं तो ‘अथ जनः पशुतामुपसन्नः’ का अर्थ साक्षात् पशु होना माना जावेगा ? पशुभावका अर्थ ‘पशुधर्मा’ ही होता है, साक्षात् पशु नहीं ।

उक्त पद्योंका स्पष्ट तात्पर्य यह है—ब्राह्मणसे शूद्रामें यदि कन्या उत्पन्न हो; उससे यदि ब्राह्मण विवाह करे, उससे भी कन्या हा, और उससे ब्राह्मण विवाह करे, इस प्रकार सातवीं पीढ़ी तक उत्पन्न होती हुई कन्याका सम्बन्ध लगातार सातवें ब्राह्मण पुरुष तक हो जावे, तब ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न कन्या शूद्रत्वसे हटकर शुद्ध ब्राह्मणी हो जाती है फिर उससे ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न बालक शुद्ध ब्राह्मण होता है । यहां वर्णसङ्करोंका प्रकरण चला हुआ है—गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था का कुछ भी प्रकरण नहीं । न यहां पर प्रेमा करना विधि है । वर्णसङ्करकी शुद्ध वर्णता कैसे हो सकती है—यही यहां बताया गया है ।

इस प्रकार यदि शुद्धसे ब्राह्मणोंमें लड़की उत्पन्न हो, उसका सम्बन्ध तथा सदुत्पन्न कन्याओंका सम्बन्ध शुद्ध पुरुषोंसे होगा जावे, तब तत्तम जन्ममें उत्पन्न लड़की ब्राह्मणी न रहकर शुद्ध शुद्ध वर्णकी हो जावेगी; फिर उसके लड़के भी असंकीर्ण शुद्ध होंगे। इस प्रकार शुद्धामें क्षत्रियसे कन्या उत्पन्न होवे, उससे उत्पन्न कन्याओंका उत्तरोत्तर क्षत्रियसे विवाह होता रहे, तब सातवीं कन्या शुद्धत्वके सङ्करमें हटकर शुद्ध क्षत्रिय वर्ण की हो जावेगी। इसी प्रकार यदि शुद्धसे ब्राह्मणोंमें बालक हो, उसका सम्बन्ध तथा उससे उत्पन्न बालकोंका सम्बन्ध सात पीढ़ी तक शुद्धाओंसे होता रहे, तो सातवें जन्ममें उत्पन्न बालक ब्राह्मणत्वके संकरसे हटकर शुद्ध शुद्ध वर्णका हो जावेगा। इसी भान्ति शुद्धामें क्षत्रियसे लड़का हो, उसका तथा उससे उत्पन्न बालकोंका विवाह-सम्बन्ध क्रमशः सात पीढ़ी तक शुद्धाओंसे होता चले, तो सातवें जन्ममें वह क्षत्रियत्वके सङ्कर से हटकर शुद्ध हो जावेगा। इस प्रकार सप्तम जन्म तक शुद्ध-सङ्कर शुद्ध क्षत्रिय और क्षत्रिय-संकर शुद्ध शुद्ध हो जाता है।

इसी भान्ति शुद्धामें वैश्यसे उत्पन्न लड़की क्रमसे सातवें जन्म तक वैश्योंमें सम्बद्ध होती रहे, तो वह सातवें जन्ममें शुद्धाओंके सङ्करसे हटकर शुद्ध वैश्य वर्णकी हो जाती है। वैश्यसे शुद्धामें उत्पन्न बालक उत्तरोत्तर सात पुरुष तक शुद्धाओंसे सम्बद्ध होता रहे, वहाँ सातवें जन्ममें वैश्यता हटकर शुद्ध शुद्धता उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार वैश्य सातवीं पीढ़ी तक शुद्ध, और शुद्ध सातवीं पीढ़ी तक जाकर वैश्य हो जाता है।

मनुस्मृतिके सभी टीकाकारोंने इन पद्योंका यही अर्थ किया है, सहर प्रकार होनेसे यह प्राकरणिङ्ग भी है। धार्यसमाजी श्रीबुद्धसोरास स्वामीने भास्करप्रकाश में इसके निराकरणकी चेष्टा करते हुए भी कोई

उल्लेखयोग्य उत्पत्ति नहीं दी। जब यह विधिवाक्य नहीं है, 'तो ७ माह्मण शूद्रासे विवाह करनेसे भ्रष्ट बनें, अपना माह्मणत्व खोवें, तब यह आपकी वर्योक्ति हो, यह श्लोक माह्मणोंके विगाडनेका है, 'अच्छे रहे ! जो बात एक जन्ममें न मानी वह सात जन्ममें मानी' ऐसा कथन श्रीतुलसीरामजीके पद्यको शिथिल सिद्ध कर रहा है। इन पद्योंमें गुण-कर्मसे वर्य परिवर्तन अर्थ किसीने भी नहीं किया, तब मत्पार्थप्रकाशमें स्वा० ज्ञानानन्दजीका वैसा अर्थ करना निराधार है। उक्त पद्यके अर्थको स्पष्ट करनेके लिए हम कई उदाहरण देते हैं; तब पाठकोंको यह बात ठीक समझ आ जावेगी।

बकरीके साथ यदि मृगका मैथुन हो जाए, और बकरीको गर्भ भी हो जावे, और स्त्री सन्तान हो, तो उसका रूप दोनोंका मिला-जुला होगा। उसका संयोग भी फिर मृगसे हो, उससे भी उत्पन्न स्त्री सन्तानका संयोग फिर मृगसे हो, सात जन्म तक ऐसे ही हो, तब क्रमसे वह सङ्करता हटकर सातवें जन्ममें शुद्ध मृग जाति हो जावेगी। इस प्रकार बकरेका मृगीय मैथुन हो, उससे उत्पन्न स्त्री सन्तानका संयोग मात्र जन्म तक फिर बकरे से होता रहे तो धीरे धीरे उस स्त्री सन्तानमें मृगकी सङ्कीर्णता उत्तरोत्तर कम होती जावेगी। सातवें जन्ममें मृगीकी सङ्करता बिल्कुल हटकर शुद्ध बकरा जाति हो जावेगी। उस समय मृगत्वका कुछ भी अंश उसमें नहीं रहेगा। अधि-मुनि जोग वैज्ञानिक होनासे इस बातको जानते थे कि दूरी पीछे तक भी सङ्कीर्णता का कुछ अंश रहेगा, सातवें जन्ममें सर्वथा शुद्धता हो जावेगी। तब न यह कि पहले ऊँची नीच रहें और सातवां उच्च बनें यह श्रीतुलसी-रामजीका कथन वस्तुस्थिति न समझनेका परिणाम है। इस प्रकार सुन्दरका जेठके साथ मंगेय होने पर जो बाल, चेहरा, पहिरे,

स्वा० दयानन्दजीने 'स्त्रैश्वर्याद्वित' के, ३८ पृष्ठमें 'बढवाया घृषे घाट्ये' (१६६) इस धातुिकमें टिप्पणी की है—“यहां घांड़ीसं बँलकी उत्पत्ति अस्मभव तो है, तथापि बीजके [की] प्रधान [ता] के पक्षमें अर्थात् जो-जो बीज बोया जाता है, वही, उत्पन्न होता है. मंत्रके गुणोंका अनुवायो बीज नहीं होता, किन्तु स्त्रेके गुण बीजके गुणोंको ही पुष्ट करते हैं। गेहूँ आदि अन्न जो-जो बोये जाते हैं, वे ही उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही जो बँल और घांड़ीका समागम होवे, तां घांड़ीसे बँल हो सकता है।” स्वा० दयानन्दजीकी इस व्याख्यासे पूर्वोक्त विषय पर प्रकाश पड़ता है।

अथवा पश्चिम अन्य सुगम उदाहरण देखें—बम्बईके आममें माल-दह आमकी कलीका वैधन्द दिया जावे, उससे दोनों जातियोंका संमिश्र - भी आम होगा, उसकी शाखा फिर बम्बईके आममें लोकी जावे. इस प्रकार सातवीं उत्पत्तिमें यह मालदह आम बम्बई जाति वाला आम हो जायगा। अथवा यह समझें कि—किसी भारतीय सुधारक रमणीका अंग्रेजसे संयोग हो जावे, उससे उत्पन्न लड़कीमें कालापन गौरापन दोनों संकीर्ण होंगे। फिर उस लड़कीका भी संयोग अंग्रेजसे हो, उससे उत्पन्न लड़कीका भी संयोग अंग्रेजसे हो, इस प्रकार सातवीं अंग्रेजो-त्पन्न लड़कीसे उत्पन्न हुआ बालक पूरा अंग्रेज हो जावेगा; भारतीयताका थोड़ा भी कालेपनका चिन्ह उसमें नहीं रहेगा। इससे उल्टा किसी हिन्दुस्थानीका अंग्रेज लड़कीसे विवाह होवे, उससे उत्पन्न लड़की भी दोनों जातियोंको धारण करनेसे सक्षर होगी। फिर उसका अन्य हिन्दु-स्थानीसे विवाह हो, उससे भी उत्पन्न लड़कीका अन्य हिन्दुस्थानीमें मेल हो, इस प्रकार सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुई लड़कीका लड़का पूरा हिन्दुस्थानी हो जाता है, उसमें गौरापन बिल्कुल नहीं रह जाता। इस प्रकार हिन्दु-मुसलमान तथा हिन्दु-पटानके पारस्परिक सम्बन्धमें भी समझा जा सकता है।

यही उक्त युग्मक श्लोकका आशय है। पूर्व श्लोकका सम्बन्ध तोहकर गुणकर्ममें वर्ण परिवर्तनका तात्पर्य इस पद्यमें निकालना, वादियों का अपने पक्षको शिथिल मिट्ट करना है। इसका संक्षेप यह है कि—सङ्करणकी सकरता नष्ट होकर कथ शुद्ध वर्ण बन जाता है—यही इस पद्यमें दिखलाया गया है। यह यह कि जोयं ब्राह्मणका हो, रक्त शुद्राका, उनके संयोगमें जो सन्तान होती है, उसमें वीर्यकी प्रधानताके कारण ब्राह्मणत्व अधिक होता है, रक्तकी गौणताके कारण शुद्रत्व थोड़ा होता है, इस प्रकार सङ्करता होती है। यह सकरता क्या कभी हट भी सकती है, यदि हा, तो क्या किस प्रकार से? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसीका उत्तर उक्त युग्म पद्यसे है कि—यदि शुद्र सन्तान कन्या हो उसका सम्बन्ध ब्राह्मणके साथ हो, उससे जो लड़की होगी, उसमें ब्राह्मणता पहलेसे बढ़ेगी और शुद्रत्व पहलेकी अपेक्षा घटेगा। फिर उस कन्याका भी ब्राह्मणमें ही सम्बन्ध हो, तो उसमें पुनर्की अपेक्षा ब्राह्मणत्व और बढ़ेगा शुद्रता और घटेगी। इस प्रकार उत्तरोत्तर उत्पन्न हुई लड़कियोंका उत्तरोत्तर ब्राह्मणके साथ सम्बन्ध होनेसे तदुत्पन्न कन्याओं का ब्राह्मणत्व बढ़ते-बढ़ते सप्तम जन्ममें उत्पन्न कन्या पूर्ण ब्राह्मणी हो जाती है, अगला पीढ़ होता हुआ उनका शुद्रत्व सप्तम जन्ममें समाप्त हो जाता है। यह शुद्ध ब्राह्मणी हो जाती है। तब उस मातृवामें ब्राह्मणत्व उत्पन्न लड़का शुद्ध ब्राह्मण हो जाता है, यह आशय है। इससे वादियोंका पक्ष कुछ भी मिट्ट नहीं होता, प्रत्युत उनका खण्डन होता है—क्योंकि—यहाँ ब्राह्मण वीर्यम उत्पत्तिके कारण ही ब्राह्मणता पड़ी गई है।

इस प्रकार मातृवामें शुद्र द्वारा उत्पन्न कन्या वर्णमङ्कर होती है; उत्तरोत्तर उदने उत्पन्न कन्याका शुद्रसे सम्बन्ध होनेसे मातृवामें पीढ़ामें पैदा हुई कन्या शुद्ध शुद्रा हो जाती है, क्योंकि—उन कन्याओंमें विद्यमान ब्राह्मणता, उत्तरोत्तर शुद्रके वीर्य सम्बन्ध होने पर घटती घटती

सातवीं पीढ़ीमें संबंधा नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अग्रिय, वैश्य वर्णों में भी जान लेना चाहिये। सो यहाँ वर्णसंस्करण की शुद्ध वर्ण हो जाने का प्रकार बताया गया है, जो धीर्य मन्वन्धमे उत्पत्ति मलय ही है। हममें जन्मसे ही वर्ण व्यवस्था सिद्ध है, गुणकर्मोंका गन्ध भी नहीं। यहाँ मनुका हृदय है। यही समस्त टीकाकारोंका आशय है। 'शुद्धावा धाह्यणाजात' प्रजायते' यहाँ पर 'प्रजायते' का अर्थ 'प्रसूयते' है, यी उसकी सामर्थ्यसे 'जान' का यहाँ स्त्री रूप 'यह अर्थ है। 'जाति शब्द' के स्त्री पुरुष दोनों ही अर्थ हो जाते हैं। जैसे—'जातस्य हि ध्रुवी मृत्यु' (गीता २।२७) यहाँ 'जात' से स्त्री भी अर्थ गृहीत हो जाता है। पुरुष अपमें सामर्थ्यसे 'प्रजायते' का 'प्रजनयति' अर्थ है। 'आसप्तमात्' का अर्थ यद्यपि 'सप्तम जन्म तक' है, अर्थात् सात जन्म तक ऐसा होते होते यह सहीर्ण वर्ण मङ्करतासे हटकर शुद्ध हो जाता है, तथापि 'आसप्तमान्' का तात्पर्य अन्तिम अवधि होनेसे 'सातवें जन्ममें' ही होगा। क्योंकि—उसके आगे कोई अवधि नहीं बताई गई। जब सातवें में ही शुद्धता बताई गई है, तो पहले छ जन्मोंमें सङ्करताका अंश होनेसे, शुद्ध वर्णकी अपेक्षा अशुद्धता होनेसे नीचता भी हुई। इस प्रकार 'भास्कर प्रकाश' में श्रीतुलसीराम स्वामीसे की हुई "जातः अप्रेयान्" इन पु लिख पदोंमें 'कन्या' अर्थ कहाँसे आया ? [यहाँ श्रीतुलसीराम जी 'अमन्त्रिका तु कार्येय' इस मनुके पत्रकी अपनी टीकामें लिखे 'या-त्रागमिष्यति, स मृत्युं प्राप्स्यति' इस वाक्यको मूल गये]। तथा 'आसप्तमात्' का अर्थ 'सातवें जन्ममें' कैसे हुआ जबकि—आडू के अर्थ मर्यादा और अन्तिमविधि है। तो यह अर्थ होगा कि सात तक नीचा वर्ण उच्च जातिको प्राप्त होता रहता है, न यह कि—पहले ॥ नीच रहे और सातवां उच्च बने [छ तक सङ्करताका अंश रहनेसे नीचता, सातवें में सङ्करताका अंश सर्वथा हट जानेसे उच्चता स्वामाविक है। 'सात पीढ़ी' शब्द इसीलिपि प्रचलित है, जैसेकि मनुस्मृतिमें ही कहाँ है—

‘मपिण्डता नृ पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते’ (२।६०) सो यह अर्थात् वर्ण-शुद्धि की भी है] । यह श्लोक ब्राह्मणोंके बिगाड़नेका है ” [तो क्या मनुजीको आप ब्राह्मणोंको बिगाड़ने वाला कहते हैं ! यदि ऐसा है तो निकालिये स प्र.सं मनुके समस्त श्लोक, जिससे स.प्र. की तांद हलकी हो जावे] यह सभी आपत्तियाँ निरस्त हो गईं, हमारा पक्ष सिद्ध हो गया । शब्दोंका अर्थ यद्यपि थोड़ा होता है, तथापि तात्पर्य बड़ा हो जाता है । पर स्वा० द० जीने इस पद्यमें गुणकर्मोंको निर्मूल घुसेड़ दिया—इस पर तुलसीरामजीकी आंख नहीं पड़ी और पं० ज्वालाप्रसादजीके अर्थ पर पड़ गई—इसका कारण ये ही जान सकते हैं ।

भविष्य पुराणके कई श्लोक ।

(२) कई आर्यसमाजी महाशय भविष्य-पुराणके कई श्लोकोंको उद्धृत करके जन्मसे वर्ण-व्यवस्थाको खरबड़न करनेकी तथा गुण कर्मया वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं । वे उन पद्योंकी उद्धृत करते हुए एक धूर्तता करते हैं—वह यह कि—कभी पूर्वापर प्रकरण छिपा कर बीचके पुराणके श्लोकोंको दे देते हैं, ऐसा करने पर उनमें सनातनधर्म के सिद्धान्तसे विरुद्धता दीवने लग जाती है । इस विषयमें उन्हें अपने स्वा० द० जीके शब्द याद रखने चाहियें कि—‘जैसे शरीरके सब अङ्ग जब तक शरीरके साथ रहते हैं, तब तक कामके और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक, और प्रकरणसे अलग करने या किसी अन्य के साथ जोड़नेसे अनर्थक हो जाते हैं’ (सत्यार्थ० पृष्ठ १३०) ।

वादी भी ऐसा ही करते हैं । आर्यसमाजी विद्वान् श्रीनरदेवशास्त्री जीने ‘आर्यसमाजका इतिहास’ (प्रथम भाग २३६ पृष्ठ) में ठीक ही

लिखा है—‘मनुष्यको अधिकार है कि—वह अपना जो चाहे मन रखे; पर उसको यह अधिकार कदापि नहीं कि—वह वक्ता या ग्रन्थकर्ताके आशयको मनमानी रीतिसे तोड़-भरोड़कर उस ग्रन्थकर्ताके आशय या अभिप्रायसे विरुद्ध जो चाहे निकाले’ ।

इसमें स्वामी दुःशीका निम्न वचन भी द्रष्टव्य है । वह यह है—‘जो कोई इसे ग्रन्थकर्ताके तात्पर्यमें विरुद्ध मनसं देखेगा, उसका कुछ भी अभिप्राय विदिन न होगा; क्योंकि—वाक्यार्थमें चार कारण होते हैं—आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य । जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थका देखता है, तब उसका ग्रन्थका अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है । . तात्पर्य—जिसके लिए बक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसीके साथ वचन वा लेखको युक्त करना । बहुतसे हठी दुराग्रही मनुष्य ऐसे होते हैं, जोकि—वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कहना किया करते हैं, निशंपकर-मतवाले लोग, क्योंकि—मतके आपहसे इनकी बुद्धि अन्धकारमें फँसके नष्ट हो जाती है’ । (सत्यार्थप्रकाश भूमिका पृष्ठ ४) ।

इसी अभिप्रायसे ‘वत्परः शब्दः स शब्दार्थः’ यह न्याय भी प्रसिद्ध है । इस प्रकार कई लोग भविष्यपुराणके ब्राह्मणवर्गके कई श्लोकोंको—जो वहाँ पूर्वपक्ष हैं—सुनाकर जनतामें जन्मना वर्ण-व्यवस्थाको पुराण-विरुद्ध और कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाको पुराण-मिद्व दत्तवाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु जब उन श्लोकोंका उपक्रम तथा उपसंहार देखा जाता है, तब वहाँ स्पष्ट ही सन्नानन्दधर्मका मिद्वान्ति मिद्व हो जाता है । यदि उनके मतसे जन्मना वर्ण व्यवस्थाका उन श्लोकोंमें खण्डन माना जावे, तो वहाँ ऐसे भी श्लोक हैं—जहाँ विद्या, आचार, संस्कार तथा कर्मोंमें भी वर्णका खण्डन मिद्व होता है, तब क्या चादी अपने पक्षका भी खण्डन मान लेंगे ? देखिये—

‘संस्कारतः सोतिशयो यदि स्यात् सर्वस्य पुंसोऽस्त्यति-संस्कृतस्य ।
यः संस्कृतो विप्रगणप्रधानो व्यासादिकस्तेन न तस्य साम्यम्’ (४१।३०)
यहां वादिसम्मत संस्कारका खण्डन है। ‘वेदाध्ययनमप्येतद् ब्राह्मणं
प्रतिपद्यते । विप्रवद् वैश्वराजन्यौ राक्षसा रात्र्यादयः’ (४१।१) यहाँ
वादिसम्मत वेदविद्याद्वारा ब्राह्मणखण्डकी प्राप्तिका खण्डन किया गया है
कि—संस्कार करने पर भी ब्राह्मणोंका व्यास आदिसे साम्य नहीं हो
जाता । वेद तो ऋषिय वैश्यको भी ब्राह्मण-इतने पढ़ने पढ़ते हैं और
फिर वेदाध्येता रावण भी राक्षस ही रहा । ‘जातिधर्मः स्वयं किञ्चिद्
विशेष श्रुतिसङ्गमात् । अस्मिन् शूद्रजातीनां प्रसिद्धो विप्रजातिषु’
(४१।२१) यहाँ वादिसम्मत जाति आचार द्वारा वर्ण परिवर्तनका
खण्डन है अर्थात्—जब शूद्रोंके लिए वेदमें आचारका विधान ही नहीं
है, तो शूद्रोंका वेद विरुद्ध आचार ही कैसे हो सकता है ? या उनकी
उन्नति कैसे हो सकती है ? ‘देहात्मिण्यौ’ शीर्षः कायभस्मादिरूपवत् ।
तस्माद् देहात्मके नैतद् ब्राह्मण्यं, नापि कर्मजम्’ (भविष्य० ४१।२७)
यहाँ शरीर द्वारा और कर्म द्वारा अन्य वर्णकी प्राप्तिका खण्डन किया
गया है, इससे वादिसम्मत कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाका भी पुराणने खण्डन
कर दिया । कई छली लोग ‘नापि कर्मजम्’ यहाँ ‘नापि’ का सम्बन्ध
‘देहात्मके’ से जोड़ देते हैं । यह स्पष्ट उनका स्वार्थ है । ‘अपि’ शब्द
पूर्व तथा उत्तर दोनोंका परामर्श करता है । पहले ‘नैतद्’ यह निषेध
‘देहात्मक’ के लिए है, दूसरे ‘नापि’ का सम्बन्ध ‘कर्मजम्’ इससे है,
इससे कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाका भी खण्डन हो गया; पर वादी लोग यह
श्लोक जनताके सामने नहीं आने देते—यही छल है ।

अन्य छल यह है कि—वादी लोग इसके पूर्वापर प्रकरणको सामने
नहीं आने देते । मध्यके कई श्लोक उठाकर रख देते हैं, और अपने
पक्षकी पुष्टि भोले-भाले लोगोंके आगे कर देते हैं । हम वह पूर्वापर

प्रकरण सामने रख देते हैं। भविष्य पुराण ब्राह्मणपर्व ४० वें अध्यायमें 'जातिः श्रेष्ठा भवेद् वीर ! उत कर्म भवेद् वरम्' (११४०।१) एतद् वद त्रिनिश्चित्य न यथा संशयो भवेत् । जन्मतः कर्मणश्चैव यज्ज्वायन्तद् प्रवीहि मे' (४०।२) यहाँ जानि और कर्ममें कौन श्रेष्ठ है—यह शतानीकका सुमन्तुके प्रति प्रश्न है। भो ब्रह्मन् ! आदिकल्पे हि ब्राह्मण्यं ब्रूहि किं भवेत् ? आप्यध्ययनदेहारमसंस्काराचारकर्मणाम्' (४०।८) ब्राह्मण्यन्तर सामान्यविशेषा यद्वि कृत्रिमाः । (९) सायक्या प्रसिद्धा ये जातिभेदविधाधिन' (१०) अम्यक्तागममिदृशेद् जातिभेदविधिनृणाम् । त्रिकदशोऽथ न पुण्याति भवतः शेषुपीबलम्' (११) यह ऋषियों का ब्रह्माके प्रति ४० वें अध्यायमें प्रश्न है।

फिर ४१-४२-४३-४४ अध्यायोंमें पूर्वपक्ष अच्छी तरह दिखलाया गया है, जिन पक्षोंको वादी बड़े प्रेमसे उद्धृत करते हैं। उसमें ब्रह्माजी का उत्तरपक्ष ४२वें अध्यायमें दिखलाया गया है। ब्रह्मोवाच—'इदं शृणु मयाख्यात तर्क-पूर्वमिदं वच । युष्माक सशये जाते हृते ये जाति कर्मणो' (४२।१) इति पृष्ठ पुरा ब्रह्मा ऋषीन् प्रोवाच भारत ! सवितर्कमिदं वाक्य विप्रैः । जाति कर्मणो । (४२।२) अर्थात् आप लोगों का जो जाति और कर्मके विषयमें सशय हुआ था, उसमें मैंने पहले तर्कशुल्ल वचन कहा था। इसी तरह 'शृणुष्व योगिनो वाक्य सतर्क' (४४।१२) यहाँ भी तर्कसहित वाक्यका कहना माना है। सो 'तर्कपूर्व' और 'सतर्क' का अर्थ है कि पूर्वपक्ष। अर्थात् मैं (ब्रह्मा) ने ४०-४१-४२-४३-४४ अध्यायोंमें केवल जाति तथा केवल कर्मका खण्डन किया है। इससे ब्रह्माजीने दोनों ही सिद्धान्तपक्ष माना है। जैसकि—शुक्रयजुर्वेद (वा० स०) ने 'अन्ध तमः प्रविशन्ति ये अग्निद्यामुपान्त । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता' (४०।१८) इस मन्त्रमें कल अविद्या तथा केवल विद्याका खण्डन किया है, यह पूर्व-

पक्ष है; फिर 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतमश्नुते' (४०।१४) यहां पर अविद्या तथा विद्या दोनोंका समुच्चय ही सिद्धान्तपक्ष माना गया है, वैसे ही महाजीने भी जाति (जन्म) और कर्म दोनोंका समुच्चय ही सिद्धान्तपक्ष बताया है । जैसे कि—

‘पुनर्वन्मि निबोधन्व समासाग्रतु विस्तरात् । ससिद्धिं यान्ति मनुजा जाति (जन्म) कर्मसमुच्चयात्’ (१।४२।२) अर्थात् जन्म और कर्म दोनोंसे ही ब्राह्मणत्व आदिकी सिद्धि होती है । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए श्रीमहाजी एक सुन्दर उदाहरण या उपमा देते हैं—‘सिद्धिं गच्छेद् यथा कार्यं दैव-कर्मसमुच्चयात् । एव संसिद्धिमाप्नोति पुरषो जाति-कर्मणो’ (४२।३) यहां बात स्पष्ट हो गई कि केवल दैवाधीन भी सिद्धिकी नहीं पाता, केवल कर्म पर भी सिद्धिकी नहीं पाता । तब जैसे कार्यसिद्ध्यर्थ ऐहिक कर्म और उसके साथ वैव—पूर्वजन्मके कर्मों की अपेक्षा रहा करती है, वैसे ही ब्राह्मणत्वादिके लिए मनु आदिसे प्रोक्त ऐहिक कर्म तथा उसके साथ जाति (पूर्वजन्मके कर्मसे उत्पन्न जाति) यह दोनों ही अपेक्षित हैं—यह बहुत ही स्पष्ट है ।

इससे जो कि पूर्वपक्षमें जातिकी खण्डन किया था—इसमें उसका उद्धार कर दिया गया । जातिके साथ कर्मकी आवश्यकता भी बता दी गई । उसमें भी कर्मकी अपेक्षा जातिके अभ्यर्हित होनेसे प्रधानताके कारण उस (जाति) को पूर्व रखा गया । यह वर्ण व्यवस्थाके सम्बन्धमें जाति कर्मका समुच्चय सनातनधर्मका ही सिद्धान्त है । पर छलके बल वाले वादी उपक्रम और अपसंहारको छोड़कर पुराणके बीच वाले पक्ष ही उद्घृत कर दिया करते हैं—जिससे अर्थका अनर्थ हो जाता है—यह उनका बड़ा साहस है । उनसे दिये जाते हुए पूर्वपक्षक श्लोकोंमें केवल कर्मका तथा केवल जातिकी खण्डन किया है । जातिमें

भीरधीवराः । वेऽन्येपि वृषलाः केचित् तेषु वेदानधीमते' (२) यहां केवल वेदाध्ययनसे भी ब्राह्मणत्वका खण्डन कर दिया गया । 'शूद्रो देशान्तरं गत्वा ब्राह्मण्यं क्षत्रियं धितः । व्यापारकारभावादयैर्विप्रतुल्यैः प्रकल्पितैः' (३) वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं वापि यथाक्रमम् । मोद्वहन्ति शुभां कन्यां शुद्ध-ब्राह्मणजा नराः' (४) अपरिज्ञातशूद्रत्वाद् ब्राह्मण्यं याति कामतः । तस्मान्न ज्ञायते भेदो वेदाध्याय-क्रियाकृतः' (५) इससे केवल वेदाध्ययनसे भी ब्राह्मणता काट दी गई ।

अब यज्ञोपवीतादि चिन्ह द्वारा ब्राह्मणत्व आदिका खण्डन करते हैं । 'शिक्षाप्रखवसंस्कारसन्ध्योपासनमेखलाः । दण्डाग्निपवित्राद्याः शूद्रेष्वपि निरङ्कुशाः' (१०) तस्मान्नैतेपि खद्यन्ते यिलक्ष्यतया नृणाम् । यज्ञोपवीतसंस्कार-मेखलाचुलिकादयः' । अब वादिसम्मत संस्कारका पुराण खण्डन करता है—'संस्कारतः सोतिशयो यदि स्यात् सर्वस्य पुंसोऽस्त्यतिसंस्कृतस्य । यः संस्कृतो विप्रगणप्रधानो व्यासादिक-स्तेन न तस्य साम्यम्' (४१, ३०) अर्थात् संस्कार वालेकी भी बिना संस्कारोंवाले व्यासादिसे समता नहीं होती; तो संस्कार भी ब्राह्मणत्व-कारक न हुआ ।

आगे कहते हैं—'तस्मान्न च विभेदोस्ति, न बहिर्नान्तरात्मनि । न सुखादौ न वैश्वे नाज्ञायां नाभयेष्वपि । (३२) न बीर्मे, नाकृतौ नाद्ये न च व्यापारे न वायुषि । नाङ्गे पुष्टे न दौर्बल्ये न स्थैर्ये नापि चापले (३६) न प्रज्ञायां न वैराग्ये न धर्मे न पराक्रमे । न त्रिवर्गे, न मैपुण्ये, न रूपादौ न भेषजे । (३७) न स्त्री-गर्भे, न गमने, न देहमलसंप्लवे । नास्थिरन्ध्रे, न च प्रेम्णि प्रमाद्ये न च लोमसु (३८) शूद्र-ब्राह्मणयोर्भेदो मृगयमाणोपि यानतः । नेदयते सर्वधर्मेषु संहतैस्त्रिदशैरपि ।' (३९) इन श्लोकोमे गाय-घांड़े आदिवी तरह ब्राह्मण-शूद्रादिमें स्थूल भेद न मिल सकना माना है । हमसे हमारा भी त्रिवार नहीं । दूसरीलिख, सो

व्याकरण (श्रीप्रत्ययों) में 'आकृतिग्रहणा जातिः' इस लक्षणसे ब्राह्मण-शूद्र आदिके आकृति-भेद न मिलनेसे जाति-संज्ञाकी प्राप्ति न मानकर 'सकृदाख्यातनिर्वाह्या' ऐसा ब्राह्मणादि जातिका लक्षण किया है। हमसे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

इस प्रकार आगे रंगोंमें भी ब्राह्मणत्व आदिका निषेध करते हैं—
'न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्राः (सुकेश), न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पवर्णाः (जाल), न चेह वैश्या हरितालतुल्याः (पीले), शूद्रा मचाङ्गार (कोयला)-समानवर्णाः (काले)' (४१।४१) पादप्रचारैस्तनुवर्णकेशैः सुखेन दुःखेन च शोणितेन । त्वद्मांसमेदोऽस्थिरसैः समानाश्चतुःप्रभेदा हि कथं भवन्ति (४२) यथंप्रमाणाकृति - गर्भवासवाग्बुद्धिकर्मेन्द्रियजीवितेषु । बलत्रिवर्गमियभेषजेषु न विद्यते जातिकृतो विशेषः' (४३) चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका । एवं प्रजानां हि पितृक एव पित्रेकभावान्न च जातिभेदः (४४) आगे देहसे ब्राह्मणताको काटता है—'एकैकोवयवस्तेषां न ब्राह्मण्यं समश्नुते । नचानेकसमूहेपि सर्वयातिप्रसंगतः (४१।४३) मृग्यमाये प्रयत्नेन देहे तन्नोपलभ्यते । तस्मान्न देहे ब्राह्मण्यं नापि देहात्मकं भवेत्' (४४) तस्माद् देहात्मके नैतद् ब्राह्मण्यं, नापि कर्मजम्' (४१।४७) यहां देहके साथ चादि-सम्मत कर्मसे भी ब्राह्मणत्वका खण्डन कर दिया है।

(१) अम पुराण वादिसम्मत संस्कारोंसे भी ब्राह्मणत्वको काटता है—
'आचारमनुतिष्ठन्तो व्यासादिमुनिसत्तमाः । गर्भाधानादि संस्कारकलाप-रहिताः स्फुटम्' (४२।२०) विप्रोत्तमाः श्रियं प्राप्ताः सर्वलोकनमस्कृताः । बहवः कथ्यमाना ये, कतिचित् तान् निबोधत' (२१) जातो व्याप्तस्तु कैवल्याः, श्रवाण्याश्च पराशरः' । शुक्र्याः शुकः, कणादाख्यस्तथोलूक्याः सुगोभवत्' (२२) मृगीजोऽथर्व्यश्चहोत्रपि, वसिष्ठो गणिकात्मजः । मन्द-पालो मुनिध्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते' (२३) भारद्वाज्यो मुनिराजस्तु

मण्डकोगर्भसम्भवः । बहुवोन्वेपि विप्रत्वं प्राप्ता, ये पूर्वपद द्विजाः' (२५) यहाँ पर 'कथ्यमानाः, उच्यते' वह शब्द ब्रह्मी सांकेतिकद्विको यताते है - वास्तविकताको नहीं । इसे आगे स्पष्ट करते हैं—

— 'हरिर्णगर्भसम्भूतः ऋष्यशृङ्गो महामुनिः । तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारान्तेन कारणम्' (४२।१६) शपाकीगर्भ-सम्भूतः पिता व्यामन्य पादिव ! तपसा वा × × × (२७), उत्कीर्णगर्भसम्भूतः कणादः गणो महामुनिः । तपसा वा (२८) गलिकागर्भसम्भूतो वमिष्टश्च महामुनिः । तपसा + + + (२९) नाविकागर्भसम्भूतो मन्दवालो महामुनिः । तपसा वा (३०) । [इनकी समीक्षा आगे हांगी ।] आगे पुराणकार पूर्वपद कहता है—'शृङ्गाणां यान्यनिष्ठानि सम्पद्यन्ते स्वभावतः । विप्राणामपि तान्येष निविधानि भवन्ति च' (४३।१०) तस्मान्मन्त्रोक्ति-होत्रं वा वेदां पशुवधोपि वा । हेतवो नहि विप्रत्वं शृङ्गैः शक्या क्रिया यथा' (११) शृङ्गविप्रादयो योनां न निद्यन्ते परम्परम् । सर्वधर्मसमान-वाय संस्कारादि निरर्थकम्' (१२) यहाँ पर संस्कार आदि भी ब्राह्मणत्व के लिए निरर्थक कहे हैं । इस प्रकार इस पूर्वपदमें 'शृङ्ग और ब्राह्मणका स्थूल भेद नहीं है' यही बताया गया है । हमने यह श्लोक इसलिये उपस्थित किये हैं कि—जनताको पता लग जाय कि—यह पूर्वपदके श्लोक है, उत्तरपदके नहीं । वादी इन्हींको उठाकर दे देते हैं । पूर्व-पदी आगे कहता है—

'तौ शील्य - दौर्मनस्याप्यैस्तुल्यजातीयबन्धनात् । शृङ्गो प्ररोचते विप्रो रागिणीं मैथुन प्रति' (४३।३८) सा कामदुःखविगमे गर्भं धत्ते समागमे । कामं कामातुराम्यस्तु रोचन्ते शृङ्गमानवाः' (३९) मैथुन प्रति ब्राह्मणे तेषु तस्य सुखावहाः । ये तु जात्यादिभिर्भिन्ना गवाश्वोष्ट्रमतङ्ग-जाः' (४०) ते विमातिषु नो गर्भं कुर्वन्तेपि सुखार्थिनः । अनह्वानेव गोरेव कामं पुण्याति सङ्गमे (४१) घोटकारच रति सम्पक् कुर्वन्ते वदवामु

च । पति करभमेयाऽऽप्य करभी रमते मुदा (४२) गजमेव पति लब्ध्वा
 सुखं तिष्ठति हस्तिनी । तिर्यग्जातिस्त्रिया साकं कुर्वाणो हि न मैथुनम्
 (४३) न तस्याः कुस्ते गर्भं नरो नापि सुसामिकाम् । तिरश्चा सह
 कुर्वाणा मैथुनं मनुजाह्वना । नाघत्ते तत्कृतं गर्भं न युक्तं मैथुनं तयोः ।
 नैव कश्चिद् विभागोस्ति मैथुने स्त्रीमनुष्ययोः' (४४) येन सहीयते भेदः
 प्रस्फुटं द्विजशूद्रयोः (४५) तस्मात्प्रमनुष्यभेदोऽयं संकेतवत्तन्निवृत्तः'
 (४३।५०) इन सभी पूर्वपक्षके पक्षोंमें भी सूक्ष्म दृष्टि डाली जाय, तो
 इनसे भी जन्मना वर्ण-व्यवस्था ही सिद्ध होती है । 'वागीश्वरेण देवेन
 नाभेदेन भवच्छिदा । पुरुषा कृतमर्यादास्त एव ब्राह्मणाः स्मृताः'
 (४४।७) । आगे 'शूद्रोपि शीलसम्पन्ना ब्राह्मणादधिको भवेत् । ब्राह्मणो
 विगताचारः शूद्राद् होमतरो भवेत्' (४४।३१) यहाँ तो स्पष्ट ही अर्थ
 वाद है, केवल प्रशंसा और निन्दा रखी गई है, वर्ण परिवर्तन नहीं
 कहा गया ।

अगले ४५ अध्यायमें महाजीने जाति और कर्म दोनोंका समुच्चय
 उत्तरपक्ष बताया है, उसे हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं । इससे यह सिद्ध हो
 जाता है कि—केवल देह एवं कर्म आदि ब्राह्मणत्व आदिक कारण नहीं,
 किन्तु सबका समुच्चय ही कारण है । जैसे विभाव, अनुभाव और
 व्यभिचारिभाव तीनोंके संयोगसे एक रसकी निष्पत्ति हुआ करती है,
 वे अलग-अलग ठहरे हुए अनैकान्तिक हो जाते हैं, जैसे कि—शक्ति,
 निपुणता और अभ्यास यह समुदित होकर ही काव्यका हेतु बन जाते
 हैं, और अलग अलग हुए अनैकान्तिक हो जाते हैं, जैसे—मुर-विषाण
 शुद्धादि वर्ण, इक्षित, निर्मिषित, सामान्य आदि पृथक्-पृथक् नहीं, किन्तु
 समुदित होकर ही 'गो' शब्दवाच्य होते हैं, जैसे कि—जात, आकृत
 और व्यक्ति समुदित होकर ही एक पदार्थ बनते हैं, वैसे ही जाति
 (माता-पिता द्वारा जन्म) और कर्म जिसमें मस्कार-अभ्युद्यन आदि सभी

गुणकर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं) इन दोनोंका समुच्चय ही प्रादण्यमें कारण है । यही भविष्य-पुराणके इस प्रकरणका आशय है । हाँ, यहाँ यह अवश्य है कि जाति वस्तुका स्वरूपाधायक, प्राणप्रद, सिद्ध धर्म होता है, और गुण विशेषाधानहेतु उत्कर्षाधायक सिद्ध वस्तुधर्म हुआ करते हैं, और र्म उत्कर्षाधायक वस्तुका साध्य, धर्म हुआ करते हैं । दण्ड व्यवस्था तो भविष्य पुराणके मतमें भी जन्मम हुआ करती है । पूर्वपक्षके श्लोकोंसे भी यही संकेत मिलता है । अन्यत्र भी उसमें स्पष्ट है । उसमें भी ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति ब्रह्माके मुख आदिस बताई गई है । जैसे हि— 'लोमस्वेह विशुद्धयर्थं मुसगाहूरपादतः । ब्रह्महृत् तथा चोभौ चैरय-शूद्रा नृपात्तम ।' (२।१६२) इत्यादिमें उत्पत्ति निबन्धन ही ब्राह्मणादि सजा मानी गई है । १०१२१-१२२-१२३-१२४ पद्यमें मनु-स्मृतिकी तरह ब्राह्मणादिके जन्मसे ही कर्म बताया गया है । तब बादिया का पूर्वोत्तर प्रकरण छिपाकर बाघके पछोका उद्धरण देना उनके छलका तथा उनके पक्षकी सिधिलता का द्योतक है । यहाँ हमने प्रायः पूरा प्रकरण उद्धृत कर दिया है । अब यहाँ स्पष्ट हो गया, है कि—यह पूर्वपक्षके पद्य हैं । पूर्वपक्ष माननीय नहीं हुआ करता । यदि पूर्वपक्ष ही माननीय हो जावे, तो क्या बाड़ी मतार्थप्रकाशक पूर्वपक्षको, अपना सिद्धान्त मान लेंगे ?

(ख) अब 'हरिणी-गर्भसम्भूत, अपाकी— गर्भसम्भूत, गणिका गर्भसम्भूत, जातो व्यामस्तु कैवल्या' इत्यादि पूर्वोद्धृत पद्यों पर विचार किया जाता है । इस पर यह जानना चाहिये कि वादि द्वारा उपस्थापित उक्त श्लोकोंको अभ्युपगम—सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत करके सिद्धान्तीने इनके मुख्य विषयकी परीक्षा की है, वस्तुतः इस बातको सिद्धान्तीने कहीं माना नहीं । 'न्यायदर्शन' में कहा है—'अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगम—सिद्धान्त' (१।१।३१) अर्थात्—

बिना परीक्षा किये वह अशुद्ध सिद्धान्त मान लिया जाय, फिर उसकी विशेष बात (मुख्य विषय) की परीक्षा की जाय, उसे अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। जैसेकि—शब्द शुद्ध है, द्रव्य नहीं, और वह न्यायके मतमें अनित्य है। अब वादीने वह दिया कि शब्द द्रव्य है। यह अशुद्ध सिद्धान्त था। पर सिद्धान्तीने कहा कि—चलो तुम्हारी ही बात हम बिना कोई आपत्ति किये मान लेते हैं कि—शब्द द्रव्य है; पर वह नित्य है या अनित्य—इस उसके मुख्य विषयकी हम परीक्षा करते हैं। यह सिद्धान्त अपनी प्रतिभाकी प्रबलताका परिचायक और वादीकी बुद्धिकी मन्दताका प्रकाशक हुआ करता है; यह भाष्यकार श्रीशम्भा-यनका आशय है। सिद्धान्तीने 'श्रवणीगर्भमभूत, जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः' इन अशुद्ध भी बातोंकी खोद खादस जाच न करके इसके विशेष-विषय कि क्या जातिसे है या शुक्लकर्मसे—इस बातकी परीक्षा की है; अतः अभ्युपगमसिद्धान्तप्रश जैसा शब्दको द्रव्य नहीं मान लिया जाता; वैसे यहां भी उक्त सभी उत्पत्तियाँ मान नहीं ली जातीं। श्रीव्यासकी माताको वादीने 'कैवर्ती' लिखा है; पर वह कैवर्त (मलाह) की लड़की नहीं थी, किन्तु उपरिचरवसुकी लड़की थी—यह इतिहास-सिद्ध बात है, यह हमने 'श्रीमनातनधर्माश्रम' के गुरु तृतीय पुष्प (२८२ पृष्ठ) में सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार श्रीवासिष्ठ साधारण गणिकाके पुत्र नहीं थे, किन्तु उषयोनि देवाप्सरा उषंशीके मनसे (योनिस नहीं) उत्पन्न हुए थे, यह भी हम तृतीय पुष्प (२८३ पृष्ठ) में बता चुके हैं। वादीने भी यहां इन बातोंको सुना-सुनाया कह दिया—उस पर स्वयं कुछ भी विचार नहीं किया। साधारण जनोंने जो प्रसिद्धि हाती है; वह सधर्ममें साथ है—यह आवश्यक नहीं। सीताके विषयमें भी रावणके घरमें निवामेमाश्रमे साधारण जनममाजमें अशुद्ध अपवाद फैल गया था। इसलिये कवि कहते हैं—'जनानने क' करमर्पविष्यति'। श्रीपाराशरका श्रवणी-पुत्र कहना भी इसी प्रकारसे है—इसमें ऐतिहा-

मिक मरत्यता सर्वथा नहीं। इसलिये 'बहव कथ्यमाना यः' (४२।२१) 'नाविकापत्यमुच्यते' (४२।२३) इन पद्योंमें कथ्यमाना, तथा 'उच्यते' पदस 'तथाकथित' अर्थका बोध है, वास्तविकता नहीं। बादियोंको यह पूर्वपक्षके पक्ष न दिग्याकर उसके इतिहासमें उमका शपाकीत्व दिखलाना चाहिये, अद्वयन्ती शपाकी कहीं नहीं कही गई—इस विषयमें भी गा गुणके २८३ पृष्ठमें हम स्पष्ट कर चुके हैं—जिहासुओंको ३५ पृष्ठ हममें अवश्य मगा लेना चाहिये। तब 'शपाकी-गर्भसम्भूत पिता श्यामस्य' यह बादीका कथन 'बादी भद्र न परयति' इस न्यायसे है, हममें वास्तविकता नहीं।

और फिर अपहृत प्रसूति भी ग्री हो, पर सन्तति पर प्रभाव बीज का ही पड़ता है, नहीं तो इनमें कई खिया पक्षियाँ भी थी, तब अपिपाम उर्ध्वम उपन्न सन्तान भी स्त्रीके अनुसार पची होनी चाहिये था। पर व अपिपाक बीजसे उत्पन्न होनेसे मनुष्य ही हुए। तभी ता 'स्त्रीरत्न दुष्टुलादपि' (२२३८-२४०) इस प्रकार दुष्टुला स्त्रीकी अभ्यनुजा भी दी गई है, इससे भी प्रतीत होता है कि—दुष्टुला भी स्त्रीका प्रभाव सन्तानके ऊपर नहीं हाता, जबकि बीज किसीका प्रबल था। तो जब बीजसेता अपि थे, और बीज योनिकी अपेक्षा प्रबल भी हाता है, जैसे कि—'तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (मनु० १०।७२) तब सन्तान भी बीजानुसार ही मानी जावेगी। बादीकी शका समाहित हो गई।

उक्त पद्योंक अनुसार वर्य न्यवस्था गुणकर्मसे भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि—जहाँ उन पूर्वपक्षक पद्योंमें जन्यका, खरदन है, वहा नस्कार (४१।२७) विद्या (४१।१), रम (४१।४१), जीव (४२।२) नस्कार (४२।२०) तथा कर्म (४१।२०) आदि बादीसे इष्ट सिद्धान्तोंमें वर्ण होनेका भी खरदन है। उन पद्योंको हम उद्धृत कर चुके हैं,

तब पूर्वपक्ष होनेसे जन्मका गण्डन महत्त्व नहीं रखता, उत्तरपक्षमें 'जातिकर्ममसुध्य' (४२।२-३) हमारा पक्ष दिखला दिया।

तथापि वादियोंसे दिये हुए पद्यों पर भी कुछ विचारना चाहिये। इनमें मृगो, उलूकी, शुकी, मण्डूकियोंमें अप्यष्ट, कणाद, शुक और माण्डूक्यकी उत्पत्ति बताई गई है। क्या वादी मनुष्य द्वारा पशु-पक्षी स्त्रियोंमें मनुष्योत्पत्ति सम्भव मानते हैं? यदि नहीं, तब तो उनके प्रश्नका ही उत्न्मूलन हो गया। यदि वे अपने पक्षकी रक्षार्थ इसमें सम्भव मानें, तब उनसे प्रष्टव्य है कि अब प्रेमा क्यों नहीं होता? अथवा यह सामान्य शास्त्र है या अपवाद है? अन्ततः यह अपवाद ही मानना पड़ेगा। तब वादियोंको अपियोंसे उत्पन्न सन्तानोंकी ब्राह्मण्यतामें भी अपवाद ही मानना पड़ेगा, सामान्य शास्त्र नहीं। लौकिक व्यवहार सामान्य-शास्त्रमें ही चलते हैं। इसलिये अपवाद-शास्त्रके उदाहरणभूत इन पुराणोंके विषयमें बृहस्पतिने कहा है—'तपो-ज्ञानममायुजा' कृत-प्रेतायुगे नरा। आपरे च कसौ मृया शक्तिहानिर्हि निर्मिता। अनेकधा कृता पुत्रा अपिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदमनै' यदि प्रेमा है, तब शक्ति न होनेसे इस युगमें भी उससे घणं परिवर्तन सम्भव नहीं।

यह भी जानना चाहिये कि—पशु-पक्षी आदि योनियोंमें पुराणने जो पुत्र दिखलाये हैं, वही यह भी बताया गया है कि—अमोघवीर्य अपियों ही उनमें पुत्र पैदा किये। अब जबकि उत्पादक ही ब्राह्मण थे, तब उनके पुत्र भी जब ब्राह्मण हुए, इससे तो वादियोंके पक्षका ही गण्डन हो गया। यहा जन्मसे ही वणं व्यवस्था सिद्ध हुई। अथशिष्ट प्रश्न यह है कि—माताएं तो नीच योनिकी थीं, इस पर यह जानना चाहिये कि—मनुजीने (२।१३) ब्राह्मणका सद वणोंकी स्त्रियोंके साथ भी विवाह अभ्यनुज्ञात किया है, तब उसके वचनसे तदुत्पन्न सन्तान

भी ब्राह्मण ही होंगे। तब ब्राह्मणोंने ही यदि उससे भी बँटकर ११-१२ स्त्रियोंमें भी पुत्र पैदा किये, तब बीजकी प्रधानतासे वे भी ब्राह्मण हुए—इसमें भी सनातन-धर्मके सिद्धान्तकी ही पुष्टि है। बीज और योनिमें बीज ही प्रधान होता है (मनु० १०।१२)

मनुजीने कहा है—‘विशिष्टं कुत्रचिद् बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्र चित्’ (६।३४) इस न्यायसे बीजकी प्रधानतामें विश्वामित्र, व्यास और कबीरान् ब्राह्मण हुए। कहीं योनि (चेत्र) की प्रधानतासे श्रीव्यास द्वारा शम्बा, शम्बासिकामें धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न हुए, क्योंकि सत्यवती भी अपने ही उत्पन्नकुक्षानुरूप उत्पत्ति चाहती थी—जैसे कि ‘तपोर त्पादयापत्यं अनुरूपं कुलस्यास्य’ (महा० १।१०६।३४)। उक्त मनु- (६।३४) वचनमें मेधातिथिने लिखा है—‘बीजस्य वैशिष्ट्यं व्यास गङ्गादीनां महर्षीणां तृणम्, स्त्रीयोनिस्त्वेव चेत्रादि-पुत्रेषु धृतराष्ट्रादिषु; ते ब्राह्मणमाता अपि मातृजातयः उत्पन्नाः’। इसी प्रकार कुत्सुक भट्टने भी लिखा है। उक्त पद्योंमें मनुजीने सामान्य-शास्त्र बताया है। ‘चेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। चेत्रबीज-समायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्’ (६।३३) यह कहकर मनुने बीज और योनि दोनोंमें बीजको ही उत्कृष्ट माना है। जैसेकि—‘बीजस्यैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सवभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता (६।३२) यादृशं तूच्यते बीजं चेत्रे कालोपपादिते। तारम् रोहति तत् तस्मिन् बीजं स्वैर्यंजितं गुणैः’ (३६) इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणान् कौञ्चिद् बीजं पुच्यति पुष्टिषु’ (६।३७) (अर्थात्—बीज भूमिक गुणोंको पुष्ट नहीं करता, किन्तु अपने ही गुणों को करता है—यह आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामने आशय बताया है।) यहाँ पर मनुजीने बीजको ही उत्कृष्ट सिद्ध किया है। तभी तो आगे कहा है—‘अन्यदुत्तं जातमन्यद्—इत्येतन्नोपपद्यते। उच्यते यदि यद्

धीजें तत् तदेव प्ररोहति' (१।४०) यर्थात्—ओया जावे और, और उत्पत्ति हो और—यह नहीं हो सकता।

तब जब बीजरूप इसमें थे तपस्वी ब्राह्मण; तो सन्तान भी वैसी ही होनी थी; क्योंकि—अमोघधीर्य वाले तपस्वियोंके ब्रह्मतेजको साधारण क्षेत्रदोष नहीं दबा सकता। तभी तो क्षत्रिय माताके भी सन्तान मिश्रामित्र, अर्चीक ब्राह्मणके घरसे मिश्रामित्र-ब्राह्मण हुए। पराशरके क्षेत्रसे सद्यवती क्षत्रिय-कन्यामें वेदव्यास ब्राह्मण हुए। इसलिए मनुजीने भी कहा है—'यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा श्रययोऽभवन् । पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (१०।७२) तब पशु पक्षियोंमें भी ब्राह्मण श्रपियोंसे उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण हुई, यह हमारा ही पद 'जन्मना वर्णः' सिद्ध हुआ। तब उक्त श्रपि जन्मसे तो ब्राह्मण थे ही; फिर तपस्यासे माताके परमाणुओंको हटाकर शुद्ध ब्राह्मण हो गये—यही पुराणक पक्षोंका आशय है। यदि वादी लोग पशु पक्षियोंसे सन्तानकी उत्पत्तिमें असम्भव मानें, और मृगी, उलूकी, शुकी, मण्डूकी आदि उन मानुषियोंके जन्मनाम मानें, वा शुक्नाम मानें कि—शुक्कं शुण्य होनेसे उस मानुषीका नाम शुकी था, वैसे 'श्वपाकीगर्भसम्भूतः' में भी 'श्वपाकी' यह उस ब्राह्मणीका नाम मानें। अथवा श्वपाक चाण्डाल का नाम हुआ करता है। ब्राह्मणका एक भेद 'चाण्डाल' भी माना गया है। जैसे कि अत्रिस्मृतिमें—'देवो, मुनिः, द्विजो, राजा, वैश्यः, शूद्रो, निषादकः । पशुमल्ल-क्षोपि, चाण्डालो विप्रो दशत्रिधाः स्मृता' (३७।) तब पराशरकी माता भी ब्राह्मण थी; चाण्डाल उसका भेद था। चाण्डाल-ब्राह्मणका लक्षण अत्रिने इस प्रकार दिया है—'क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः । निर्दयः सर्वभूतेषु विप्र चाण्डाल उच्यते' (३८।) यहां चाण्डाल ब्राह्मण पारिभाषिक ही है, भारत-विरु मानने पर उक्त भेदोंमें गणित पशु ब्राह्मण भी वस्तुतः ही पशु

हो जावे, पर ऐसा नहीं। तब ब्राह्मण-वर्णकी भी अदृश्यन्तीकी स्त्रीत्व-सुलभ क्रियाहीनता, मूर्खता, निर्दयता आदिके कारण वहाँ श्रदाकी कहा गया हो, वहाँ वास्तविक चारुडाली नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार अक्षमालाके चारुडालीत्वमें भी जान लेना चाहिये। इस प्रकार भविष्यपुराण - सम्बन्धी वादियोंकी सभी आशंकाओंका समाधान हो गया।

पुराणोंके कई श्लोक

(३) पूर्वपक्ष—पुराणोंमें वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे दीखती है। ब्राह्मणके भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पुत्र देते गये हैं। क्षत्रियके भी ब्राह्मण पुत्र दीप्तते हैं। किसी क्षत्रियके पुत्र वैश्य हुए दिखाये गये हैं, अतः वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ठीक नहीं। देखिये हममें पुराणोंके प्रमाण—

(क) 'ऋगोर्वेचनमाग्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः। वीतहव्यो महाराज ! ब्रह्मवादिप्रसोष च। तस्य गृत्समदः पुत्रो रूपेणेन्द्र इवापरः।... ऋग्वेदे वर्तते चाप्रपा ध्रुतिर्यस्य महात्मनः। यत्र गृत्समदो राजन् ! ब्राह्मणः स महीपते। स ब्रह्मचारी विप्रर्षिः श्रीमान् गृत्समदोऽभवत्' (महाभारत अनुशा० ३०।५७-६०) एवं विप्रस्त्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः। ऋगोः प्रसादाद् राजेन्द्र ! क्षत्रियः क्षत्रियर्यभ. (६६, यहाँ क्षत्रिय वीतहव्यका ब्राह्मण हो जाना लिखा है।

(ग) पृथग्भस्तु गृत्समोवधात् शूद्रत्वमगमत् (विष्णुपुराण ४।१।१४) यहाँ पृथग्भसी शूद्रता दिखलाई है। इसी प्रकार हरिश्च (६५६ पद्य) में भी कहा है, श्रीमद्भगवन्मो मो—'न क्षत्रधन्तुः शूद्रत्वं कर्मणा भविताऽमुना'।

(ग) 'नेभागो नेदिष्टपुत्रस्तु वैश्यतामगमत्' (विष्णु० ४।१।१६) यहां नाभागकी वैश्यता दिखलाई गई है। यद्यपि नाभाग वैश्यवृत्तिमें लगा, तथापि उसके पुत्र ब्राह्मण बताये गये—'नाममादिष्टपुत्री द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ' (११ अ०)।

(घ) 'गृत्समदस्य शौनकः चानुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताऽभूत्' (विष्णु० ४।८।१) यहां शौनकको चार वर्ण बनाने वाला कहा है। हरिवंश (२६।८) में भी कहा है—'पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः। ब्राह्मणाः क्षत्रियारचैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च' यहां भी एक ही गृत्समदके ब्राह्मणादि शूद्रान्त चारों वर्णोंके लड़के बताए हैं। इस प्रकार वायु-पुराणमें भी कहा है। इस प्रकार हरिवंशके ३२ अध्यायमें 'तथा गृत्समतेः पुत्रा ब्राह्मणाः, क्षत्रिया विशः' गृत्समतिकी सन्तानें तीनों वर्णोंकी दिलावाई हैं। इस प्रकार अत्रिराके पुत्रोंका भी वर्णन है—'पुते त्वज्जिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रारच भरतर्षभ' (३२।३६ ४०)। इस प्रकार गर्गभूमि और वासंक लड़के भी चारों वर्णोंके बताये हैं; जैसेकि ब्रह्माण्डपुराणमें—'ब्राह्मणाः क्षत्रियारचैव तयोः पुत्रास्तु धार्मिकाः'। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'रम्भस्य रमसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः'। तस्य वंशे प्रथ जज्ञे' (१।१७।११) यहां पर क्षत्रियके घर ब्राह्मणका उत्पन्न होना कहा है। विष्णुपुराणमें कहा है—'भर्गस्य भर्गभूः, अतः चानुर्वर्ण्यप्रवृत्तिः' (४।८।६) यहां एकके घर चार वर्णों वाले लड़कोंकी उत्पत्ति बताई है। इस प्रकार मनुके विषयमें भी कहा है—'ब्रह्मसूत्रादयस्तस्मान्मनोजा-तास्तु मानवाः' (महाभा० आदि० ७५।१५)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि—पहले चार वर्णोंकी प्रवृत्ति नहीं थी। तब उन राजाओंने गुणकर्मनुसार उनकी प्रवृत्ति की। इसमें जापरु दो एकके चार वर्ण वाले पुत्र होना। जैसेकि—हरिवंशके २६ अध्यायमें 'पुते क्षत्रिरसः

पुत्रा जाता वंशेभ्य भागवे । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथः पुत्राः
महत्तराः ।

(द) लिङ्गपुराणमें भी कहा है—‘एते ह्यङ्गिरसः पत्ने क्षत्रोपेता द्विजा-
तयः’ । इस प्रकार वायुपुराणमें भी कहा है । अन्यत्र भी कहा है—
‘दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिर्मित्रयुतृपः । मैत्रायणास्तथा सोमो
मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः । एते च संश्रिताः पत्ने क्षत्रोपेतास्तु मागंधाः ।
यहाँ पर क्षत्रियोरा भागवे ब्राह्मण हो जाना कहा है ।

(घ) ‘धर्मपात् कारुषा महाबलाः क्षत्रिया बभूवुः’ (विष्णुपुराण
४।१८।२) इनके विषयमें भागवतमें—‘कारुषाः क्षत्रजातयः ।.. ब्रह्मण्या
धर्मवामलाः’ (१।२।१२) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है ।

(ङ) ‘धृष्टस्यापि धार्ष्टकं क्षत्रं समभवत्’ (विष्णु० ४।२।२) इसके
विषयमें भागवतमें—‘धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं शितौ’
(१।२।२७) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है ।

(च) ‘ततोऽग्निवेश्यो भगवान्...ततो ब्रह्मबुलं जातमग्निवेश्यायनं
नृप ।’ (भाग० २।१-२२) यहाँ अग्निवेश्यके वंशको ब्राह्मण कहा गया ।

(छ) ‘रथीतरके विषयमें विष्णुपुराणमें—‘एते क्षत्रप्रसूता वै पुन-
श्चाङ्गिरसाः स्मृताः । रथीतरस्य प्रवरा क्षत्रोपेता द्विजातयः’ (४।२)
यहाँ क्षत्रियोंको रथीतर गोत्रका ब्राह्मण कहा है । इस विषयमें भागवतमें
कहा है—‘रथीतरस्य क्षत्रजस्य भार्यायां तन्तर्वेधितः । अङ्गिरा जनया-
मास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् । एते क्षत्रे प्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः ।
रथीतराणां प्रवरा क्षत्रोपेता द्विजातयः’ (१।६।२२-२३) यहाँ पर रथीतर

के सन्तानहीन होनेसे अङ्गिराने उसकी स्त्रीमें मङ्गवर्चसी अङ्गिरागोत्रके ब्राह्मण लड़के उत्पन्न किये ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि—प्राचीनोंने मुख्यतःमानुसार वर्ण व्यवस्था चलाई थी । तभी ब्राह्मणवंशसे शुद्ध और शुद्धवंशसे भी ब्राह्मण हुए । इसीलिए ही एक-एक पुरुषके चार वर्षवाले लड़के बताये गये । यिष्णु, वायु और हरिवंश पुराण शौनकके ब्राह्मण, अत्रिय, वैश्य, शुद्ध इन चार वर्णों वाले लड़कोंको बताते हैं—इससे स्पष्ट है कि—शौनकने मुख्यतः मानुसों को देखकर योग्यतानुसार अपने पुत्रोंको ब्राह्मण आदि पदवियों दीं ।

(ज) इस प्रकार 'तस्य मेघातिथिस्तस्मात् प्रस्कयवाद्या द्विजातयः' (भाग० ६।२०।७) 'अजमोढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः' (६।२१।२१) यहाँ अजमोढके वंशमें प्रियमेध आदिका ब्राह्मण हो जाना बताया है । 'मुद्गलस्यापि मौद्गल्याः अत्रोपेता द्विजातया' (मात्स्यपु०) 'गर्गाः संस्कृत्याः काव्याः अत्रोपेता द्विजातयः' (मात्स्य०) 'गर्गात् शनिस्ततो गार्ग्यः अत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत' (भाग० ६।११।१६) उरुचयसुता होते सर्वे ब्राह्मणतां गताः (मात्स्यपुराण) इस प्रकार अन्य भी प्रमाण हैं । (यह पक्ष आर्यसमाजी विद्वान् श्रीशिवशङ्कर काव्यतीर्थजीने 'जाति-निर्याय' के २६०-२६० पृष्ठोंमें रखा है) ।

उत्तरपक्ष—इस पर यह जानना चाहिये—जिन व्यासजीके पुराणोंमें यह घटनाबली दिखाई गई है; उन्हीं व्यासजीने अपनी स्मृतिमें लिखा है—'श्रुतिस्मृति पुराणानां विरोधो यदि दृश्यते । तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वेधे स्मृतिर्वरा' (व्यास-स्मृति १।४) अर्थात्—जहाँ वेद, स्मृति और पुराण इनमें विरोध दीखे; वहाँ पर वेदको ही अधिक प्रमाण मानो; और जहाँ स्मृति और पुराणमें विरोध दीखे; वहाँ स्मृतिको ही अधिक मान्यता दो । तो श्रुति और स्मृतिमें चारों वर्णोंकी व्यवस्था जब कि

पुत्रा जाता वंशेभ्य भार्गवे । ब्राह्मणाः क्षत्रिया वीर्यास्तथा पुत्राः
सहस्रशः ।

(८) लिङ्गपुराणमें भी कहा है—‘पृते क्षत्रिरसः पदे क्षत्रोपेता द्विजा-
तयः’ । इस प्रकार वायुपुराणमें भी कहा है । अन्यत्र भी कहा है—
‘विषोदासस्य चापादो ब्रह्मर्षिमित्रयुतृपः । मैत्रायणास्तथा सोमो
मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः । पृते वै संश्रिताः पदे क्षत्रोपेतास्तु भार्गवाः ।
यहाँ पर क्षत्रियोंका भार्गव ब्राह्मण हो जाना कहा है ।

(९) ‘कारुपात् कारुपा महाबलाः क्षत्रिया बभूवुः’ (विष्णुपुराण
४।१८।५) इनके विषयमें भागवतमें—‘कारुपाः क्षत्रजातयः ।.. महायया
धर्मवत्सलाः’ (६।२।१५) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है ।

(१०) ‘धृष्टस्यापि धार्ष्ट्यं क्षत्रं समभवत्’ (विष्णु० ४।२।२) इसके
विषयमें भागवतमें—‘धृष्टाद् धार्ष्ट्यमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं चित्’
(६।२।२७) इन क्षत्रियोंको ब्राह्मण कहा है ।

(११) ‘ततोऽग्निवेश्यो भगवान्...ततो ब्रह्मपुत्रं जातमग्निवेश्यापनं
नृप !’ (भाग० २।१-२२) यहाँ अग्निवेश्यके वंशको ब्राह्मण कहा गया ।

(१२) ‘रथीतरके विषयमें विष्णुपुराणमें—‘पृते क्षत्रप्रसूता वै पुन-
श्चाक्षिरसाः स्मृताः । रथीतरस्य प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः’ (४।२)
यहाँ क्षत्रियोंको रथीतर गोत्रका ब्राह्मण कहा है । इस विषयमें भागवतमें
कहा है—‘रथीतरस्य क्षत्रप्रसूतस्य भार्यायां तन्तवेतिवः । अक्षिरा जनया-
मान महावर्चस्विनः सुतान् । पृते क्षत्रे प्रसूता वै पुनस्तवाक्षिरसाः स्मृताः ।
रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः’ (६।१।२२-२३) यहाँ पर रथीतर

के सन्तानहीन होनेसे अद्विराने उसकी स्त्रीमें प्रसववर्चसी अद्विरागोत्रके ब्राह्मण लड़के उत्पन्न किये ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि—प्राचीनोंने गुणकमानुसार वर्ण-व्यवस्था चलाई थी । तभी ब्राह्मणवंशसे शुद्र और शुद्रवंशसे भी ब्राह्मण हुए । इसीलिए ही एक-एक पुरुषके चार वर्णवाले लड़के बताये गये । विष्णु, वायु और हरिवंश पुराण शौनकके ब्राह्मण, अश्विन्य, वैश्य, शुद्र इन चार वर्णों वाले लड़कोंको बताते हैं—इससे स्पष्ट है कि—शौनकों गुणकमों को देखकर योग्यतानुसार अपने पुत्रोंको ब्राह्मण आदि पदवियों दीं ।

(ज) इस प्रकार 'तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कणवाद्या द्विजातयः' (भाग० ६।२०।०) 'अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः' (६।२१।२१) यहाँ अजमीढके वंशमें प्रियमेध आदिका ब्राह्मण हो जाना बताया है । 'मुद्गलस्यापि मौद्गल्याः सत्रोपेता द्विजातयः' (मत्स्यपु०) 'गर्गाः संस्कृतयः काव्याः सत्रोपेता द्विजातयः' (मत्स्य०) 'गर्गाति शिनिस्ततो गार्ग्यः सत्राद् ब्राह्मण इव वर्तते' (भाग० ६।११।१६) उरुचयसुता को ते सर्वे ब्राह्मणतां गताः (मत्स्यपुराण इस प्रकार अन्य भी प्रमाण हैं । (यह पक्ष आपसमाजी विद्वान् श्रीशिवशङ्कर काव्यतीर्थजीने 'जाति-निर्णय' के २६०-२६० पृष्ठोंमें रखा है) ।

उत्तरपक्ष—इस पर यह जानना चाहिये—जिन व्यासजीके पुराणोंमें यह घटनावली दिखाई गई है; उन्हीं व्यासजीने अपनी स्मृतिमें लिखा है—'श्रुतिस्मृति-पुराणानां विरोधो यदि दृश्यते । तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्विधे स्मृतिर्वरा' (व्यास-स्मृति १।४) अर्थात्—जहाँ वेद, स्मृति और पुराण इनमें विरोध दीखे; वहाँ पर वेदको ही अधिक प्रमाण मानो; और जहाँ स्मृति और पुराणमें विरोध दीखे; वहाँ स्मृतिकी ही अधिक मान्यता दो । तो श्रुति और स्मृतिमें चारों वर्णोंकी व्यवस्था तब कि

जन्मसे है। गुणकर्मसे नहीं, यह हम गत नियन्धोंमें सम्यक्तया सिद्ध कर चुके हैं, तब यदि पुराणमें श्रुति एवं स्मृतिके विरुद्ध कई वचन पाए जावें, तो वे अनुसरणीय नहीं हो सकते। व्यवस्थाएँ सदा श्रुति और स्मृतिके विधायक तथा निषेधक वचनोंसे हुआ करती हैं। अपवाद-भूत दृष्टान्त या इतिहासोंसे कभी व्यवस्था नहीं हुआ करती। इतिहासमें तो अच्छी-बुरी, अनुकरणीय एवं अनादरणीय सब प्रकारकी घटनाएँ मिलती हैं। उनके आधारसे शास्त्रीय वचनोंकी प्रवृत्ति वा निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकारके हजारों भी दृष्टान्त-वचन श्रुति-स्मृतिके एक भी विधायक-निषेधक वचनसे बाधित हो जाया करते हैं। पुराण-इतिहासमें भी जब-तब विधायक एवं निषेधक वचन प्रसक्तानुप्रसक्त आ जाया करते हैं—वही सिद्धान्तरूप होते हैं, इसीके इतिहासकी कोई अपवाद घटना प्रमाण-भूत नहीं हो जाती।

युधिष्ठिरने भीभीष्मजीसे महाभारतके अनुशासनपर्वमें पूछा था कि—‘सत्रियो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ! ब्राह्मण्यं प्राप्नुयाद् येन तन्मे व्याख्यातुमर्हसि’ (२०।३) तपसा वा सुमहता कर्मणा वा ध्रुवेन वा ? ब्राह्मण्यमथ चेदिच्छेत् तन्मे ब्रूहि पितामह’ (४) अर्थात् सत्रिय, वैश्य, शूद्र यदि ब्राह्मण बनना चाहें, तो कौनसा कर्म वा तपस्या वा अध्ययन करें ? इस पर भीष्मजीने उत्तर दिया—‘ब्राह्मण्यं तात ! दुष्प्रापं घणैः सत्रादिभिस्त्रिभिः । परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद् युधिष्ठिर !’ (२०।५) यद्वास्तु संतरन् योनोर्जायमानः पुनः-पुनः । पर्याप्य तात ! कस्मिंश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते (६) यहाँ पर सत्रिय, वैश्य, शूद्रोंका ब्राह्मणत्व एक जन्ममें न बताकर अन्य बहुतसे जन्मोंके मध्यक किसी एक जन्ममें जाकर ब्राह्मण होना कहा है। जब यह महाभारत तथा पुराणोंका सिद्धान्तपक्ष है, तब पुराणोंसे भला एक जन्ममें सत्रि-

यादिका ब्राह्मणत्व कैसे कहा जा सकता है? स्पष्ट है कि-उम-उस-
स्थलमें वहाँ-परिवर्तनमें तात्पर्य न होकर कमप्रशंसामें तात्पर्य है।

आशय यह है कि—ब्राह्मणशब्दका प्रयोग, अक्ष-
प्रिय आदिमें भी अत्रिपादि शब्दका प्रयोग गौण हुआ करता है। कहीं
प्रशंसार्थवाद हुआ करता है—कहीं निन्दार्थवाद। निम्नको उत्तम यतने-
में प्रशंसार्थवाद हुआ करता है, जैसे शूद्रादिको ब्राह्मण कह देना। वहाँ
वस्तुतः वैसे नहीं होता। इस प्रकार उत्तमको निम्न यताना निन्दार्थवाद
से होता है, जैसे—ब्राह्मण आदिको शूद्र कह देना। वस्तुतः वहाँ वैसा
नहीं होता। इसी कारण 'न्यायदर्शन' में कहा है—'प्रधानशब्दानुप-
पत्तेर्गुणशब्देन अनुवादः, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः' (४।१।६०) यहाँ वात्स्या-
यनभाष्यमें उदाहरण दिया गया है—'प्रयुक्तोपमं चैतद्-अग्निर्माणिक्यः'
अर्थात्—'यह' लड्डका आग है' यहाँ लड्डका वस्तुतः आग नहीं होता;
किन्तु अग्निकी तरह तेजस्वी है, वह वहाँ तात्पर्य होता है। यह ध्यान
'पृषध्नके विषयमें भी जान लेनी चाहिये कि—यह शूद्रताको प्राप्त हुआ।
'शूद्रस्य भावः शूद्रत्वम्' यहाँ 'य' प्रत्यय 'तस्य भावस्त्वन्ती' (पा०
२।१।११६), तद्भाव अर्थमें तत्मादृश्य अर्थमें है, साक्षात् उममें नहीं;
नहीं तो 'अनाचाराद् अयं पशुतां प्राप्तः' इत्यादिमें यादी क्या
अनाचारीको वास्तवमें पशु मान लेंगे? और वह भी कहना चाहिये
कि—क्या गायका मारना शूद्रका भी साक्षात् धर्म है? मनुजीने तो
'अहिंसा सत्यमस्तेयं...एतं मामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽवधीन्मनुः'
(१०।६३) शूद्रके छिष्ट भी अहिंसा माना है। और फिर पृषध्ने गायको
भी सिंहके क्रमसे ही रातके गहरे अन्धेरेमें मारा, न कि जान-बूझकर।
तब यहाँ उसकी शूद्रसत्तातामें तात्पर्य है, साक्षात् शूद्र ही जाने
में नहीं।

कहीं प्राक्षयको चरित्र और वैश्य आदि कहना उसकी उन कर्मों में प्रवीणताको सूचित कर रहा होता है। जैसा कि-शुद्ध लक्षणमें तत्कर्म्य-लक्षणसम्यग्दर्शमें 'अतश्चा तदा' यह उदाहरण आता है। उसमें अतश्चा होने पर भी उसे तदा (यदर्थ) कहना उसको तदाके कर्ममें प्रवीण बता रहा होगा है; वास्तवमें उसे तदाजातिवाला नहीं बता रहा होता। इसलिये महाभाष्यमें, 'न चैते' को वैसा कहनेमें १।१।४८ सूत्रके भाष्यमें विशेष कारण कहे हैं। जैसे कि—'चतुर्भिः प्रकारैः 'अतस्मिन् स' इत्येतद् भवति—१ तात्पर्यात्, २ तादर्थ्यात्, ३ तरसामीप्यात्, ४ तासाह-चर्यात्'। तब १ उसमें रहनेसे, २ उसके धर्म करनेसे, ३ उसकी समी-पतासे, और ४ उसके साहचर्यसे यह वस्तुतः 'वह' नहीं हो जाया करता है, किन्तु केवल उस शब्दसे कहा जाता है। इस भाँति 'न वह' होता हुआ भी जो कि वह 'वह' कहा जाता है, उसमें उसकी वदत्ता ही योधिन होती है, न कि वह सचमुच यही हो जाता है। इसीलिये १।२।१, तथा २।३।६६ सूत्रके महाभाष्यमें श्रीपतञ्जलिने कहा है कि—'अन्तरेणापि घटिमतिदेशो गम्यते, तद् यथा—एष मलदत्तः। अमलदत्तं मलदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे-- मलदत्तवद् अयं भवति-' इति। इस प्रकार चरित्रादिको भी जहाँ प्राक्षय कहा है— वहाँ प्राक्षयसदृशता ही दृष्ट होती है, उसका साक्षात् प्राक्षय होना नहीं।

इसके अतिरिक्त प्राक्षय चरित्रादि शब्द साक्षात्क भी होते हैं। वहाँ उन शब्दोंके लक्षणमें ही तात्पर्य होता है, उस जातिवाला हो जानेमें तात्पर्य नहीं रहता। इस पर अत्रिस्मृतिका प्रमाण द्रष्टव्य है। वह यह है—'देवो, मुनिर्दिजो, राजा, वैश्यः, शूद्रो, निषादकः। पशु-मूर्खोऽपि पाण्डालो विप्रा दशनिधाः स्मृताः' (३७१) यहाँ पर ब्राह्मणके दस नामभेद बताये हैं। उनके लक्षण निम्न हैं— उसमें देव ब्राह्मणका लक्षण यह है— 'स्नानं सन्याजपं होमं देवतानि-'

पूजनम् । अतिथिं वैश्वदेवं च [कुर्वन्] देव-ब्राह्मण उच्यते' (३०२) ।
मुनि-ब्राह्मणका लक्षण— 'शाके पत्रे फले मूले घनवासे सदा रतः ।
निरतोऽहरहः श्राद्धे स विप्रो मुनिरुच्यते' (३०३) । द्विज-ब्राह्मणका
लक्षण— 'वेदान्तं पठते नित्यं सर्वसङ्गं परित्यजेत् । सांख्ययोग-विचार-
स्थः स विप्रो द्विज उच्यते' (३०४) । क्षत्रिय-ब्राह्मणका लक्षण—
'अस्राहताश्च धन्याः संप्रामे सर्वसम्भुते । आरम्भे निर्जिता येन स
विप्रः क्षत्र उच्यते' (३०५) । यहाँ क्षत्रिय-ब्राह्मणका लक्षण कहा है ।
स्पष्ट है कि— यह ब्राह्मण क्षत्रिय जैसा है । इससे वह ब्राह्मण सचमुच
क्षत्रिय नहीं हो जाता, अन्यथा उसके लिए ब्राह्मण शब्द होता ही नहीं ।
वैश्य-ब्राह्मणका लक्षण— 'कृपिर्भूमरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः ।
वाणिज्य-व्यवसायश्च स विप्रो वैश्य उच्यते' (३०६) ।

अब शूद्र-ब्राह्मणका लक्षण बताते हैं— 'लाजालयणसंमिश्रः कुसु-
म्मक्षीरमपिपः । विक्रेता मधुमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते' (३०७) ।
निपाद-ब्राह्मणका लक्षण— 'चौरस्तस्करकश्चैव सूचको वंशकस्तथा ।
मत्स्यमांसे मदा लुब्धो निपादो विप्र उच्यते' (३०८) । अब पशुविप्रका
लक्षण कहते हैं— 'ग्रह्यतत्त्वं न जानाति श्रद्धासूत्रेण गर्वितः । तेनैव स
च पापेन विप्रः पशु इदाहृतः' (३०९) अब 'आलोक' के पाठकगण सोच
सकते हैं कि—ऐसा ब्राह्मण क्या सचमुच पशु हो जाता है ? यदि
नहीं, किन्तु वह पशु— जैसा कहा जाता है, वैसे ही पुराणमें भी जहाँ
ब्राह्मणको क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र कहा गया है; वहाँ भी वह उस-उसके
समान माना जाता है, ब्राह्मण-दर्शकी व्यवस्था तो जन्मसे ही रहती
है । इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिये । अब ग्लेच्छ-ब्राह्मणका
लक्षण कहते हैं— 'वापीकृपतडागानामागमस्य सरस्सु च । निःशङ्कं
रोधकश्चैव स विप्रो ग्लेच्छ उच्यते' (३१०) । चाण्डालविप्रका लक्षण
देखिये— क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः । निर्दयः सर्वभूतेषु

विप्रश्नाएडाल उच्यते (३८१) इस प्रकार किसी ब्राह्मणकी इतिहासमें चाण्डाली कहा गया हो, वहां जन्मसे चाण्डाली न समझकर उसे उन लक्षणों वाला ही समझना चाहिये ।

यह लाक्षणिक ब्राह्मणके भेद केवल अग्निस्मृतिके हैं, अतः उस स्मृतिको ही अप्रमाण मानकर उनमें अपनी जान छुड़ाई नहीं जा सकती । प्रसिद्ध चाणक्यनीतिमें भी यही प्रकार देखा गया है, अतः इन भेदोंकी अप्रमाणता भी नहीं कही जा सकती । चाणक्यनीतिके ११/११ पद्यमें अग्नि-विप्रका, ११/१२ पद्यमें द्विज-विप्रका, ११/१३ पद्यमें वैश्य-विप्रका, ११/१४ पद्यमें शूद्र-विप्रका, ११/१५ पद्यमें मार्जार-विप्रका, ११/१६ पद्यमें म्लेच्छ-ब्राह्मणका, ११/१७ पद्यमें चाण्डाल-विप्रका लक्षण कहा है—इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदि शब्द लाक्षणिक भी होते हैं । इस प्रकार अग्नि, वैश्य आदिके लिए भी ब्राह्मण-अग्नि, वैश्य-अग्नि, ब्राह्मण-वैश्य, शूद्र-वैश्य, ब्राह्मण-शूद्र, अग्नि-शूद्र' इत्यादि लाक्षणिक शब्द स्तुति-निन्दाफलक हुआ करते हैं । इससे उन-उनका तत्सादृश्य बताया जाता है; उसे साक्षात् देखा बताना, वा उसका जाति परिवर्तन इष्ट नहीं होता, किन्तु तत्तत्कर्मप्रयोगता ही उसकी इष्ट होती । नहीं तो जिस ब्राह्मणको पशु कहा गया है, मार्जार (बिलाय) वा बक (बगला) कह दिया है; तो क्या वह ब्राह्मण न रहकर बिलाय, वा बगला, कौवा, वा बिल पशु हो जाता है; अब उसे चूहे वा मछलियाँ, वा अमेप्य वस्तु, वा गली-भूसा ही खाना शुरू कर देना चाहिये ? नहीं-नहीं; किन्तु उसे बगले-जैसा, वा बिलाय-जैसा कहना ही इष्ट होता है । वैसे ही पुराणमें भी अग्नि आदिको जहां ब्राह्मण-शब्दमें कहा गया है, वहां ब्राह्मणवृत्ति वाला, ब्राह्मण-जैसा ही अर्थ इष्ट होता है । सचमुच ब्राह्मण-जाति वाला बन जाना यह अर्थ इष्ट नहीं होता ।

केवल चाणक्यनीति ही नहीं, वादि-प्रतिवादि-भान्य महाभारत भी यही बताता है, अतः इसमें श्रममाणताकी कोई गुजायश ही नहीं रह जाती। अलिक—महाभारतने तो उन ब्राह्मणोंको स्पष्ट ही 'वैश्यसमाः, शूद्रसमाः' ऐसा सदशार्थक 'सम' शब्दमें कहकर हमारे पक्षको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। देखिये शान्तिपर्व 'स्वकर्मस्यपरे युक्तास्तथैवान्ये विकर्मणि । तेषां विशेषमाचक्ष्व, ब्राह्मणानां पितामह' (७६।१) यहाँ अष्टे-कर्मों तथा चुरे-कर्मोंमें लगे ब्राह्मणोंके छिपे युधिष्ठिर-द्वारा प्ररन किया गया है। इस पर भीष्मजी उत्तर देते हैं—'विद्यालक्ष्यसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः । एते ब्रह्मसमा राजन् ! ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः' (७६।२) यहाँ ब्रह्मसम ब्राह्मणोंका लक्षण आया है। अब देवसम ब्राह्मणोंका लक्षण देखिये—'अग्न्यजुःभामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्थयस्थिताः । एते देवसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत' (३)। शूद्रसम ब्राह्मणका लक्षण—जन्मकर्मविहीना ये कर्त्या ब्रह्मसम्पन्नाः । एते शूद्रसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत (४)। 'ब्राह्मणका देवलका नाचत्रा ग्रामयाजकाः । एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः' (६) यहाँ चाण्डाल-ब्राह्मणका लक्षण है। 'अस्मिन् पुराहितो मन्त्री दूतो धार्तानुकर्षकः । एते क्षत्रसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत' (७) यह क्षत्रिय-ब्राह्मणका लक्षण है। 'अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातयः (वाहिज्याधम) । एते वैश्यसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत (८) यह वैश्य-ब्राह्मणका लक्षण कहा है। यह कहकर भीष्मजी कहते हैं—'अब ब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति चेदिकन् ! ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्तु ते । (१०) विकर्मस्थारश्च नोपेक्ष्या विशा राजा कथञ्चन । नियम्याः संश्रितज्वारश्च धर्मानुग्रह-कारणान्' (७६।११, ७७।३३) अर्थात् राजा विकर्मी ब्राह्मणों-को नियममें, सुमार्गमें लावे जिससे धर्म स्थिरस्था बनी रहे।

कलतः पूर्वपक्षमें श्रीशिवशङ्कर काव्यतीर्थजीने पुराण-इतिहासके दृष्टान्तोंसे जो गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करनी चाहती है; वह असंगत है, इन प्रमाणोंसे उसका खण्डन हो गया। वहां वस्तुतः वर्ण परिवर्तन इष्ट नहीं है। इस प्रकार ज्योतिषमें पुण्य, आरलेपा, अनुराधा, ज्येष्ठा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती आदि नक्षत्रोंमें उत्पत्ति वालेको ब्राह्मण कहा है चाहे जिस भी वर्णका हो; आर्द्रा, पुनर्वसु, स्वाति, विशाखा, शतभिषा आदि नक्षत्रोंमें उत्पन्न जिस-किसी भी वर्ण वालेको शूद्र कहा है। वही नक्षत्रानुसार किसीकी वानरयोनि, किसीकी व्याघ्रयोनि, किसी की सिंह-राशि तो किसीकी कन्या-राशि, किसीका मूषक-वर्ग तो दूसरेका मृगवर्ग होता है; पर यह गलत वहां पर पारिभाषिक ही होते हैं; उस उस योनि वाले वास्तविक बोर, बन्दर, भेड़, घृपभ आदि नहीं हो जाते किन्तु वहां उनका लक्षणमात्र ही लिया जाता है। ऐसे ही पुराणमें भी ब्राह्मणादिके लिए कहे गये चरित्र, शूद्र आदि शब्द, तथा क्षत्रिय आदिके लिए कहे गये ब्राह्मणदि शब्द भी सांख्यिक वा पारिभाषिक ही होते हैं, वहां जाति वा वर्ण उनके माता पिता वाला ही माना जाता है। वहाँ वहाँ उनके भिन्न-वर्ण वाला लक्षण ही लिया जाता है कि उस वर्णने भिन्न वर्णकी वृत्ति अपना ली, वा उस वर्णकी वृत्तिमें वह ब्राह्मणादि चतुर है। वह भिन्न वर्ण सचमुच उस वर्णका भान नहीं लिया जाता। इससे पुराणोंका 'नाभागो वैश्यतामगमत्' (रिण्डु० ४।१।१६) पृथग्नादिक आक्षेप्य स्थलोंका समाधान हो गया। क्षत्रिय नाभागका वहां पर वैश्यकर्मप्रवीण होना ही इष्ट है, वास्तविक वैश्य होना नहीं, सभी वहां उसके पुत्रोंको क्षत्रिय कहा गया है।

वादी लोग वर्ण व्यवस्था गुणकर्मनुसार मानते हैं, तब उन्हें कहना चाहिये कि - वीतहृष्य जो क्षत्रिय था; तथा उसी वर्णके गुण कर्मों वाला भी था; वह बिना ही कोई ब्राह्मणोंके कर्म किये ब्राह्मण

कैसे बन गया ! यहां वादीको स्वयं ही कहना पड़ेगा कि—दिव्य-शक्तिसम्पन्न तपस्वीके कथनमात्रसे ही वह प्राद्वान हो गया । तो जैसे वर-शापादिके कारण पुराण महाभारत आदिमें स्त्रीका पुरुष बनना और पुरुषका स्त्री बनना कहा है, स्त्रीका पत्थर बन जाना कहा है, वह बिना दूसरा जन्म लिये नहीं हो सकता; फिर भी जैसे 'यद् दुस्तरं यद् दुराणं यद् दुर्मं यच्च दुष्करम् । सर्वे तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (भनु० ११।२१८) इस श्लोकमें कहे हुए तपस्याके माहात्म्यसे जन्म वा शरीरका परिवर्तन वहीं कर लिया जाता है, यह अपवाद है; वैसे ही धीतहृदयका भी दूसरा जन्म कर देना, क्षत्रिय शरीरके परमाणुओंका सर्वथा बदल देना अपवाद ही है, उत्सर्ग नहीं । व्यवस्था उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) से हुया करती है, अपवाद (विशेषशास्त्र) से नहीं । तब उसका तात्पर्य तपस्याके माहात्म्यमें लेना चाहिये, यर्थ-परिवर्तनमें नहीं । इस प्रकारके अर्थवाद सब स्थान मिल जाते हैं, जिनमें शब्दार्थ नहीं, किन्तु तात्पर्य ही लेना पड़ता है ।

पुराण-इतिहासका यह सिद्धान्त है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि जन्मसिद्ध होते हैं । वे अपने-अपने कर्मके त्यागसे और दूसरेके कर्म लेनेसे उस जन्ममें नहीं, किन्तु दूसरे जन्ममें भिन्न वर्ण बनते हैं । जैसे कि महाभारतमें अनुशासनपर्वमें उसाने श्रीमहादेवसे पूछा कि—'चातुर्यर्थं भगवता पूर्वं सृष्टं स्वयम्भुवा । केन कर्मविपाकेन वैश्यो गच्छति शूद्रताम्' (१४३,२) वैश्यो वा क्षत्रियः केन द्विजो वा क्षत्रियो भवेत् (३) केन वा कर्मणा विप्रः शूद्रयोनीं प्रजायते । क्षत्रियः शूद्रतामेति केन वा कर्मणा विप्रो ! (४) इस प्रश्नसे तथा 'शूद्रयोनीं प्रजायते' कहनेसे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि—यहां अन्य जन्ममें ही वर्ण बदलनेके में पूछे हैं । उसके उत्तरमें श्रीमहेश्वरने कहा—

‘ब्राह्मण्यं वैश्यः ! दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभे ! क्षत्रियो वैश्य-
 शुद्रौ वा निसर्गादिति मे मतिः’ (१४३।६) यहाँ ब्राह्मणादि स्वाभाविक
 अर्थात् जन्मसे कहे गये हैं। पर इस कर्ममें भिन्न कर्म करनेसे भिन्न
 वर्णकी प्राप्ति अगले जन्ममें होती है, यह कहते हैं—‘स्थितो ब्राह्मण-
 धर्मेण ब्राह्मणमुपजीवति । क्षत्रियो वाय वैश्यां वा ब्रह्मभूयं स गच्छति
 (१४३.८) यस्तु विप्रसमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते । ब्राह्मणायान् स
 परिश्रष्टः क्षत्रियोनौ प्रजायते’ (१) यहाँ पर ‘क्षत्रियोनौ प्रजायते’ इस
 लिङ्गमें वर्ण-परिवर्तन अन्य जन्ममें होता है—यह सिद्ध हो रहा है।
 इसी भांति ‘वैश्यकर्मं च यो विप्रो लोभमोह-व्यपाश्रयः । ब्राह्मण्यं
 दुर्लभं प्राप्य करोत्यवश्यमतिः सदा । स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा
 शुद्रगामिवान् । स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शुद्रस्वमाप्नुते’ (१०-११)
 गृहदादिक पक्ष अन्य जन्मके लिए हैं। अभी कहा है—‘तत्रासौ निरयं
 प्राप्नो वर्यांशष्टो महिष्ठतः । ब्रह्मलोकात् परिश्रष्टः शुद्रः समुपजायते’
 (१४३।१२) ‘तां तां योनिं व्रजेद् विप्रो यस्याश्चमुपजीवति (२१) निहीन-
 सेवी विप्रो हि पतति ब्रह्मयोनितः’ (२४) गुरुत्स्वी गुरदोही गुरुत्स्वा-
 रतिश्च यः । ब्रह्मविष्वापि पतति ब्राह्मण्यो ब्रह्मयोनितः (२६)
 एभिस्तु कर्मभिर्देवि ! शुभैराचरितैस्तथा । शुद्रो ब्राह्मणतां याति
 वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत् । (२६) स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचौ महति जायते
 (३४) एते योनि-फला देवि ! स्थानभागनिर्देशकाः’ (२३) इन महा-
 भारतीय श्लोकोंसे शुभ-अशुभ कर्मोंसे अन्य जन्मोंमें ही ब्राह्मण,
 शुद्रादियोनि-प्राप्ति सूचित होती है, इसी जन्ममें नहीं—यह स्पष्ट है।
 तब जहाँ कहा ब्राह्मणका क्षत्रिय-वैश्य आदि होना पुराणमें कहा
 है—वहाँ तद्धर्मता होनेसे वह शब्दमात्र कहा है, वहाँ वस्तुतः वैसा
 ही जाना इष्ट नहीं।

जहाँ कहीं एक ही अधिके चारों वर्ण वाले सन्तान दिखलाये
 गये हैं : वहाँ बहुतसे कारण हो सकते हैं। अन्य युगोंमें पुराण अन्य

वर्णोंकी स्त्रियोंको भी लिया करते थे। ब्राह्मण चारों वर्णोंवाली स्त्रीको ले सकता था। जैसे कि मनुस्मृतिमें कहा है—‘शूद्रश्चैव भार्या शूद्रस्य, मा च स्वा च (वैश्या और शूद्रा) विशः स्मृते। ते च स्वा चैव (सत्रिया-वैश्या-शूद्राः) राज्ञश्च, ताश्च (ब्राह्मणी-सत्रिया-वैश्या-शूद्राः) स्वा घाप्रजन्मनः’ (२।१३) तब जो सन्तानें होती हैं, वे कहीं धीजकी प्रधानतासे पिताके वर्णसे कही जाती हैं। कहीं धोनिकी प्रधानतासे माताके वर्णसे बोली जाती हैं। तब आपसमें भेद दिखलानेके लिए धोनिकी प्रधानताके निदर्शनार्थ चारों वर्णोंकी स्त्री वाले एकके भी ब्राह्मण, सत्रिय, वैश्य, शूद्र सन्तान कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कई आपियोंने बिना मैथुनके अपने तपोबलसे चारों वर्णके सन्तान उत्पन्न कर दिये। इन बातोंमें हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं पड़ती। यदि कहीं सृष्टिके आदिकालका वर्णन है, तो वहाँ धर्म-व्यवस्थाका दृढ़ बन्धन रह भी नहीं सकता। व्यवस्थाके आरम्भमें कहीं विशृङ्खलता भी हो सकती है, जैसे कि- आरम्भिक कई विवाह बहनोंसे भी हुए; परन्तु अब उस विशृङ्खलताका प्रचार करना विचरहीनता है। यदि कहीं ‘ब्राह्मणता गताः’ पाठ आया हो; या ‘ब्रह्मभूपं गताः’ वहाँ ब्रह्मरूप- (मुक्त) हो गये, यह अर्थ होता है; क्योंकि—‘ब्रह्म हि ब्राह्मणः’ (शत० ध० ५।१।१।११)।

कहीं यदि किसी राजासे चारों वर्णोंकी प्रवृत्ति कही गई है, वहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि—उस राजामें पहले चार वर्ण नहीं थे; ऐसा नहीं हो सकता। जब वेदमें ही चारों वर्णोंका निरूपण है, तो उस राजाके समय चारों वर्ण क्यों न होंगे? वहाँ यह तात्पर्य होता है कि—मध्यमें जो चार वर्णोंमें विशृङ्खलता आ गई थी; उसका उक्त राजाने सुधार किया, या उसकी विशेष व्यवस्था की, जिससे वर्ण अपने-अपने कर्ममें दृढ़ होगये, यही चारों वर्णोंके प्रवर्तनका तात्पर्य है।

इसके अतिरिक्त 'साहित्य-संगीतकला-विहीनः' साणोत पशुः पुच्छ-विषाणहीनः' (नीति-शतक १२) यहाँ जब 'माघान् पशु' शब्द भी पशुसदृश अर्थमें पर्यवसित हो जाता है, 'नरपशु' शब्दों भी नरका पशुसदृश बताना ही इष्ट होता है, माघान् पशु होनेमें तात्पर्य नहीं रहता, जैसे—'विद्याविहीनः पशुः' (नीति-शतक २०) 'वेपां न विद्या न तपो न दानं . ते मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' (नीति० १३ इत्यादियोंमें भी 'पशु' शब्दका पशुसदृश गुणवाले होनेमें तात्पर्य होता है, पशुजाति बतानेमें नहीं, वैसे ही ब्राह्मणादिके लिए कहीं कहा हुआ अश्रिय, वैश्य शब्द उसके अश्रियादि गुणोंको बताने वाला होता है, अश्रिय आदि जातिको नहीं । इधर जहाँ-कहीं ब्राह्मण-अश्रिय आदियोंके समान गोत्र मिलें, वहाँ यह कारण जानना चाहिये कि—'वंशो द्विधा-विधया जन्मना च' ('सत्या वंश्येन' २।१।१३ सिद्धान्त कौमुदी, ग्रन्थयीभाव समासमें) तब वंशके विद्या-गुरुके अनुसारी भी होनेमें जिन-जिन अश्रिय आदिषोने जिस जिस अपिसे विद्या सीखी, तब गोत्र भी उसीका स्वीकार कर लिया । इसके अतिरिक्त जो ब्राह्मण जिस गोत्र वाले थे, उसके पटनानोंने भी अपने पुरोहितोंके गोत्र स्वीकार कर लिये, यह भी समानगोत्रतामें कारण हुआ करता है ।

यह पहले संकेत दिया जा चुका है कि—अपि-मुनियोंमें मानसिक सन्तानके पैदा करनेकी शक्ति भी थी—जिसका उपयोग वे अश्रियाणियों के साथ नियोगके समय करते थे । तब जैसे परमात्माने स्वयं दण रहित होते हुए भी चार वर्ण मुस्तादि द्वारा उत्पन्न किये थे; वैसे ही अश्रियोंने भी चार वर्ण वाली मानसिक सृष्टि उत्पन्न की । जैसे कि—अचोक्त अपि ने अश्रिया गार्धिकी स्त्रीमें चरु द्वारा विश्वामित्रको ब्राह्मण वर्णमें उत्पन्न किया । सृष्टिके आदिमें मन, वचन तथा दृष्टिमें बड़ी शक्ति थी; इसलिए तब संकल्पमात्रसे उत्पत्ति होती थी । आद्यमयसे जब यह शक्ति क्षीण

हो गई, तब मैथुनी-सृष्टि प्रारम्भ हुई। तब मैथुनी सृष्टिमें साङ्ख्यिक सृष्टिके समान नियम नहीं हो सकते; उन्हें शास्त्रीय नियम अनुसरण करने पड़ते हैं। शास्त्रोंमें वर्ष-व्यवस्था जन्मसे मानी गई है—यह हम गत नियन्धोंमें सिद्ध कर चुके हैं। अच्छे-बुरे गुणकर्मसे तो उस-उस वर्ष की केवल प्रशंसा या निन्दा ही हुआ करती है।

जहाँ 'क्षत्रोपेता द्विजातयः' कहा गया हो, वहाँ यह तात्पर्य होता है कि—वे ब्राह्मण द्रोणाचार्य या परशुरामकी भान्ति बलवान् या धनुर्विद्यानिष्णात थे। जहाँ चत्रियादियोंके लिए 'ब्रह्मण्याः' शब्द आया हो, वहाँ 'ब्रह्मसु-ब्राह्मणेषु साधुः' इस व्युत्पत्तिसे ब्राह्मणभक्त या 'ब्रह्मणि-वैदिककार्ये साधुः' या वैदिककार्यरत, या जनकादि चत्रियोंकी तरह ब्रह्मपर, ब्रह्मलग्न, या ब्रह्मविद्यानिष्णात यह अर्थ होता है—उसका 'ब्राह्मण' वर्णके होगये' ऐसा अर्थ कभी सम्भव नहीं। कहीं चत्रियादिके लिए 'ब्रह्मर्षि' शब्द आया हो; वहाँ 'ब्रह्मणः-वेदस्य ऋषिः' ऐसा अर्थ भी प्रकरणवश हुआ करता है। जहाँ 'ब्रह्मभूयं गतः द्विती' ऐसा शब्द आया हो, वहाँ अर्थ है कि—'भूमौ एव ब्रह्मभावं गतः' अर्थात् जनकादि चत्रियकी तरह जीवन्मुक्त होगया। जहाँ 'कर्मणा ब्रह्मतां गतः' यह पाठ मिले, वहाँ कर्मसे ब्रह्मत्वकी प्राप्ति हुआ—ब्रह्मपदकी प्राप्ति हुआ, मुक्त बना, यह अर्थ है। जैसे कि—मनुस्मृतिमें कहा है— 'महापतैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (२।२८) यहाँ कर्मविशेषोंसे ब्रह्मपदकी, मुक्तिकी प्राप्ति कही है। पुराणमें भी यही आशय है। भगवद्गीतामें भी यही सूचित किया है— 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (३।२०), 'संसिद्धि' का भाव ब्रह्मपदकी प्राप्ति, 'जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति हुआ—ऐसा सभी कहते हैं। तभी सांख्यतत्त्व-कौमुदीकी द्वितीयकारिकामें श्री-वाचस्पति मिश्रने यह श्रुति उद्धृत की है— 'परे ऋषयो मनोपिणः परं कर्मभ्योऽमृतवमानशुः' उक्त सभी स्थलोंमें 'कर्म' शब्द 'निष्काम कर्म-

परक' है, निष्काम कर्म कर्माभाव होनेमें मुक्ति-प्रदायक होता है। इसी पुराण-वचनमें यदि किसी स्रियादिको 'ब्राह्मण' कहा गया हो; वहां 'ब्रह्म जानाति- इति ब्राह्मणः' ऐसा लाक्षणिक या पारिभाषिक शब्द है कि- वह अज्ञातशत्रु आदि उपनिषत्में कहे हुए क्षत्रियोंकी तरह ब्रह्म-विद्याकी ज्ञात्री बना, वह 'ब्राह्मण' शब्द वहां पर 'जाति - शब्द' नहीं होता।

फलतः काव्यतीर्थजोंसे दिये हुए पुराणोंके उक्त प्रमाण कर्म-प्रमाणमात्रपर्यवसायी हैं, गुणकर्मणा दर्श-व्यवस्थापक नहीं। इस रीति से अन्य पुराणोंके प्रमाणोंकी व्यवस्था भी उनके पूर्वापर-प्रकरण देखकर कर लेनी चाहिये। यहाँ पर विस्तार-भयसे सब आक्षेपोंका समाधान हम नहीं कर सके; शेष आक्षेपोंका उत्तर अन्य भागमें दिया जायगा। तथापि पाठकोंको यह याद रखना चाहिये कि—'द्वयोर्द्वे स्मृतिर्वरा'। (व्यास-स्मृति १.४) अर्थात्—स्मृति और पुराणका विरोध हो तो स्मृतिकी ही बातमें व्यवस्था होती है। इसीलिङ्ग न्यायदर्शनमें भी कहा है कि—'पुराणका मुख्यविषय लोकवृत्त-प्रतिपादन है, न कि मुख्यतया लोक-व्यवहारकी व्यवस्था करना। लोक-व्यवहारकी व्यवस्थापना तो धर्मशास्त्रका काम है, पुराण और धर्मशास्त्र इन्द्रियोंकी तरह अपने-अपने विषयमें अधिक मान्य हुआ करते हैं' 'लोकवृत्तमितिहास - पुराणस्य, लोक-व्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथाविषयम् [स्वस्वविषये] पृथानि [अधिक-] प्रमाणानि, इन्द्रियादिवत्' (न्या० ४।१.६३)। पुराण-इतिहासमें तो धर्मशास्त्र-पिट्ठ भी आचरण कभी देखे जाते हैं; पर वे अनुकरणीय नहीं हो जाते। इसीलिङ्ग 'गौतमधर्मसूत्र' में कहा है—'दृष्टो धर्मव्यति-क्रमः साहसं च महत्तमम्; न तु दृष्टोर्वो वरो, दौर्बल्यात्' (१।१-२)। यही बात आपस्तम्बधर्मसूत्रमें भी कही है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं

‘च पूर्वेषाम्’ २।१३।७) ‘तेषां तेजोविशेषेण प्रत्ययायो न विद्यते’ (८) तद् अन्वीक्ष्य प्रयुजानः सीदत्यवरः’ (९) । इतिहासमें स्वा० द०जीका हुका पीना, भांग पीना आदि लिखा होने पर भी वह उनके अनुया-
यियोंसे आचरणीय नहीं हो जाता ।

यदि गुणकर्मकृत वर्ण-व्यवस्था चलाई जावे, उसमें एक तो शास्त्र-
का व्याकोप होगा; दूसरा उसमें आजकल शास्त्रोंमें केवल एक या दो ही
ग्राह्य धन सकें । तब इस असम्भावित और शास्त्रसे अननुशिष्ट
विषयमें पाद-प्रवेश न करके जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त मान
लेना चाहिये । हाँ, उस-उस वर्णमें उत्पन्न हुए को उस वर्णके कर्म
अवश्य करने चाहिये—ऐसा प्रचार किया जाय । अन्य वर्णोंके कर्म कर
रहे हुए तथा अवैध-कर्मत्यागी पुरुषोंकी निन्दा करनी चाहिये । ऐसा
करने पर सभीकी अपने-अपने कर्म करनेमें रुचि बढ़ेगी ।

एक आक्षेप

(४) पूर्वपक्ष—जन्मसे वर्ण-व्यवस्था होने पर स्वतः ग्राह्य
पदवी प्राप्त होनेसे उस पदवीकी प्राप्त्यर्थ कोई परिश्रम नहीं करेगा ।
सभी वर्ण उन्नतिसे रहित हो जाएँगे (श्रीधर्मदेव शास्त्री ‘सूर्योदय’ में) ।

उत्तरपक्ष—इससे शास्त्र-सिद्ध जन्मना वर्ण-व्यवस्थाका नाश कर
डालना ठीक नहीं । उसके लिए अन्य उपाय बहुत हैं । शास्त्रोंमें मूर्ख
ग्राह्योंको दान देने का निषेध किया गया है । जैसे कि—‘नश्यन्ति
हव्यकव्यानि नराणामविज्ञानताम् । भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि
शत्रुभिः’ (मनु० ३।६७) ‘विद्यातपः - ममद्देशे हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाश्च महतरचैव कित्विषात्’ (३।६८) । अथर्ववेद गोपध-

ब्राह्मणमें भी कहा है—‘धृयमेव अयं ब्राह्मणोऽग्निः, तस्य ब्राह्मणस्य अग्निः तस्य मैव देव इन्द्रात्, न पित्र्यं, न चास्य स्वाध्यायाशिपो न यज्ञे आशिषः स्वर्गं ब्रह्मा भवन्ति (१।१।१३) यहाँ पर अग्निहोत्रादि-रहितको ब्राह्मण तो कहा है; पर उमें दान देनेका निषेध किया है। इमे आचरणमें लानेसे गुणरुमहीन ब्राह्मणोंको बहुत भय उत्पन्न होगा। शूद्रता पर देनेसे उनका क्या होगा? यही कि-शूद्राकी सरवा बढ़ेगी, और ब्राह्मणोंकी घटेगी। फिर ये ही शूद्र बने हुए, ब्राह्मण बने हुए तो निषेध प्रारम्भ करेंगे, जिससे महायुद्धोंकी सृष्टि होकर भारतकी भारी हानि होगी। यदि फाँटें वज्रियादि ब्राह्मण भी हो गया, तो ब्राह्मण वर्णम मिला जान पर उसकी कुछ भी विशेषता नहीं रहेगी। विशेषता अपने वर्णमें रहने पर अच्छे गुणवर्माँस होती है। गुण, हीन-वर्णका भी सम्मान ब्राह्मणमें भी बढ़कर करा देते हैं—‘गुणा. पूजा स्थान गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः’। विशेष प्रकार की जोड़ेरी तारका भी मूल्य समय पर सोनेके मूल्यसे भी बढ़ जाता है। लोग ब्राह्मणोंसे हीनवर्ण भी गान्धिजीका ब्राह्मणोंसे भी अधिक सम्मान करते ही थे। हिन्दुधर्मसे भिन्न धर्मवाले भी ए. सी. बुद्धर आदि जर्मन वा ‘अंग्रेजोंको’ समापति बनाकर उनको सम्मानित करते ही थे। इस कारण वर्ण परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। एक भयन है जोकि उद्धार न होनेसे पतनकी दशामें है। उसका आप थोड़ेसे परिश्रमसे उद्धार कर सकते हैं, उसके उद्धारमें घर सुन्दर हो सकता है। परन्तु आप उसे गिराकर नया घर बनाना चाहते हैं—जिसके बननेमें ही सन्देह है, जिसके लिए ईंटें आदि सामग्रीकी प्राप्ति भी कठिन है। एक मर्यादाहीन अपने पुत्रका आप उद्धार न करके, उसे मारकर वा छोड़कर वा दूसरे शूद्रादिकों देकर उसके स्थानमें दूसरे शूद्रादिकों सुन्दर पुत्रको लेना चाहते हैं, क्या यह ठीक रहेगा? अपना अन्धा भी पति श्रेष्ठ होता है; उसे छोड़कर दूसरे अच्छे

भी पतिको लेना ठीक नहीं। अपना विगुण भी धर्म ठीक है, दूसरेका अस्वा दीख रहा हुआ भी धर्म ग्राह्य नहीं होता।

हमें युक्ति कार्यमें सुधार करना चाहिये, पर सुधारके बहाने संहार करना ठीक नहीं। सब सन्नियादिको उचित है कि-अपने पुरोहित ब्राह्मणोंका धन जमा करके उसे वाक्यावस्थासे ही उनके पढ़ाने आदिके कार्योंमें व्यव करें। इस प्रकार उनकी शीघ्र उन्नति होगी, शुद्धादि करनेसे नहीं। स्वा० द० को मृत्यु हुए ७० साल हो गये हैं, उसमें कितने, सत्रिय, शुद्ध साङ्ग-वेदको पढ़कर ग्राह्य हुए ? डा० अग्नेदकर न्यायमन्त्री बनकर भी वैसे ही अन्त्यज हैं। मोलाना गजाद शिक्षामन्त्री भी अब भी मुसलमान ही हैं। यदि आर्यसमाजमें भी गुणकर्म कृत वर्ण-व्यवस्था होती, तो उसमें कोई भी वेदानाभिज्ञ वा मूर्ख ग्राह्य न मिलता; परन्तु उसमें भी विपरीतता दीखती है, इससे स्पष्ट है कि—गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्थाके सिद्धान्तित करने पर भी कोई लाभ नहीं होना है। तब जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्तको हटानेका प्रयत्न व्यर्थ ही है। वेदके पूर्ण परिष्ठित फिर भी द्विजोंमें जन्म ग्राह्योंमें ही मिलेंगे। वास्तवमें जैसे मनुष्यत्व भिन्न वस्तु है और विद्वत्ता-मूर्खता आदि भिन्न वस्तु है, अर्थात् यह कोई नियम नहीं कि-सभी मनुष्य सुकर्मा वा विद्वान् हों, वैसे ही ग्राह्यणत्व भिन्न वस्तु है—और विद्वत्ता और मूर्खता आदि भिन्न वस्तु है। जो ग्राह्यण हो- वह सुकर्मा वा विद्वान् हो- यह अपिश्चितता तो सम्भव है, पर इसमें अनिवार्यता नहीं- (इस विषयमें न्यायदर्शनके ११०।१२ सूत्रका वाक्याख्यान-भाष्य देखा जा सकता है।) विद्वत्ता और सुकर्मा आदिका सम्बन्ध ग्राह्योंमें क्या, सत्रिय, वैश्य, शुद्ध और चाण्डालादि मयमें सम्भव है। चादियोंकी नीतिसे तो सभी ग्राह्य बनना चाहेंगे, तब सत्रिय, वैश्य, शुद्ध, चाण्डालादि कर्मोंसे सभी धृष्ट करने लग जावेंगे, जो वैसे हैं- वे ग्राह्योंसे भी धृष्ट करने लग जावेंगे ? तब

सांसारिक व्यवस्था कहाँसे चलेगी ? इस प्रकार तो यही हानि होगी और भारतवर्ष भ्रवण हो जायगा ।

तब उचित यह है कि—‘सहजं कर्म कौन्तेय ! सदीपमपि ज्ञ त्वजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिषावृताः’ (गीता १८।४८) ‘स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः’ (१८।४९) स्वधर्म निधनं धेयः परधर्मो भयावहः (१९।१२) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणोऽपरधर्माद् स्वनुष्ठितात्’ (१८।४७) ‘श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते । आज्ञामह्नाम्भम द्रेपी स मे भक्तोपि न प्रियः’ (शं० दि० वि०) इन भगवद्-वचनोंको तथा ‘वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः’ (मनु० १०।१७) । ‘आत्मीये संस्थितो धर्मं शूद्रोपि स्वर्गमनुते । परधर्मो भवेत् त्याज्यः पुरूप-परदातवः’ अत्रि० १८) इत्यादि स्मार्त वचनोंको स्मरण करके जिस वर्णवाले पिताके घरमें जिसका जन्म हुआ है, वह उस वर्णके नियत कर्मोंको करता हुआ व्यवहार करे । नहीं तो अपनी अपेक्षा उच्च-वर्णके कर्मोंको अपनी उन्नतिकी इच्छासे करता हुआ, अथवा आत्मस्य वा सुविधासे अपनी अपेक्षा अधम वर्णके कर्मोंको आचरण करता हुआ मनुष्य संस्कार-विरुद्ध होकर ‘इतो भ्रष्टस्ततो भटः’ इस न्यायको सायंक करेगा । तब उसकी जो दुरवस्था होगी—उसके चित्रका चरित्रण हमने ‘कर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें हानि’ इस निबन्धमें किया है; उसे ‘आश्लोक’ के अग्रिम पुष्पोंमें दिया जायगा ।

इस प्रकार हमने शास्त्रानुसार सिद्ध कर दिया कि—वर्ण-व्यवस्था जन्मसे होती है, कर्मसे नहीं, पर न तो हमारा, न शास्त्रका ‘ही यह

सिद्धान्त है कि—वह-वह वर्ण अपने-अपने वर्ण-कर्मोंको छोड़ दे। नहीं-
नहीं, ऐसा नहीं। स्वस्ववर्ण-कर्म ही वर्णके स्वरूपकी रक्षा करते हैं—
उसीसे व्यवस्था रहती है। दूसरे वर्णके कर्मोंको अपनाना अपने वर्णका
स्वरूप नष्ट करके भारतवर्षमें अन्यवस्था उत्पन्न करना है। ब्राह्मणोंको
पढ़ने-पढ़ाने आदि कर्मों, क्षत्रियोंको राजकीय सम्बन्धी कर्मों तथा वैश्यों
को धणिगृह्णति और शूद्रादिको सेवा-शिल्पादि-सम्बद्ध कर्मोंकी अपनाना
चाहिये। अन्य यह भी आवश्यक है कि—आदिम तीन वर्ण अपनी
संस्कृत-भाषाको अवश्य पढ़ें, अपनी भाषाको मुलाकर अन्य विदेशी-
भाषाओंमें लगे रहना अपने वर्णाश्रमधर्म तथा वदाश्रित भारतवर्षको
वैदेशिकोंके पदाक्रान्त होनेका निमन्त्रण देना है। इस यथार्थ बात पर
सब भारतीयोंको ध्यान देना चाहिये।

++++

(११) मृतकश्राद्ध और ब्राह्मणभोजन

हिन्दुधर्म-सम्मत वर्ण-व्यवस्थाका निरूपण करके अब उसके एक विषय—मृतकश्राद्धका भी संक्षिप्त निरूपण किया जाता है। अर्वाचीन विचारधारा रखनेवाले व्यक्ति 'श्राद्ध' जीवितोंका मानते हैं, मृतकोंका नहीं। वे जीविन पिता आदि को खिला देना ही श्राद्ध मानते हैं, उनके म्यानापछ मालखरों खिलाना वे निरूपपत्तिर मानते हैं। इस विषयमें हम विस्तीर्ण विचार अन्य पुष्पमें रखेंगे, आज इस विषयमें कई आवश्यक बातें मक्षेपसे यतायी जाती हैं। यिज 'आखोर' पाठक इधर अवधान दें।

पितृश्राद्ध प्रतिमास हुआ करता है, यह बात शास्त्रीय संसारमें प्रसिद्ध है। इस विषयमें कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। पहले वेदवचन देखिये—'तस्मात् पितृभ्यो मासि उपमास्यं ददाति' (अथर्व० शौ० स० ८।१।२), 'परायात पितरः। अथा मासि पुनरायात नो गृहान् हवि-रत्तुन्' (अथर्व० १८।४।६२)। 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'मासि मासि चैव पितृभ्योऽयुष्टु प्रतिष्ठापयेत्' (२।२।१०)। इस प्रकार अन्य भी बहुतसे ग्रन्थोंमें कहा गया है। यह बात मृतकश्राद्धमें तो घटती है, जीवितश्राद्धमें नहीं, क्योंकि 'मासेन स्याद् अहोरात्र पैत्र।' (१।४२१) इस 'अमर-कोष' के वचनसे और 'पित्र्ये रात्र्यहो मास।' (१।६६) इस 'मनुस्मृति' के वचनानुसार मनुष्योंका मास (महीना) पितरोंका एक दिन-रात होता है। इस प्रकार प्रतिमास श्राद्ध करने पर पितरोंको वह भोजन प्रतिदिनकी तरह मिलता है। 'अपर (कृष्ण) पक्षे श्राद्धं कुर्वीत' इस कातीय श्राद्धसूत्रके अनुसार कृष्णपक्षमें श्राद्ध इसलिए

किया जाता है कि 'पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागास्तु पक्षयोः । कर्म-
चेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी' (मनु० ११६६) हमारा
कृष्णपक्ष पितरोंका दिन होता है और शुक्लपक्ष उनकी रात्रि हुआ
करती है ।

इसमें कारण यह है कि 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाऽधः
सुधादीधितिनामनन्ति । पर्यान्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वं द्रशे यतोऽस्माद्
'युदलं तदैषाम्' (सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय त्रिप्रभवासना १३ श्लोक)
इससे पितृलोक चन्द्रलोकके ऊपर सिद्ध होता है । स्थामी दयानन्द
अपने 'सरयार्थप्रकाश' के आठवें समुल्लाप १४४ पृष्ठमें कह गये हैं—'ये
मय [सूर्य, चन्द्र, तारे] भूगोल लोक, इनमें मनुष्यादि प्रजा भी
रहती हैं । बुद्ध-कुद्ध आकृतिमें भेद होनेका सम्भव है' । इस प्रकार
यदि यहाँ से मरे हुए चन्द्रलोकमें जन्म लें, वे हमारे दिये अद्यादिको
अपनी आकर्षण-शक्तिसे खींच लें, तो क्या यह असम्भव है ? इस
प्रकार यहाँ मृतकश्राद्धकी सिद्धि तथा सनातनधर्मकी विजय है । अस्तु ।

जब चन्द्रमा शुक्लपक्षमें इस लोकमें अपना प्रकाश कर रहा होता
है, तब वह सूर्यसे दूसरे कोनेमें होता है । तब पितृलोकमें पन्द्रह दिन
तक निरन्तर एक रात्रि होती है । जब कृष्णपक्ष होता है, तब इस लोक
में रातको शुक्लपक्षकी तरह प्रकाश नहीं होता, उस समय चन्द्रलोक सूर्यके
निकट होता है । तब पितृलोककी प्रजा पन्द्रह दिन तक निरन्तर (कृष्ण
अष्टमीसे शुक्ल अष्टमी तक) सूर्यको देखती है—इस प्रकार निरन्तर
उनका एक दिन प्रातः के ६ से सायंक ६ तक) होता है । अमावस्या
को, जब सूर्य और चन्द्रमा एक राशिमें होते हैं, तब हमारे अपराह्नकाल
में सूर्यके चन्द्रलोकके शिर पर वर्तमान होनेसे, चन्द्रलोकके ऊर्ध्वस्थ
पितरोंका भोजनकाल मध्याह्न होता है ।

यहाँ पर पितृलोकका समयक्रम इस प्रकार जानना चाहिये—
 पितृलोक चन्द्रलोकसे ऊपर होता है—यह कहा जा चुका है । चन्द्रमामें
 अपना प्रकाश नहीं है, वह सूर्यकी एक सुपुष्पारश्मिसे प्रकाशित होता
 है, यह निरक्त* (२।६।३) के विज्ञानोंमें तिरोहित नहीं है । हमारी जग
 पृथ्वीमा होती है, तब सूर्य-चन्द्रलोकमें छ. राशिके अन्तरमें बहुत दूर
 होता है । तब चन्द्रलोकके ऊपर ठहरे हुए पितृलोकमें पूर्ण रात्रि जाती
 है अर्थात् तब पितरोंकी घडीमें रातके बारह बजते हैं । हमारा ३० दिन
 का एक मास होगा है, परन्तु चन्द्रके ऊपर रहते हुए उन पितरोंका
 उतना ही समय सामान्यतया* १४ घण्टेका दिन-रात होता है । इस
 गणनासे हमारी जो एक तिथि अर्थात् एक दिन है, वह पितरोंका
 मध्यम मानसे ४८ मिनटोंका समय होता है । हमारा एक घण्टा और
 यही समय पितरोंका दो मिनट होता है । इस अन्तरका कारण सूर्यका
 अन्तर है । जिन सूर्यको हम तीस बार रात्रिके व्यवधानमें देखते हैं,
 उसी सूर्यको पितृगण रात्रिके व्यवधानमें निरन्तर एक बार देखते हैं ।
 इसी कारण हमारा सम्पूर्ण दिन उनका प्रायः पौन घण्टा होता है,
 हमारा सप्ताह दिन (३० घण्टे) उनका एक घण्टा होता है, हमारे तीन
 मिनट उनका एक मिनिटात्मक समय होता है । यह पाठकोंन समझ
 लिया होगा ।

>

* 'सामान्यतया' कहनेका तात्पर्य यह है कि तिथियोंमें क्षय-वृद्धि हुआ
 ही करती है । तदनुसार उनका समय भी कुछ न्यून-अधिक हो जायगा ।

इस क्रमसे निश्चित हुआ कि अमावास्या पितरोंका मध्याह्नकाल है। इसलिये हम लोग अमावास्या अपराह्नमें यहाँ पर प्रतिभास श्राद्ध करते हैं। पर हमारे शुक्लपक्षमें (शुक्लाष्टमीसे कृष्णाष्टमी तक, क्योंकि इस समयमें हम चान्दनी प्राप्त कर रहे होते हैं) पितृलोकका सूर्यलोकसे दूरान्तर होनेसे उसमें रात्रि रहती है, हमारे कृष्णपक्षमें (कृष्णपक्षकी अष्टमीसे शुक्लपक्षकी अष्टमी तक, क्योंकि इस समय हम चान्दनी ठीक-ठीक प्राप्त नहीं करते) पितृलोक सूर्यसे क्रमशः निकट होता जाता है, इसी कारण उसमें पूर्ण दिन रहता है। मासिक अमावास्यामें पूर्व कहे प्रकारसे मध्याह्न होनेसे उसमें पितृश्राद्ध होने पर पितरोंकी प्रतिदिन भोजनक्रिया हो जाती है। जीवितश्राद्ध स्वीकार करने पर वो प्रतिभास वैसा करने पर ये जीवित पितर क्या शेष २६ दिनोंमें भूखे रह सकेंगे ? इसे पक्षको माननेवालोंके मतमें मासिक श्राद्धविधानकी शास्त्रीय वा वैज्ञानिक क्या उपपत्ति रहेगी ? इससे उनका जीवितश्राद्ध भी निराधार ही है। केवल उनकी कपोल-कल्पनाप्रसूत ही यह बात हो सकती है। अस्तु।

मासिक श्राद्धका वर्णन तो हो चुका, आश्विनमें जो वार्षिकश्राद्ध हुआ करता है, उसका भी संक्षिप्त रहस्य बतलाते हुए हम पहले उनका समय-क्रम लिखते हैं कि शुक्लपक्षकी किस-किस तिथिमें पितरोंकी घड़ीमें कितना बजा होता है और कृष्णपक्षकी किस तिथिमें पितरोंका क्या समय होता है, 'आलोक'-पाठक अवधानसे देखें—

पितरोंका समय-विभाग

शुक्लपक्षतिथि, पितरोंके घं०-मि०		कृष्णपक्षतिथि, पितरोंके घं०-मि०	
१	मध्याह्न घंटा १२।४८ मि०	१	मध्याह्न घंटा १२।८८ मि०
२	" १।३६	२	" १।३६
३	" २।२४	३	" २।२४
४	" ३।१२	४	" ३।१२
५	अपराह्न ४।०	५	उषा ४।०
६	" ४।४८	६	" ४।४८
७	" ५।३६	७	" ५।३६
८	साय ६।२४	८	प्रातः ६।२४
९	" ७।१२	९	" ७।१२
१०	रात्रि ८।०	१०	दिन ८।०
११	" ८।४८	११	" ८।४८
१२	" ९।३६	१२	" ९।३६
१३	" १०।२४	१३	" १०।२४
१४	" ११।१२	१४	" ११।१२
१५	मध्याह्न १२।०	१५	मध्याह्न १२।०

इस समय-विभागसे 'विध्ये राध्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः । कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरो' (मनु० १।६६, मनुष्योंका एक मास पितरोंका रात-दिन होता है । कृष्णपक्ष उनके कार्यके लिए होता है, शुक्लपक्ष सोनेके लिए) यह सनातनधर्मका मिद्वान्त वैज्ञानिक होनेसे साय सिद्ध हुआ । यहाँ से भर कर गये हुए हमारे पितरोंकी स्थिति पितृलोकमें हुआ करती है । तब हमें उनके मध्याह्नकालमें उन्हें भोजन पहुँचाना है । उसमें दो प्रकार है—एक तो यह कि हमें उनके

नामसे अग्निमें हविका हवन करना चाहिए । तभी 'अथर्ववेद' में मृत पितरोंको खिलानेके लिए आह्वानार्थ अग्निसे प्रार्थनाकी गयी है । जैसे कि 'ये निखाता ये परोक्ष ये दग्धा ये चोदिताः । सर्वास्तान् अग्ने ! आचक्ष्व पितॄन् हविषे अत्तये' (शौ० सं० १८।२।३४) । 'महाभारत' आदिपर्वमें भी अग्निकी उक्ति है—'वेदोक्तेन विधानेन मयि यद् हूयते हविः । देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति ते' (७।७) देवतानां पितॄणां च सुखमेतद् अहं स्मृतम्' (७।१०) अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः । मन्मुखेनैव हवनं भुञ्जाते च हुतं हविः' (७।११) ।

दूसरा प्रकार यह है कि अग्निके सहोदरभूत माह्वणकी जाठरअग्निमें माह्वणके मुखके द्वारा उन पितरोंके नामसे कथ्य दिया जाय । 'विद्यातपः-समृद्धेपु हुतं विप्रमुखाग्निषु' (मनु० ३।१८) अग्नि और माह्वणकी सहोदरतामें प्रमाण यह है कि माह्वण तथा अग्निकी विराट् पुरुषके मुख से उत्पत्ति कही है, जैसे कि 'माह्वणोऽस्य मुखमासीत्' (यजुः वा० सं० ३।१।११), 'मुखादग्निरजायत' यजुः वा० सं० ३।१।१२) । इसीलिए शास्त्रोंमें माह्वणोंकी आग्नेय वा अग्नि कहा गया है । तभी 'मीमांसा-दर्शन' के १।४।२४ सूत्रके शाबरभाष्यमें 'आग्नेयो वै माह्वणः' पर प्रकाश डालनेके लिए इस प्रकार प्रश्नोत्तर प्रक्रिया की गयी है (प्रश्न)— 'अनाग्नेयेषु (माह्वणेषु) आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ?' (उ०) गुण-वादेन । प्र० की गुणवादिः ? (उ०) अग्नि-सम्बन्धः । प्र० कथम् ? (उ०) एकजातीयत्वाद् (अग्निमाह्वणयोः) । प्र० किमेकजातीयत्वं [तयोः] ? (उ०) 'प्रजापतिरकामयत—प्रजाः सृजेयमिति ■ मुखतस्त्रि-वृतं निरमिमीत । तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत..... माह्वणो मनुष्याणाम् । तस्मात् ते मुख्याः, मुखतोऽन्वसृज्यन्त' । यहाँ पर अग्नि और माह्वणकी एकजातीयता स्पष्ट शब्दोंमें कही है ।

तुम्हें अन्य प्रमाण भी देख लेने चाहिये। 'मनुस्मृति' में लिखा है कि अग्नि न हो तो ब्राह्मणको ही कव्य दे दे—'अन्यभावे तु विप्रस्य पाण्येधोपपादयेत्' यह कहकर यहाँ हेतु दिया गया है—'यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदक्षिभिर्व्यते' (३।२।१०)। इसीलिङ्ग पियडोक लिङ्ग कहा है—'गा विप्रमजमग्निना प्राण्येदप्सु वा विपेत्' (मनु० ३।२।६०), यहाँ अग्नि वा ब्राह्मणको पिलाना लिखा है। केवल 'मनुस्मृति' में ही नहीं, 'गोपथब्राह्मण' (अथर्ववेद पौ० सं०) में भी कहा है—'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं यैश्वानरं बभार' (१।२।१०)। 'अग्निः' ब्राह्मणाना-जिवेश' (अथर्व० १६।२।१०), 'कठोपनिषद्' में भी ब्राह्मणका अग्नित्व इस प्रकार कहा है—'यैश्वानरः प्रविशति अतिपिर्नासणो गृहान्' (१।१।७)। यहाँ पर श्रीस्वामी शङ्कराचार्यने भी कहा है—'यैश्वानरः-ग्निरेव साह न प्रविशति अतिधिः सन् ब्राह्मणो गृहान्'। 'भविष्यपुराण' में भी कहा है—'ब्राह्मणा अग्निदेवास्तु' (ब्राह्मपर्व १३।२६)। इसका ऐतिहासिक प्रमाण 'महाभारत' में देखना चाहिये। यहाँ पर निषादके आचार्याले भी ब्राह्मणको निगलनेके समय गरडके कण्ठमें अग्निदाह होने लग गया था, देविये—आदिपर्वा २६ अध्याय। 'सांख्य दैवता' (१।२।२४) इस सूत्रके व्याख्यानमें 'सिद्धान्त कौमुदी' में 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया' यह श्रुति उद्धृतकी गयी है। इस पर राजमनोरमा कहती है—'अग्निर्नाम यो देवताप्रतिविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः, तदभिमानिको ब्राह्मणः'।

इस प्रकार ही आने पर पूर्व प्रकारसे साक्षात् अग्नि और दूसरे प्रकारसे ब्राह्मणस्थ वैश्वानर अग्नि उस कव्यको सूक्ष्म करके पितरोंको पहुँचाता है। वे पितर उस सूक्ष्म कव्यसे तृप्त हो जाते हैं, क्योंकि वे स्वयं सूक्ष्म शरीरात्मक होते हैं। इसी कारण उनके लिङ्ग स्थूलमे सूक्ष्मभूत भोजनकी आवश्यकता होती है। उसीमे उनकी तृप्ति होती है।

इसको इस प्रकार समझना चाहिये—हम अपने मुख द्वारा स्थूल भोजनको अपने पेटमें भेजते हैं, परन्तु हमारा आत्मा सूक्ष्म है। उसके लिए सूक्ष्म भोजन अपेक्षित है। उस समय उस स्थूल भोजनको हमारी जाटराग्नि सूक्ष्म करके हमारे सूक्ष्म अन्तरात्माको सौंप देती है। उस सूक्ष्म तत्त्वसे हमारा सूक्ष्म आत्मा तृप्त हो जाता है। वहाँ पर वहाँ अग्नि स्वयं ही वह कार्य कर रही होती है, हमें वहाँ कोई चिन्तात्मक व्यापार नहीं करना पड़ता। इस प्रकार सूक्ष्म पितर भी हमारे दिव्य स्थूल भोजनके अग्नि वा ब्राह्मणाग्नि द्वारा किये हुए सूक्ष्म तत्त्वको प्राप्त करके तृप्त हो जाया करते हैं। वहाँ पर ब्राह्मणाग्नि महाअग्निके साथ मिलकर स्वयं ही उस कामको कर रही होती है, वहाँ पर उसके लिए ब्राह्मणोंको कोई व्यापार नहीं करना पड़ता।

यहाँ पर इस प्रकार जानना चाहिये—इस विषय पर आशेष करने वाले आर्यसमाजी भी मानते हैं कि यज्ञमें प्रवेश हुए देवता वृष्टि करते हैं। वहाँ उपपत्ति यह है कि जब हम अग्निमें हव्य डालते हैं, तब स्थूल अग्नि उस हविको जलाकर सूक्ष्म कर देती है और शान्त होकर स्वयं भी सूक्ष्म हो जाती है। तब वह सूक्ष्म अग्नि महाअग्निके साथ मिलकर उस सूक्ष्म हविको लेकर अपने मिय वायु आदिकी महाप्रतापे आकाशाभिमुख जाती है। आकाशमें ठहरे उन उन देवताओंको वह हवि पहुँचा देती है। ये देवता उस हविसँ तृप्त होकर प्रजाके हितके लिए और धान्य आदिकी उत्पत्तिके लिए वृष्टि कर देते हैं। जैसे कि 'मनुस्मृति' में कहा है—'अग्नीं प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याऽजायते वृष्टिः' (२।०६) जैसे कि इसका संस्कृत 'हविष्पान्त-मज्जरं स्वर्धिदि दिविस्पृशि आहुतं जुष्टमग्नौ' (ऋ० १० प० ११) इस मंत्रमें मिलता है। यहाँ दुर्गाचार्यने लिखा है—'हविः पान्तं-देवानां च पुरांदाशादि निर्दग्धस्थूलभावमग्निना क्रियते, स्वः आदित्यः, सं वेत्ति,

यथाऽसौ वेदितव्यः- इति सर्व्विद् अग्निः । द्विविष्टृशि-द्यामसौ सृष्टानि हविरूपनयन् आदित्यम्' (निरुक्त ७।२१।१) । इसी प्रकार श्राद्धमें भी जय कव्यको अग्निका सहोदर ब्राह्मण वा अग्नि प्राप्त करता है, तब वह ब्राह्मणकी अग्नि उस हव्यको सूक्ष्म करके स्वयं भी सूक्ष्म होकर महाग्नि के साथ मिलकर आकाराभिमुख चन्द्रलोकस्थ पितरोंकी सौंप देती है । उसमें वे पितर नृत्न होकर अपने माहात्म्यमें श्राद्ध करनेवालेके धान्य, मन्त्रान आदिको फेर देते हैं ।

जैसे देवताओंको 'मांमाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंमें दी हुई हविको वादियोंके मतानुसार सूर्य सींचता है, वैसे ही पितरोंके उद्देश्यसे दी हुई हविको चन्द्रमा सींचता है, अथवा सूर्य सींचकर अपनी सुषुम्णा रश्मिमें प्रकाशित चन्द्रलोकमें भेज देता है, वह चन्द्र अपनेमें स्थित पितरोंको उक्त हवि पहुँचाता है । उस श्राद्धभांजा ब्राह्मणकी अग्नि मन्द न पड़ जाय जिससे महाग्निसे उसका मेल न हो सके - इसलिये धर्मशास्त्रोंने उस दिन कर्दू बिभीषि-काष्णै देकर उसे उस रात्रि मैथुनका- विशेष करके शूद्रासे-मैथुनका निषेध किया है । यही उसमें रहस्य है । वह अग्नि भी वेदादि शास्त्रोंके विद्वान्, मद्राचारी ब्राह्मणोंमें रहती है । शेष ब्राह्मणोंको 'भस्मीभूत' (मनु० २।१७) कहा गया है । इसलिये पितृश्राद्धमें मनुस्मृति आदिमें दोष-हीन, विशिष्ट ब्राह्मणको बुलाना श्रेष्ठ है ।

एक यह भी प्रश्न हो सकता है कि हम श्राद्ध रातको तो करते नहीं, तब उस श्राद्धको चन्द्रमा कैसे सींच सकता है ? इस पर यह जानना चाहिये कि चन्द्रमा सूर्यकी सुषुम्णा नामक किरणमें ही प्रकाशित होता है । दिनमें जो श्राद्ध किया जाता है, उसे अग्नि सींचकर सूर्य-किरणोंमें ले जाता है । उसे चन्द्रमा सींच लेता है । जैसे चन्द्रमा सूर्य

को किरणको खींच लेता है, वैसे ही सूर्यकी किरणोंमें स्थित सूक्ष्म अन्न को भी खींचकर वह उस-उस पितरको सौंप देता है। इसमें 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' के निम्न पद्य भी सहायक हैं—'यो द्रव्यदेवतात्यागसम्भूतो रस उत्तमः । देवान् संतर्प्य स रसो यजमानं फलेन च' (प्रायश्चित्ताध्याय ३, यतिधर्मप्रकरणे ४, १२१) 'संयोज्य धायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः । ऋग्यजुः-सामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥२२॥ खमयद्बलादसौ सूर्यः सृजप्यमृतमुत्तमम् । यजन्म सर्वभूतानामशवानशनात्मनाम्' (१२३) । इसमें कारण है मङ्गल्यकी महिमा, क्योंकि हम उस हविको तत्तत्-पितर के उद्देश्यसे मङ्गलित करके दिया करते हैं । देवता लोग हमारे मानसिक मङ्गल्यका ज्ञान लिया करते हैं । वेद भी इसका अनुमोदन करता है, देखिये—'मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति, मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः' (शतपथ ब्रा० ३।४।२।६) । इसी प्रकार 'अथर्ववेद' में भी कहा है—'मनसा सङ्कल्पयति, तद् देवान् अग्निगच्छति' (शौ० सं० १२।४।३१) । सूर्य आदि देवता सब लोगोंका वृत्त जानते हैं, इसमें 'मनुस्मृति' की साक्षी भी देखिये—'तस्मिन् देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरयः' (मा० ८) 'र्षाभूमिरापां हृदयं चन्द्राऽर्कानियमानिलाः । रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तजाः सर्वदेहिनाम्' (मा० ६) यहां पर सूर्य-चन्द्रका भी लोगोंका वृत्त जानना कहा है । इधर चन्द्रमा तो मनका ही देवता माना जाता है । श्राद्धमें मङ्गल्य तो प्रसिद्ध ही है ।

वह लोग देवताओंको जड़ मानते हैं, तब सूर्य-चन्द्र आदिको किरणोंके भी जड़ होनेसे वे उस-उस पितरको दिया हुआ कर्मा कैसे पहुँचा सकते हैं ? यह प्रश्न उनका हुआ करता है । उनसे पूछना चाहिये कि हम लोगोंके कर्म भी जड़ हुआ करते हैं । वे भी अग्रिम जन्ममें कर्मोंको कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? यदि कहा जाय कि कर्मोंका अधिष्ठाता

परमा मा जड नहीं है, किन्तु सर्वव्यापक और चेतन है, तब तो देव ताओंका अधिष्ठाता भी वही है। देवताओं तथा उनको फिराओं भी हमसी व्यापकता स्वयं ही माननी पड़ेगी। हमलिण् उन मनुष्यसी टीकामें श्रीकुस्तुभभट्टने भी लिखा है— दिवादीना (दुम्पादिदेवाना) अधिष्ठातृदेवतास्ति, सा च शरीरिणी पृष्ठत्र अवस्थापिता ताम्रं जानाति इत्यागसप्रामाण्याद् वेदान्तदर्शनं तद् अक्षीर्येदमुक्तम्' (भा० २६)। जिस प्रकार यह सर्वाधिष्ठाता देव उन-उन कर्मोंका फल उन उनको प्राप्त कराता है, वैसे ही उन उन देवताओंका अधिष्ठातृ यमें उम हम पितरको श्राद्धका फल प्राप्त कराता है, यह जान लेना चाहिये। अथवा जैसे हजारों मौओमें बड़डा अपनी माताको प्राप्त कर लिया करता है, वैसे ही पुनरुत्त श्राद्ध भी पितरोंके पास उपस्थित हो जाया करता है।

यही मृतकश्राद्धका रहस्य है, जिसको न जानकर वादी हममें विप्रतिपक्ष होकर अपनी अस्पृश्यताका परिचय देते हैं। अग्नि पितृ लोकस्थ पितरोंको सूक्ष्म कन्य अर्पित करता है हममें वेदमन्त्रोंकी भाँती भी देखिये— ये अग्निद्रव्या ये अग्निद्रव्या मध्ये दिव स्वधया माद यन्ते । एव त न् वैध यति ते जातयद् । स्वधया यज स्वधिति जुपन्ताम्' (अथर्व० शा० स० १२।०।३५)। 'अथ सृज पुनरग्ने । पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्' (अथर्व० १२।१।२०)। वेदमें श्राद्धमें आया पितृशब्द मृतपितृवाचक है, इसीलिण् वेदमें कहा है — 'पितृणा लोकमपि गच्छन्तु ते मृता' (अथर्व० १२।१।४५), 'मथा मृता पितृषु सम्भवन्तु' (अथर्व० १२४।४८)। इस प्रकार मृतकश्राद्धकी वैदिकता सिद्ध हो गई।

यह रहस्य है मृतकके मासिक श्राद्धका। शारदिक चार्पिक श्राद्ध तो विशिष्ट होता है। तब भाद्रपद पूर्णिमासे प्रारम्भ करके आश्विनकी अमावास्या तक सब तिथियोंमें भिन्न भिन्न पितर भोजन करत हैं। जैसे

हम कभी विवाहादि विशिष्ट अवसरों पर रात्रिके १२-१-२ आदि बजनेके समय भी भोजन प्राप्त करते हैं, जन्माष्टमी आदिके अवसर पर भक्तगण आधी रातके समय उपवासका पारण करते हैं, इस प्रकार अपवाद होने से पितरोंके विषयमें शुक्लपक्षीय हयादि तिथिमें भी जानना चाहिए । वे पितर उस तिथिमें उस मार्गमें होते हैं । तिथियोंका सम्बन्ध चन्द्रमा से प्रायः ही है । तिथियोंके सय-वृद्धि चन्द्रानुसार ही होते हैं । शारदिक श्राद्ध भी पारण होनेसे विशेष पितरोंका विशेष पर्व ही समझना चाहिये । तब पितर रातके बारह-एक बजे भी भोजन प्राप्त करते हैं ।

स्वा० दयानन्दजी और मृतकश्वाद्

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीके अनुसार भी मृतकश्वाद् सिद्ध है । देखिये—स्वामीजीने अपनी 'संस्कारविधि' के गृहाश्रम-प्रकरणमें पितृपक्षकी बलिवैश्वदेवविधिमें पूर्व दिशामें इन्द्रके नामसे प्रास रखाया है, दक्षिणमें यमके नामसे, पश्चिममें वरुणके नामसे, उत्तरमें सोमके नामसे प्रास रखाया है । इस प्रकार अन्वाम्य दिशाओंमें अन्य देवताओंके नाम प्रास स्थापित किया है । दक्षिणमें स्वामी दयानन्दजीने 'ओ पितृभ्यः स्वधाविभ्यः स्वधा ममः' इस मन्त्रसे २२३ पृष्ठ 'संस्कार-विधि' में पितरोंके लिये प्रास रखवाया है । आगे स्वामीजीने लिखा है—'यदि भान धरनेके समय कोई अतिथि आ जाय, तो उसीको दे दे, नहीं तो अग्निमें धर देना' । यहाँ पर प्रष्टव्य है कि उस ब्राह्मण अतिथिसे खाये हुए वे प्रास इन्द्र, यम, वरुण, सोम, पितर आदिके पास प्राप्त होंगे या नहीं ? यदि प्राप्त होंगे, तो सनातनधर्मका मृतकश्वाद् भी उसी प्रकारमें सिद्ध हो गया । यहाँ भी ब्राह्मण खाता है, वह खाया हुआ भी पितरोंके पास पहुँचेगा । ब्राह्मणके सँ मिलने पर उसे अग्निमें डाल देना सनातनधर्मों भी मानते हैं । यदि स्वामीजी यह नहीं मानते, तो उनसे कहा उक्त विधान भी अवैदिक सिद्ध हो गया । यदि वैदिक है, तो

मृतकश्राद्ध भी वैदिक सिद्ध हो गया, क्योंकि वहाँ भी पितृनिमित्तक भोजन ब्राह्मणको खिलाया जाता है, अथवा अग्निमें धर दिया जाता है। इस प्रकार हमारे पक्षकी स्पष्ट सिद्धि हो गयी।

यहाँ पर स्वामी दयानन्दजीको भी मृतक-वितर अभीष्ट है, जिनका भोजन अतिथिको दिया जाता है। अन्यथा यदि स्वामीजीको जीवित पितर यहाँ इष्ट होते, तो उनके नामसे दिये प्रासको वे उन्हींको दिलाते, न अतिथिको खिलाते, न अतिथिके अभयमें उस प्रासको अग्निमें धरने को कहते। जैसे इसके साथ ही स्वामीजीने लिखा है—‘वृत्ता, पठित, चायडाल, पापरोगी, काक और कृमि इन छ नामोंसे छ. भाग पृथिवी में धरे और यह छ भाग जिस-जिमके नाम है, उस उसको दना चाहिए’ (पृष्ठ २१३) यहाँ पर वृत्ता आदि जीवित थे, इसलिए उनके नामसे रखा प्रास स्वामीजीने उन-उनको दिलाया है। इस प्रकार पितर भी यदि स्वामीजीको जीवित इष्ट होते, तो उनके नामसे रखा प्रास उनको दिया जाता, न अतिथियों, न ही अग्निको दिया जाता। उस प्रकार स्वामी दयानन्दजीके मतमें भी श्राद्ध मृतकोंका सिद्ध हो गया।

इधर स्वामीजी ‘सत्यार्थप्रकाश’ ४ समुहाम, पृष्ठ ६२ में कृमि आदिको श्राद्ध इसलिए दिलाते हैं कि ‘जो अज्ञात अष्ट जीवोंकी हत्या होती है, उसका प्रायुपकार कर देना’। तब क्या जीवित इमियोंको अर्पण कर देनेसे वह अन्नादि मृतक इमियोंको मिल जाता है या नहीं? यदि नहीं मिलता, तो अष्टजीवहत्याका प्रायुपकार तो न हुआ। यदि उनको अन्नादिका फल प्राप्त हो जाता है, तो स्वामी दयानन्दजीके मतमें भी मृतकश्राद्ध सिद्ध हो ही गया।

यदि इस पर कहा जाय कि स्वामीजीको जब मृतकध्याद इष्ट नहीं, तब 'स्वधायिभ्यः' इस मन्त्रमें कहे गये पितर, जिनको वे दक्षिणमें आस दिलवाते हैं—मृतक कैसे हो सकते हैं ? तो इस पर यह जानना चाहिए कि स्वामीजीने जो यह क्रिया लिखी है, वहाँ उन्होंने 'मनुस्मृति' (१।८७।६१) का नाम दिया है। पर 'मनुस्मृति' पितृयज्ञमें जीवितध्याद कहीं नहीं मानती, किन्तु मृतक पितृध्याद ही 'मनुस्मृति' को इष्ट है, तब यहाँ जीवित पितरोंका अर्थ हो ही कैसे सकता है ? सुतरां, यहाँ पर स्वामी दयानन्दजीके मतमें भी मृतकध्याद सिद्ध हो ही गया। प्रथम 'सत्यार्थप्रकाश' में तो वे मृतकध्याद सौपयत्तिक दिखला ही चुके हैं।

ध्यादमें ब्राह्मण-भोजनके विषयमें पहले कुछ कहा ही जा चुका है, अब उस विषयमें कुछ प्रमाण भी दिये जाते हैं—' [ध्यादे] भोजयेद् ब्राह्मणान् ब्रह्मविदो योनिगोत्रमन्त्रान्तेवान्यसम्यन्धान्' (आपस्तम्बधर्म-सूत्र २।१७।४)। 'योधायनीय पितृमेधसूत्र' में भी कहा है—'पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्य त्वा विद्यावतः प्राणापानयोरुहोमि मा प्रेतस्य क्षेष्टा अमुत्रासुप्तिन् लोके' (तै० मं० २।२०) (२।११।७)। इसी प्रकार 'योधायनीय गृह्यसूत्र' (२।१०।३६) में भी कहा है। 'हिरण्य-केशीय गृह्यसूत्र' में भी कहा है—'अमावास्यायामपराह्णे मासिकम् अपरपक्षस्य पितृभ्योऽन्नं संस्कृत्य ब्राह्मणान् शुचीन् मन्त्रवत आमन्त्रयते, 'पृथिवी'ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानाम्' (२० ४।१०-११)। 'मानवगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'आदमपरपक्षे पितृभ्यो दद्यात् अनुगुप्तमन्नं ब्राह्मणान् भोजयेत्, नाश्वेदयिद् भुञ्जीत

इति श्रुतिः' (२।२।२-१०) । 'गोभिलगृह्यसूत्र' में भी कहा है—'शुचौ देशे ब्राह्मणान् अग्निन्धान् अयुग्मान् उदङ्मुग्यानुपवेश्य दध्मन् प्रदाय, उदङ्मुखं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वा' (४।२।२१, ४।२।२०) । 'वैश्वानरसूत्र' में भी कहा है—'अथ श्राद्ध मासि-मामि अपरपक्षे अन्यतमेऽहनि वाचणानिमन्त्रणादि सर्वमष्टकावत् ...अन्नं पिण्डार्थं पात्रे समवदाय ब्राह्मणान् भोजयित्वा' (४।७) । 'त श्राद्धे भोजयेद् द्विजम्' (मनुस्मृति ३।१३८) । 'ब्राह्मणान् यथावृत्तिं भोजयेत् , तेषु तृतेषु पितृभ्यः भयन्ति. वाग्यतान् सुज्ञानान् शूचः पैतृका' श्रावयेत् (वैश्वानरसूत्र ४।४) । 'यां तं धेनु' निष्कृणामि यमु नं क्षीरे ओदनम्' (अथर्ववेद शौ० स० १८।२।३०) यहाँ पर मृतकके निमित्त गोदान तथा क्षीरका प्रधान है । 'इममोदनं निदधे ब्राह्मणेभ्यः' (अथर्व० ४ २४।८) यहाँ पर ब्राह्मणोंको ओदन देना कहा है । 'महाभारत' में कहा है—'ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यस्वर्गमभीप्सता । श्राद्धकाले तु यानेन भोक्तव्या अनुगुप्सिता ' (वनपर्व० २००।१६-१७) इस प्रकार मृतक-श्राद्ध और ब्राह्मणभोजन जहाँ वेदशास्त्रमन्मत सिद्ध हुआ, वहाँ पर वैज्ञानिक एवं सोपपत्तिक भी सिद्ध हुआ । इस विषयमें विस्तारसे भिन्न पुष्पमें कहा निबन्ध दिया जायेगा ।

(१२) 'परलोक-विद्या'

मनातनधर्म अनादिकालसे आज तक मृतकोंका आर्द्रतर्पण करता हुआ परलोक-विद्याको जीवित रखते हुए है, पर अपने ही कई भारतीयों-ने इसे ढकोसला बताकर इस विद्यासे झुंड़ फेर रखा है। वैदेशिक वैज्ञानिकोंका हिन्दुओंके इस झुकाव पर ध्यान पड़ा। उन्होंने इसकी जांच प्रारम्भ कर दी। परीक्षणमें उन्हें मालूम पड़ा कि मरा हुआ पुरुष श्मशानकी प्राप्त नहीं हो जाता, किन्तु मरनेके बाद उसकी स्थिति पर-लोकमें हो जाती है, उत्तम माध्यमके द्वारा हम उससे सम्बन्ध करके उसका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। हमारे देशी पुरुषोंका भी इधर ध्यान पड़ा और उन्होंने इसमें पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली। वैदेशिक लोग सब परीक्षणोंमें अपना ही दृष्टिकोण रखते हैं। उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि मृतकोंका जीव सदा परलोकमें ही रहता है, उसका इस लोकमें पुनर्जन्म नहीं होता। पर पुनः-पुनः अवगाहनसे कई वैदेशिक लोग अब परलोकगतका इस लोकमें पुनर्जन्म भी मानने लग पड़े हैं। अस्तु।

मयकी शैलियां भिन्न-भिन्न होती हैं, वैदेशिकोंने मृतकोंके आकर्षणार्थ अपने ढंगके उपाय जारी किये। हमारे पूर्वजोंने कुश, मधु, तिल, गन्नाजल, तुलसीपत्र आदिका मृतकोंके आकर्षणार्थ उपयोग कर रखा है। अब इनका भी यन्त्र बनाकर निरीक्षण अवश्य करना चाहिये। हमारे पूर्वजोंकी सभी बातें परीक्षण-निरीक्षण करने पर सत्य सिद्ध हुई हैं। अस्तु।

इस परलोक-विद्याका अपलाप नहीं किया जा सकता, अब यह प्रचलित हो रही है !-अभिज्ञान इसमें उद्यत हो रहे हैं। इस विद्यासे

कई लाभ होनेकी सम्भावना है। वह यह कि हम स्थूल-शरीर-युक्त होनेमें सीमित शक्ति वाले हैं, पर मृतक पुरुष स्थूल-शरीर टूट जानेमें पारलौकिक, दिव्य सूक्ष्म-शरीर मिलनेमें अलौकिक शक्तिशाली होते हैं। उनमें हम सम्बन्ध करके उस खोजोत्तर-शक्तिका लाभ उठा सकते हैं। घड़ेमें टंके दीपककी प्रकाशन शक्ति सीमित होती है, घड़ेसे बाहर टहरे दीपककी प्रकाशन-शक्ति अधिक रहा करती है। हम भी स्थूल-शरीराच्छन्न होनेमें उस घटस्थित दीपककी तरह हैं, और परलोक प्राप्ति पुरुष उमर अप-वाद है। आत्माक न्यायाद्विशाम्न सम्मत विभुत्वका वही उपयोग ल सकते हैं।

मान लीजिये एक व्यक्ति बहुत बीमार है, हम उसका उपचार करने भी उसे स्वस्थ नहीं कर सके। उस समय यदि हम परलोकस्थ आत्माक सम्बन्ध करके उसकी दवाइयाँ पूछें, तो अधिष्ठानशाली होनेमें उनसे बताई गई दवाइयाँ उस बीमारको हितकारक सिद्ध होंगी। इस प्रकारकी परलोकस्थ आत्माओंसे बताई गई चिकित्साएं प्रायः सफल हो चुकी हैं। जब उसके हस्ताक्षर मिल जाते दूरे गये हैं, उनकी बताई हुई धन गवनेकी बातें मिल गई हैं उनके छाया चित्र गृहीत हो जाते हैं तो हम विद्यामें उन्नति करके हम कई लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इन बातोंके खण्डनमें तो कुछ मिलेगा नहीं, उस विषयमें श्रद्धा करनेमें सरयतारा जान होगा। वेदमें लिखा है—‘श्रद्धया सम्यमाप्स्यते’ (यजु ११।३०) ‘भगवद्गीता’में लिखा है—‘श्रद्धागान् लभते ज्ञानम्’ (१।३६)। अतः आस्था रखकर इस विषयमें उन्नति करनी चाहिए। हमारे प्राचीन लोग भी इस विषयको कि मृतक व्यक्ति परलोकमें निवास करते हैं, और उनको हम यहां भी बुला सकते हैं, मान गये हैं। जनक नन्दिनी सीताकी जब लङ्का-विषयके बाद अग्नि शुद्धि की जा रही थी, उस समय परलोकसे आये हुए राजा दशरथने भी सीताकी शुद्धिमें साक्षी दी थी। अतः स्पष्ट है कि यह विषय निर्मूल नहीं।

इस विषयमें एक यह बड़ा लाभ होगा कि फिर मृत्यु-भय दूर जायगा। अन्य लाभ यह होगा कि हमारा सम्बन्धी जिसके लिए हम मानते हैं कि यह हमसे सदाके लिए बिछुड़ गया, फिर हम उसे कभी मिल नहीं सकेंगे; यह बात गलत हो जायगी। उसे हम फिर अपने निकट पायेंगे। फिर श्राद्ध-तर्पण यह हमारा सनातनधर्मका सिद्धान्त जो आप्तवचन होनेसे अब माना जाता है, वह प्रत्यक्षानुगृहीत हो जाने से—‘प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण’ इस म्वायसे हमें उसे विपक्षियोंके सामने सिद्ध करनेके लिए बहुत प्रयत्नकी आवश्यकता न पड़ेगी। अतः परलोक-विद्याके ज्ञानकी अवश्य ही आवश्यकता है, इसके उन्नत हो जाने पर फिर हम स्वर्गीय देवताओंमें भी घातचीन कर सकेंगे। ऐसा सिद्ध हो जाने पर फिर सनातनधर्मके सभी पुत्रविषयक सिद्धान्त प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध हो जायेंगे।

कई सनातनधर्म-प्रोक्त बातें वर्तमानमें प्रचलित न होनेसे अवश्य ही कठिन या बुद्ध्यग्राह्य मालूम होती हैं, पर हमारे सनातन ऋषि-मुनि बहुत थे, अतः उनकी बातें जो पहिले, लोगोंको अनुभूत नहीं थी—अब अनुभव गोचर हो रही हैं। जो अभी अनुभवमें नहीं आईं, वे भविष्यत् में अनुभव-गोचर हो जायेंगी—इसमें सन्देहका कोई अवसर नहीं। ‘देर है अन्धेर नहीं’।

हमारी अपेक्षा पितरोंमें अधिक शक्ति रहती है। उनकी अपेक्षा देवताओंमें अधिक शक्ति रहती है। देवताविषय बहुत जटिल है—यह ठीक है। आरम्भमें पितृविषय भी बहुत जटिल था। सनातनधर्मियोंके अतिरिक्त कोई भी इस विषयको कि—‘पितरोंका आह्वान तथा आर्कषण’ एवं उनका यहाँ आगमन और संवाद और उनसे हमारा संरक्षण होना है—नहीं मानता था। इतिहास-पुराणमें मृतक दशरथ आदिका इस

लोकमें आनेका वर्णन आया है—‘पितॄन् अतीतान् अकस्मात् पश्यति’ (५।२२) ‘योगदर्शन’के इस व्यासभाष्यमें भी यह संकेत आया है— पहले इसे कोई भी नहीं मानता था । अब अनुसन्धाता लोगोंकी गवेषणाओंमें यह विषय समूल सिद्ध हो रहा है, बहुत-कुछ मफलता भी इस विषयमें प्राप्त हो चुकी है, तब आगे अनुसन्धाताओंका देवतावाद की ओर ध्यान भी बढ़ेगा । जैसे पितरोंने अपने जामनेके लिए हमें सुमाव दिये, सुविधाएँ दीं, प्रेरणाएँ कीं, वैसेही देवता लोग भी कृपा करेंगे ।

शास्त्रानुसार पितृगण चन्द्रलोकके पृष्ठ पर रहते हैं । चन्द्रग्रहकी कक्षा मन्दाऽमरेज्यभूपुरसूर्यशुश्रेन्दुजेन्दव । परिभ्रमन्त्यधोऽधःस्थाः, (१५।३१) इस ‘सूर्य सिद्धान्त’ के वचनानुसार सब ग्रहोंसे निम्न और भूमण्डलके सर्वथा निम्न हैं । तभी भूमण्डलके निवासी उमके साथके ठहरे चन्द्रलोकके पृष्ठ पर रहने वाले पितरोंका यथाशक्ति आह्वान वा आकर्षण करनेमें शीघ्र सफल हो गये हैं । वेदमें भी ‘आयन्तु न पितरः’ (यजु १६।५८) इत्यादि मन्त्रोंसे पितरोंका आह्वान तथा ‘अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्त ’में तृप्ति, ‘अधिगन्तु ते’ से पितरोंका हमें उपदेश वा सवाद ‘ते अबन्तु अस्मान्’से हमारी पितरों द्वारा ‘पान्वि-रत्नन्ति इति पितरः’ इस स्युःपत्तिसं (हमारे किसी बीमार आदिके स्वास्थ्यार्थ उत्तम औषधि आदि बताकर) रक्षा करना प्रसिद्ध है । पितरोंके आकर्षण पर आर्यसमाजी सिद्धान्त श्रीरघुनन्दनशर्माने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘वैदिक सम्पत्ति’के ३७१ पृष्ठ पर प्रकाश डाला है । वे लिखते हैं—

‘प्रश्न यह है कि चन्द्रलोकसे जीवोंको किस प्रकार खींचा जाय । जीवोंके खींचनेका वही तरीका है, जो सूर्यकान्त मणिके द्वारा सूर्यतापके खींचनेमें और चन्द्रकांत मणिके द्वारा चान्द्रजलके खींचनेमें प्रयुक्त किया जाता है ।

जिस प्रकार चन्द्रकान्तके प्रयोगसे चान्द्रजलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार चान्द्र पदार्थोंको एकत्रित करनेसे चान्द्रवीर्य भी आकृषित होता है। चान्द्रवीर्यमें ही जीव रहते हैं, इसलिए उन पदार्थोंमें खिंच आते हैं, जो चन्द्राकर्षणके लिए, विधिसे एकत्रित किये जाते हैं। ये पदार्थ दूध, घृत, चावल, मधु, तिल, रजतपात्र कुंश, [सुलसीपत्र] और जल हैं। यह प्रक्रिया शरत्-पूर्णिमाके दिन लोग करते हैं। परन्तु विधिपूर्वक क्रिया तो पितृ-श्राद्धके समय होती है। पितृ-श्राद्ध अपराह्णके समय होता है। उसमें दूध, घृत, मधु, कुश आदि सभी पदार्थ रखे जाते हैं, पितरोंका प्रतिनिधि पुत्र अथवा पौत्र भी उन पदार्थोंको छूता हुआ वहीं पर बैठता है। इसलिए यह सब हवि आदि सामग्री उसी प्रकारका यंत्र बन जाती है, जिस प्रकार चन्द्रमणि। इसीमें पितर खिंचकर आते हैं। 'परायात पितरः ! सोम्यासो' (अथर्व १८।४।६३)'।

आर्यममाजके प्रमुख श्रीगङ्गाप्रसाद एम. ए. (कार्यनिवृत्त मुख्य-न्यायाधीश जयपुर) भी मृतकका परलोकमें निवास तथा उसका बुलाने पर उपस्थित होना आदि मानते हैं। उनका इस विषयका 'मृत्युके पश्चात् जीवकी गति अर्थात् पुनर्जन्मका पृथक्पृथक् लेख आर्यममाजकी प्रधान-संस्थाके 'सार्वदेशिक' पत्र (मितम्बर-अक्टूबर १९४६ के अंक) में देखने योग्य है। उसमें उन्होंने आर्यममाजियोंमें जीवके तुरन्त पुनर्जन्ममें दिये जाते तृणजलौका न्यायका भी अच्छा उत्तर दिया है।

भूमण्डलके निकट होनेसे ही वैज्ञानिक लोग भी विमानोंसे चन्द्र-लोककी यात्रा करनेकी मोचा करते हैं, पर देवता धुलोकके अन्य विभागोंमें रहा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि—वे हमसे पितरोंकी अपेक्षा बहुत दूर हैं। हमारा एक मास पितरोंका दिन-रात होता है, हमारा एक वर्ष देवताओंका दिन-रात होता है, परन्तु यदि हमारा विज्ञान

बढ़ता गया, तो हम पितरोकी तरह देवताओंके भी निकट हो जाएंगे । कुन्तीको दुर्वासासे दिये हुए मन्त्रोंमें सूर्य, यम, वायु, इन्द्र, अश्विद्वय ये देवता आये थे—यह प्रसिद्ध ही है ।

श्यामी श्रीशङ्कराचार्यने 'वेदान्तदर्शन' के १।३।३३ सूत्रके भाष्यमें लिखा है कि श्याम आदि, देवताओंसे प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे 'भवति हि शम्भाकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनाना प्रत्यक्षम् । तथा च श्यामादयो देवादिभि प्रत्यक्ष व्यवहरन्तीति स्मर्यते । यस्तु श्रूयाद् इदानीन्तनानामिव नान्नि चिरन्तनाना देवादिभिर्प्यवहर्तुं सामर्थ्यम् इति स जगद्-वैचित्र्य प्रनिबधत्' । इसी कारण ही पुराण इतिहासमें भी जो देवताओंका भूलोभ्रमे आना बताया गया है, वह इसी बातको सिद्ध करता है कि—हमारे पूर्वज महानुभावोंको देवताओंके बुलानेकी रिवाज भी ज्ञात थी । इस प्रकार यह विज्ञान बढ़ता गया, तो देवतावादकी जटिलता भी अगम्य हट जायगी । हमारे दशरथ आदि राजा अपने रथों द्वारा देव लाकोंमें जाया करने थे, आजकलके नहीं जा सकते ।

देवताओंकी अलौकिक शक्तिसे सभी वेदादिशास्त्र पूर्ण हैं । जैसे सनातनधर्मी पितराके भक्त हैं, वैसे देवताओंके भी, क्योंकि देवता भी उन्हींके पूर्वज हैं । अब यदि प्रयत्नसे पितृवाद कुछ सुलभ गया है, तब समय पर देवतावाद भी सुलभ जायगा । देवता लोग स्वलोकोत्तर-शक्तिवशात् मनुष्यके मनका अभिप्राय जान जाते हैं, ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन आया है । जैसे कि— मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति, मनसा सत्कल्पयति, तम् प्राणमभिपद्यते प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरापम्य मन (शतपथ ३४।२।६) मनसा सत्कल्पयति, तद् देवान् अपि गच्छति (अथर्ववेद सू १२।४।३१) तभी पूर्वकालमें मानसिक शक्तिकी प्रयत्नतासे यज्ञोंमें देवताओंका आह्वान किया जाता था । वे याद न आते थे । 'महामाष्य' ने भी इसका संकेत दिया है— इन्द्र पृक्ता-रस्मिन् प्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति' (१२।६४)

देवता विद्वान् मनुष्योंका नाम भी नहीं हो सकता। इसका बहुत प्रमाणोंसे निराकरण किया जा सकता है, जिन्हें आगे निबन्धरूपमें लिखा जायगा। जब यह विद्या उद्यत हो जायगी, तो मानसिक शक्तिमें तथा शास्त्रीय अन्य साधनोंमें पितरोंकी तरह देवताओंको भी बुलाया जा सकेगा जैसा कि तपस्याओंसे पुराकालमें उन्हें बुलाया जाता था।

देवता तथा पितर यद्यपि दोनों इस लोककी वस्तु नहीं हैं, दोनों परलोकस्थ पदार्थ हैं, तथा दोनोंका एक ही नाम होना चाहिये, तथापि गोबलीवर्द-न्यायसे दोनोंका नाम-भेद हुआ करता है। 'साङ्ख्य-कारिका'के 'अष्टविकल्पो दैवः' (१३) इस वचनके अनुसार तो पितृ-सर्ग भी दैवसर्गके ही अन्तर्गत माना जाता है। 'गोबलीवर्द' न्याय का भाव यह है कि—'गावोपि समागताः, बलीविर्दोपि समागताः'। 'गो' बैलका नाम है, बलीवर्द भी बैलका ही नाम है, अन्तर यह है कि बलीवर्द सौँदको कह दिया जाता है और 'गो' साधारण बैलको। इस बलके अन्तरमें नामका भी भेद हुआ करता है, इसी प्रकार देव और पितरोंमें भी भेद समझना चाहिये। कर्मानुसार जो दक्षिण मार्गसे जाते हैं, वे पितर कहते हैं, जो उत्तर मार्गसे परलोकमें जाते हैं, वे देवता कहते हैं। दक्षिण शीतका घर है, अतः दक्षिणस्थ पितर भी कुछ कम बल वाले होते हैं। उत्तर उष्णताका घर है, अतः उत्तरमार्गस्थ देवता भी उनसे अधिक बल वाले होते हैं। हम उनके मध्य वाले हैं, अतः उन दोनोंसे थोड़े बल वाले हैं इसलिए हमें इन्हीं दोनों पितरों एवं देवताओंका आश्रय अपेक्षित होता है।

देवताओंका कृत्य पूर्वार्द्धमें यज्ञोपवीतको बाण कन्धे पर रखकर पूर्वोत्तराभिमुख किया जाता है, और पितरोंका कृत्य यज्ञोपवीत-सूत्रको

दाहिने कन्धे पर खगडर दक्षिणामिमुख्य अपराद्गमे किया जाता है।
 डमका भी रहस्य है। प्रातः कालमें मध्याह्न तक सूर्य पूर्वोत्तर दिशामें
 रहता है, उसकी किरणें दक्षिण-पश्चिमामिमुख्य नक्षत्र (नुकी) रहती हैं,
 और उत्तरपूर्वामिमुख्य उन्नत। मध्याह्नके बाद यह क्रम बदल जाता है।
 तब सूर्य दक्षिण दिशामें प्राप्त हो जाता है, उसकी किरणें उत्तरामिमुख्य
 नक्षत्र रहती हैं दक्षिणमें उन्नत।

पृथिवीसे किरणों द्वारा ग्रीष्म ऋतु उग्र उग्र (भोजनादिना रम)
 उमी उमी दिशामें जाता है। यही कारण है कि—उत्तर भागमें प्राप्त
 और देवचक्रों में प्रप्त हुआ यज्ञ पूजाओंमें किये जाते हैं उग्र नि सूर्यकी
 किरणें पूर्वोत्तरामिमुख्य उन्नत हो, जिससे उसकी आकर्षण शक्तिमें गिरी
 वस्तु पूर्वोत्तर दिशामें जा सके। उस समय यज्ञोपवीतकों भी उत्तर कन्ध
 (दाएं कंधे) में करना पड़ता है। इस प्रकार दक्षिण दिशामें स्थित
 पितृलोकमें सम्बन्ध आदि वृत्त भी मध्याह्नके बाद हुआ करते हैं,
 जत्र सूर्यकी किरणें दक्षिणामिमुख्य उन्नत होयें। शारीरिक मानसिक
 शक्तियोंको दक्षिणमें उन्मुख करनेके लिए उन्हें सूर्यकी किरणोंके साथ
 पूर-दिशामें करनेके लिए वैदिक नियम अनुसार अविगुण कर्मके द्वारा
 विशुद्ध अपूर्ण उपादानार्थ उसे दक्षिणदिशा-स्थित पितृलोकमें पितरों
 तक अग्रिम पहुचानेके लिए पितृकर्मक समय यज्ञोपवीतकों दक्षिण
 (दाहिने) कंधे पर करना आवश्यक होता है।

जैसे 'वेतारका तार' भेजनेके समय पूर स्थानकी विपुल धाराकी
 दूसरे स्थानमें ठीक प्राप्त करानेके लिए पित्रलोकके सम्बन्धोंके एक सीरमें
 होनेकी अपेक्षा होती है, वैसे ही देव-पितृलोकके कार्यमें भी सूर्य किरणों
 के साथ ही शारीरिक एवं मानसिक शक्तिका एकमुख्य होना भी आवश्यक
 है। जैसे 'वेतारका तार' भेजनेमें पित्रलोक न तो प्रत्यक्ष दीखती है, न
 ही कोई विकार होता है, फिर भी उसका प्रभाव उमी स्थानमें होता है,

जिम स्नानके साथ उसका एक-मुखत्व है, इसी प्रकार विरुद्ध स्वरवर्ण द्वारा उच्चारित वेदमन्त्रमें उत्पन्न शक्ति, अप्रत्यक्ष होने पर भी हव्यों-केश्योंके मूँहमें जलीय अंशोंकी मूर्ध-किरण द्वारा अभीष्ट देवता या पितरों को पहुँचा ही देती है। यज्ञोपवीतको दक्षिण वा उत्तरके समस्त करना उस कर्मका सहायक अङ्ग है। पितृकार्य समावस्था आदिमें करना पड़ता है, अतएव यज्ञोपवीतको दक्षिण कन्धमें भी लभी करना पड़ता है, पर साधारण दशामें हमें देवी सम्पत्तिका मन्त्र ही अपेक्षित होता है, अतः यज्ञोपवीतको भी मूँह उत्तर (बाएँ) कन्धे पर ही रखना पड़ना है।

‘आध्वन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिमिद्वेवर्धमानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिप्रुधन्तु तेऽध्वन्तु अस्मान्’ (यजुर्वेद वा० मं० १६१८) इस मन्त्रमें प्रतीत होता है कि—पितरोंको स्वधासे तृप्त करनेका विचार करनेसे ही वे हमारे आह्वान पर हमारे यहाँ आते हैं; और वे हमसे संवाद (अधिप्रुधन्तु) करते हैं, और हमें उत्तम उपायों को बताकर पितृ नामको (पाति-रक्षति इति) सायंक करते हुए हमारी रक्षा भी करते हैं। इस अवसर पर माध्यम भी उत्तम होना चाहिये। भ्रातृ भी पूर्व समयमें उन्हीं माध्यमोंके प्रयोगकर्ता वैज्ञानिक वाक्पत्यांको चिताया जाता था। भ्रातृविधिके अनुसर सुचरित्र, वेदादिशास्त्रोंका विद्वान्, बहुभाषा-प्रबोध, पितृ-कर्मनिष्णात ब्राह्मण अथवा उमी वर्ण का उसका दीहिप्र ही माध्यम रखा जावे; अरिग्रभष्ट, निम्नवर्ण अथवा अविद्वान्, अब्राह्मण माध्यम न रखा जावे। इस कर्ममें मृतकके पुत्र, पौत्र वा प्रपौत्रका सम्पर्क अवश्य होना चाहिये, उन्हें अडालु भी होना चाहिये।

पितरोंके आह्वानके समय समावस्था आदि तिथिका नियम कृष्ण-पक्ष नियम, अपराह्णकालका नियम, यज्ञोपवीतके दक्षिण स्कन्धमें

करनेका नियम. तिल, घृत, मधु, नुलसीपत्र, गङ्गाजल-युक्त आदिक का तथा रजतपात्रका उपयोग भी शास्त्रानुसृत अनुसृत किया जाना चाहिये । हों आश्विनके दिनोंमें मृतककी मृत तिथिके अनुसार भी पितरों का आह्वान हो सकता है, अथवा सवाह वाले दिन भी मृतकका आह्वान हो सकता है । उसका कारण यह है कि—पितृलोक चन्द्रलोक पर है, जैसे कि पूर्व कहा जा चुका है । आश्विनके दिनोंमें चन्द्रमा अन्य मामों-की अपेक्षा पृथिवीक अधिक निकट होता है, इसलिये उसकी आकर्षण-शक्ति प्रभाव पृथिवी तथा उसमें अधिष्ठित देहधारियों पर विशेष रूपसे पड़ता है । तब चन्द्रलोकस्थ पितरोंका भी हमसे सम्बन्ध होकर परस्पर आदान प्रदान हो जाता है । सवाहकी तिथिमें ये पितर सीधे उसी मार्गमें होते हैं, क्योंकि—तिथि चन्द्रगतिके अनुसार हुआ करती है और उस तिथिमें ये पितर चन्द्रलोकक उसी मार्गमें हुआ करते हैं । निम्न तिथिमें ये मृत्यु प्राप्त कर उस स्थानमें प्राप्त हुए थे ।

नियत तिथिमें पितरोंके बुलाने का आह्वान रहस्य हमने बताया दिया, उसमें कृष्णपक्षका रहस्य भी गतनिबन्धमें बताया दिया गया है । जब पितरोंका निद्रा-समय हो—उस समय उनका आह्वान नहीं करना चाहिये । क्योंकि—उस समय ये बिना आश्विन मासके अन्य मासमें सवाद नहीं करना चाहते । उस समय कई अन्य निकृष्ट भूतादि ही हमारे साथ सवाद कर रहें—यह सम्भव है । तीन पीढ़ीमें अधिक के पितरोंका सवादके लिये नहीं बुलाना चाहिये, क्योंकि—ये उस समय चन्द्रलोकमें नहीं होते, अन्य लोकोंमें चले जाते हैं । पितृकोटिमें न रह कर देवकोटिमें चले जाते हैं । उनको बुलानेके लिए शास्त्रीय अन्य उपाय अवलम्बित करने पड़ेंगे । कई मृतक का आरम्भमें ही पितृकोटि

मे न जाकर परलोकके निम्नस्तर नरकादिमें वा भूत प्रेतादियोगमें चले जाते हैं। वहाँ उनको बहुत अशान्ति रहती है।

हमारे पूर्ण जिस बातको आध्यात्मिक प्रकारसे तथा मन्त्रशक्तिसे करत थे, पाश्चात्य वैज्ञानिक उसी बातको अधिभौतिक प्रकारसे तथा यन्त्र शक्तिसे करते हैं। पूर्ण प्रकाशका अन्तर्लम्बन करने पर शास्त्रों पर रूढ़ निष्ठा रहती है, अन्धा-विश्वास बना रहता है, आस्तिकता बनी रहती है, निस्वार्थता बनी रहती है; उगम स्वराज्य स्वतन्त्रता, तथा देशिकता होती है, पर पाश्चात्य यन्त्र शक्तिका उपयोग करने पर अन्याय, शास्त्रों पर अविश्वास, तप-शक्ति पर अमान्यता, स्वार्थभाव, मित्रता पर निर्भरता, तथा परतन्त्रताआदि दोष रहते हैं।

हम जो नई मन्त्रपूजा करते हैं, वा दूसरोंकी चमत्कृत करने वाली बातें कहते हैं, देवता वा पितर ही हमें वह ज्ञान देकर हमसे वैसा कहलवाते वा लिखवाते हैं। 'महाभारत' में कहा है—'न देवा वयम्-मादाय रक्षन्ति पशुपालवत् । य ते रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या सविभजन्ति तम् (उद्योगपर्व ३४८) 'देवता पशुपालकी तरह डरदा लेकर मनुष्यकी रक्षा नहीं करते। जिसकी वे रक्षा करना चाहते हैं, उसको बुद्धिसे मनुष्य कर डते हैं'। इसीलिङ्ग कहा है—'विनाशकाले विपरीत-वृत्ति'। पितर भी देवताओंमें अन्तर्भूत हैं—यह पूर्ण कहा ही जा चुका है। यदि हम उन देव-पितरोंकी वैध पूजा करें, तो वे हम पर अत्यन्त ही प्रसन्न होकर हमें नये नये उपदेश वा आदेश दें, जिसका

हम अपने लेखों वा वक्तव्योंमें उपयोग कर अपने सम्बन्धियों वा
 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' इस न्यायसे श्रद्धादीत्या अन्य
 जनोका उपकार कर सकें। फलतः पितरोंके सम्मानसे जहाँ मृतक पितृ-
 श्राद्ध समूल तथा प्रत्यक्ष विषय सिद्ध होगा, वहाँ तृप्त पितरों द्वारा
 हमें उपदेश भी प्राप्त होगा, बुद्धि-प्राप्तिसे हमारी रक्षा भी होगी।

इस प्रकार परलोक-विद्याके उन्नत हो जाने पर फिर हम देवताओंसे
 अपना सम्बन्ध जोड़कर जब-तब उनसे पूर्वापेक्षया स्थायी तथा अधिक
 लाभप्रद उपदेश आदि प्राप्त करके सब जगत् को दिव्य-शक्ति युक्त
 करनेमें सचम हो सकेंगे। आशा है 'आलोक' के पाठकाण्ड इस आध-
 र्षक विषय पर प्रकाश देंगे।

(१३) मृतक-श्राद्धविषयक कुछ शङ्काएँ

श्राद्ध विषय पर हम स्थान न होनेमें विस्तीर्ण निबन्ध न दे सके; पुनः सुश्रमसर मिलने पर विस्तीर्ण निबन्ध उपस्थित किया जायगा। अब श्राद्धविषयक कुछ शङ्काओंका उत्तर देकर यह विषय समाप्त किया जायगा।

(१) प्रश्न—‘श्रद्धया यत् क्रियते, तत् श्राद्धम्’ यह श्राद्धशब्दकी व्युत्पत्ति है इसमें मृतक-श्राद्धकी मिद्धि नहीं।

(उ०) कई नाम व्युत्पत्तिमूलक होते हैं और कई प्रवृत्तिनिमित्तक। इनमें पहले पौर्णिक माने जाते हैं, अन्तिम, रुद्र वा योगरुद्र। जब पौर्णिकावमें अभ्यासि, अतिभ्यासि आदि दोष आते हैं, तब व्युत्पत्त्यर्थ को हटाकर रुद्रिसे लोक वा शास्त्रकी प्रवृत्ति-निमित्तता ली जाती है। नहीं तो इस प्रकार विवाह तथा उपनयन आदि शब्द भी व्युत्पत्तिमूलक हो जायेंगे, तब यष्टिका बहन (छड़ी ठठाना, वा बेरया-बहन भी ‘विवाह’ हो जायेगा। गर्दनके पास पतलून बान्धनेवाले धर्मपट्टको से जाना भी ‘उपनयन’, सत्कार हो जायगा; पर ऐसा आदियोंकी भी इष्ट नहीं। जैसे इनमें परिभाषा ली जाती है, वैसे ‘श्राद्ध’ में भी।

‘व्युत्पत्तिमात्र’ मानने पर ‘गौ’ की ‘गच्छति’ यह व्युत्पत्ति होनेमें पुरष, घोड़ा, बैल, बकरी आदि सभी ‘गौ’ हो जायेंगे। इसी प्रकार ‘श्राद्ध’ की भी उक्त व्युत्पत्ति मानने पर सभी कार्य ‘श्राद्ध’ हो जायेंगे, भद्रा किम कार्यमें नहीं होती? परन्तु यहाँ अतिभ्यासि दोष हटानेके बिना लोक एवं शास्त्रकी रुद्रिसे भद्रामें किया जाने वाला मृतक-पितरों

के उद्देश्यसे प्राप्तिको अन्नादि-दान ही श्राद्ध होता है, जीवित-पितृ-विषयक नहीं। जैसे—‘अकालमृत्यु’ शब्दको व्युत्पत्तिमूलक माना जाये, तो ‘नाऽकाले म्रियते जन्तुर्विदुः शररातैरपि’ इस उक्तिसे विरोध पड़ता है, वरन्तु रुद्रिसे चौर, रिसगादी आदिसे मारा जाना ही ‘अकाल-मृत्यु’ कहा जाता है, वैसे ‘श्राद्ध’ शब्द मृतक-पितृ-विषय होने पर तो उपपन्न हो सकता है, नहीं तो उसमें अतिव्याप्ति यात्रि दोष आते हैं।

‘वस्तुतः पितृश्राद्धमेवास्ति मर करे पितृलोकमें पहुँचे हुआका ही श्राद्धसे आह्वान, उनके साथ संवाद और उनमें रक्षाके लिए प्रार्थना आदि उनमें हमसे विशिष्ट शक्ति होनेसे ही उपपन्न हो सकता है। तभी वेदमें कहा है—‘आयन्तु नः पितरः। सोम्यासोऽग्निष्वासाः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यजे स्वधया मदन्तोऽपि मृत्यु वेऽवन्वस्मान्’ (यजुः वा० सं० ११।१८) ‘अप्ता हवीं वि प्रयतानि बहिषि या रयि’ सर्ववीरं ‘दधातन’ (११।११) इत्यादि मन्त्रोंमें उनके पुत्राने, उनसे संवाद, रक्षाकी प्रार्थना, तथा उनकी अतिमानुषशक्तिके बीज मिलते हैं। इसीलिए ही आजकल परलोक-विषां प्रवृत्त हुई है। यदि इसे ‘विषांका’ वेद-शास्त्र-पुराणोंदिके कहे प्रकारमें प्रचार किया जाये, तो उसके दोष दूर हो जायें।

(२) कई आर्यसमाजी श्राद्ध पर शङ्का करते हैं कि—‘यदि भुक्त-मिहान्येन देहमभ्यस्य नृसृतिः। दद्यात् प्रवसतः श्राद्धं न । पथोद्वेगं यदेत् ।’ ‘मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् नृसिंकारणम् ।’ ‘प्रस्थितानां हि जन्तूनां कृपा पाथेयकल्पनम् । यदि यहाँ पर श्राद्ध स्तिलानेसे जन्मांतर में दूसरेके देहमें पहुँच जाता है, तो परदेसमें गये हुए का भी श्राद्ध कर दिया जावे, उसे भी मिल जावे। वह प्यथ अपने साथ पाथेय (मुसा-दिरीका खाना) लेकर गया जाता है ? ‘स्वर्ग-स्थिता यदा नृसि गच्छे-युस्तत्र दानतः । मानादस्योपरिस्थानामत्र कस्माद् दीयते’ दान देनेसे

यदि भवतः - स्थितोंकी नृत्ति हो जानी है; तब अन्तिम मँजिल पर ठहरे हुए कों निचली मँजिलमें दिया हुआ क्या 'न मिले ? जैसे यहाँ का दिया नहीं मिलता, वैसे श्राद्धका पल परलोकमें भी नहीं मिलता ।

उत्तर—हम युक्ति देने वालोंको याद रखना चाहिये कि—यह युक्ति उनकी नई नहीं है । यह तो नास्तिक वा चार्वाकोंकी युक्ति है—जिसे उन्होंने अपनी पुस्तकमें लिखा है । हम पर प्रभकर्ता अपने 'मत्पार्थप्रकाश' के १२वें समुद्रामक आरम्भको देंगे । इस प्रकार वनमें श्रीरामकी जायालिमुक्ति भी जब वनमें लौटानेके लिए 'यदि भुक्ति-हान्येन' (२।१०८।१५) 'मृतो हि किमशिष्यति' (१४) यह श्लोक सुनाये, तब श्रीरामने भी इन्हें नास्तिक-वचन कहा (देखिये वाल्मीकि-रामायण २।१०६।३०-३३-३४) । जायालिने भी यही माना—'यथा मया नास्तिकवायुदीरिता' (३१-३८) श्रीवाल्मीकिने भी उक्त वचनको धर्माप्येत-धर्मविरुद्ध (२।१०८।१) माना । तब क्या वैदिकम्मन्य प्रभकर्ता नास्तिक-युक्तिको अपनी युक्ति मानते हैं । जैसे कि—स्वामी इषानन्दजीने भी उक्त युक्तिका समर्थन करके नास्तिकोंके आगे अपना तिर मुका दिया ! यह ठीक नहीं । नास्तिकों और आर्यसमाजी वा सनातनधर्मियोंमें भारी भेद है । हम दोनों आस्तिक हैं—पर चार्वाक नास्तिक । वे केवल प्रत्यक्षको मानते हैं—हम दोनों आत वचनको भी मानते हैं । वे परलोक वा पुनर्जन्म नहीं मानते, तब उनके वचनको उपस्थित करने वाले वादी भी परलोक वा पुनर्जन्म वा आप्तवचनको नहीं मानते, यह मानना पड़ेगा ।

नास्तिक कहते हैं—'यारजोवेत् सुखं जीवेद् अण कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?' अण लेकर ग्याते पीते और मौज उड़ाते रहो, फिर तुम्हें परलोकमें अण नहीं देना पड़ेगा—

क्योंकि भस्म हुआ शरीर फिर नहीं लौटेगा' । क्या प्रभकर्ता उनकी यह युक्ति मानकर स्वर्गमोका भी त्याग कर देंगे ? तब जो कि अथर्व-वेद (शौ० स०) (६।११।८।२) में कहा है कि—'अथ न देनं परम-सांख्ये रस्म्योसे वचना पदता है'—क्या वैदिकम्मन्य वादी इस वेद-वचनको भी 'गल्प' मानेंगे ? नास्तिक कहते हैं—'यदि गरुडेर पर लोक देहादेय विनिर्गत । कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहममाकुल।' (यदि इस देहमें निकल कर जीव परलोकमें जाता है, बन्धुस्नेहमें फिर उलझ घूमने क्यों नहीं लौट आता) यह वचन मानकर वादी परलोकको नहीं मानेंगे ? नास्तिक कहते हैं—'तत्त्वैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा, देहाति-रिक्ते आत्मानि प्रमाणाभावात्' तो क्या वादी उनके इस अनुमानमें शरीरको ही आत्मा मानेंगे ?

नास्तिकोंका आचार्य कहता है—'अग्निहोत्र त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुपटनम् । बुद्धिपौरुषहीनाना जीविकेति बृहस्पतिः' अर्थात्—वेद, हवन आदि बुद्धिहीनोंकी जीविका है । यह मानकर वादी अपने अभिसन्न अग्निहोत्र तथा वेदादिको अपनेजी जीविकाका उपाय मानेंगे ? नास्तिक कहते हैं—'अथो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तोनशाचराः । जभरी तुर्षरी-रथादि परिडलाना वच स्मृतम्' तब क्या प्रभकर्ता अपने आपको वैदिक माननेवाले भी वेदोंको भाण्ड आदिसे बनाया हुआ—और वैदिक शस्त्रोंकी भी मनुष्यकल्पित मानेंगे ? नास्तिक कहते हैं—'न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवहमा परलौकिकः । नैव वर्णाश्रमादीना क्रियाश्च फलदायिका' तो क्या वादी भी सत्त्वार्थप्रकाशमें उद्घन इस वचनके अनुसार भुक्ति, जीव, वर्णाश्रम आदि क्रियाओंको नहीं मानेंगे । नास्तिक 'मूर्खाशामीशकल्पना' परमात्माकी मूर्खोंकी कल्पना मानते हैं कि—जिसमें लोग टरते रहे—क्या वादी भी ऐसा मानते हैं ?

यदि शङ्कावर्ता नास्तिकोंकी इन उक्तियोंकी नहीं मानते, तो श्राद्ध-विषयमें वे यदि नास्तिकोंकी उक्ति मानते हैं, तो क्या वे नास्तिकोंके अनुयायी हैं ? नास्तिक इस जन्मके किये हुए अपने दानादिकर्मका फल भी परलोकमें नहीं मानते, जैसे कि—‘परत्रेह कृतं कर्म चेद् भवेत्तल्लभायकम् । गच्छतामिह जन्तूनां स्वयं पापेयधारणम्’ परन्तु आप लोग तो हमारी तरह ऐहिक कर्मोंका फल परलोकमें मानते ही हैं । जैसे कि मन्वार्थप्रकारमें—(प्रश्न)—दानके फल वहां होते हैं या परलोकमें ? (उ०) मर्त्य [इस लोक तथा परलोकमें] होते हैं (११ समु० पृष्ठ २२०) तब तो आपकी और हमारी समानता हो गई । जैसे हमारे मृतकश्राद्धमें नास्तिकोंका प्रश्न है कि यदि यहाँ मरे हुए मनुष्योंका श्राद्ध करनेसे परलोकमें फल मिलता है तो परदेसमें गये हुएका भी श्राद्ध करनेसे उसे फल प्राप्त हो जाए, वैसे ही आप लोगोंमें भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—आप लोग भी ब्राह्मणको अपने लिए दान देनेसे परलोकमें अपनेको फल मिलना मानते हैं, तो आप भी परदेसमें जाने हुए किसी स्वाभीष्ट ब्राह्मणको दान दे दे, तो क्या आपका परदेशमें भी ‘हुएडी’ की तरह उसका फल मिल जायगा ? ऐसा होने पर परदेशमें पापेय (सुसाफिरीका खाना) के भार उठानेकी आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी । यदि आप पुनर्जन्मवादी होनेसे नास्तिकोंकी इस उक्तिको अश्रद्धेय मानते हैं, तब हम भी ‘मृतानामिह जन्तूनां श्राद्ध चेत्’ इस उनकी उक्तिको अग्रमाण मानते हैं । आप जैसा उत्तर उन्हें देंगे, हमारा भी वैसा ही उत्तर होगा । तब क्यों आप (प्रश्नकर्ता) नास्तिकोंके कुतर्कों को अपनाकर हमारे सामने उपस्थित करते हैं ? क्या ‘प्रच्छिन्ननास्तिक’ पदवी पानेके लिए ? यदि आप अपने उद्देश्यसे ब्राह्मणको यहाँ खिलावे, और फिर कलकत्ता जाते हुए, रास्तेमें आप अपनी मूर्ति होती हुई न देखें, तो क्या दूसरे जन्ममें आप स्वर्गमें फल मिलना भी नहीं मानेंगे ?

वास्तवमें नास्तिकोंका उक्त दृष्टान्त ही विषम है, क्योंकि—जीवित और मृतकोंके मभी व्यवहारमें समता नहीं हो सकती, क्योंकि—दोनोंमें शक्तिमें ही है। मरने पर परलोकमें सूक्ष्म-शरीर मिलनेसे आत्मा-का विभुत्व प्रकट हो जानेसे उसमें बहुत शक्ति प्रकट हो जाती है, पर वह शक्ति स्थूल-शरीराच्छन्न जीवित नहीं होती। शीघ्र ही जब घड़ेमें डका हुआ हों, तो उसका प्रकाश सीमित हो जाता है, बाहर रखने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है। आप लोग भी दुमरकों अपने उद्देश्यमें दान देते हैं; आप उसका फल भर कर प्राप्त कर सकते हैं, जीवित रहने पर नहीं। पहले ही हम कह चुके हैं कि—मरने पर सीमित शक्तिवाले स्थूलशरीरके भागमें अधिक शक्तिवाले सूक्ष्मशरीरके मिलने पर विशेष शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। उसमें आकर्षणशक्ति बहुत हो जाती है, सूक्ष्म होनेसे उस फलका आकर्षण भी अनायास हो जाता है। परन्तु स्थूल-शरीर वालेमें वैसी शक्ति नहीं होती। पार्थिव शरीर उसमें प्रतिबन्धक होता है, परन्तु तैजस-वायव्य आदि देव पितरोंके शरीरोंमें तो उसकी मुक्तता हुआ करता है।

जैसे लोहके टुकड़ेको लेकर उसके बजाने पर भी उसका समाचार अन्य-देशमें नहीं पहुँचता, परन्तु विद्युत्से मिले 'तारघार' में उस लोहखण्डके शब्दित करने पर उसका समाचार अन्य देशमें भी पहुँच जाता है, इस भाँति यहाँ भी घटा लेना चाहिये। सब व्यवहार सर्वत्र भ्रमानतासे नहीं हुआ करते—यह बात अवश्य-स्मरणीय है। जीवित अवस्थामें दूसरेको मिलानेसे अपनेकी फल नहीं मिलता, पर मरने पर उसका फल हमें मिल जाता है। स्थूलावस्था हटना और सूक्ष्म-अवस्था प्राप्त होनेका नाम ही मरण हुआ करता है। जैसे धार्यसमाजियोंके मतमें स्थूल धर उनके कोई लाभ नहीं करता, उसीको विधि-अनुसार अग्निमें हवन करने पर वह सूक्ष्म होकर जहाँ-तहाँ फैलकर उनके मतमें

बहुतोंका उपकारक सिद्ध होता है, उसमें कारण क्या ? कारण यही है कि—अग्नि द्वारा वह सूक्ष्म हो जाता है। वैसे यहाँ पर भी समझ लेना चाहिये। हमने किसी ब्राह्मणको अपने उद्देश्यमें भोजन कराया, पर परदेशमें गये हुए भी हम उस फलको उससे नहीं खींच सकते, वहाँ हमारा स्थूलशरीर ही प्रतिबन्धक होता है, कर्म-व्यवस्थामें भी उसका फल ऐहिक जन्ममें नहीं मिल सकता, क्योंकि वह ऐहिक कर्म अधिम जन्मके लिए संचित हो जाया करता है, इस जन्ममें वह फल नहीं दे सकता। पर जब पुरण मृत्युको प्राप्त हो जाता है, स्थूल अवस्था को छोड़कर सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त कर लिया करता है, तब वह अपनी अतिशयित आर्यपण आदिकी शक्तिकी महिमासे उस कर्मके फलको उससे खींच सकता है। यद्यपि यदि वह नहीं मरता, वह उसका भोजनादि खाने वाला ब्राह्मण ही मृत्यु का अर्थात् स्थूलान्तराकी छोड़कर सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त हो जाता है, तो वही अपनी अतिशयित विकर्षणशक्तिकी महिमासे उसी फलका उस जीवितके पास द्वितीय निमित्तमें भेज देता है। यह तो है अपने उद्देश्यमें दिये हुए दानका फल, इस प्रकार जब पितर-आदि दूसरेके उद्देश्यसे श्राद्धादि किया जाता है, तब हमारे मानसिक तथा शारीरिक सम्बन्धमें पितृ निमित्तक ब्राह्मणको दिये हुए श्राद्धादि-दानको वह मृतक सूक्ष्मावस्थामें प्राप्त होनेसे मनकी प्रयत्नता तथा आकर्षणशक्तिकी प्रवृत्ततासे उम्मी प्रकारसे खींच लिया करता है, यह बात शङ्काकर्ताओंको सूक्ष्म विचार करनेसे प्रतिभासित हो सकती है। इस प्रकार यहाँ पर जहा शास्त्रीयता है, वहाँ पर विज्ञान-सिद्धता भी मिले है। यह शक्ति पितृलोकमें प्राप्त हुएोंमें स्वाभाविकतासे हुआ करती है, जब ये पितृलोककी स्थिति समाप्त करने इस लोकमें स्थूलरूपसे आ जाते हैं, तब उन्हें नित्य पितर वसु-न्द-आदित्य उस फलको प्राप्त करा देते हैं।

इस प्रकार कई सिक्ख भी नास्तिकोंकी भान्ति, वा अर्थसम्पत्तियों की भान्ति कहते सुने जाते हैं कि—“कोई ब्राह्मण नदीके किनारे मृतक-पितरोंका तर्पण कर रहा था, तब हमारे किसी गुरु—सम्भवतः श्रीगुरुनानकने परिचमकी ओर मुख करके प्रचुर मात्रामें हाथसे जल फैकना शुरू कर दिया। तर्पण समाप्त कर चुके हुए ब्राह्मणने पूछा— वह क्या कर रहे हो ? गुरुने उत्तर दिया—वह जल मैं अपने खेतके नाममें डाल रहा हूँ, वह परिचममें है, नदी वहाँ निकट नहीं है। इसमें उम्मे जल पहुँचगा। भोलें ब्राह्मणने इसे मृतक-तर्पणमें उपहास न जानने हुए उसमें असम्भवकी आशङ्का प्रकट की। तब गुरुने कहा— जब ग्येनक नामसे डाला हुआ जल कुछ दूर ठहरे मेरे खेतको नहीं सींच सकता, तब मृतकके नामसे दिया जल इस जोकमें नहीं, किन्तु परलोकमें ठहरे हुए जीवको कैसे मिलेगा ? तब ब्राह्मण क्षमित होकर चुप गया”।

॥ १ ॥ १ ॥ १ ॥ १

मालूम नहीं—यह वृत्त सिक्खोंके किसी मान्य ग्रन्थमें है—वा नहीं पर हमने एक सिक्खक मुखसे सुना है। इस प्रकार अन्य साधारण जन भी आशङ्का करते हैं कि—मृतक प्राणी श्राद्धको कैसे पायेंगा, जबकि जीवित भी दूसरेसे श्राव्य हुएको नहीं पा सकता, इस पर सभी का यह जानना चाहिये कि—तर्पणके जल वा श्राद्धक अन्नको जीवित, पुरप स्थूल शरीरमूलक अशक्तिक कारण नहीं खींच सकता, पर मृतक तो सूक्ष्म पितृशरीरको प्राप्त करके आकाशमें सूक्ष्मतासे ठहरे हुए उसको खींच सकता है। इसके उदाहरणमें ‘रेडियो’ को ले लीजिये। जिसके पास यह धन्य होता है, वह इंग्लैण्ड, जर्मनी, रूस, अमेरिका आदि देशोंक उसी समय हो रहे हुए शब्दोंको खींच सकता है। परन्तु जिसके पास यह धन्य नहीं है, वह लण्डन आदिमें तो गया, भारतमें भी हो रहे हुए कुछ शब्द भी शब्दोंको खींच नहीं सकता। इस प्रकार जीवितोंके पास दूसरे

से-दिये हुए श्राद्ध-तर्पणके आकाशस्थ-रसकी खींचनेकी शक्ति नहीं होती; परन्तु मृतकोंके पितृलोकमें जानेसे उनके पास वह शक्ति सूक्ष्म-तावश अनायास उपस्थित हो जाती है। स्थूल शरीरमें तो वह शक्ति नहीं रहती, परन्तु सूक्ष्म शरीरमें वह रहती है, इसीलिए युधिष्ठिर स्थूल-शरीरके साथ स्वर्गलोकमें विलम्बसे प्राप्त हुए परन्तु भीम-अर्जुनादि-मर जानेके कारण स्थूल-शरीरयागवश युधिष्ठिरसे पूर्व ही प्राप्त हो गये—यह महाभारतमें स्पष्ट है। स्थूल बीजमें वृक्षोत्पादन-शक्ति नहीं होती; जब वह पृथ्वीमें बोया जाकर मर जाता है, तब उसमें सूक्ष्मता आ जानेसे वह शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह स्थूल-सूक्ष्म शक्तिमें अन्तर है। वैज्ञानिक भी कहते हैं कि—चन्द्र आदि लोकोंमें सम्भवतः हमारे लोकके शब्दोंको ग्रहण करनेकी शक्ति है, परन्तु हमारे 'रेडियो' यन्त्रोंमें वह शक्ति नहीं है। उनका अग्रिमार्थ यह है कि—जब रेडियो यन्त्रका कार्यक्रम नहीं होता, तब भी कई शब्द-विशेष सुनाई देते हैं, वे सम्भवतः हमारे समीपके चन्द्र-मंगल आदि लोकोंके हैं, लेकिन हमारे यन्त्र उनको ठीक-ठीक न खींच सकते हैं, न जान सकते हैं वा न जतला सकते हैं।

इस प्रकार स्थूल-शरीरके नाश होने पर प्राप्त हुए देव-पितृ आदिके शरीरमें तो वह शक्ति हुआ करती है। जैसे हम होम करें, उसके—अग्निये आकाशमें पहुँचाये सूक्ष्म अंशको—सूर्य आदि देव खींच सकते हैं; वैसे ही हमसे किये श्राद्धादिके ग्राह्यशकी अग्नि और महाग्नि द्वारा आकाशमें प्राप्त हुए सूक्ष्म अंशको चन्द्रलोकस्थित पितर यन्त्रस्थानीय अपनी शक्तिके आधयसे खींच सकते हैं। इसलिये श्राद्धके आकर्षणार्थ मृगयुक्ती—प्रेहिक शरीरके छूटनेकी—आवश्यकता होती ॥ तब मरनेके बाद सूक्ष्म देहकी प्राप्तिसे उसमें शक्ति-विशेषकी प्राप्तिसे वह सूक्ष्म-देहसे हमसे दिये श्राद्धका आकर्षण कर लेता है। यही मृतकश्राद्धका

रहम्य है, जिसे न जानकर साधारण लोग नास्तिकोंकी शक्ताओंको भी अपनाने लग जाते हैं ।

फलतः येत तो अशक्तिमान् होनेसे दूरसे दिये हुए जलको खींच नहीं सकता, परन्तु पितर तो शक्ति-विशेषशाली होनेसे उसे आकृष्ट कर लेता है, तब जो किसी सिक्कगुरने मृत-पितृर्पण करने वाले ब्राह्मणका उपहास किया वह शोचनीय ही सिद्ध है ।

(३) प्रश्न—एकके किये कर्मका फलको दूसरा कैम पा सकता है ? यदि पा सकता है, तो कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष प्रसक्त हो सकता है, क्योंकि—जिसने कर्म किया, उसे तो उसका फल न मिला—यह 'कृतहानि' हुई । जिम्मे कर्म नहीं किया, उसे फल मिल गया—यह 'अकृताभ्यागम' हुआ । तब पुत्रके किये कर्मका फल मृत पितृको प्राप्त होने पर यह दो दोष उपस्थित होंगे ।

(उत्तर) यह दो दोष तब आते, यदि पुत्र अपने लिए कर्म करता; उसका फल उसे न मिलकर उसके पिताको मिलता । पर पुत्रने जब धातुरूप कर्म अपने उद्देश्यसे किया नहीं, किन्तु मृत पिताके उद्देश्यसे किया है, तब यदि पुत्रको फल नहीं मिला, किन्तु मृत-पिताको, तब उक्त दो दोषोंका यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं, क्योंकि—जिसके उद्देश्यसे कर्म किया जाये, उही ही फल प्राप्त हो, तो कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष नहीं आते । एकके किये कर्मके फलको दूसरा भी प्राप्त कर सकता है—इसके कुछ उदाहरण देकर लन चाहिये—

(क) न्यायदर्शन (४।१।६० सूत्र) में 'गुरु अशक्त होने पर शिष्यमें भी अपना होम करवा सकता है' यह माना है । ४।१।४४ न्यायमें होम स्वनादि पारलौकिक-फलार्थ माना है । (ख) ४।१।१०४ सूत्रके महामात्य

में—विश्वामित्रकी पहले वारकी तपस्यासे वह स्वयं ऋषि बना, दूसरे वारकी तपस्यासे उसका पिता ऋषि बना, तीसरे वारकी तपस्यासे उसका दादा भी ऋषि बना—यह लिखा है। (ग) महाभाष्यके पस्प-शाहिकके अन्तमें 'आम्नाश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः' पुत्रके किये तर्पणके जलमें आमका सींचना तथा पितरोंकी तृप्ति मानी है। प्रत्याहाराह्निकके अन्नमें अक्षर-समाप्तायके पढ़नेसे पढ़ने वालेके माता-पिताकी स्वर्गलोकमें पूजा मानी है। (घ) मनुस्मृति (३।३७) में ब्राह्मविवाहोपसृत्त पुत्रके पुण्यकर्म करने पर उसकी २१ पीढ़ियोंकी पापसे मुक्ति मानी है। (ङ) आर्यसमाजी मृतककी आत्माकी शान्त्यर्थ प्रार्थना करते हैं, मृतक स्वा० दयानन्दके नाम पुस्तक समर्पण करते हैं, उनके नामसे उत्सवोंमें 'ऋषि-लंगर' चलाते हैं। स्या० द०के नामसे विद्यालय चलाते हैं, अनाथोंकी भोजन देते हैं—यह सब मृतक-श्राद्धके प्रकार हैं। (च) बीज कोई अन्य होता है, फल कोई अन्य खाता है। (छ) संस्कार करता है पिता, फल मिलता है पुत्रको। उस समय लड़का अपने शतवर्ष जीवनको प्रार्थना नहीं करता, किन्तु पिता ही उसकी शतायुकी प्रार्थना करता है, फल किसको मिलता है? पुत्रको। (ज) पाणिनिने वेदाङ्ग व्याकरणके 'वर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१।३।७२) तथा 'शेषान् कर्तरि परस्मैपदम्' (१।३।७८) इन सूत्रोंमें क्रियाका फल दूसरेको मिलना भी कहा है, तभी 'ऋषिजो यजन्ति' यह 'परस्मै (दूसरेके लिए)-पद' का प्रयोग कहा जाता है; यहाँ ऋषिके किये यज्ञमें यज्ञमानकः फल-प्राप्ति सूचित की जाती है। (झ) धन कमाता है पिता; उसका उत्तराधिकारी बनता है पुत्र। (ञ) स्या० द०जीने संस्कारविधिके २३६ पृष्ठमें 'यदि नारमनि पुत्रेषु' (४।१७३) इस मनुके पद्यसे पिताके कर्मका फल पुत्र तथा पौत्रोंको होना भी कहा है। (ट) म० प्र०के ६८ समुद्रास ६२ पृष्ठमें मृत्युके युद्धमें भागने पर उसका पुण्य स्वामीको मिलना और स्वामीके पापका फल भृत्यको मिलना माना है।

इस प्रकार बहुतसे उदाहरण मिलते हैं; परन्तु पुत्र पितामें कोई भिन्न नहीं होता, 'भार्या, पुत्रः स्वका तनूः' (मनु० ३।१८४) 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (गोभिलामृत० २।८।२१) 'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा ह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते' (गृह्यसूत्र-ब्राह्मण ७।१४) 'स य एवेविद् अस्माह्लोकात् प्रैति, अथ गृभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति' (बृहदारण्यकोपनिषद् १।२।१७) 'पिता पुत्रं प्रविवेश' (अथर्व सं० ११ ४।२०) इन प्रमाणोंमें पुत्र पिताका ही रूप है, तो उसके किये कर्मका फल पिताको परलोकमें क्यों न मिले ?

(४) प्रश्न—पिता, पितामह, प्रपितामह तीनका श्राद्ध होता है, तो क्या बृद्ध-प्रपितामह आर्थिक लिप् आश्रयकी आवश्यकता नहीं ? यदि नहीं; तब इन तीनोंके लिप् आवश्यकता भी नहीं ।

उत्तर—पारस्कर-गृह्यसूत्रमें कहा है—'निवर्तत चतुर्थः' (२।१०।४७) 'पिण्डस्त्रिषु इति श्रुतेः' इस श्रुतिसे चौथा पिण्ड नहीं होता, क्योंकि—'पुत्रेण लोकाज्जवति पीत्रेणानन्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पीत्रेण अन्नस्या-मोति विष्टपम्' (मनु० ६।१३०) 'अपाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिंडः प्रवर्तते । चतुर्थः सम्प्रदातैवा पञ्चमो नोपपद्यते' (६।१६६) इसमें यह आशय निकलता है कि—प्रपौत्रके होने पर उससे किये श्राद्धमें प्रपितामह पितृलोकमें हटकर भुक्तिमें चला जाता है, वहाँ हमारा श्राद्धकर्म नहीं पहुँच सकता; अतः बृद्ध-प्रपितामहादिका श्राद्ध नहीं किया जाता ।

५) प्रश्न—आत्माके इस देहके त्यागसे पूर्व ही उसके लिप् हमारा देह तैयार रहता है । जैसे कि—'तद् यथा तृणजलायुका तृणस्यान्त गत्वा अन्यमाक्रममाक्रम्य आत्मानमुपसंहरति; एवमेव अयमात्मा इदं शरीरं निहाय अविद्या गमयित्वा अन्यमाक्रममाक्रम्य आत्मानमुपसंहरति' (बृहदारण्यक ४।४।३) तब श्राद्धका फल क्या ? तब तो मृतकको पर-लोकमें रहनेका अवसर ही नहीं रहता ।

उत्तर—इस वचनका पुनर्जन्ममें तात्पर्य नहीं। मृत्युके अनन्तर जो तत्क्षण देह तैयार रहता है, वह पारलौकिक सूक्ष्म देह ही है। मृत्युके बाद जीवका पुनर्जन्म एकदम नहीं हो जाता। स्वा०द०जी भी 'सविता प्रथमेऽहन्' (यजु० ३६।६) इत्यादिसे कम से-कम १२ दिनोंके बाद जीव का पुनर्जन्म मानते हैं, उसमें 'तृणजलायुका' न्याय नहीं घटता। मरने के बाद पारलौकिक सूक्ष्म शरीर तो तत्काल मिल जाता है, अतः उक्त उपनिषद्-वचन यहीं साधक है। उक्त उपनिषद्के ४थे और ६ठे अध्यायमें मरनेके बाद परलोकमें गमन माना है—तो यहीं भी उसीका वर्णन है।

(६) प्रश्न—आपने मृत-पितृके उद्देश्यसे ब्राह्मणकी स्त्री दी, यदि वह अन्य जन्ममें कीड़ा बन जावे, तब स्त्री मिलने पर तो वह उसमें रूप जायगा।

उत्तर—यही बात जीवितभ्रातृ मानने वालों पर भी आती है। वे अपने कर्मका फल तो जन्मान्तरमें मानते ही हैं। यदि उन्होंने गुरुकुल को बहुतसे चान्दीके रुपये दिये, या अनाथोंको गर्म-गर्म खीर दी, मरने पर वह कीड़े बन गये, तो वे रुपये कीड़ेके किस काम आयेंगे? अपितु वह उनके भारसे दब जायगा, गर्म खीरसे मर जायेगा। इस पर जो प्रतिवादियोंका उत्तर होगा—वही हमारा। वास्तवमें दान-भ्रातृ आदि करने पर परलोकमें वा जन्मान्तरमें उस-उस योनिके उपयुक्त अन्न आदि प्राप्त होता है, सुख भी उस योनिके अनुकूल प्राप्त होता है। यहाँ 'देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः। तस्यान्नममृतं भूषा देवः प्रपुनरुज्जितः। गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत्। मनुष्य-त्वेऽन्नपानादि नानासौख्यकरं भवेत्' इत्यादि देवल तथा हेमाद्रिके वचन प्रमाण हैं। जो प्रश्न भ्रातृमें हो सकते हैं, वे ही अपने किये हुए

अग्निरेव दहन् स्वदयति, ते पितरोऽग्निष्वात्ताः' (शतपथ० २।६।१।७)
जीवित पितर अग्निदग्ध नहीं होते ।

(८) प्रश्न—ब्राह्मणोंको आद्व खिलानेसे मृत-पितरोंको कैसे मिलेगा ?
मृतक तो नष्ट हो गया । क्या ब्राह्मणोंका पेट लैटर-बक्स है ? अनाह्मणों
को ही क्यों नहीं खिलाया जाता ? पितरोंकी रसीद तो आती नहीं ।

(उ०) मरनेसे उसका अभाव नहीं हो जाता, किन्तु वह सूक्ष्म हो
कर पितृलोकमें चला जाता है—यह हम पहले बता चुके हैं । इस
विषयमें मनीआर्डरके दृष्टान्तसे सब समझमें आ सकता है । हमने किसी
को मनीआर्डर भेजना है, उसको लेनेका अधिकारी वही ठाकबाबू होता
है—जिसे सरकारने इस विभागका अध्यक्ष बना रखा है । उस जैसी
योग्यता वाला भी जो सरकारसे नियत नहीं किया गया—वह नहीं हो
सकता । वह अध्यक्ष उन रुपयोंको हमसे ले लेता है । उसके भेजनेका
कमीशन भी लेकर उन रुपयोंको वहीं रख लेता है, और उस मनीआर्डर
के पत्रको उद्दिष्ट स्थानमें भेज देता है । फिर उद्दिष्ट-स्थानका अधिकारी
उस नियत पुरुषको चान्दीके रुपयेके रूपसे, वा 'नोट' वा 'पाउण्ड' वा
पैसे-घाने वा शिल्लिङ्गादि रूपसे उतना द्रव्य दे देता है । यदि वह पुरुष
वहां नहीं होता, दूसरे स्थान चला जाता है; तब वह अधिकारी उसका
पता बदलकर दूसरे स्थान भेज देता है । यदि वह वहां भी नहीं होता,
तो फिर वे ही रुपये भेजने वालेको लौटा देता है । इस प्रकार हमने
किसी सम्बन्धीको 'तार' द्वारा सूचना देनी है—तो हमारा दिया हुआ
तार-फार्म तो वहीं रह जाता है, किन्तु उसका शब्द दूसरे तारघरमें
पहुँच जाता है; उधरका अधिकारी वैसा तारपत्र बनाकर नियत पुरुषको
चपडासी द्वारा भिजवा दिया करता है । वैसे ही किसीने मृत-पितृके
पाम अन्न आदि भेजना है । उसका अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण ही है;
जिसे परमात्माने जन्मसे नियत किया है, वैसी योग्यता वाला भी

हृदयादि जन्मसे ब्राह्मण न होनेसे परमात्मासे नियमित न होनेके कारण उसका अधिकारी नहीं होता। यदि कुलसे दूसरा उस स्थान पर आ जाय; तो उसे दण्ड मिलता है। 'ब्राह्मणस्यैव कर्मैतद् उपदिष्टं मनीषिभिः। राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते (मनुस्मृति २।११०)।

वह अन्नादि वहाँ ब्राह्मणके उपयोगमें ही आता है, जैसे मनीषाईर के रुपये वहाँ रह जाते हैं। ब्राह्मण 'दक्षिणारूप' कमीशन ले लेता है। परन्तु उसके अन्धस परमात्माकी आज्ञासे वही अन्न देवता बनने पर अमृत-रूपमें, मनुष्य बनने पर अन्न-रूपमें, पशु बनने पर तृण आदि-रूपमें, राक्षस होने पर रुधिर-रूपमें इस प्रकार तत्तद्द्योनिके उपभोग्य अन्नके रूपमें निर्दिष्ट व्यक्तिको प्राप्त हो जाता है। जैसे वह रुपया आदि अन्धस अपने पोस्टमैनके द्वारा नियत पुरुषको पहुँचाना है, वैसे ही परमात्मा वसु, रुद्र, आदित्य आदि दिव्य नित्य-पितरोंके द्वारा नियत पितृको आदका फल भिजवा देता है। यदि वह पुरुष पितृलोकमें नहीं होता, मनुष्यलोकमें पहुँच गया होता है; तो उस फलको परमात्मा परिवर्तन करके दिव्य-पितरोंके द्वारा वहाँ पहुँचा देता है। यदि वह वहाँ भी नहीं होता; किन्तु मुक्त हो गया होता है; तो वह अन्नादि फल, भेषकको ही फिर अन्न वा सुखादि-रूपसे प्राप्त हो जाता है। यहाँ प्राप्तिपत्र (रसीद) तो वेद-शास्त्र आदिके 'त्वमग्ने ! ईदितः कन्यवाहनोऽवाद् हव्यानि सुरभीणि कृत्वा प्रादाः पितृभ्यः स्वधया तेऽन्नम्' (अभष्यन्) (यजुः

वा० सं० १६।६६) इत्यादि वचनोंका विश्वासरूप ही मिलता है; यही विशेषता है। उक्त मन्त्रमें लिखा हुआ है कि—पितरने उस अन्नको पा लिया और खा लिया—यह रसीद ही तो है। वस्तुतः रसीदका प्रभ ही अर्थ है। विश्वास ही पर्याप्त है। कभी यनाउटी रसीदें भी घा जाती हैं। आप किसी विरवस्त मित्रके द्वारा कोई वस्तु दूरदेश-स्थित अपने जीवित पिताके पास भेजते हैं; तो क्या वहां रसीद मांगते हैं? यदि नहीं; तो यहां पर भी रसीदका प्रभ अर्थ है। वेदके वचन पर विश्वास ही यहां 'रसीद' मिलती है। आर्द्धमोक्षा जन्मसे आह्वेण वेद-विद्वान् और सदाचारी होना चाहिये; तब कोई धोखेकी आशङ्का नहीं होगी। अन्यथा तो कुछ न-कुछ अविश्वासकी आशङ्का बनी रहेगी।

अब विस्तार-मयवश यह विषय समाप्त करके हिन्दुधर्मके मूर्ति-पूजा आदि विषयों पर कुछ प्रकाश डाला जायगा।

(१४) मूर्तिपूजारहस्य और परापूजास्तोत्र

(१)

सनातन हिन्दुधर्ममें मूर्तिपूजा भी एक अङ्ग है। मूर्तिपूजा हममें बहुत सोच समझकर रखी गई है। उसका रखनेका कारण यह है कि जब तक मनुष्य स्वयं साकार है, तब तक वह मूर्तिपूजासे छुट नहीं सकता। हा, यह हम मानते हैं कि इसका उपयोग सारी आयुके लिए नहीं है। मूर्तिपूजा कर्मकाण्ड है, इसका उपयोग हमारे यज्ञोपवीत पहिरे रहने तक है। परमहंसावस्थामें जानकाण्डक समय जबकि यज्ञोपवीतका त्याग किया जाता है, यज्ञोंका त्याग किया जाता है, तब मूर्तिपूजाका भी। मूर्तिपूजा भी यज्ञका ही एक प्रकार है।

हमें यों समझना चाहिये। — देवपूजा दो प्रकारकी होती है, हवन तथा मूर्तिपूजा। सस्कृत अग्निमूर्तिके द्वारा 'इन्द्राय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा' इत्यादि रूपसे तत्तद् देवताको हवि देना हवन द्वारा देवपूजा है, मन्त्र सस्कृत प्रस्तर आदि मूर्तिके द्वारा तत्तद् देवताको अग्नि देना मूर्तिपूजा है। इसीलिए श्रीशङ्कराचार्य स्वामीने लिखा है—'अग्नी-कोपासनानि तु जडवस्तुनि मन्त्रादिस्कारेण मूर्तिरूपेण तत्तद् देवता-बुद्धिजननानि तत्तद्-भोग्यवस्तु फलप्राप्तिजनकानि'।

इन दोनों (हवन तथा मूर्तिपूजा) को 'यज्ञ' कहा जाता है, क्योंकि देवपूजार्थक यज्ञ धातुका अर्थ दोनों स्थानोंमें देया गया है। 'शाङ्ख-यनब्राह्मणमें' कहा है 'स ऋषिस्मै यज्ञं ददाति, तद् यद् यज्ञं देव'।

यजति' (४।२) अर्थात्—देवताओंकी पूजा ही यज्ञ होता है। इसीलिए 'श्रीमद्भागवत-पुराण' में भी कहा गया है —

‘यदा स्थनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरयः । यथा यजेत मां भक्त्या
श्रद्धया तन्निबोध मे । अर्चायां (मूर्ती) स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु
हवि द्विजे’ (१।२७।८-९) अर्थात्—द्विज (यज्ञोपवीती) मूर्ति वा
अग्निमें देवका पूजन करे। ‘स्नानासङ्करणं प्रेष्टमर्चायामेव तद्देव !.....
वन्दौ प्राज्यप्सुतं हविः’ (१।२७।१६) यहाँ मूर्तिमें स्नानादि तथा
अग्निमें घृताक्त हवि डालना कहा है। ‘द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मन्द-यागः प्रतिमा-
द्विष्यमायिनः’ (१।२७।१६) यहाँ प्रतिमापूजनको भी हवनकी भांति
याग (यज्ञ) ही कहा है।

जिस प्रकार लोकमें प्रस्तरकी मूर्ति जब मानी जाती है, वैसे ही
अग्नि भी। परन्तु ‘अभिमानित्यपदेशः’ (वेदान्तदर्शन २।१।६) ‘सर्वस्य
वा चेतनावत्वात्’ (महाभाष्य-वार्तिक ३।१।७) इस शास्त्रीय कथनमें
हानों ही मूर्तियां चैतन्य धारण करती हैं। अग्नि उस हविके स्थूल
भागको भस्म करके उसका सूक्ष्म भाग देवताओंको देती है; और मूर्ति
मधुमक्षिकासे पीये हुए पुष्पकी भांति उसका सूक्ष्मांश तत्तद्देवको
समर्पण करती है।

जैसे अग्नि वेदमन्त्रोंसे संस्कृत की जाती है; वैसे ही मूर्ति भी
वेदमन्त्रोंसे संस्कृत की जाती है। जैसे अग्निहोत्रमें द्विज तथा कर्म-
काण्डकी अधिकार है, वैसे ही मूर्तिपूजामें भी। इस कारण संस्कृत
मूर्तिपूजनमें शुद्ध-अल्पज आदिका अधिकार नहीं रहता, परमहंसोंका भी
नहीं। परमहंसोंका शुद्धोंकी भांति यज्ञमें अनधिकारी होनेसे संस्कृत

मूर्तिपूजनमें निषेध नहीं होता; किन्तु यज्ञोपवीतीसे उच्चाधिकारी होनेसे उसमें उमका निषेध होता है ।

मूर्तिपूजाका दूसरा नाम प्रतिमोपासना भी है । यह प्रतिमा-उपासना जहाँ अन्य शास्त्रोंको सम्मत है; वहाँ वेदको भी । यह आगे कहा जायगा । जब तक हम साकार हैं, अथवा व्यावहारिकतामें हैं; तब तक हमें मूर्ति-पूजा करनी ही पड़ेगी । गुरुजीकी पूजा करनी है; कैसे करें ? हम उन्हें नमस्कार करते हैं । उनके गलेमें पुष्पमाला डालते हैं । यह क्यों ? गुरु आत्माको माना जाता है या शरीरको ? यदि आत्माको; तो उसी पर फूल डालने चाहिये, नमस्कार भी उनकी आत्माको ही कीजिये । उनके अस्थि, मज्जा रुधिरके बने गलेमें माला क्यों डाली जाती है ? उनके किमी अङ्गकी घन्दन क्यों की जाती है ? कहना पड़ेगा कि—न निराकार आत्मा पर फूल पहिनाना बन सकता है, न उसे नमस्कार हो सकती है । अङ्गी आत्माकी पूजा प्रत्येक दशामें उसके किसी अङ्गके द्वारा ही होती । साकार गुरुके गलेमें हम स्वयं साकार, साकार-मालाको डालते हैं, वही माला हमारी निराकार श्रद्धाका प्रतीक होती है । साकार अङ्ग पर साकार पुष्प चढ़ा, और उससे निराकार गुरुकी आत्मा पर हमारी निराकार श्रद्धा चढ़ी । उद्देश्य भी हमारा वही था; अस्थि, माला, रुधिर रूप अङ्ग पर फूल चढ़ाना हमारा उद्देश्य होता भी नहीं । यही बात मूर्तिपूजामें भी समझनी पड़ेगी । लक्ष्य हमारी मूर्ति नहीं होती; किन्तु मूर्ति-स्थित वहो-शक्ति (परमात्मा) होती है । मूर्ति उसी अणु-अणुमें व्यापक-शक्ति अङ्गीका एक अङ्ग है । उस अङ्ग-द्वारा हम अङ्गीकी पूजा करते हैं । यही 'मूर्तिपूजाका रहस्य' है ।

(२)

भारतके भूतपूर्व गृहमन्त्री श्री राजगोपालाचर्य महोदयकी 'रान-
कृष्ण उपनिषद्' के १६वें अध्यायमें 'मूर्तिपूजा' विषय आया था, उसमें
बताया गया था कि—'जो परमात्मा सर्वव्यापी है, वह क्या उस मूर्तिमें
नहीं होगा ? जिन्हें मूर्तिपूजा पसन्द नहीं, वे न करें ; किन्तु मूर्तिपूजाका
स्थपन करना मूल्यता है । शङ्कर आदि सन्त मूर्तिपूजासे शान्ति पा चुक
हैं' इत्यादि । किन्तु कई महाशयोंको उनकी यह बात अधिक प्रतीत
नहीं हुई । 'सार्वदेशिक' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीधर्मदेवजी सिद्धान्ता-
लङ्कारने गृहमन्त्रीके उक्त वक्तव्यका विरोध किया । श्री धर्मदेवजीका
विश्वास है कि वेद तथा स्वा० शङ्कराचार्य मूर्तिपूजा नहीं मानते । वेदमें
उनके विश्वासके मतानुसार 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्दयश'
(यजुर्वेद स० ३२।३) इस मन्त्रमें मूर्तिपूजाका निषेध है और स्वा०
शङ्कराचार्यने अपने 'परापूजा स्तोत्र' में भी उनके विग्रहामके अनुसार
मूर्तिपूजाका निषेध किया है । वे पद्य निम्न हैं—

'पूर्णस्याऽऽवाहनं कुत्र, सर्वाधारस्य चासनम् । स्वच्छस्य पादमयं
च शुद्धस्याचमनं कुतः ? निमलस्य कुतः स्नानं, वस्त्रं विश्चोदरस्य च ।
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं, ताम्बूलं च कुतो विभो ? स्वयं प्रकाशमानस्य
कुतो नीराजनं विभो । अमर्त्यहिरच पूर्णस्य कथमुद्भासनं भवेत् ?

परन्तु विचारनेसे यह मालूम होता है कि श्रीराजगोपालाचार्यजी
ने युक्तियुक्त लिखा था और वेद एवं श्रीशङ्कराचार्य स्वामी आदि
सभी मूर्तिपूजाको व्यावहारिक मानते हैं । मूर्तिपूजा है भी स्वाभाविक
ही । मनुष्य जब अवधानमें आता है और उसे परमात्माकी सत्ताका
विश्रवाम हो जाता है तो उसके धार्योंको देखकर मनुष्यका अस्तक उसके

आगे मुक्त पड़ता है। जब मनुष्य देखता है कि वह सर्वव्यापक है और मैं एकदेशी हूँ, मैं उसकी सर्वव्यापक पूजा कर ही कैसे सकता हूँ? उस समय उसके आगे दो पक्ष, वा दो दृष्टिकोण उपस्थित होते हैं। उसमें एक तो उसकी उपासनाके असम्भव होनेसे उसका सर्वथा त्याग, दूसरा उसकी एकदेशी उपासनाका अवलम्बन। इसी दूसरे पक्षसे मूर्तिपूजाका अध्याय प्रारम्भ हो जाता है।

अव्यक्त ज्ञान हो जाने पर एक तीसरा पक्ष भी उपस्थित होता है— वह है अद्वैतवाद। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् परमात्माका विकास है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। इस पक्षमें आत्मा परमात्मा अभेद हो जाने से उपास्य-उपासकका भेद नहीं रह जाता। अतः उपासनाकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर यह पक्ष पारमार्थिक होता हुआ भी व्यावहारिक नहीं होता। व्यवहारमें मनुष्य एक उच्चरी भक्ति करना चाहता है। उपासकमें सदा उस अभिन्नको भी भिन्न रसना आता है। सर्वत्र ओत-ओतकों भी वह एकदेशी कर देता है, क्योंकि वह स्वयं एकदेशी होता है।

इसकी यो ममकला चाहिये। उपास्य परमात्मा तो अणु अणुमें सर्वत्र व्यापक है पर उपासक एकदेशी है, पृथिवी पर पैदा है, वह उपास्यका ध्यान करना चाहेगा, तो एक दिशाकी ओर अपना मुख करेगा। एक ही देशमें स्वर्य बैठेगा। अपने उपास्यको भी एक ही देशमें बैठेगा। ध्यानकी समाप्तिके समय उसको अन्तिम नमस्कार भी एक ही अपने सामनेकी दिशाकी ही ओर करेगा। नमस्कार करनेक समय या तो सामने कोई दीवार होगी, या पृथिवी या सूर्यका तेज या आकाश, पर वे उसके नमस्कारके लक्ष्य न होंगे। नमस्कारका लक्ष्य होगा वही एक-उन सबमें व्यापक परमात्मा। वस, यह मूर्तिपूजाका आदि-स्रोत है।

उपासक जानता है कि मेरा उपास्य सर्वव्यापक है, पर मैं हूँ एक-देशी । ध्यानके समय भी वह (उपास्य) सर्वतोमुख है, पर मैं हूँ एक-तोमुख । मेरा ध्यानका विषय सीमित है, पर वह असीमित है । वह अखण्ड है, पर हम सब उसके उपासक खण्ड-खण्ड हैं । अतः मैं उपासक भी उसकी व्यापक-पूजा नहीं कर सकता, यदि मैं चर्खीकी भाँति घूमता हुआ भी उसे नमस्कार करता जाऊँ, तथापि मेरा मुख एक ही ओर रहेगा—युगपत् सब दिशाओंमें मैं परमात्माको प्रणाम नहीं कर सकता । अर्थात् मुझे उसकी एकदेशी ही पूजा करनी पड़ेगी । वस, यहीसे मूर्तिपूजा शुरू होती है । क्योंकि उसकी उपासना करनेका भाव उसे एकदेश रखनेका होता है । उपगम्य-भासना (समीप-स्थिति) का नाम 'उपासना' सामक भी तभी है, अन्यथा हम उसके 'उप' अर्थात् पास पहुँच ही कैसे सकते हैं ? उस सर्वव्यापकके पास हम एक-देशी पहुँच ही कैसे सकते हैं ? वहाँ 'मूर्तिपूजा' प्रकारसे अतिरिक्त हम उसकी उपासना अन्य ढङ्गसे कर ही नहीं सकते ।

परि इस पर कहा जाय कि हम मन से उस उपास्यको पा लेंगे, हम उसे ज्ञान से जान लेंगे, हम उसे स्तोत्रो-वेदमन्त्रोंसे प्राप्त कर लेंगे, पर ऐसा होना दुराशामात्र है । श्रुति इस पर कहती है—'न तत्र चक्षु-गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनः, नो विद्मो न विजानीमः' । केनो-पनिषद् १।३) उस अनिर्वचनीयको हम परिमित वाणियोंसे कैसे कह लेंगे ? उस अक्षयको कैसे देख लेंगे ? उस असीमितकी हम अपने मन-से भी कैसे सीमा बना सकेंगे ? कैसे उसकी 'मनसा-परिक्रमा' कर सकेंगे ? स्पष्ट है कि हम उसकी कुछ मूर्ति अपने सीमित मनमें स्थिर कर लेंगे । तब चाहे हम शरीरसे परिक्रमा करें, चाहे मनसे, यह संगत हो सकता है, अन्यथा नहीं । तभी उस निराकार अक्षरमयको भी केवल

समझनेके लिए, उसकी उपासनार्थ, हमें उसे साकार भी बनाना पड़ जाता है। निर्विकल्पकको भी सविकल्पक करना पड़ जाता है।

इसे लौकिक अक्षरोंमें भी घटा लीजिए। 'श्रीसनातनधर्मलोक' जिन अक्षरोंमें निकल रहा हूँ, क्या यही अक्षरका स्वरूप है? कहना पड़ेगा कि अक्षर तो निराकार है, पर अक्षरको भी समझ कर हमारे अग्रिम मुनियोंने उसकी मूर्ति बना डाली है, जिससे अब हम उस अक्षरकी उपासना करनेमें समर्थ हो गये हैं। उसीके फलस्वरूप हम विद्वान् तथा ज्ञानी बन रहे होते हैं। इन अक्षरोंकी आकृति अग्रिमोंने यह क्यों रखी है, पाठक यदि यह रहस्य जानना चाहे, तो उन्हें श्रीरघुनन्दनशर्मा द्वारा प्रणीत 'अक्षर-विज्ञान' पुस्तक पढ़नी चाहिए।

कहा जा सकता है कि अक्षरकी मूर्तिकी उपासना मूर्तोंके लिए है, विद्वानोंके लिए नहीं, क्योंकि अक्षर तो निराकार होता है। इस पर जानना चाहिए कि जब तक हम व्यवहार पक्षमें हैं, तब तक सभी मूर्त हैं। क्या विद्वान् कहे जाने वाले भी साकार अक्षरोंके मन्दिर, पुस्तकोंकी देहलीको नहीं छाँघते? उस अक्षर मन्दिरमें पहुँच कर उसकी मूर्तिकी उपासना नहीं करते? हाँ, जब वह अक्षरोपासनासे परमार्थतः ऐसा विद्वान् हो जाता है कि अब उसे पढ़ने-पढ़ानेके लिए भी किसी पुस्तक वा पत्रकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, न कुछ लिखनेकी, तब समझ लेना पड़ता है कि—अब इसे निराकार अक्षरकी प्राप्ति हो गयी है, तो यही उसीकी मूर्तिकी उपासनार्थ दूसरे अल्प विद्वान् को दे देता है कि—इसे अब तुम लो। मुझे अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रही; अब मैं लौकिक-व्यवहारमें नहीं हूँ, अब मैं परमार्थ-पथका पुजारी हो गया हूँ। अब मुझे अक्षरमूर्तिकी उपासना तो क्या, अक्षर-उपासनाकी भी आवश्यकता नहीं है। यही वह पक्ष आकर उपस्थित होता है जिसको

स्वामी श्रीशङ्कराचार्यः। 'परा पूजा' स्तोत्र कह रहा है। पर इस परा पूजा भी प्रसन्न तब आ उपस्थित होता है, जब हम इस अचर-मूर्तिकी उपासना करके परिपक्व हो चुके हों। यह भिन्न बात है कि कोटे 'माई का लाल' बिना सीढ़ियोंक भी ऊँचे महल पर एकदम चढ़ जावे, पर यह संशसाधारणका विषय नहीं।

यही अचरमूर्ति-उपासना मूर्तिपूजा पर भी ठीक घट जाती है। 'श्रीसनातनधर्मालोक' की सभी एक मूर्ति है नागरी। इसकी अन्य गुर्व-मुष्पीकी मूर्ति बन सकती है, अंग्रेजी उर्दूकी मूर्ति बन सकती है। मराठी, बंगाली, गुजराती, कनाडी आदिकी, जर्मनी, फ्रांसीसी, रूसी, जापानी आदि मूर्तिया भी बन सकती हैं, जबकि यह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जान। तो जिसका उसरी जिस मूर्तिमें अभ्यास वा आस्था वा भक्ति हागी, वह उसी रूप—उसी मूर्तिमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' की पूजा करगा। यही है मूर्तिपूजाका रहस्य, जिसे गृहमन्त्री-महोदयने अपनी शैलीमें उपस्थित किया था, जिनरी युक्तियोंको भाषुकता कह कर उपेक्षित किया जाता है और कहा जाता है कि उन्होंने इस पर कोई वेदादि के प्रमाण नहीं दिये। उन्होंने तो मूर्तिपूजाको मानवकी भावनाका विषय बताना था कि यह मानवमें स्वाभाविक है, उसीसे-उसको सन्तोष होता है। फिर बड़ा प्रमाणोंको क्यों उपस्थित करते? वेदादि-शास्त्र भी मूर्तिपूजास ओत प्रोत हैं, प्रत्युत यही कहना ठीक है कि वे स्वयं मूर्तिपूजा हैं, तब वहाँ प्रमाणकी आवश्यकता ही क्या?

देखिये—वेदोंको परमात्माका ज्ञान बताया जाता है, तब निराकार ज्ञानकी भी कोई मूर्ति होती है? निराकार ज्ञानकी कोई सीमा वा ह्यता भी हो सकती है? यदि हो सकती है वा होगई, अपि मुनियोंने उस निराकारके ज्ञानकी आकृतिको भी दुह लिया तो इसीसे मूर्तिपूजा सिद्ध हो

संसार में 'प्रतिमा' अर्थात् 'मूर्ति' नहीं ? कौन-सा अर्थ इन दो में उचित जंचता है ? मानना पड़ेगा कि 'तुल्यता' अर्थ ही उचित है, क्योंकि इस संसारमें श्रीगांधीजीकी मूर्तियाँ तो मिल जायेंगी, पर उनकी तुल्यता का, उनकी बराबरीका कोई भी पुरुष न मिलेगा ।

'नैपथ्यचरित' में राजा नलके मुखके लिए यह शब्द आये हैं—'न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे (१।२३) संसारमें नलके मुखकी 'प्रतिमा' नहीं है । इससे नलके मुखकी 'मूर्ति' का अभाव सिद्ध नहीं होता. किन्तु 'उसके मुखकी सदृशताका कोई मुख नहीं' यही अर्थ उचित दीखता है । तब उक्त वेदमन्त्रसे मूर्तिपूजाका निषेध नहीं निकलता—किन्तु उस परमात्माकी 'अनन्य-सदृशता' का ही बोध होता है । स्वा० दयानन्दजीके अनुयायी तो वेदके इस मन्त्रमें 'प्रतिमा' का मूर्ति अर्थ कर ही नहीं सकते । ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकामें स्वा० द० जीने लिखा है (प्र०) 'वेदेषु 'प्रतिमा' शब्दोऽस्ति नवा (३०)' अस्ति । (प्र०) पुनः किमर्थो निषेधः (३०) नैव प्रतिमार्थेन (वेदे) मूर्तयो गृह्यन्ते; किं तर्हि ? परिमाणार्थो गृह्यते इति (३२० पृष्ठ) तब स्वामीजीके अनुसार इस मन्त्रमेंभी 'प्रतिमा' शब्द उपमा-वाचक सिद्ध हुआ, 'मूर्ति' वाचक नहीं, तब इस मन्त्रमें परमात्माकी अनुपमेयता सिद्ध हुई; मूर्ति-निषेध नहीं; तभी २।३।० ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें स्वा० शंकराचार्यजीने भी कहा है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति' ।

अब शेष है स्वा० शंकराचार्यका 'परा-पूजा, स्तोत्र । इसके एकही दो श्लोकोंको उद्धृत- भर कर देनेसे मूर्तिपूजाका निषेध सिद्ध नहीं हो जाता, किन्तु उसे पूर्वापरसे देखनेसे ही उसका आशय मालूम हो सकता है । 'स्तोत्ररत्नावली' में वह पूर्ण उद्धृत किया गया है । उसमें

दम श्लोक हैं। प्रथम श्लोक यह है—‘आपण्डे मयिचिदानन्दे, निर्वि-
कल्पैकहृदिनि । स्थिते अद्वितीयभावेस्मिन् कथं पूजा विधीयते ?’ अर्थात्
जबकि—परमात्मा अव्यय है, वह मयिकल्पक-ज्ञान-ब्रह्म नहीं, जबकि वह
अद्वैतभावे सर्वत्र विद्यमान है, हम भी नहीं हैं, तब उसकी पूजा किस
प्रकारकी करनी है? इसकी स्पष्टता आगेके श्लोकोंमें की गई है। उसमें
मातृवां पद्य यह है ‘प्रदक्षिणा ह्यनन्तम्य हृदयस्य कुतो नतिः ।
येदमात्मैरवेद्यम्य कुतः स्तोत्रं विधीयते ?’ अर्थात् जबकि परमात्मा
अनन्त है, उसकी परिक्रमा कैसे हो सकती है ? जब वह हमसे अद्वि-
तीय है, अर्थात् हम और वह भिन्न नहीं, तब हम उसे नमस्कार ही
कैसे कर सकते हैं ? अपने आपको नमस्कार नहीं हुआ करती। प्रश्न
बिल्कुल ठीक है। जब वह निर्विकल्पक है, प्रसारताज्ञानमें शून्य है;
अव्यय है, तब न वह वचन-गोचर हो सकता है, न ही विचार-गोचर।
तब उसका न तो मनमें ध्यान किया जा सकता है, न वेद-मन्त्रोंसे
उसकी स्तुति हो सकती है। पर क्या चाही खंगोने वेदमन्त्रोंकी भूम्यासे
उम परमात्माकी स्तुति, तथा मनमें उसका ध्यान तथा उसकी मान-
सिक-परिक्रमा तथा उसे नमस्कार करना बन्द कर रखा है ? यदि नहीं,
तब ये इस स्तोत्रमें अपने पक्षका मण्डन तथा हमारे पक्षका पण्डन
करनेके किस प्रकार अधिकारी हैं ?

इस समय उत्तर नवम पद्यमें दिया गया है—‘एतन्नेव परा पूजा
मर्गावस्थासु सर्वदा । एकतुल्या तु द्वेष्टे विधेया ब्रह्मचित्तमै’, अर्थात्
जो ‘मयचित्तमै’ है ‘ब्रह्म मत्त्वं जगन्मिथ्या’ इस मिद्धान्तकी हृदयमें
मानने वाले हैं, उनको पक्षत्र बुद्धिमें इस प्रकारकी पूजा करनी चाहिये।
यह पूजा अन्तिम दशम श्लोक में इस प्रकार कही गयी है—

आत्मा ‘यं, गिरिजा मति, महेश्वरा (गणा) प्राण्याः, शरीरं मृदं,

पूजा ते—विषयोपभोगरचना, निद्रा—समाधिस्थितिः ।

संचारः पदयोः—प्रदक्षिणविधिः, स्तोत्राणि सर्वा गिरा

यद् यत् कर्म करोमि तत्सद्विलं शम्भो ! तवाराधनम् ।'

अर्थात्—हे महादेव ! मैं जो-जो कर्म करता हूँ, वही तेरी पूजा है । मेरा आत्मा तू है । मेरी बुद्धि तेरी पायंती है । मेरे प्राण तेरे गन्ध हैं । मेरा शरीर तेरा मंदिर है । मेरा विषय-भोग तेरी पूजा है । मेरी नींद तेरी समाधि है । मेरा घूमना-फिरना तेरी परिक्रमा है, मेरा घोलना तेरी स्तुति है ।

स्वामी शंकराचार्य अद्वैतवादी संन्यासी थे, अतः उन्होंने इस स्तोत्र में बताया है कि—अद्वैतवादमें इसी प्रकारकी पूजा हो सकती है—दूसरी नहीं । इन श्लोकोंसे मूर्ति-पूजाका निषेध नहीं किया जा सकता, किन्तु इनसे उपासनामात्रका ही निषेध सिद्ध होता है, तब इन श्लोकों उद्धृत करने का माननेके अधिकारी अद्वैतवादी ही हो सकते हैं, ईशवादी नहीं । ईशवादी उपासनाको नहीं छोड़ सकता, परमात्मा को नमस्कार तथा घंटमन्त्रोंसे उसकी स्तुतिको वह नहीं छोड़ सकता, पर इन अद्वैतवादके श्लोकोंमें यह सब छोड़ना लिया है । तब स्पष्ट है कि—परमात्माकी हमसे मूर्ति द्वारा की गई, तथा दूसरोंसे बिना मूर्ति परमात्माकी की हुई उपासना यह 'परा-पूजा' नहीं, यह तो उसकी 'अपरा-पूजा' है । 'हे विद्ये वेदितव्ये, परा वैश्व अपरा च । तत्र अपरा आग्नेयो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः । अथ परा यथा तद् अक्षरमधिगम्यते' ('मुण्ड-कोपनिषद् १।१।४—२) इस प्रमाणसे वैदिक विद्या जैसे अपरा विद्या है, वैसे वैदिक उपासना मूर्ति-पूजा आदिभी परमात्माकी 'अपरा पूजा' है 'परा-पूजा' नहीं । जैसे 'परा-विद्या' में आग्नेयादिकों-यज्ञोपवीतको छोड़ना पड़ता है; वैसेही 'परा-पूजा' में वैदिक उपासनाको भी छोड़ना पड़ता है । यह परमार्थ अवस्था हुआ करती है, उसमें तो शिखा, यज्ञोपवीत, वेद

तथा उपामनाको भी छोड़ना पड़ता है । हमसे स्पष्ट है कि—व्यवहार-वादमें मूर्तिपूजारूप उपासनाका कोई भी, कहीं भी निषेध नहीं ।

स्वामी शंकराचार्यजी व्यवहारवादमें मूर्ति-पूजाका कहीं निषेध नहीं कर गये; प्रत्युत वे कई देवमन्दिर भी बनवा गये हैं । जैसेकि—‘शंकर द्विग्विजय’ में लिखा है कि—‘सुरधाम स तत्र कारयित्वा’ (१२।४) पंच देवोंकी पूजा भी वे यत्न गये हैं, यही ‘शंकरद्विग्विजय’ में स्पष्ट है । शालग्राम मूर्तिमें विष्णु-पूजनकी चर्चा म्या० शंकराचार्यने अपने ‘वेदान्तदर्शन’ के भाष्य तथा ‘छान्दोग्योपनिषद्’ में अनेक बार की है, जैसेकि वेदान्त० ४।१।२, १।२।१४, १।३।४-१४ इत्यादि । यह ठीक भी है । परमात्मा है अंगी, देवता वा पृथ्वी आदि हैं उसका अंग, बिना अंगके अंगीकी पूजा कभी संभव नहीं । तब मूर्तिपूजाका उल्लेख जोकि भूतपूर्व गृहमन्त्रो श्री राजगोपासनाचार्यजी अपनी पुस्तकमें कर गये हैं, वह जहां प्रमाथानुगृहीत है, वहां शुक्ति-युक्त भी है । तब उसका खण्डन किसी भी प्रकारसे नहीं किया जा सकता । तब फिर श्री-धर्मदेवजीका इस विषयका परिश्रम कोई फल नहीं रगता ।

(१५) वेदमें प्रतिमोपासना ।

आर्यसमाज आदि अर्वाचीन सम्प्रदाय वालोंका विचार है कि—
‘वेदमें प्रतिमोपासना अर्थात् मूर्तिपूजाका गन्ध भी नहीं है—इसे पुराणोंनेही प्रचलित किया है; अथवा जैनियोंने इसे जारी किया है।’ पर ऐसा कहना वेदसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। यैमे तो वेदमें मूर्ति-पूजा ठसाठस भरी पड़ी है; पर हम एक वेद-मन्त्र उपस्थित करते हैं; जिससे प्रतिमोपासनाकी वैदिकता सिद्ध होगी। फिर कोई यह कहनेका साहस न कर सकेगा कि—वेदमें मूर्तिपूजाका गन्ध नहीं है।

अथर्ववेदसंहितामें एक मन्त्र आया है—

‘संवत्सरस्य प्रतिमां यां स्वां रात्रि ! उपास्महे ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज’ (३।१०।३)

इसमें प्रतिमोपासना तथा प्रतिमासे प्रार्थना वैदिक सिद्ध होरही है। इस मन्त्रका अन्वय इस प्रकार है—‘हे रात्रि ! संवत्सरस्य प्रतिमा यां स्वाम् उपास्महे, सा स्वां न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज’। इसका अर्थ यह है—‘हे रात्रि ! संवत्सरकी प्रतिमा (मूर्ति) जिस तेरी हम उपासना करते हैं; वह तू प्रतिमा (मूर्ति) हमारी प्रजा (सन्तान) को धन-पुष्टि आदिसे संयुक्त कर’। यहांपर रात्रिको संवत्सरकी प्रतिमा-रूपमें उपासनीय माना है। प्रतिमा मूर्तिको और उपासना पूजाको कहते हैं और फिर उस प्रतिमासे अपनी सन्तानकी समृद्धि प्रार्थित की गई है। इससे मूर्तिपूजा तथा उससे प्रार्थना वैदिककालसे चली आ-रही है—यह सिद्ध होगया। यदि वेद मूर्तिपूजा न मानता; तो रात्रिको संवत्सरकी प्रतिमा न बनाता तथा उसकी उपासना तथा प्रार्थना न करता।

‘प्रतिमाम् उपास्महे’ यह शब्द प्रतिमोपासनाको वैदिक सिद्ध कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँपर ‘संवत्सर’ का अर्थ प्रजापति (परमात्मा) है। जैसेकि—शतपथ ब्राह्मणमें—‘स [प्रजापतिः] ऐशत—हमं वा [संवत्सरं] आत्मनः प्रतिमाम् असृजि यत्-संवत्सरमिति, तस्माद् आहुः—प्रजापतिः संवत्सर इति, आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत्, यद्वेद्य चतुरशरः संवत्सरः, चतुरशरः प्रजापतिः; तेन उ ह एव अस्यैष प्रतिमा’ (११।१।६।१२)। वेदमें वादियोंके मतमें रूढ़ शब्द नहीं होते; अतः रात्रि शब्दभी यहां यौगिक है। स्वा० दयानन्दजीने अपने ‘उयादिकोष’ में ‘रात्रि’ का अर्थ इस प्रकार किया है—‘रात्रि-मुखं ददाति-इति रात्रिः’ (४।६७)।

तब भक्त अपने सामने विद्यमान भगवान्की मूर्तिको लक्ष्य करके कहता है कि—‘हे (रात्रि !) भक्तोंको आनन्द देने वाली ! (संवत्सरस्य) प्रजापति परमात्माकी (प्रतिमां) मूर्ति (यां स्वां) जिस तेरी (उपास्महे) हम उपासना करते हैं; (सा) वह तू (नः) हमारी (प्रजाम्) सन्तानको (आयुष्मतोम्) चिरायु करके (रायस्पोषेण संतृज) धनवस्त्रादिसे संयुक्त कर’। इस मन्त्रसे सिद्ध हुआ कि—मूर्ति-पूजा तथा उस मूर्तिसे अपने किसी मनोरथ की प्रार्थना करनी सर्वथा वेद-सम्मत है। तब ‘वेदको मूर्ति-पूजा सम्मत नहीं’ ऐसा कहना वेदसे अपना अज्ञान प्रकाशित करना है। आर्यसमाज जो अपने आपको मूर्ति-पूजक नहीं मानता—यह भी ठीक नहीं, वह भी मूर्तिपूजक है, देखिये।

आर्यसमाजकी मूर्तिपूजा

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा०द०जीने ‘सत्यार्थप्रकाश’ की भूमिकामें लिखा है—‘इन समुल्लासोंमें जोकि सत्यमत प्रकाशित किया है वह

वेदोक्त होनेसे मुझको संबंधा मन्तव्य है' (पृ० ३) यहांपर 'मायमत' शब्दसे स्वामीजीको अपना मत इष्ट है, क्योंकि वे अपने मतको वेदोक्त कहते हैं। स्वामीजीने स० प्र० के ११ समु० २३० पृष्ठमें श्रीनानकके मतवासियोंके लिए लिखा है—'यह मूर्तिपूजा तो नहीं करते; किन्तु उससे विशेष ग्रन्थकी पूजा करते हैं। क्या यह मूर्तिपूजा नहीं है ?' स्वा० दयानन्दजीने यहांपर ग्रन्थकी पूजा अर्थात् सम्मानको भी मूर्तिपूजा बताया है। फिर वे इसकी स्पष्टता करते हैं—'किसी जड़ पदार्थके सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करना सद्य मूर्तिपूजा है।' अब यहां इस स्वामीजीके वेदोक्त वाक्यकी परीक्षा करनी चाहिये कि—आर्यसमाज भी मूर्तिपूजक है वा नहीं ? 'पूजा' का अर्थ 'सम्मान' हुआ करता है, चाहे वह प्राचीन-दंगसे किया जाय वा आजकलके दंगसे। अब देखिये—

(१) ला० लाजपतरायकी मूर्तिपर १० नवम्बरको डी० ए० वी० कॉलेजके स्टाफ तथा गुरुकुलवालोंकी ओरसे लाहौरमें फूल चढ़ाये जाते थे, अब भी कहीं चढ़ाये जाते हैं। यह भी स्पष्ट ही मूर्तिपूजा है क्योंकि यह उनका सम्मानप्रदर्शन था। यदि यह कह कहा जावे कि—हमें उनके पुत्तकी पूजा लक्ष्य नहीं, किन्तु उस हस्ती (मत्ता) ला० लाजपतरायके व्यक्तित्वका सम्मान करना लक्ष्य है—जिसने देशकेलिए अपना उत्सर्ग करदिया—तो मूर्तिपूजाके विषयमें भी यह क्यों नहीं सोचा जाता ? वहां भी तो पर्यटन सम्मानका लक्ष्य नहीं होता; किन्तु शिव, विष्णु आदि ही पूजाके लक्ष्य होते हैं, साकार मूर्तिपर साकार फूल चढ़े, इससे निराकार सत्तापर हमारी निराकार अर्पणा चढ़ी। लक्ष्य सम्मान सिद्ध हुआ। फलतः ला० लाजपतरायकी जड़-मूर्तिको सम्मान भी स्वामीजीके अनुसार मूर्तिपूजा सिद्ध हुई।

(२) आर्यसमाजी लोग सन्ध्या समाप्त करके फिर उठते हुए परमात्माको नमस्कार करते हैं; क्योंकि—उनकी सन्ध्याका अन्तिम मन्त्र 'नमः शम्भवाय' है। उस समय मामने या कोई दीवार होती है—या पृथ्वी या आकाश। इन जड़ोंके सामने उनका सिर झुका—यह भी स्वामीजीके उक्त वेदोक्त वाक्यके अनुसार मूर्तिपूजा हुई। यदि कहा जावे कि—यहां नमस्कारके लक्ष्य पृथिवी-आकाश नहीं थे; किन्तु परमेश्वरही था—तो यही बात मूर्तिपूजामें भी समझी जा सकती है। यहां यह नहीं कहा जाता कि ऐ पत्थर ! तुझे नमस्कार करता हूँ किन्तु कहा जाता है—'श्रीविष्णवे नमः'।

(३) मरुडामिवादन आर्यसमाजमें भी होता है—कांग्रेसमेंभी आर्य-समाजियोंद्वारा सम्पन्न होता है। मरुडेपर पुष्पमालाभी खदाई जाती है, लहे होकर उसकी सलामी की जाती है। जड़के सामने उसका सम्मान पूर्ण प्रकारसे मूर्तिपूजा ही सिद्ध हुई। यदि कहा जावे कि—वह प्रतीक ईश का है वा भारतमाताका है—अतः उसीका सम्मान होता है, न कि—खाल वा भगवे वस्त्रका; तो यही बात मूर्तिपूजामें भी जानी जा सकती है।

(४) आर्यसमाज परमात्माकी पूजा तो मानता ही है। तब वह जिसभी प्रकारसे उसकी पूजा करे, वह मूर्तिपूजाही होगी। सर्वव्यापककी कमी किसी व्याप्य वस्तुके बिना पूजा की ही नहीं जा सकती; क्योंकि पूजक उसके समान निरवच्छिन्न व्यापक नहीं। पूजक परमात्माकी पूजा किसी एक सीमित स्थानपर ही करेगा, सीमित दिशाकी ओर मुंह करेगा,

सीमितही रूपसे उसे नमस्कार करेगा; सीमित ही वेदमन्त्र पढ़ेगा—तो यह मय मूर्तिपूजाका ही प्रकार हो जाता है । फलतः जबतक पूजक स्वयं सीमित है; उस असीमितकी असीमित रूपसे पूजा कभी कर ही नहीं सकता । तब उस असीमितकी सीमित पूजककेद्वारा पूजा-यह मूर्तिपूजा ही होती है—बाहे पुजारी इसे यह नाम न देकर ईश्वरोपासना-प्रायमा'नाम दे । सीमित-पूजकका मनभी उस असीमितकी याह नहीं पा-सकता । सीमितका सीमित मुखभी असीमितका गुणानुवाद नहीं कर सकता । पर जब करता है; तो स्पष्ट मूर्तिपूजाके ढंगसे, क्योंकि-वह पूजक स्वयम् एक-देश में होता है इसलिए उसकी एक-देशी ही पूजा करता है । एकदेशी पूजा मूर्तिपूजा ही होती है । जब वह 'प्राची दिगग्नि.' मन्त्रमें पूर्व दिशामें उस परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना कर रहा होता है उस समय वह अन्य दिशाओंमेंभी व्यापक उसकी स्तुति-प्रार्थना न कर सकनेसे उसे मूर्तिकी तरह सीमित कर रहा होता है । जब वह 'दक्षिणा दिग्निन्द्रो' बोलकर दक्षिणमें परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना कर रहा होता है—उस समय शेष दिशाओंमें उसका ध्यान न कर सकनेसे पूजक ईश्वरकी मूर्तिकी तरह सीमित पूजा कर रहा होता है । जब पूजक परमात्माका उपस्थान करता है अर्थात् उसको अपने निकट होनेकी बुद्धि रखता है यह भी मूर्तिपूजा ही हो जाती है । फलतः परमात्माका पुजारी प्रत्येक दशामें मूर्तिपूजाकी ही शैलीको अपनाये बिना-नहीं रह सकता । हाँ, कोई नास्तिक हो—उसका पुजारी न हो—तो यह भिन्न बात है ।

(२) सन् १९१२ में गुरुकुल काङ्गड़ीके वार्षिकोत्सवपर वेदपुरतकोंको

सम्मान देनेके लिए उन्हें समापति बनाया गया था—स्वामीजीके पूर्वोक्त वाक्यके अनुसार यह मूर्तिपूजा है। इस मूर्तिपूजाको स्वा० अद्धानन्दजी (उम यमयके ला० मुन्शीराम) ने सम्पन्न किया था।

(६) वेद-पुस्तकों तथा स्वामीजीकी प्रतिमाकी सम्मानार्थ एक विशिष्ट स्थानपर रखना तथा पत्रोंके मुखपृष्ठपर रखना—यह सब मूर्तिपूजा है। ❧

फलतः प्रतिमोपासना जहां वैदिक है; वहां सभी सम्प्रदायोंमें व्याप्त भी है। घंटा, घड़ियाल वा शंख बजाना हो केवल पूजा नहीं होती। पूजाके भी कई प्रकार होते हैं। कोई सिरसे हँड उतार लेनेसे ही पूजा करता है, कोई फूलमाला ही चढ़ा देनेसे पूजा करता है, कोई स्तुति-प्रार्थना कर देनेसे ही पूजा करता है। कोई विशेष दिशाकी ओर मुख करके ईश्वरकी स्तुति करता है—कोई किसी एक स्थानपर बैठकर प्रभुकी प्रार्थना करता है—यह सब मूर्तिपूजाके ही प्रकार हैं। फलतः मूर्तिपूजा सर्वव्यापक है। इससे कोई ईश्वरपूजक सम्प्रदाय नहीं छूट सकता। मूर्तिपूजाका व्यवहन अपना व्यवहन है।

एकबार 'प्रकाश' पत्रके अग्रध्यङ्गके मुख-पृष्ठपर स्वा० द० जीकी मूर्ति थी। दूसरी ओर उनके मुखके साथ 'भल्ले' के झूठा चित्र था; इससे आर्यममाजी बिगड़ उठे थे कि—यह स्वामीजीका अपमान किया गया है। सम्पादक महाशय-कृष्णने फिर बैसा न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। स्वामी द० जीकी मूर्तिपर पांव रखनेसे हैदराबाद दक्षिण में आर्यममाजी-नाथ श्री बुद्धदेवजीपर बिगड़ उठे थे कि तुमने महर्षिका अपमान किया है—यह सब स्वामीजीके अनुसार मूर्तिपूजा है।

(१६) अवतारवाद-रहस्य

परमात्मा यद्यपि निराकार और सर्वव्यापक होता है, तथापि प्रयो-जनवश अपनी सर्वशक्तिमत्तामें साकारभी हो जाता है। यहांपर यह कहा जाता है कि 'निराकारत्व और साकारत्व परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं, वे एकमें कैसे रह सकते हैं ?' इसपर यह जानना चाहिए कि एक वस्तुमें परस्पर-विरुद्धता न होना यह लोकरा त्रिषय है, लोकोत्तरका नहीं। अलौकिक, लोकोत्तर अथवा सर्वशक्तिमान्में परस्परविरुद्ध-धर्मवाला होना तो स्वाभाविक हुआ करता है। प्रत्युत ऐसा होना उसका दूषण नहीं, अपितु भूषण होता है। परमात्मा भी अलौकिक, सर्वशक्तिमान् एवं लोकोत्तरधर्मा है अतः उसमें परस्परविरुद्धधर्मवत्ता भी स्वतःमिद है। साहित्यमें 'रस' अलौकिक माना गया है, इसी कारण उसमें परस्पर विरुद्ध धर्म भी माने जाते हैं। पाठकाण देखें—

रसका 'कार्य' होना स्पष्टित करके फिर उसे 'कार्य' मिद किया जाता है, उसका 'क्षाप्यत्व' निराकृत करके फिर उसे 'जाप्य' सिद्ध किया जाता है। रसको 'परोक्ष' भी नहीं माना जाता, अपरोक्षभी नहीं। उसे 'निर्विकल्पकज्ञानप्राप्त्य' भी नहीं माना जाता, 'सविकल्पकज्ञानप्राप्त्य' भी नहीं। फिर उसे वैसा (सविकल्पकज्ञानप्राप्त्य तथा निर्विकल्पकज्ञानप्राप्त्य) माना भी जाता है। उसे 'भविष्यत्' भी नहीं माना जाता, 'वर्तमान' भी नहीं माना जाता। फिर उभयाभाव-स्वरूप रसको उभयात्मक भी माना जाता है।

इसपर वादीका प्रश्न होता है कि वह (रस) परस्पर-विरुद्ध क्यों होता है ? और वह स्वयं है क्या वस्तु ? इसपर साहित्यकार कहते हैं—'तस्माद् अलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्' ('साहित्यदर्पण')

तृतीय परिच्छेद) अर्थात्-रस अलौकिक-लोकोत्तर है। इसे सहृदयही जान सकते हैं।

फिर वादीका प्रश्न होता है कि वस्तुकी परस्पर-विरुद्धता तो दूषण हुआ करती है, इस (रस) में वह कैसे है? इसी अभिप्रायसे 'काव्य-प्रकाश' में शङ्का की गई है कि—'कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टम्?' अर्थात्—इस संसारमें वस्तु या तो कारक होती है या ज्ञापक, पर यह रस कारक या ज्ञापक दोनोंसे भिन्न कैसे है? इसपर वही सिद्धान्ती द्वारा उत्तर दिया गया है कि—'न क्वचिद् दृष्टम्' इति अलौकिकाव्य-सिद्धेर्भूषणमेतद् न दूषणम्। उभयाभायस्वरूपस्य च उभयात्मकत्वमपि पूर्ववहोकोत्तरतां गमयति, न तु विरोधम्। (अतुर्थ उल्लास, रसनिरूपण)

वार्पय यह है कि इस संसारमें कारक और ज्ञापकसे भिन्न वस्तु कोईभी नहीं देखी गई। पर यह रस उनसे भिन्न देखा गया है अतः यह स्पष्ट है कि रस संसारी लौकिक वस्तु नहीं, किन्तु अलौकिक-लोकोत्तर वस्तु है। लोकोत्तरतामें परस्पर-विरुद्धता स्वाभाविक हुआ करती है। उभयाभायस्वरूप होकर भी उभयात्मक होना—यह अलौकिकताका भूषण है, दूषण नहीं। यही परस्पर-विरुद्धताही वस्तुकी लोकोत्तरता की परिचायिका है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि परस्पर विरुद्धधर्मवत्ता वस्तुकी अलौकिकता बताती है। रस अलौकिक है, अतः उसमें परस्पर-विरुद्धधर्म होना भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार परमात्माको 'रसो वै सः' तैत्तिरीयोपनिषत्, प्रधानेन्द्र वल्ली २ सप्तम अनुवाक, अथवा तैत्तिरीयारण्यक ८ २।७) इस प्रकार रस-स्वरूप माना जाता है। परमात्माको अलौकिक तथा सर्वशक्तिमान् सभी मानते हैं। इसीलिए उस परमात्मामें 'निराकार-साकार' रूपमें परस्पर-विरुद्धधर्मवत्ता उसकी अलौकिकताकी

सिद्धि में अमोघ अस्त्रही है। इस प्रकार परमात्मा अलौकिक तथा सर्व-शक्तिमान् होनेमें निराकारभी होता है और साकारभी। वह अपनी सर्वशक्तिमत्तामें प्रयोज्या-शक्तिको आविष्ट करता है, अप्रयोज्या-शक्ति को नहीं।

वस्तुतः परमात्माको जो कि निराकार कहा जाता है—यहां उसमें आकारका निषेध दृष्ट नहीं होता। आकारका परमात्मामें सर्वथा निषेध दृष्ट होनेपर तो उसमें शून्यतावृत्ति प्रभवत होमी। अतः यहांपर 'निराकार' शब्दका 'अनिर्वचनीय आकार वाला' इस अर्थमें तात्पर्य हुआ करता है। जैसे कि किसीने पूछा कि यहांपर कितने पुरुष हैं ? दूसरेने उत्तर दिया कि असंख्य। यहांपर 'असंख्य' कहनेमें उक्त पुरुषोंका सत्प्राराहित्य अभिप्रेत नहीं होता, क्योंकि उनकी कोई न कोई संख्या तो हुआ ही करती है, किन्तु जैसे यहांपर अभावार्थक भी 'नञ्' संख्याकी अनिर्वचनीयताको बताया करता है, वैसे ही 'निराकार' शब्दमें भी 'निर्' शब्द आकारकी अनिर्वचनीयता दिव्यताको बताता है। जैसेकि ईश्वरके विषयमें वेदोंमें 'नेति-नेति' (बृहदारण्यक ३ (६) ४।२२) सुना आता है। यहांपर परमात्माके निषेधमें तात्पर्य नहीं रहा करता, किन्तु उसकी अनिर्वचनीयतामें तात्पर्य हुआ करता है, वैसे 'निराकार' का 'निर्' शब्द भी आकारके निषेधमें तात्पर्यवान् नहीं, किन्तु उसके आकारकी अनिर्वचनीयतामें तात्पर्य रखता है।

उस निराकारत्वमें न तो परमात्माकी उपासना हो सकती है, न स्तुति, न कीर्तन। न उसका निराकारत्वमें ध्यान हो सकता है, न उसे हम जान सकते हैं। अगम्य एवं अचिंत्य होनेसे न हमारे जीवनपर उसका कुछ प्रभाव पड़ता है, न हम अपनी व्रुटियां पूरी करने और अपनेको उच्च अवस्थामें लानेके लिए उससे कुछ प्रार्थना कर सकते हैं, क्योंकि किसी मानुषी गुण प्रेम, दयालुता आदिका हम उस निराकारके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते, न किसी प्रकारसे उसकी पूजा कर सकते

है, यह हम बात १४वें निबन्धमें बता चुके हैं। इस रूपमें वह हमारे ज्ञानका परम लक्ष्य तो हो सकता है, पर उपास्य नहीं। उपास्य वह अपने विशिष्ट रूपोंमें ही—माकार रूपमें ही हुमा करता है।

पहले कहा जा चुका है कि परमात्मा लोकोत्तर होता है, अतः उसमें विरुद्ध-धर्म होना स्वाभाविक है। अब उस (परमात्मा) में वेदादिशास्त्रानुसार परस्पर-विरुद्ध धर्म देखें—

‘अजायमानो बहुधा विजायते’ (यजुर्वेद वा० सं० ३१/१६) यहाँ पर परमात्माको ‘अजायमान’ कहा है, इधर ‘विजायते’ से उसका विशेष जन्म कहा है, यह परस्पर विरुद्धता है ‘स एव मृत्युः सोऽमृतम्’ (अथर्व-शा० सं० १६/४-३/२६) यहाँपर उसे मृत्यु तथा अमृत कहा गया है। ‘तदेजति-तन्नैजति, तद्दूरे-तद् अन्तिके। तदुन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः’ (यजुर्वेद वा० सं० ४०/६, यहाँ उसे चलनक्रिया-शील तथा चलनक्रियारहित, दूर और समीप, भीतर और बाहर बताया है। ये भी परस्पर विरुद्ध-धर्म हैं। ‘नासदासीद्, नो सदासीत्’ (अ० शार्ङ्ग सं० १०/११६/१ यहाँपर उसे सत् अथवा असत् से भिन्न कहा है। ‘अणोरणीयान्, महतो महीयान्’ (श्वेताश्वतरउपनिषद् ३/२०) ‘सर्वेन्द्रिगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्’ (श्वेता० ३/१७, गीता १३/१४) ‘नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय च अपरजाय च’ (यजुः वा० सं० १६/३२) यहाँ परमात्माको छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा इन्द्रियरहित और इन्द्रियरहित कहा है। जिन उपनिषदोंमें उसे ‘अपाणिपादो जवनो ग्रहीता’ (श्वेताश्व ३/१६) इस प्रकार निराकार कहा है, वहीं उसे ‘सर्वतः-पाणिपादं तत् सर्वतोर्चिशरोमुखम्’ (श्वेता० ३/१६) ‘विश्वतरचक्षुरत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरत विश्वतस्पात्’ (वा० यजु० सं० १०/१६) इस प्रकार साकारभी कहा है। तब

परमात्मामें निन्दधर्मता सिद्ध होनेसे उसमें अलौकिकता सिद्ध हुई। अलौकिकता होनेसे उसमें निराकारता-साकारताभी सिद्ध हुई। इस प्रकार उसे निगुण तथा सगुण, न्यायकारी तथा दयालु भी लोकोत्तर होनेसे कहा जाता है। जब परमात्मा साकारभी सिद्ध होगया; तब उसके अवतार होनेमें कोई भी बाधा न रही। जबकि वह ब्रह्माण्डके अणु-अणु और कण-कणमें व्याप्त है और उसकी शक्ति अग्नि, जल वायु, आकाश, पृथिवी आदिमें ओल-प्रोल हो रही है, तब वह किसी विशिष्ट केन्द्रमें भी प्रकट हो जाता है। इसी विशेष केन्द्रमें प्रकट होनेकी परिभाषाको ही 'अवतार' कहा जाता है।

एक स्थलमें उसकी प्रकटता हो जानेपर उसकी अन्यत्र सत्ता नष्ट नहीं हो जाती, अथवा वह इससे एकदेशी नहीं हो जाता। जोकि कहा जाता है कि—'आरण्य, सच्चिदानन्द, निर्विकार, परिपूर्ण, सर्वशक्तिमान् परमात्माका अवतार नहीं हो सकता, क्योंकि वह सत्यसे बड़ा और निराकार है, तब वह मनुष्य आदिके, छोटे-छोटे शरीरों और बहुत छोटे-छोटे गर्भाशयोंमें कैसे प्रवेश कर सकता है? इस कारण उसका अवतारभी नहीं हो सकता'—इसपर यह जानना चाहिये कि आकाश सब ससारी पदार्थोंमें बड़ा है और निराकार है। परमात्माकी अवेष्टा महा-स्थूलहै, क्योंकि परमात्माके लिए 'सूक्ष्माप्य तत् सूक्ष्मतरं विभाति' कहा जाता है। इस प्रकार उस परमात्माकी अवेष्टा स्थूल भी आकाश यदा आदि छोटी-छोटी वस्तुओंमें अपनी पूर्णतासे प्रवेश करके घटमें घटाकाश नामसे और महदादिमें महाकाश आदि नामसे प्रसिद्ध हो जाता है, यदा आदिके नाशमें भी उसका नाश नहीं होसकता, जो आकाशसे भी महा-सूक्ष्म परमात्मा यदि माताके गर्भाशयमें 'जन्मकर्म च मे दिध्यम्' (गीता ४।६) दिव्यरूपमें अवतीर्ण हो जाता है, तो इस विषयमें आश्चर्यका अवकाश क्या?

जब भगवान् न होता हुआ भी निराकार जीव, देहके सम्बन्धमें विकारको प्राप्त नहीं होता, तब भगवान् सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, मायाका वशकर्ता परमात्मा अवतार लेनेमें भी विकारयुक्त नहीं होता। अग्नि और विजुली निराकार रूपमें सर्वव्यापक होते हैं, परन्तु धर्पणादि कारणवश ये कहीं-कहीं प्रकट भी हो जाते हैं। एक स्थलमें प्रकट होकर भी अन्य स्थानमें उनकी गत्ता नष्ट नहीं होती, और न कहीं उन्हें बन्धनही होता है। यादलोंमें प्रत्यक्ष दीखती हुई भी विद्युत् वहांसे नीचे पृथिवीपर गिर करभी अन्य स्थलमें नष्ट नहीं हो जाती, उसकी सर्वव्यापकता फिर भी अच्युत रह जाती है। एक स्थानमें प्रकट होकर तथा शुष्कर भी अग्नि अन्यत्र अभाववान् नहीं हो जाती, और न ही वह मूलभूत महाग्निसे भिन्नही होती है, या भिन्न रहती है—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा-वशिष्यते' (बृहदारण्यक २।१।१)।

निराकार रूपमें भी यद्यपि अग्नि सर्वव्यापक रहती है, तथापि वह साधारण पुरुषोंके उपयोगमें नहीं आसकती। कहीं प्रज्वलित होनेपरभी उसकी सर्वव्यापकतामें बाधा नहीं आती। प्रज्वलित अथवा प्रज्वलित अग्निमें कोई वास्तविक भेद नहीं हुआ करता, परन्तु प्रज्वलित होकर ही वह लौकिक पुरुषोंके उपयोगमें आती है। इस कारण उस समयमें वह उपास्य भी होती है। यही बात परमात्माके अवतार-विषयमें भी समझनी चाहिये। उस समय परमात्माका श्रेष्ठोंके साथ स्नेह तथा अधर्मोंके प्रति क्रोधभी स्वाभाविक होता है। उस समय औपचारिकतासे उसका जाति-विशेषसे सम्बन्ध तथा वर्णाश्रमधर्मसे सम्बन्धभी अनशितार्थ हो जाता है। जैसे एक अग्निका एक देशके भी भिन्न-भिन्न स्थलोंमें एक साथ ही प्राकट्य हो जाता है; वैसेही दो अवतारभी राम-परशुरामकी भांति एक-देश तथा एक समयमें भी प्रकट हो जाते हैं। उसप्रज्वलित अवताराग्निके पृथिवीसे तिरोभूत हो जानेपरभी उसकी शक्ति दिव्य होनेसे यहां भी अच्युत रह जाती है। उसे प्राणप्रतिष्ठापित सत्तत्-पार्थिव मूर्तिमें केन्द्रोभूत करके दुहा

जा सकता है। यही दुही हुई प्रज्वलित शक्ति भक्तोंकी कामनाओंकी पूर्ण करती है, अतः वह उसके अधिकारी पुष्पोंमें उपास्य भी हुआ करती है। यही मूर्तिपूजाका भी रहस्य है, अतः तारवाद ही मूर्तिपूजाका प्राण हुआ करता है।

अस समय कोई दो लकड़ियोंको घिसता है, उनके सघर्षमें, अथवा पत्थर लोहेको रगड़ने अथवा दियापलाईसे वा आतिशा शीशेमें धनिका प्राकृत्यही अग्निका अतार है; वैसेही जब आसुरी सम्पत्ति देवी सम्पत्तिसे सघर्ष करती है उस समय निराकार परमात्मा साकार होकर प्रकट हो जाया करता है, इसीको परिभाषिक रूपमें 'अतार' कहा जाता है। जैसे 'अनुदरा कन्या' का यह अर्थ नहीं कि 'पद्म रहित लक्ष्मी' क्योंकि पद्म बिना लक्ष्मी हो ही कैसे मरती है? तब 'अनुदरा कन्या' का अर्थ किया जाता है बहुत सूक्ष्म, छटे पत्र वाली लक्ष्मी। जैसे कि—'अनलङ्घ्यता पुनः कदापि' ॥ अलङ्कारित लोग नभूका अभाव अर्थ 'अलङ्काररहित शब्दार्थ' न कहकर 'कहीं कहीं अस्फुट अलङ्कार वाले शब्द और अर्थ' यह अर्थ किया करते हैं। चित्रकाव्यमें 'अव्यङ्ग्य' का 'व्यङ्ग्यसे रहित शब्दचित्र, अर्थचित्र' अर्थ न करके जैसे 'अस्फुट व्यङ्ग्य' यह अर्थ किया जाता है, वैसेही 'निराकार' शब्दमें स्थित 'निर्' परमात्माके आकारका सर्वथा निषेधक नहीं। वेदमें परमात्माके लिए आया हुआ 'नेति नेति' (बृहदार० ४ (६) ४।२२) शब्द परमात्माके अभावको नहीं बताता; किन्तु उसके आकारकी 'अनिर्वचनीयता' ही 'निर्' शब्दसे बोधित होती है, अन्यथा 'निराकार' में 'निर्' शब्द सर्वथा अभाव अर्थ वाला माना जावे, तो परमात्मामें शून्यताकी प्रसक्ति हो जावेगी। पर यह दृष्ट नहीं, अतः 'निराकार' का अर्थ 'अनिर्वचनीय' ॥ 'सर्वजनदुर्वेद्य आकार वाला' यही अर्थ है, 'साकार' का 'सर्ववेद्य अपना 'वचनीय आकार विरोध वाला' यह अर्थ है। तब इसमें उस परमात्माकी लोकोत्तरताके कारण कोई दोष वा

विरोध नहीं पड़ता । निराकारभी जीवात्मा जब अल्पशक्ति वाला होता हुआ भी आकारको धारण कर लेता है; तब सर्व-शक्तिमान् होकर भी परमात्मा मायिक-शरीर धारण करके साकार क्यों न बन सके ?

जो यह कहा जाता है कि 'जीव तो कर्मबन्धनमें बद्ध होकर ही शरीर-धारण करता है; तो क्या परमात्मा भी बन्धन-बद्ध है, जोकि शरीरधारणरूप-अवतार ग्रहण करता है ?' इसपर यह जानना चाहिये कि कैदी तो किसी कर्मके कारण—चाहे चोरी आदि दुष्कर्म हो, या देश वा धर्मविरोधका हित-विरोधरूप सुकर्म हो, जो राजाको प्रिय न हो—जेलखानेमें आता है और उसमें बन्धा रहता है, उस कर्मके दण्डकी अवधि समाप्त होनेपर राजाके द्वारा जेलखानेसे छूटता है; पर राजा उसी जेलखानेमें अपराधियोंपर दया करनेके लिए स्वयं स्वतन्त्रता से आता है । इस प्रकार परमात्मा भी, क्योंकि 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (गीता ४।६) न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (गीता ४।१४)

अवतार होनेमें प्रमाणभूत 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।' (या० यजुर्वेद सं० ३।१।१६) । इत्यादि यद्वत्से वेदमन्त्र हैं । 'विजायते' का अर्थ स्वामी दयानन्दजीं भी 'विशेषकर प्रकट होता है' यही किया है । 'विशेषकर प्रकट होना' ही तो 'अवतार' होता है; जैसे वह अप्रकट-रूपमें तो सर्वत्र व्यापक रहता ही है । अस्तु, इसी मन्त्रका अधिकज्ञ तथा स्पष्ट धनुवाद—

'अजोपि सन्नय्ययात्मा भूतानामोश्वरोपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामपष्टम्य सम्भवाम्वात्ममायया ॥' (४।६)

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।' (४।७)

इत्यादि 'भगवद्गीता' के पद्य हैं ।

'महामाय' में कहा है—'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुराते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति ।' (१।२।१४) एक इन्द्र सैकड़ों यज्ञोंमें पुजाया

(१७) मनुष्ययोनि से देवयोनि की भिन्नता

हिन्दुधर्म सनातनधर्मके साहित्य-वेदादिशास्त्रोंमें प्रचुर-मात्रामें व्याप्त है; तब जो सनातनधर्मका प्रखुन्न या प्रकट विरोधी अर्वाचीन सम्प्रदाय उसपर प्रहार करना चाहता है; वह पहले इस पितृ-पूजा तथा देव-पूजाको अवैदिक एवंपुराण-प्रोक्त कहकर उसे उड़ा देना चाहता है; पर जब वही बात वह स्वमान्य वेदमें भी पाता है; तब उससे अपनी जान छुड़ानेके लिए वह उन्हें मनुष्यमिष्य दिव्य-योनि न मानकर मनुष्ययोनि ही सिद्ध करना चाहता है। उसमें हम पितृपूजा पर तो पहले लिख ही चुके हैं कि—इस लोकसे मरकर पितृलोकमें पहुँचे हुए पितर कहलाते हैं; उनकी पूजा आद्यादिसे करनी चाहिये इत्यादि। अब अवशिष्ट देवपूजापर भी लिखना आवश्यक है।

यह हम पूर्व कह चुके हैं कि—देवता अग्नी परमात्माके विशेष अङ्ग है। अग्नीकी पूजा अङ्गके बिना हो ही नहीं सकती; और हम उन देवताओंकी कृपासे ही जीवन प्राप्त कर रहे हैं; तब देवपूजा भी हिन्दुधर्मका आवश्यक अङ्ग है। तभी भगवान् ने अपनी गीतामें कहा है—
 'देवान् भावयतानैन तं देवा भावयन्तु यः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' (३।११) इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ-भाविताः। तैर्दत्तान् अग्रदायैम्यो यो मुञ्क्ते स्तेन एव सः' (३।१२)
 जैसे देवोंने हमें अपना कान्ध वेद दिया है, अपनी नदी गङ्गा दी है, वैसे हमपर अनुग्रह करके अपनी वाणी देव (संस्कृत) भाषा भी हमें दी है, यही कारण है कि—संस्कृत-साहित्यमें देवयोनिका पर्याप्त वर्णन दीखता है। लेकिन आजके कई अर्वाचीन आर्यसमाज आदि

सम्प्रदाय देवयोनिकी सत्ताकी छिपाते हुए उसे मनुष्ययोनि से अभिन्न बताते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि—विद्वान् अथवा सत्यवक्ता मनुष्यही देवता हुआ करते हैं—देवयोनि कोई मनुष्ययोनिसे स्वतन्त्र योनि नहीं है। वे यहाँ प्रमाणस्वरूप 'विद्वांसो हि देवाः' इस शतपथ-ब्राह्मणके वचनको देकर विद्वान्-मनुष्योंको ही देवता तथा सत्यसंहिता के देवा अतुल्य मनुष्याः इस ऐतरेय ब्राह्मणके वचनको देकर सत्यवक्ता मनुष्योंको ही देवता सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं—देवताओंको वे मनुष्य-भिन्न नहीं मानना चाहते। यदि-उनको यह धारणा सच्ची मानी जाये; तो हमारे प्राचीन साहित्यकी अधिक, अंश-निकम्मा हो जाता है। यह देवमहिमा और देवता-उपासना व्यर्थ हो जाती है, इस-कारण इस निबन्धमें हमपर वेदादिशास्त्रोंका अभिप्राय दिया जाता है।

(१) (क) 'विरवे देवा अमर्त्याः' (यजुः वा० स० २१।१७) यहाँ पर देवताओंको मनुष्योंसे भिन्न बनाया गया है। (ख) 'सुमावीरिन्द्र ! मर्यः तव ऊतिभिः' (अथर्व० २०।२५।१) ये इन्द्र ! मनुष्य तेरी रक्षाओंसे रक्षित होता है। यहाँपर इन्द्र आदि देवताओंको उपर्जाग्य और मनुष्योंको उपजीवक और इन्द्र-देवताको मनुष्योंसे भिन्न बतलाया है। (ग) इसीलिपि ही 'इन्द्र ! ओजिष्ठ ! ओजिष्ठस्त्वं देवेषु असि, ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्' (यजु० ८।३६) यहाँ भी देवता और मनुष्योंका भेद स्पष्ट है। यहाँ वक्ता अपनेको इन्द्रसे अलग बताता है। वह इन्द्रको देवताओंमें बलवान् बताता है और अपनेको मनुष्योंमें बलवान् बनानेके लिए इन्द्रसे प्रार्थना करता है। इससे स्पष्ट है कि देवयोनि भिन्न है और मनुष्ययोनि भिन्न, और इन्द्र कोई विशेष देव है, मनुष्य नहीं; और उससे घर भी मांगा जा सकता है।

(२) यहाँ यह भी स्मर्तव्य है—जो पस्तु जिससे अभिन्न होती है,

अर्थात् 'वही' होती है, वही भिन्नता बताने वाले 'च' (और) वा (अथवा) उत (और) आदि शब्द कभी नहीं हुआ करते । जैसे—
 'स्वा० दयानन्दजी आर्यसमाजियों और आर्यसमाजियोंके नेता थे' ।
 यह वाक्य नहीं बन सकता, क्योंकि—दोनों आर्यसमाजी शब्दोंका आपसमें भेद न होनेसे उसमें भेद प्रदर्शक 'और' शब्द नहीं आ सकता । 'यहां मनुष्य और मानुष इकट्ठे हुए' यह वाक्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि—मनुष्य और मानुष शब्द आपसमें पर्याय शब्द हैं, उनमें भेद कैसे हो सकता है ? जब उनमें भेद नहीं, तो भेद प्रदर्शक 'और' शब्द भी यहां आ नहीं सकता, परन्तु वेद में देवता मनुष्योंके बीच में 'और' अर्थ बताने वाले 'च, वा, उत' आदि शब्द बहुधा आते हैं उसमें उनका भेद स्पष्ट हो जाता है । उदाहरण-स्वरूप कई वेद-मन्त्र उपस्थापित किये जाते हैं । 'आलोक' पाठक उन्हें सावधानतासे देखें—

(क) 'अमृतानाम् (देवानाम्) उत वा मर्त्यानाम्' (ऋ १०।३।८)
 (ख) 'दिवेषु उत मानुषेषु' (अथर्व० ४।२८।१) (ग) 'देवानामुत यो मर्त्यानाम्' (ऋ० ६।१२।१३) (घ) 'य देवा उत मर्त्यास' (ऋ० ८।४८।१) (ङ) 'मानुषीणा विशा, दैवीनामुत' (अथर्व० २०।१।१२) (च) 'देवानामुत मानुषाणाम्' (अ० ४।३०।३) (छ) 'यस्मिन् देवा अमृतं यस्मिन् मनुष्या उत' (अ० १२।२।१७)
 इत्यादि मन्त्रोंमें 'उत' शब्द देवता एवं मनुष्योंमें भेद ग्राहक है । अभिन्नमे 'उत' शब्दका अन्तर नहीं हुआ करता, सब वादियोंकी या तो वेद आदि शास्त्र छोड़ने पड़ेगे, अथवा देवयोनिकी मनुष्ययोनि से स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ेगी । (ज) तभी वाल्मीकि रामायणमें 'देवो वा मानुषो वा ख' (युद्धकाण्ड १२७।४३) यहाँ दोनोंका भेद प्रदर्शक 'वा' शब्द आया है ।

(२) अब इस प्रकारके मन्त्र दिये जाते हैं; जिनमें देवता और मनुष्यों का मिश्र करने वाला 'च' शब्द आता है।

(क) 'यत्र देवाश्च मनुष्याश्च' (अथर्व० १०।८।२४) (ख) 'दैवीश्च विशो मानुषीश्च' (यजु १०।८६) (ग) 'तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या देवानां या च 'मानुषाणाम्' (निरुक्त १३।६।१) (घ) 'देवाश्च मनुष्याश्च' (शतपथ २।३।४।४) (ङ) 'ये च देवा असुर ! ये च मर्ताः' (ऋ० २।१०।१०) (च) 'देवस्य मर्त्यस्य च' (ऋ० २।०।२) (छ) 'अन्तर्देवान् मर्त्याश्च' (ऋ० ८।२।४) (ज) 'तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति-दैवीं च मानुषीं च' (काठक सं० १४।१) (झ) इसी प्रकार 'महाभारत' में भी देव-मनुष्योंका भेदप्राप्तक 'च' शब्द आया है—'देवानां मानुषाणां च' (वनपर्व २०।१।२१)

(४) अब दूसरे शब्दोंके अन्तरसे भी देव-मनुष्योंकी पृथक्ता बताने वाले वेद-मन्त्र उपस्थित किये जाते हैं। पाठक देखें—

(क) 'पुनर्य देवा अददुः, पुनर्मनुष्या अददुः' (अ० २।१०।१०) यहाँ देव-मनुष्य दोनोंके मध्यमें दो बार दिया हुआ पुनः 'शब्द दोनोंका पृथक् दिखला रहा है। (ख) 'देवस्य वा मर्त्यो ! मर्त्यस्य वा ईजानस्य' (ऋ० ६।४।२०) यहाँपर तथा (ग) यदि वाऽसि देवकृता यदि वा पुरुषैः [मनुष्यैः] कृता' (अ० २।१२।१०) यहाँपर भी 'वा' शब्दसे दोनोंकी भिन्नता स्पष्ट है। (घ) 'अग्निर्देवेषु राजति, अग्निर्मर्तेषु आविशन्' (ऋ० २।२।१४) इस मन्त्रमें देव और मनुष्योंके बीचमें दो बार कहा हुआ 'अग्नि' शब्द दोनोंकी भिन्नतामें तात्पर्य-प्राप्तक है। यदि यहाँ 'देव' मनुष्यका नाम होता; तो आगे 'मर्तेषु' कहना व्यर्थ होता। (ङ) 'चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम् इति उभयेपा' ह पृथक् देव-मनुष्याणां पृथक्' (शतपथ ६।२।३।२८) यहाँपर 'उत' शब्द तथा

‘उभय’ शब्दसे दोनोंकी भिन्न-भिन्नता व्यक्त है। (घ) ‘तस्य यज्ञस्य सम्पत्त्या तुतुषुर्देवता अपि । विस्मयं परमं जग्मुः किमु मानुष-योनयः’ (शत्यूपर्व ३८।१०) इस महाभारतके पद्यमें ‘देवता अपि विस्मयं जग्मुः मानुषयोनयस्तु किमु’ इस प्रकार अर्थापत्ति द्वारा भिन्न-भिन्न कहनेसे भी दोनोंका भेद सुस्पष्ट है। (ङ) ‘अथ देवैर्देव-कृतमेनोऽव्ययं मर्यादमर्त्यं कृतम्’ (यजुः २०।१८) यहां भी भिन्नता स्पष्ट है।

(२) अब वेद ‘न’ आदि शब्दोंसे देवता और मनुष्योंकी भिन्नता दिखलाता है, पाठक उसपर भी ध्यान दें—

(क) ‘नहि त्वा शूर ! देवा न मर्तासो विस्मन्तः’ (सामवेदसं० उत्तरार्धक २।२।२।३) — हे शूर इन्द्र ! जब तुम देना चाहते हो न तुम्हें देवता रोक सकते हैं, न मनुष्य रोक सकते हैं। यहांपर दोनों में व्यवधान करने वाला ‘न’ शब्द दोनोंकी एकता काट रहा है। (ख) अदेवः...मर्त्यः’ (श्रु० १०।७० (२६)। ७) यहांपर मर्त्यकी अदेव यत्नानेसे (ग) ‘देवो न मर्त्या’ (श्रु० १०।२२।२) यहां देवकी अमर्त्य यत्नानेसे नज् दोनोंको भिन्न यता रहा है। (घ) ‘नतु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित्’ (महाभारत-उद्योगपर्व ३५.२०) विरोचन दैत्यके इस वाक्यमें दोनोंकी भिन्नता स्पष्ट है। (ङ) ‘नहि देवो न मर्त्यो’ (श्रुतं १।१६।२) यहां दोनों में गृहीत ‘न’ शब्द दोनोंको भिन्न-भिन्न यता रहा है। (च) ‘न ते वर्तास्ति राघस इन्द्र ! देवो न मर्त्यः’ (अथर्व० २०।२७।४) हे इन्द्र, जिसे तू धन देना चाहता है, उसका निवारक न देवता हो सकता है, न मनुष्य। यहां भी भेद स्पष्ट है। (छ) ‘सत्य-मित् तन्न त्वावो अन्यो अस्तीन्द्र ! देवो न मर्त्यो ज्यायात्’ (श्रु० ६। ३०।४) यहां इन्द्रकी देव-मनुष्य दोनोंमें बड़ा बतानेसे देव एवं मनुष्योंका भेद सुस्पष्ट है (ज) ‘न या अदेवो वरते न देवः’ (अथर्व० २०।३६।११) यहां अदेव और देवकी अलग-अलग कहा है। (झ)

इसी तरह 'न किं देवा वारयन्ते न मर्ताः' (श्रु० १।१०।१६) (घ) 'न यस्य देवा देयता न मर्ताः' 'शर्वसो अन्तर्मापुः' (श्रु० १।१००।१२) 'जिसका देवता भी अन्त नहीं पा सके, मनुष्य भी अन्त नहीं पा सके' यहाँ भी देव-मनुष्यका भेद प्रत्यक्ष है। 'मर्तः' मे मनुष्य मात्रका ग्रहण है; तब 'आर्षाभिबिम्ब' में इसका 'साधारण मनुष्य' अर्थ करते हुए स्वा० द० जीका पक्ष निर्मूल सिद्ध हुआ। (८) 'महती देवता ह्येषा नररूपेण विद्यति' (७।८) मनुके इस पक्षसे भी देवता और नरोंका भेद सिद्ध हो रहा है।

(९) अब विश्व-पाठक वेदमें 'देवता और' मनुष्योंका पृथक् पृथक् ग्रहण भी देखें—(क) देवाः, पितरोः मनुष्या, गन्धर्वाप्सरसरच ये' (अथर्व० १०।६।६, ११।७।२७) 'यहाँपर 'उच्छिष्टाज्जिरे सर्वे' यहाँ 'सर्वे' कहनेसे तथा पृथक् पृथक् कहनेसे देव, पितर तथा मनुष्य भिन्न-भिन्न योनि सिद्ध होते हैं। (ख) 'यं देवा, पितरो, मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा' (श्रु० १०।६।२२) यहाँपर भी देवता, पितर तथा मनुष्य भिन्न-भिन्न कहनेसे भिन्न-भिन्न योनियाँ सिद्ध होती हैं; तब पितर जीवित-मनुष्य, तथा देवता विद्वान्-मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध हो गये। (ग) 'देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि' (यजुः वा० सं० ८।१३) यहाँ भी तीनोंका भेद विस्पष्ट है। (घ) 'पितृ-देव-मनुष्याणां वेदरचष्टुः सनातनम्' (१२।६४) इस तथा 'अपिप्ल' देवयज्ञ, भूतयज्ञ च सर्वदा। नृत्यज्ञ, पितृयज्ञ च यथाशक्ति न हापयेत्' (४।२१) इन मनुके श्लोकोंमें भी मनुष्य पितर-देव-अपि भिन्न-भिन्न योनि सिद्ध हो जाते हैं। यदि देवता, अपि, पितर, नर समानयोनि वाले हों तो पञ्च महापञ्चाकी पाच संख्या नहीं घटती। अपिसृष्टि भी मानुषी सृष्टिसे भिन्न होती है; तब इनके व्यवहार भी एक जैसे नहीं हो सकते। फिर जो कि

पुराणोंमें अर्पि तथा देवोंके आचरणको मानुषी-दृष्टिकोणसे जोचा जाता है—यह शास्त्रानभिज्ञता है।

(द) इसी कारण 'देवान्, मनुष्यान्, असुरान्' उक्त ऋषीन्। (अथर्व०-६।१।२४)।-(घ) देवाँश्च, मनुष्याँश्च, पशूँश्च, वयांसि च। (छान्दोग्य-उपनिषद् ७।२।१) (छ) देवा, मनुष्या, असुराः पितराः (श्रु० १०।१०।२६)।(ज) तानि यातृतानि चत्वारि अर्म्भा मि, देवा, मनुष्याः, पितरोऽसुराः (तैत्तिरीय ब्रा० २।३।८ (३) इन स्थलों में देवता मनुष्यादिको भिन्न-भिन्न माना गया है। (क) इसी प्रकार 'देवत्व सात्त्विका यान्ति, मनुष्यत्वं च राजसा'। तिर्यङ्मय तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः' (मनु० १२।४०) यहाँपर दूसरे जन्ममें देव, मनुष्य, पशु पक्षी, (ग) 'नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गति' (१२।४८) यहाँ दैत्य, (ङ) 'यज्वान् ऋषयो देवा द्वितीया सात्त्विकी गतिः' (मनु० १२।४६) यहाँ ऋषि, (ठ) 'पितरश्चैव सात्त्विक' (१०।४६) यहाँ पितर जो कि भिन्न-योनि यताये गये हैं, यह सब पूर्वोक्त वेद-मन्त्रोंके अनुकूल है। (ड) स्वा०द०जीकी सस्मरणविधि गृहाश्रमप्रकरण, पितृयज्ञ २२७ श्रुष्ट में 'पितृभ्य स्वधायिभ्य स्वधानमः' पितरोंको स्वधा-योग्य, और शालाकर्मविधि २३८ श्रुष्ट में 'देवेभ्यः स्वाद्येभ्यः स्वाहा' यहाँ देवताओंको स्वाहा-योग्य बताकर देवता पितरोंका भेद भी स्पष्ट कर दिया गया है।

(७) अथ 'आलोक' के पाठकगण देवता और मनुष्योंके अन्य भेद भी देखें—(क) 'इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमभवम्। नह्यस्या अपरं च न जरता मरते पतिः' (श्रु० १०।८६।१२) यहाँ इन्द्रकी पत्नी इन्द्राणीके पति इन्द्रका बुढ़ापेसे भी मरणाभाव सूचित करनेसे 'देव-मनुष्योंका भेद स्पष्ट है; क्योंकि—मानुषियोंका पति तो बुढ़ापेमें

मरही जाता है। देवताओंमें तो 'देवा मृत्युमपाप्मत' (अ० ११।५। १६) पृथ्वादि वेद वचनाके अनुसार अमरता हुआ करती है। इसलिपु शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है—'अमृता देवा' (२।१।१।४) पर मनुष्य अमर नहीं होते, तब देवताओं और मनुष्यों का भेद स्पष्ट हुआ।

(ख) जो श्रीधर्मदेवजी सिद्धान्तालङ्कार आदि आर्यसमाजी विद्वान् मनुष्योंको मार्य होनेपर भी 'जयन्ति ते सुहृदिनो रससिद्धा कवीश्वरा । नास्ति येषां यश काये जरामरणज भयम्' इससे यश-हारा अमर बताकर मनुष्योंको देवताओंमें अभिन्न सिद्ध करनेका व्याज किया करते हैं, उनसे प्रत्यक्ष है कि—क्या वह आप लोगोंका वैदिक प्रमाण है ? यस्तुत यह क्या भी व्यर्थ है, क्योंकि अमर यश वाले कवियोंकेलिपु भी 'अमर्यं' शब्द वा 'दय' शब्द नहीं आता, निम्नु वे 'मनुष्य' ही कहे जाते हैं। हा, मृत्युवश स्वर्ग जानेपर अमरता हुआ करती है। इसीलिपु 'काठकगृह्यसूत्र' में वर वधूको कहता है। 'मुनिपर्वते गिरौ हरितसकारो । सकल्पपरमणोऽमरौ उभौ समनसौ चराव' (१२) इस मन्त्रके विवरणमें देवपालने लिखा है—'हे यधु ! सुवर्णमये मेरी सकल्पमात्रेण सर्वाभिलषित-स वल्लभाहि-र्यन्त्र, तत्र सकल्पपरमणे अमरशु धर्मकी देवी मूखा उभावपि प्रसन्न-चित्तौ सचरित्याव पुरुषायुषे पूर्णौ' । तब मनुष्य और देवताक मृत्यु अमरताके भेद हानेस भी परस्पर भेद सिद्ध हुआ।

जोकि श्रीधर्मदेवजी चिन्तासु आदि आर्यसमाजी विद्वान् 'अग्ने'यज्ञे पु मानुष' (अ० १।४४।१०) तथा १।८४।२०, २।१८।१ आदि मन्त्रोंमें इन्द्र अग्नि आदिकी 'मनुष्य' शब्दसे युक्त देखकर देव-मनुष्यों का अभेद बताना चाहते हैं—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि—उक्त स्थलों में 'मनुष्याणां हित' मनुष्येभ्यो हित' इत्यादि ही अर्थ है। हित आदि अर्थमें यत् वा अय् प्रत्यय है, श्रीसायणाचार्यने भी वैसा

ही अर्थ किया है । 'तस्मै हितम्' (अष्टा० १।१।६) 'छन्दसि च' (१।१।६७) 'इतो यमां यमि लोपः' (मा० १।६४) इत्यादि सूत्रोंसे उन प्रयोगोंकी सिद्धि होती है । तब वादियोंके यह व्याज निमूल होने से देवता तथा मनुष्योंकी भिन्नता स्पष्ट है । (८) 'मनुष्यजातिः— पशु उदिरय श्रेयसी, देवान् अधीश्च अधिष्ठत्य न' (४।३३) । योग-दर्शन-व्यासभाष्यके इस स्थलमें देवता और मनुष्य एवं ऋषियोंकी भिन्न-भिन्न योनि मानी गई है । (९) 'सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः' (अथर्व० १।१।७।२७) यहां देवताओंका निवास धुलोकमें माना गया है, 'मनुष्य धुलोकमें नहीं रहते । इसीलिप्य निरुक्तमें, 'धुस्थानो देवाणः' (१२।४१।१) यह कहा है । इसी कारण शास्त्रोंमें देवताओंको 'दिवौकसः' कहा जाता है । 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (श्रु० १०।१।६०।३) इस मन्त्रमें धुलोकको पृथिवी-लोकसे भिन्न माना गया है; तब पृथिवी-निवासी मनुष्य धुलोकनिवासी देवताओंसे भिन्न सिद्ध हुए । (१०) 'न वै देवा अधन्ति' (छान्दोग्य उपनिषद् ३।६।१) यहां देवताओंका भोजन करना नहीं माना है; पर मनुष्य तो भोजन करते हैं; तब भी इनका परस्पर-भेद सिद्ध हो गया । (११) 'न वै देवाः स्वपन्ति' (शत० ३।२।२।२२) यहांपर देवताओंका शयन नहीं बताया गया; पर मनुष्य तो सोते हैं; तब इनका भेद सुस्पष्ट है । (१२) 'द्राघीयो हि देवायुषः' 'हसीयो मनुष्यायुषम्' (शत० ७।३।१-१०) सूर्य आदि देवताओंकी आयु सुदीर्घ देखी ही गई है; पर मनुष्योंकी नहीं—इस तरह भी उनका भेद स्पष्ट हुआ । (१३) 'तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः' (३।१।१।८) यहां देवताओंका मनुष्योंको छिपसे तिरोधान (छिपना) बतलाया है, पर मनुष्य तिरोहित नहीं होते । (१४) 'मनो ह वै देवा मनुष्यस्य आजानन्ति' (शत० २।१।४।१) यहांपर देवताओंका मनुष्योंके मनका वृत्त जान लेना कहा है; पर

मनुष्य दूसरोंका मन नहीं जान पावे । 'प्ररो' हि मर्तैरसि तसमो देवैः' (शत० ६।४८।१६) यहापर पूषा देवता है । उसे मनुष्योंसे भिन्न तथा देवोंसे अभिन्न बताकर देवता एव । मनुष्योंका भेद स्पष्ट कर दिया गया है । (१२) 'एको देवश्चा द्यसे हि मर्त्यान्' (शत० ११।१।७) हे इन्द्र ! देवताओंके बीचमें तू ही एक मनुष्यों पर दया करता है — यहापर भी अभिक्ति भेद स स्पष्ट भेद है ।

(१६) 'देवा ये नाकसद' (शत० १५।१।११-) 'यैर्वै सूर्या देवातामायतनम्' (शत० १४।१।२।१२) यहाँ — देवताओंको पर्याप्तलोकमें रहने वाला कहा है, परन्तु (विद्वान् मनुष्य भी पृथिवीलोकमें ही रहते हैं । तब, देव, और, विद्वान् में भी भेद सिद्ध हुआ । (१७), महाभाष्य, पस्याशाद्विक में एक श्रुति उद्धृत की गई है — 'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षमहस' प्रतिप-दोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नचान्तं जगाम । यहापर देवताओंके वर्ष बताये गये हैं । यदि देवता शब्दका, 'विद्वान्' अर्थ दिया जाये; तो क्या विद्वान् मनुष्य और, मूर्ख-मनुष्योंका वर्ष परिमाण भिन्न होता है ? क्या मूर्खोंका एक वर्ष विद्वानोंका एक दिन-रात है ? यदि नहीं, तब देवताओं-मनुष्योंका कालगणना-भेदसे भी, भेद सिद्ध होगा और स्वामीद्यानन्दजी आदिभीमनुष्योंकी हजारवर्षकी आयु नहीं मानते, यहाँ बृहस्पति और इन्द्रका एक दिव्य हजार वर्ष तक व्याकरण-का पढ़ना-पढ़ाना माना है। तब इन्द्र-बृहस्पति आदि देवता मनुष्य-भिन्न योनि सिद्ध हुए । यदि यहाँ पादी वर्षका अर्थ 'दिन' करें, तो हजार दिनोंके डार्ड साल होते हैं । इतने समयमें यदि 'शब्दपारायण' समाप्त नहीं होता, तब इससे कोई आश्चर्य नहीं — क्योंकि यह बहुत समय नहीं । पर उस श्रुतिके द्वारा आश्चर्य बताया गया है । इस कारण — किसी भी भान्ति यादियोंकी इष्ट-सिद्धि नहीं ।

(१८) 'यावतीरे देवतास्ता सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति, तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो 'वेदविद्भ्यो दिवे दिनं भस्मस्त्रुयाम्नाध्नीत्, कीतयेत्, एता एव दन्ता प्रीणाति (तैत्तिरीयारण्यक २।१५ (१) यदि देवता यहा मनुष्य मान जाय, ता क्या थे, मनुष्य-ब्राह्मणमें धुस सकते हैं? इससे स्पष्ट है कि देवता मनुष्यास भिन्न हैं। (१९) 'यो देवा मत्या अति (अथर्व०, २०।१२०। ॥) यहापर मनुष्योंस देवताकी यही शक्ति दिखलाकर परस्पर भद दिखलाया गया है। यहापर राजाको हुसापमान 'देव' कहा गया है कि—यह देवकी तरह है या उस रूपकस 'देव' कहा गया है। (२०) 'माची हि देवान् दिक् उदीची हि मनुष्याणाम् (शत० १।७।१।१२) यहापर दिशा भेदस भी दोनोंका भद कहा गया है। अथ— 'देवा भूरा देवान् अप्येति (२।१।२) इस गृहदारण्यकोपनिषद्क धार्यस कहा है कि—मनुष्य देव बनकर देवताधाक पास पहुचता है, तब मनुष्य भी देवता बन सकते ह ? (उत्तर) यहा 'देव' का अर्थ 'दमत् देवकी भाति गुणशाली होकर यह है जैसेकि महाभाष्य म कहा गया है—'अन्तरेणापि वतिमतिदशो गम्यते तद् यथा एष मेलन्त, अमलदत्त मलदत्त इत्यादि तेन म-यामहे-मलदत्तवद् अय भवति (१।१।२२) अमलदत्त-का मलदत्त बहनेका तात्पर्य है मलदत्तवत्'। इस प्रकार, 'अदेव' का देव कहनेस भी 'देवकी तरह यह तात्पर्य होना है सचमुच देव' बनकर नहीं। इस तरह स ता उमी उपनिषदमें प्रह्वैव सन् प्रज्ञाप्येति (४।४।६) भी लिखा है। तो क्या आप (द्वैतवादी) क मतम 'परमात्मा' बनकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है यह अर्थ है ? ऐसा नहीं, किन्तु ब्रह्मका तरह गुणवाला बनकर'। इस प्रकार 'देव' के विषयमें भी जानना चाहिये।

(२१) अग्ने ! वह हरिश्वाय देवान् (अ० ७।१।१५) इस म त्रमें अग्निकी वृत्ति द्वारा देवताओंकी वृत्ति बताई गई है,

क्योंकि 'अग्निदेवानां जेठरम्' (तैत्तिरीय ब्रा० २।७।१२) अग्नि देवताओंका पेट है। इस प्रकार 'श्रृण्वँ ह वै जायते, योऽस्ति, स जायमान एव देवेभ्य अयिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः' (शत० १।७।२।१) 'स येन देवेन अणं जायते तद् नष्टान् तदवदयते यद् यजते, अथ यदग्नी जुहोति, (शत० १।७।२।६) 'यद् अग्नहोमान् जुहोति; देवानेव सत् प्रीयति' (शत० १।३।२।१।१) इस सन्दर्भसे अग्निमें होमसे देवअणकी पूर्ति बताई गई है। 'यदि आर्यसमाजियोंके मतसे देवता इस संसारके विद्वान् मनुष्य ही माने जायें; तो क्या अग्नियें होम करनेसे उनका अण उतर जावेगा? किसी आर्यसमाजी विद्वान्से कोई अण ले; तब वह अग्निमें होम कर दे; तब क्या उस विद्वान्का अण उतर जावेगा? और उस होमसे वह विद्वान् तृप्त भी हो जाएगा? यदि ऐसा हो; तो आर्यप्रतिनिधि-सभा-को यह धोपणा कर देनी चाहिये, जिससे निर्धन पुरुष उनसे अण ले सकें, फिर वे हवन करके उस अणको उतार देंगे। इस प्रकार सत्सम्मत 'छटांकभर घीसे वैदिक हवन'का प्रचार भी बढ़ जायगा। यदि उन्हें यह स्वीकार नहीं; तो स्पष्ट है कि देवता विद्वान्-मनुष्य नहीं; किन्तु मनुष्यसे भिन्न योनि हैं। देवताओंका अग्निमें होम करनेका कारण यह है कि—'न ऋते त्वद् अमृता मादयन्ते'। अ० ७।१।१।१) अग्नि देवोंका मुख है। 'आ अग्ने ! वह हविरद्याव देवान् इन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम्। इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि' (अ० ७।१।१।२) यहांपर अग्निकी तृप्तिके द्वारा देवताओंकी तृप्ति कही गयी है। इसीजिण् शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है—'अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहति' (३।१।३।१) 'देवा अग्निमुक्ता अन्नमदन्ति, यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुहति, अग्नौ एव जुहति, अग्निमुक्ता हि तद्देवा अन्नमकुर्वन्त' (शत० ७।१।२।४) 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (३।४।१।१६) निरुक्त १।४।३२)।

(२२) 'देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे' (श्रु० १।८१।२) 'अमर्या ! मर्यां अमि न. सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः' (अथर्व० (६।४१।३) यहांपर मनुष्यों द्वारा देवताओंसे आयु मांगी गई है; इसमें दोनोंका भेद सुस्पष्ट है, नहीं तो कौन मनुष्य. मनुष्यकी आयु वे सफ़ता है ? अपनी आयु तो कोई मनुष्य बढ़ा सकता नहीं। ऐसा बात केवल देवताओंमें हो सकती है; क्योंकि—वेदमें कहा है—'यस्ते देवेषु महिमा' (श्रु० १।८।३।३) 'एषां मरतां महिमा सत्यो अस्ति' (श्रु० १।१६७७) 'अपारो यो [मरतां] महिमा' (श्रु० २।८७।३४) यहां देवताओंकी महिमा अपरिमित बताई गई है, अथवा अपवादरूपसे मनुष्य भी किसी प्रकार मनुष्यकी आयु बढ़ा सके; पर उक्त मन्त्रमें तो मर्या के द्वारा अमर्यों से प्रार्थना है, मर्यों से नहीं। अतः देवताओं का और मनुष्योंका भेद सुस्पष्ट है। अतएव देवताओंको अमर्य कहा है, जैसे कि 'अमृतत्वं व.' (२।४।२।१) और मनुष्योंको मर्य कहा है; जैसे कि—'मृत्पुनः। (२।४।२।२)।

(२३) 'इन्द्राग्नी आजा-शृषिनी, मातरिष्वा, मिश्रवर्या, भगा, अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरतो ब्रह्म सोम इमा नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (श्रु० १।४।१।२४) यहां इन्द्र आदि देवताओंसे प्रियाही जा रही नारी में सन्तानवृद्धि दिखलाई है। यदि इन्द्र, मरु आदि देवता मनुष्य माने जाएं, तो क्या जरूर उनसे अपनी स्त्रीमें सन्तान उत्पन्न करवावेगा ? कोई महानियोगी भी ऐसा नहीं कर सकता। इसमें भी देवता और मनुष्योंका योनिभेद सुस्पष्ट है। देवताओंसे तो ऐसी प्रार्थना की जा सकती है। ..

(२४) 'उमी लोकौ जयेयं देव लोकं च मनुष्य लोकं च' (शत० १३।२।४।१) 'अयं वै लोको मनुष्यलोकः', तथा असी [लोकः] देव-

लोक।' (१) इस प्रकार लोकभेदसे भी देव-मनुष्यभेद है। यदि देवशब्द विद्वान्-मनुष्यवाचक है तो क्या उनका लोक मनुष्यलोक नहीं? कोई पृथक् लोक है? (२२) 'प्रजापतिः उर्ध्वेभ्यः प्राण्यो देवानमजत्, येऽधोऽत्र प्राण्यस्तेभ्यो मर्त्याः प्रजा' (शत० १०।१।२।१) यहाँ उपसिद्धलोक प्राणके भेदसे भी देव-मनुष्यका भेद है। (२३) 'तयोर्देवमचिन्मयं तु मानुषे रिचते क्रिया' (मनु० ७।२०४) इस धर्मके भेदसे भी दोनोंका भेद सुस्पष्ट है। (२४) 'त्रेधा भागो निहितो यः पुरा षो देवाना, पितृणा, मर्त्यानाम्। अंशान् जानीष्वं विभजामि तान् वो' (अथर्व० ११।१।२) इस मन्त्रमें देव-पितृ-मनुष्योंको 'त्रेधा' पदसे तीन बताकर कैसे भिन्न-भिन्न सिद्ध कर दिया गया है! पितर भी यहाँ मनुष्योंसे भिन्न बता दिये गये। (२५) 'तेन इमं यज्ञं नो वह [अग्ने !] स्वर्देवेषु-गन्तरे' (ऋ० १।१।१७) यहाँ भी दोनोंका स्पष्ट भेद है, अग्निसे साया हुआ यज्ञ भला मनुष्योंको कैसे मिल सकता है?

(२६) (क) 'एष ह वै देवान् अनुविद्वान् यद् अग्नि' (शत० १।२।१।६) यहाँपर विभक्ति भेदसे देव-विद्वानोंका भेद सुस्पष्ट है। (ख) 'अग्निर्हि यत्र देवेभ्यो मनुष्यान् अम्युपापतंत' (शत० २।२।१।१३) यहाँपर विभक्ति-भेदसे देव-मनुष्योंका भेद स्पष्ट है। (ग) 'देवेभिर्मानुषे जने सामवेदसं धृन्दधाचिक १।२) यहाँ भी विभक्ति भेदसे भेद है। (३०) 'स यद् अग्नौ जुहोति, तद् देवेषु जुहोति, तस्माद् देवाः सन्ति अथ यद् सदसि भक्षयन्ति, तन्मनुष्येभ्यो, जुहोति, तस्मान्मनुष्याः।

सन्ति ।...तत् पितृषु जुहोति, तस्मात् पितरः सन्ति' (शत० ३।६।२/३५) यहाँ भी देव-पितर तथा मनुष्योंका भेद स्पष्ट है। (३१) 'इन्द्रस्तुजो...नृवद्' (अ० २०।१।१५) यहाँ देव (यजुः ५।३६) इन्द्र को मनुष्यकी तरह बताकर देव मनुष्योंका भेद स्पष्ट कर दिया है। साधर्म्यमुपमा भेदे' (काव्यप्रकाश १०उ.) इस नियम से उपमा, भिन्नताओं होती है।

इस प्रकार देवता मनुष्योंसे भिन्न, उच्च योनि सिद्ध हुए; उन देवों का पूजन वेद सम्मत है। स्वा०द्यानन्दजीने भी मामकरण-संस्कार में तिथि तथा नक्षत्रोंके देवताओंके नाम हवन माना है, यह देवता किसी प्रकारसे विद्वान्-मनुष्य नहीं बन सकते।

समस्तदा आर्यसमाजी देवयानि मानना आवश्यक समझते हैं; श्रीगङ्गाप्रसादजी एम० ए० कार्यनिवृत्त मुख्य न्यायाधीश (टिहरी) महाराष्ट्रने 'वैदिकधर्म' (अप्रैल १९२०) में 'क्या मनुष्यसे उच्च-श्रेणीकी देव आदि योनियोंका मानना आर्यसमाजके सिद्धान्तसे विरुद्ध है?' यह लेख प्रकाशित किया था—इसमें उन्होंने लोकान्तरों में मनुष्योंसे भिन्न देव, पितर, गन्धर्व आदि योनियोंको माननेसे वेदमन्त्रोंके अर्थ करनेमें कठिनाईका दूर हो जाना माना है। यह वहाँ के उनके शब्द हैं—'वेदमन्त्रोंमें केवल मनुष्योंमें ही देवशब्दका प्रयोग सीमित रखकर और मनुष्येतर कोई देवयोनि न मानकर अर्थ करनेमें बहुधा कठिनाई पड़ती है'। इस प्रकार उन्होंने 'सार्धदेशिक' (नितम्बर-अक्टूबर १९४६) में पितृविषयक लेख लिखकर सिद्ध किया था कि—मृत्युके पश्चात् जीवका जन्म एकदम नहीं हो जाता, कुछ समय तक वह परलोक अथवा लोकान्तरों में रहकर फिर इस मनुष्य-लोक में आता है'। इस लेख में उन्होंने प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द इन तीन प्रमाणोंका उपयोग किया था। यदि यह दोनों पितृविषय

...परमेश्वरका कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता; तो क्या इतने असंख्य लोकोंमें मनुष्यादि सृष्टि न हो, तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है । कुछ-कुछ, आकृतिमें भेद होना भी संभव है ।.....

जब अन्य लोकोंमें सृष्टि है; उसका कुछ आकृति-भेद भी स्वाभाविक है; क्योंकि इस लोकके शरीरोंमें पृथिवीकी प्रधानता है, अन्य-लोकोंके शरीरोंमें तेज, वायु, जल की प्रधानता है जैसा कि न्यायदर्शनके ३।१। २८ सूत्रके धारस्यायनभाष्यमें लिखा है “तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्.... आप्य-तैजस-वायव्यानि लोकान्तरे [वरुण-सूर्य-वायुलोकेषु] शरीराणि । तेष्वपि भूतसंयोगः पुरपर्यंतम्भ्रः [अर्थात्—एकमूतारम्भेन शरीरेण भोगो न संभवतीति तेष्वपि शरीरेषु भूतसंयोगः-भूतचतुष्टययोगः पुरपर्यंतम्भ्रः-भोगाधीनो भवत्येव । जलादीनां प्राधान्यादेव जलीयत्वादि-व्यपदेशः] स्थास्यादि [घटादि] द्रव्यनिष्पत्तावपि [भूतसंयोगो] निःसंशयः [अपेक्ष्यते] न अबादि-संयोगमन्तरेण [जलादिसंयोगं विना] केवलेन मृदा [घटादेः] निष्पत्तिः [उत्पत्तिः]” इति । स्वा० दयानन्दजीसे मान्य “प्रशस्तपाद भाष्य ” में भी इसी भांति कहा है । सब देवयोनि आदि मनुष्यसे भिन्न सिद्ध हो गईं । पृथिवीलोकके निवासी तो मनुष्य, द्युलोकके देवता, चन्द्रलोकके निवासी पितर सिद्ध हुए । उनके हमसे उच्च-अंशेरी वाले होनेसे हमसे उनका आदान-प्रदान संबन्ध तथा पूजा-सम्बन्ध भी सिद्ध हो सकता है ।

स्वा० दयानन्दजीने प्रथम “सत्यार्थप्रकाश” में देवल्लोकादिको माना है । कुछ उनके उद्धरण दिये जाते हैं— (प्रश्न) स्वर्ग और नरक है वा नहीं ? (उत्तर) सब कुछ है, क्योंकि—परमेश्वरसे रचे हुए असंख्यात लोक हैं उनमेंसे जिन लोकोंमें सुख अधिक है और दुःख थोड़ा;

जिसको चाहेगा उसको स्वर्गमें और जिसको चाहे नरकमें भेज देगा” (नवम समु० पृ० १२६) यहाँ भी स्वर्ग-नरक भरेपीछे (परलोकमें) माने हैं। अन्य भी उनके उद्धरण यह है—“जो साक्षी सत्य योलता है, वह जन्मान्तरमें उत्तम जन्म और लोकान्तरोंमें जन्मको प्राप्त होके सुख भोगता है (स० प्र० ६ समु० १०३ पृष्ठ) यहाँ स्वामीजीने लोकान्तर माने हैं।

न्यायाधीश श्रीगङ्गाप्रसादजी एम० ए० धार्यममाजी—विचारों के विद्वान् हैं, उन्होंने ‘वैदिकधर्म’ (अप्रैल १९२०) में लिखा था “शतपथ ब्राह्मणका ‘विद्वांसो हि देवा’ एक प्रसिद्ध प्रमाण है, जिसके अनुसार विद्वान्-मनुष्योंके लिये देवशब्दका प्रयोग माना जाता है। परन्तु जैसा स्वाध्यायशील सज्जनोंको अनुभव हुआ होगा, वेदमन्त्रोंमें केवल मनुष्योंमें ही देवशब्दका प्रयोग सीमित रखकर और मनुष्येतर कोई देव-योनि न मानकर अर्थ करनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है” यह बात न्यायाधीश-महोदयकी ठीक है। ‘विद्वांसो हि देवा’ यह शतपथका प्रमाण आजकलके विद्वानोंको देवयोनिके उद्धानके लिए एक कीमिया मिल गया है, इससे वे विद्वान् मनुष्योंको देवता कहकर देवयोनिसे अपनी जान छुड़ा लेते हैं, यद्यपि ऐसे अर्थमें भी सब जगह उनकी जान नहीं छूटती। तथापि वैसा अर्थ ‘शतपथ’ के अभिप्रायसे विरुद्ध है, यह हम निम्न पक्तियोंमें बताते हैं “आलोक” के स्वाध्यायशील पाठक इधर अवहित होंगे।

(१) इस विषयमें पहले यह जानना चाहिये कि “शतपथ ब्राह्मण”के द्रष्टा देवता तथा मनुष्योंको भिन्न-भिन्न मानते हैं। यद्यपि इस विषयमें उसके बहुत उद्धरण दिये जा सकते हैं, कुछ गत नियन्त्रमें दिये भी हैं, पर यहाँ उतना स्थान नहीं है। अतः दिष्टमात्र उद्धरण दिये जाते हैं—

‘प्रजापतिं वै भूतानि उपासीदन्, प्रजा वैभूतानि । वि भो धेहि यथा जीयाम-इति’ यहाँ पर सब प्रजाओंका प्रह्लाके पास जाकर अपने जीवन-निर्वाहका उपाय पूछना कहा है । ‘ततो देवा यज्ञोपवीतानि भूया दधिर्णं जानु ध्याम्य उपासीदन्, तान् अग्रवीद्-यज्ञो योऽग्रम्, अमृतत्वं व’, कर्ग-यः, सूर्यो यो उग्रो निरिति’ “(शत० २।१।२।१) यहाँ पर देवताओंका जीवन कहा है । ‘अथैनं पितरः ..उपासीदन्, तान् अग्रवीद्—भासि-भासि योऽशनं, स्वधा यः, मनोजयो वः (२।१।२।२) पूर्व-कपिहकामे देवताओं का अन्न व्रज कहा गया है, यहाँ पर पितरोंका प्रतिमास भोजन माना है । ‘अथ पुनं मनुष्याउपासीदन् । तान् अग्रवीद्—सायं प्रातरौ अशनन्, प्रजा वः, मृत्युर्नः” (२।१।२।३) यहाँ मनुष्योंका दो-बार भोजन कहा है । देवताओंको अमर कहा गया था, मनुष्योंकी यहाँ मृत्यु यही गई है ।

‘अथैनं पशून् उपासीदन्, तेभ्यः स्वैपमेव चकार । यदैव यूयं कदा च क्षमाप्यै, यदि कासे, यदि घनाहले, अथैव अरनाथ” (२।१।२।४) यहाँ पर पशुओंका निर्वाह बताया है कि तुम्हें जब-कभी मिल जायेगा, तुम उसे खा लिया करोगे । “अथ पुनं शरश्वि असुरा उपसेदुः, तेभ्यः तमश्च मायां च प्रददी, अस्ति अदैव आसुरमाया । ता इमाः प्रजास्तथैव उपजीवन्ति; मर्यय आम्नः प्रजापतिर्व्यं दधान्, (२।१।२।५) यहाँ पर असुरोंको माया देगा कहा है । फिर कहा गया है कि इन जीवोंके लिए जो-जो नियम बनाये गये, वे उनको पूर्ण करते हैं, पर मनुष्योंके लिए कहा गया है कि—वे अपने नियमोंको पूर्ण न करके उनका उपलंघन भी कर जाते हैं “नैव देवा अतिक्रामन्ति; न पितरः, न परावः, मनुष्या एव एके अतिक्रामन्ति (शत० २।१।२।६) ।

रातपथकी इन कपिहकाओंमें कितने स्पष्टरूपसे देव-मनुष्य आदिका आपसमें भेद दिखाया है । यह अम्य बात है कि मनुष्य कभी

देव सरश हो, कभी वशु-सदृश, या कभी असुर-सदृश हो जाय, वा कहीं देव शब्दका किसी मनुष्यका विशेषण होनेसे यौगिक अर्थ कर दिया जाय, पर इससे देवयोनि को मनुष्य-योनि से स्वतन्त्र न मानना अशास्त्रीय ही है। यदि-“गोयलोवद” व्यायसे मनुष्य-जातिके ही विशेष देवता तथा असुर मान लिये जाय, उनकी पृथक् सत्ता न मानी जाय, तब उसी तरह मनुष्यमें पशुत्वके भी सम्भव होनेसे मनुष्यका ही विशेष-भेद पशु मानना पड़ेगा, पशु को भी फिर स्वतन्त्र-योनि नहीं मानना पड़ेगा। यदि यह असत्य है, तब पूर्वपक्ष (देवोंको मनुष्यविशेष मानना) भी ठीक नहीं है। फलतः देवता तथा मनुष्य भिन्न-भिन्न योनि हैं। सभी ‘शतपथ ब्राह्मण’ में कहा है— “देव-योनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्य” (७।१।२।४०)।

जो कि स्वा० दयानन्दजी तथा आजकलके विद्वान् “विद्वाँ सो हि देवाः” इस शतपथकी श्रुतिको उपस्थापित करके इससे विद्वान् मनुष्योंको देवता कहते हैं, यह या तो उनका धल है, या भ्रम है। यहाँ यह अर्थ विवक्षित नहीं। इसका पूर्वोत्तर-पाठ उनके द्वारा जाने या अनजाने उपस्थित नहीं किया जाता। वह पाठ यह है—“उशिजो बन्धित-मान् इति, विद्वाँ सो हि देवा, तस्माद् आह—उशिजो बन्धितमान् इति” (शतपथ० ३।७।३।१०) यहाँ पर ‘हि’ शब्द हेतु अर्थ वाला है, क्योंकि—उसका पूर्विकर्ता “तस्मात्” शब्द साथ दिया हुआ है “यत्-तदोर्निधः सम्मन्थ” यह एक प्रसिद्ध व्याय है। सो जबकि उक्त कण्विक के उपसंहारमें “तस्मात्” यह ‘तद्’ शब्द है, तब उसके साथ उक्त श्रुतिमें उससे पूर्व “यस्मात्” शब्द भी अवश्य होना चाहिये। देखभाल करनेसे प्रतीत होता है कि वह शब्द यहाँ पर है। वह है “हि” शब्द। ‘हि’ शब्द “हेतु” अर्थमें प्रसिद्ध है। “तस्मात्” के अनुरोधसे “हि” शब्द यहाँ “यत्”, “यस्मात्” इस अर्थमें है। इसी हेतु-अर्थके कारण

‘तस्मात्’ ॥ पञ्चमी है, तब “हि” शब्दके हेतु-अर्थ घाला होनेसे पूर्वपक्ष-
योगसे अभिमत देव-विद्वत् शब्दकी पर्यायवाचकता निरस्त हो गई ।

यहां यह अभिप्राय है कि उक्त ‘शतपथ’ की धृति ‘देवान् दैवीरिशाः
प्रागुत्थितो यन्निहतमान्’ (यजुः शा० सं० ६।७) इस मन्त्रके विवरणमें
है । उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें “देवान्” यह पद ‘विशेष्य’ है “उत्थितः”
यह पद “द्वेष” शब्दका विशेषण है । यहां पर ‘उत्थितः’ का अर्थ है
‘बुद्धिमान्’ । निघण्टु (३।१६) में मेधावीके २४ नामोंमें ११ वां नाम
‘उत्थितः’ है । यही अर्थ उपर-महोदरके भाष्यमें भी है । स्या० दवा-
नन्दजीने भी अपने ‘निघण्टु वैदिक-कोष’ की शब्दालोकमणिकाके ३३
पृष्ठमें ‘उत्थितः मेधावि-नाम’ यह लिखा है ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त (६।७) यजुर्वेदकी
कण्डिकामें देवताओंका विशेषण उत्थितः (मेधाविन) क्यों है ? इस
विषयमें शतपथने उक्त-कण्डिकाके विवरणमें कहा है ‘विद्वान् सो वि
देवाः, तस्माद् आह-उत्थितो यन्निहतमान्’ इति (६।७।३।१०) अर्थात्
हि=चूंकि देवाः=देवतालोक विद्वान्=ज्ञानवेगसे [जैसे कि निरुक्त
(५।२०।१) में ‘ययुनानि विद्वान्’ इस मन्त्रके ‘विद्वान्’ पदका अर्थ
‘प्रज्ञानन्’ किया गया है] होते हैं, तब-कृष्ण ज्ञान जाते हैं तस्मात्=
इसी कारण अर्थात्=मन्त्र उन देवताओंको ‘उत्थितो यन्निहतमान्’ इति
आह=‘उत्थितः’ इस विशेषणसे युक्त करता है ।

देवताओंके सर्व-शास्त्रमें निम्न प्रमाण द्रष्टव्य है जिनसे उनकी
परोक्षज्ञता भी सूचित हो जाती है—‘यन्मनुष्याणां परोक्षं तद् देवानां
प्रत्यक्षम्’ (तात्पर्य-महामाहाय २२।१०।३) ‘मनो देवा मनुष्यस्य आज्ञा-
नन्ति’ (शतपथ ३।४।२।६) ‘न तिष्ठन्ति, न निमिषन्ति पुरे देवानां

स्वरा इह ये चरन्ति' (ऋ० १०।१०।८) । जब इस प्रकार इन्द्र आदि देवता, परोक्ष भी जान जाते हैं कि—अमुक-पुरुष द्वारा हमें आहुति दी जा रही है, तब उन्हें 'उशिजः- बुद्धिमन्तः' कहना ठीक ही है । तभी तो देवता लोग उसी छण अर्थात् यज्ञमें देवतादे ध्यानके समय—[जैसे कि 'निरक्त' में कहा है—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्, तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन्' (ऋ० १२।११)] यज्ञोंमें पहुँच जाते हैं । इसी कारण व्याकरण-महाभाष्यमें भी कहा है—'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् प्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति (१।२।६४) ।

जब इस प्रकारकी बात है; तब देवता विद्वान्-मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध हुए; क्योंकि—देवता तो परोक्ष होनेसे शतशः यज्ञोंमें बुझाये हुए युगपत् (एकदम) सब यज्ञोंमें प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु विद्वान्-मनुष्य अल्पश एवं सीमित-गतिवाला होनेसे शतशः यज्ञोंमें बुझाया हुआ युगपत् (एक-साथ) सर्वत्र नहीं पहुँच सकता । इधर उक्त 'शतपथ' की कण्विकामें 'विद्वांसः' के साथ 'देवाः' शब्द है, 'मनुष्या' नहीं; तब उक्त-श्रुतिमें विद्वान्-मनुष्योंका ग्रहण हो ही कैसे सकता है ? यहाँ पर 'मनुष्या' शब्दके न कहनेसे विद्वान् पशुके ग्रहणमें भी कोई बाधा नहीं पड़ती; तब क्या पूर्वपक्षिण, विद्वान् (समम्भार) पशुको भी देवता कहते हैं ? यदि नहीं; तब विद्वान्-मनुष्य भी 'देवयोनि' नहीं माना जा सकता ।

अन्य श्रुति वादियोंके पक्षमें यह आ पड़ती है कि उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें शतपथकी उक्त-कण्विकाके वादिजनाभिप्रेत-अर्थके अनुसार 'देव' शब्दको विद्वान्का पर्यायवाचक मान लें, उसे योनिविशेष-वाचक न मानें, तो 'उशिजः' यह विशेषण व्यर्थ जाता है, अथवा 'देवान्' वह शब्द व्यर्थ होता है क्योंकि—जब उक्त (६।७) यजुर्वेदके मन्त्रमें

‘उशिजः’ यह विद्वान्का वाचक है, वैसे ही ‘देवा’ शब्दको भी यादियोंके अनुसार ‘विद्वान्’ का वाचक मान लिया जाय, तब इन दोनों एक शब्द व्यर्थ हो जाता है। अन्य इस पक्षमें यह हानि आती है कि—वक्त याजुष मन्त्रमें ‘देव’ शब्द भी विशेषण हो जाता है, ‘उशिज्’ शब्द भी विशेषण रहता है, विशेष्य उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें कोई भी नहीं रह जाता। इधर विद्वान् मनुष्योंक पास ‘दैवीप्रियाः प्रागुः’ यह अर्थ भी नहीं घटता, क्योंकि—दैवी-प्रजा भिन्न हुआ करती है और मानुषी-प्रजा भिन्न। जैसे कि ‘दैवीरच विशो मानुषीरच’ (यजु० १७।८६) ‘मानुषीणां विशां दैवीनामुत’ (अथर्व० २०।११।२) ‘मृगा मृगैः सप्तमनुष्यजन्ति, गान्धर्व गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः’ के अनुसार दैवी प्रजाका देवताओंके पास ही जाना ठीक है।

निष्कर्ष यह है कि ‘शतपथ’ के अनुसार देवता जन्मसे ही विद्वान् हुआ करते हैं, वे अविद्वान् नहीं हुआ करते। विद्वान्-अविद्वान् दो प्रकारके मनुष्य होते हैं, परन्तु देवता विद्वान् तथा अविद्वान् इस तरह दो प्रकारके नहीं होते, केवल विद्वान् ही होते हैं। इस प्रकार उक्त ‘शतपथ’ की श्रुतिमें ‘देव’ शब्द ‘विशेष्य’ है, ‘विद्वान्’ यह उसका ‘विशेषण’ है, उनकी अविद्वत्ताका व्यावर्तक है। जैसे भैंसा आदि पशु जन्मसे ही नदियोंमें तैरते हैं, पक्षी गण जन्मसे ही बिना सिलसिले आकाशमें उड़ते हैं, वैसे देवयोनिकी प्राप्तिमें ही देवताओंको अणिमादि सिद्धियाँ तथा विद्वत्ता, बिना ही अध्ययन वा अभ्यासके प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु मनुष्योंमें अध्ययन तथा अभ्यासके बाद ही विद्वत्ता प्राप्त होती है, देवताओंकी भाँति जन्मसे नहीं।

इसके अतिरिक्त उक्त शतपथकी कण्वब्रह्ममें ‘देवा.’ ही विशेष्य हैं, ‘विद्वान्.’ वहाँ पर विशेष्य नहीं है। ‘विद्वान्.’ पद तो वहाँ विशेष्यभूत

देवोंका विशेष-विशेषण है, पर्यायवाचक नहीं। तब देवता तो स्वभावसे विद्वान् (ज्ञाता) सिद्ध हुए, विद्वान्-मनुष्य देवता सिद्ध न हुए, क्योंकि उक्त करिडकामें 'विद्वांसः' विशेष्य नहीं हैं। जिस यजुर्वेदके (६।७) मन्त्रका अन्तर्गत उक्त-विवरण है, वहाँ पर (उस याजुप मन्त्रमें) विद्वान् शब्दका कहीं गन्ध भी नहीं है, जिससे 'विद्वान्' ही विशेष्य मान लिया जाये। वहाँ तो 'देव' शब्द है, वही उक्त-मन्त्र तथा उक्त ब्राह्मणमें विशेष्य है, वह बात सूक्ष्म-रूपसे जान लेनी चाहिये। इधर उक्त करिडकामें देव तथा विद्वान्की परस्पर-पर्यायवाचकता भी इष्ट नहीं है, अन्यथा वहाँ के हेतुवर्क 'हि' शब्दका व्याकोप होता है, जिसका 'तस्मात्' शब्द सहायक है। इससे 'शतपथ' के मतमें देव एवं मनुष्य-की भिन्न-भिन्नता सिद्ध हो गई।

(क) यदि 'शतपथ' को देव एवं विद्वान्की पर्यायवाचकता इष्ट होती, तब फिर 'विद्वांसो ये शतक्रतु-देवाः, सप्रमत्तन्वतः (शतपथ १।१।२।३।४) वहाँ पर 'विद्वान्' तथा 'देव' शब्दकी पुनरुक्ति न होती। (ख) उक्त यजुर्वेदके मन्त्रमें भी 'देवान्' (विदुषः) उच्यते, (विदुषः) इस प्रकार पुनरुक्ति न होती। (ग) 'यो देवस्य प्रियो विद्वान्' (योधाव-नीपगृह्यशेषसूत्र १।२।३।४) वहाँ पर 'देवस्य' तथा 'विद्वान्' इनके परस्पर-विभक्तिभेदसे भी देव तथा विद्वान् मनुष्यकी भिन्नता स्पष्ट है। पर्यायवाचकोंमें भला विभक्तिभेद कैसे हो सकता है? (घ) 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं..... तप उच्यते'। (भगवद्गीता १७।१४) वहाँ पर तो स्पष्ट ही 'देव' शब्दसे विद्वान्-वाचक 'प्राज्ञ' शब्द प्रयुक्त रखा गया है। इसी कारण किसी भी निषेध वा कोपमें विद्वान्के पर्यायवाचकोंमें 'देव' शब्द नहीं पड़ा गया। 'निरुक्त' का-यास्कने भी कहीं 'देव' का अर्थ 'विद्वान्' नहीं किया।

(द) 'महाभारत' आदिपरमों 'विश्वे देवास्तथादित्या वसवोऽथा धिनागपि' (१।३४) इस प्रकार पहले देवताओंकी उत्पत्ति कहकर उसके बाद ही 'तत प्रसूता विद्वांस शिष्टा ब्रह्मर्षि-सत्तमा' (१।३५) यहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति कही गई है। इससे देवता विद्वान्-मनुष्योंसे पृथक् सिद्ध होते हैं। (च, 'देव' शब्द यदि विद्वान्का पर्यायवाचक होता, तो जैसे वैदिक निघण्टु (३।१५) में विद्वान्के पर्यायवाचक 'कवि' (१०) मनीषी (११) विपश्चित् (१६) इत्यादि शब्द आये हैं, वैसे देव शब्द वा उसके पर्यायवाचक 'अमृत' (निर० पृ २०।१) आदि शब्द भी बहा होते। पर यहाँ न मिलनेसे पूर्वपक्षियोंका यह पक्ष विच्छिन्न हो जाता है।

(छ) यादों लोग विद्वान्को ही देवता तथा विद्वान्को ही ब्राह्मण मानते हैं। ऐसा होनेपर तो देवता तथा ब्राह्मणोंमें भेद न होना चाहिये। परन्तु 'सम्पूजयेद् देवान्, ब्राह्मणैश्च' (मनु० ७।२०१) देवैश्च ब्राह्मणैश्च' (शतपथ ३।३।४।२०) 'सम्पूज्य देवतामश्विनौ गा, ब्राह्मणैश्च' (धरकसंहिता कल्पस्थान १।१२) यहाँपर देवता तथा ब्राह्मणोंकी पृथक्-पृथक् पुनः कही है। यदि यहाँ 'देवा' से 'विद्वान् मनुष्य' लिया जाय, तो ब्राह्मण 'अविद्वान्' हो जायेंगे, अन्यथा 'विद्वान्' के दो पर्यायवाचकोंका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। अविद्वान्के भी ब्राह्मण हो जानेसे फिर यादि-सम्मत शुक्लकर्मणा वर्ण व्यवस्था खरिहत हो जायगी। अथवा ब्राह्मण शब्दको विद्वान् मनुष्यका पर्यायवाचक माननेपर देव शब्द विद्वान्का पर्यायवाचक न रहेगा, 'सयमुभयतः पारां रज्जु' यह भाव्य बहा उपस्थित हो जायगा।

(ज) इस प्रकार 'देवताना गुरो राज्ञ स्नातकाचार्ययोस्तथा भाक्रामेत कामतरङ्गायां बभ्रुः सो दीवितस्य च' (मनु० ४।१३०) यहाँ परिगणित

आचार्य आदि सय विद्वान् दिखलाये गये हैं। यदि देवशब्दसे विद्वान् मनुष्योंका बोध होता; तो आचार्य आदिका शृणु कथन व्यर्थ था। तब 'देव' शब्दका विद्वान् अर्थ निर्मूल हुआ।

(क) भगवद्गीतामें 'न मे विदुः सुरगणा प्रभवं न महर्षयः' (१०।२) वहाँ 'सुर' शब्द 'देव' का पर्यायवाची है; 'विद्वान्-मनुष्य' के अर्थमें कहीं 'सुर' शब्द नहीं आया। यदि बलात् ऐसा अर्थ दिया जाये, तो साथ फट्टे हुए 'महर्षि' मूर्त सिद्ध होंगे, अथवा उनका शृणु-प्रत्यय व्यर्थ होगा।

(ख) यदि देव और विद्वान् शब्द आपसमें पर्यायवाचक होते, तो कोपोंमें विद्वानों तथा देवोंका वाचक शब्द शृणु-शृणु न होते, किन्तु एक ही स्थानमें होते। अमरकोषमें देवके पर्याय 'स्वर्ग-वर्ग' में है और विद्वान्क पर्याय मनुष्यवर्गक अवान्तरवर्ग 'ब्रह्मवर्ग' में ही है। इस प्रकार कापामें विद्वान्क वाचकोंमें 'देव' शब्द कहीं नहीं पड़ा गया, पर देवके वाचक शब्दोंमें 'विशुध' आदि कई विद्वानोंके नाम आते हैं—इससे स्पष्ट हुआ कि—देवयोनियों वाले तो विद्वान् हुआ करते हैं, परन्तु विद्वान्-मनुष्य देवता नहीं हुआ करते। इस प्रकार समझ लेनेसे फिर 'विद्वान् सो हि देवाः' के अर्थ समझनेमें कोई भ्रम शय नहीं रह जाता।

(८) यदि 'देव' शब्द विद्वान्का पर्यायवाचक होता; तो पतञ्जलि, यास्क, पाणिनि आदि विद्वान् 'देव' कहे जाते, मनुष्य नहीं। पर उन्हें कहीं भी देवता नहीं कहा गया। इस प्रकार 'विद्वान् सो हि देवाः' इस प्रसिद्ध वादिसम्मत प्रमाणकी समीक्षा हो गई। विष्णु देव है, उसके रामकृष्ण आदि मनुष्यावतार हैं। तब क्या वादियोंके अनुसार विष्णु भगवान् तो विद्वान् होंगे, श्रीरामकृष्णादि मनुष्य अविद्वान् होंगे ?

सुतरां यह वादियोंकी अयुक्त दुरचेष्टा है। क्या वे 'शतपथ'-अयुक्त 'मनुष्य-देव' (४३।४।४) शब्दका 'मूर्ख-विद्वान्' अर्थ करेंगे ? यदि 'देव' शब्दका अर्थ 'विद्वान् मनुष्य' ही है, तो क्या सृष्टिकर्ता 'महादेव' भी 'विद्वान् मनुष्य' ही होगा, देव-विशेष नहीं ? वस्तुतः 'देव' शब्द जातिशब्द है, गुण-शब्द नहीं।

श्रीदर्शनानन्दजीका प्रमाण

(२) इस प्रकार जब मूलवाक्यकी व्याख्या हो गई, तब कैयट आदि-व्याख्याकारोंका भाव भी उससे भिन्न नहीं हो सकता। महाभाष्यकार हैं, वा कैयट हैं; वे भी 'देव' शब्दको 'विद्वान्' का पर्यायवाचक नहीं मानते किन्तु देवत्रोतिकी पृथक् ही मानते हैं। 'देवाः' इस मूल पदका प्रिवरण करते हुए कैयटने जो यह लिखा है कि—'दिव्यदशो देवा' तब बाद 'दिव्यदशः' यह उसे 'देव' पदकी व्याख्या या पर्यायवाचकता इष्ट होती, तो यह 'देवाः—दिव्यदशः, पण्डिता इत्यर्थः' इस प्रकार लिखता, 'पर उसने ऐसा नहीं लिखा, किन्तु 'दिव्यदशो देवा इति' और 'दिव्यदशः' का प्रिवरण 'पण्डिता इत्यर्थः' ऐसा लिखा है। उसका आशय यह है कि देवता दिव्यदृष्टि वाले—दिव्य-नेत्र वाले, पण्डित—(सद्-असद्विवेचनी बुद्धि-पण्डा, तद्वन्तः) अर्थात् सद् और असद्की विवेचना कर सकने वाली बुद्धिसे युक्त होते हैं; इस कारण वे देवता लाग हम अर्थ-तत्त्वको जान लिया करते हैं। शतपथके वाक्यकी भांति यहां भी योजना है। यहां 'दिव्यदशः' यह हेतुगर्भित-विशेषण है, 'देवाः' यह विशेष्य है। विशेषण-विशेष्य कभी पर्यायवाचक नहीं हुआ करते।

फलतः यहां कैयटने 'देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति' इस मूलवाक्यकी सिद्धिके लिए कि-देवता इस अर्थतत्त्वको जान जाते हैं, यहां पर 'दिव्यदशः'

यह उपपत्ति-गर्भित विशेषण दिया है, देवताका पर्यायवाचक नहीं बताया। अर्थात्—दिव्यदर्शयरा इन्द्रादि देवता सब अर्थतत्त्वको जान जाते हैं। जैसे कि महाभाष्यमें इसका उदाहरण दिया है—‘एक इन्द्रो-ओर्कारमनू क्रतुरावे आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति’ (१।२।६४) यहां देव-इन्द्रके दिव्यदर्श वाले होनेसे ही सब वस्तुओंका एक-साथ ज्ञान तथा एक साथ सर्वत्र पहुँचना दिखलाया गया है। दिव्यदर्शको ही व्याख्या कैवटने ‘परिहृताः—इत्यर्थः’ को है कि—वह अर्थकी वह पर पहुँच जाते हैं। तब ‘देवा एतज्ज्ञानुमहन्ति’ इस मूल-वाक्यकी उपपत्ति सिद्ध हो गई। इस प्रकार कैवटको यादिगणकी भांति ‘देव’ का विद्वान् मनुष्य’ यह अर्थ इष्ट नहीं, किन्तु ‘देवयोनि वाले इन्द्रादि, अर्थकी वह तक पहुँचने वाले होते हैं’ यह तात्पर्य इष्ट है। तब श्रीदशानन्दजी का पक्ष इससे सिद्ध न हुआ।

श्रीधर्मदेवजीका प्रमाण

(१) इस प्रकार ‘सत्यसंहिता वै देवाः, अनृतसंहिता वै मनुष्याः’ (१.६) इस ऐतरेय-ब्राह्मणके वाक्यकी व्याख्या भी हो गई। उसका यह धाराय है कि—देवता सत्य बोलने वाले होते हैं और मनुष्य असत्यभाषी। पर ‘देव’ शब्द तथा ‘सत्यसंहित’ शब्द यहां दिये हुए ‘वै’ शब्दसे पर्यायवाची नहीं हो जाते, नहीं तो ‘आयुर्वै धृतम्’ (कृष्ण-यजुर्वेद तै० सं० २।३।२।२) इस तैत्तिरीय संहिताके वाक्यमें ‘वै’ शब्दसे आयु और धृत भी पर्यायवाचक हो जायें, पर ऐसा नहीं है। यहां पर ‘देवा’ शब्द ‘विरोध्य’ है ‘सत्यसंहिता,’ उसका विशेष्य विशेषण है। महाराज सत्यहरिरचन्द्र-जैसे सत्यवादी मनुष्य भी कहीं ‘देवता’ नहीं माने गये। यदि सत्यवादी होनेसे वादी राजपि हरि-रचन्द्रको ‘देव’ माने, तो वे श्रीयुधिष्ठिरको क्या मानेंगे? वे सत्यवादी

थे और उन्होंने एक प्रसिद्ध असत्य भी बोला था। तो क्या वादी उन्हें देव मनुष्यका सकर मानेंगे ? वास्तवमें असत्य बोलते हुए भी विष्णुआदि देव ही रहते हैं, सत्यवादी भी महाराज हरिश्चन्द्र आदि मनुष्य ही रहते हैं। क्या वादियोंके अनुसार ब्राह्मणके लिए प्रयुक्त 'मनुष्यदेव' (शत० ४।३।४।४) शब्द 'सत्य-असत्ययुक्ता' इस अर्थ वाला होगा ? यदि ऐसा नहीं, तब ब्राह्मण भी देवता सिद्ध न हुए, किन्तु मनुष्य ही। वहा पर देवत्व आरोपित है, 'मनुष्येषु देवा इव'।

फलतः देवयोनि वेदादिशास्त्रोंके अनुसार मनुष्ययोनिसे स्वतन्त्र ही है और मनुष्यसे उच्च ही है। जब देव मनुष्यसे उच्च सिद्ध हो गये, तो वे उपास्य भी हो गये, 'दिमि भवा' होनेसे दिव्य भी हो गये। मनुष्यसे उच्च वा दिव्य होनेसे ही देवता परमात्माके विशेष अङ्ग बन जाते हैं। अङ्गीकी पूजा, बिना विशेष-अङ्गक नहीं हुआ करती। अतएव वे ता उपास्य रहेंगे ही। जब गुरु मनुष्य वा जीव होने पर भी उपास्य हैं, तो देवता क्यों उपास्य न हों ?

देवताओंकी उपास्यता वा दिव्यता केवल पुराणोंका मत नहीं है, जैसा कि वादी कहते हैं, किन्तु यह वेदका मत है। देवताओंकी उपासनास सारा वेद सम्भृत है। वेद देवताओंके लिए स्वयं कहता है— 'न मङ्गिता निघत अन्य एव्मा देवेषु मे अधि कामा अयसत' (ष्ट० १०।६४।२) यहा पर वेदने देवताओंको सुगंकारी माना है। अथर्व-वेदमें तो यहा तक कहा है— 'य. अद्दधाति—'सन्धि देवा इति' चतुष्पद द्विपदेऽस्य मृद' (श्री० स० ११।२।२८) इसका अर्थ आर्य-समाजी विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीने इस प्रकार किया है—'जो गिराय रसता है कि "देवता है" इसके दोषाये और चौपायेके लिए दयावान् हो'। 'सर्वान् स देवान् तपसा पिपति' (अथर्व० ११।६।२)

यहां पर वेदने देवताओंकी तपस्या करनी सूचित की है। 'यजाम देवान् यदि शवनवाम' (ऋ० १।२०।१३) यहां पर वेदने सामर्थ्य होने पर देवताओंका पूजन माना है। 'युष ह वा अनन्ता-पुरषो यो न देवान् अयति (अर्चति) ॥ पितॄन्' (शतपथ० ६।३।१।२४, ऐत० ब्रा० ८।२।८) यहां पर देवपूजन न करनेवाले पुरषकी निन्दा की गई है। 'यज्ञे-यज्ञे स मार्यो देवान् सपयंति' (ऋ० १०।६३।२) यहां यज्ञमें देवपूजा यथाई गई है और पूजकको 'दोष-शुक्ल' बताया गया है। 'देवान् यतिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ० १०।६५।१५) यहां पर वेदने देवपूजनमें यतिष्ठका इतिहास भी दिखाया दिया। यदि वादी उदारदृष्टि डालेंगे, तो उन्हें यज्ञ-होन भी देवपूजा दिखाई पड़ेगी। इसी प्रकार वेदमें पितृपूजा भी ग्याप्त है। मृतककी आत्मा पितृलोकमें जाकर सूक्ष्म होनेसे अधिक शक्ति प्राप्त कर लेती है, अतः पितृपूजा भी आवश्यक है।

आनन्दकी मात्रासे भी देवता-मनुष्योंमें भेद होता है जैसे कि शतपथमें 'अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दः, ॥ एकः पितॄणां जितलोका-नामानन्दः, (१४।०।१।३३) यहां पर पितरोंका एक आनन्द मनुष्योंके सौ आनन्दोंके समान माना गया है। 'अथ ये शतं पितॄणामानन्दाः, ॥ एकः कर्मदेवानामानन्दः' (३४) यहां कर्मसे स्वर्गमें पहुँच कर देवता बने हुएओंका एक आनन्द सौ पितरोंके आनन्दके समान माना गया है। 'ये शतं कर्मदेवानामानन्दः, स एक आनन्ददेवानामानन्दः' (३५) यहां जन्म-देवोंका एक आनन्द सौ कर्मदेवोंके आनन्दके समान माना

गया है। 'ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एको देवल्लोके ध्यानन्दः' (३६) 'अथ ये शतं देवल्लोके ध्यानन्दाः, स एको गन्धर्वल्लोक ध्यानन्दः' (३७) 'ये शतं गन्धर्वल्लोक ध्यानन्दाः, स एको प्रजापतिल्लोके ध्यानन्दः' (३८) 'अथ ये शतं प्रजापतिल्लोके ध्यानन्दाः, स एको ब्रह्मल्लोके ध्यानन्दः। एष ब्रह्मलोकः सद्माद्' (शत० १४।७।१।३६) इस प्रकार ध्यानन्दकी मात्राके भेद होनेसे भी मनुष्य और देवता भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। आशा है कि आर्यसमाजके अनुयायीगण अपने बृद्ध तथा अनुभवी महारथी श्रीगङ्गाप्रसादजी धर्म० पृ० न्यायाधीशके स्वाध्यायसे लाभ उठाकर स्वर्गलोक, पितृलोक आदि लोक लोकान्तर तथा देव, पितर, गन्धर्व आदि मनुष्यभिन्न-योनिया मान लेंगे। इनके मान लेने पर फिर देवपूजा, पितृलोक, आदि भी अगत्या स्वरूप मानने पड़ जायेंगे। इससे जहाँ वेदादि-शास्त्रोंके अर्थोंमें उन्हें कठिनाता न पड़ेगी, वहाँ उन्हें शास्त्रोंमें प्रक्षिप्तताका अकारण-तात्पर्य भी न करना पड़ेगा। इस प्रकार देवताओंका अस्तित्व तथा देवपूजन जब वेद-सम्मत सिद्ध हो गया, तो तदुपजीवक सनातन-हिन्दुधर्म भी वैदिक सिद्ध होगया।

(१६) नवग्रहोंके वैदिक-मन्त्र

हिन्दु-धर्ममें ग्रहोंकी पूजा अनादि-कालसे चली आ रही है। 'ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा जनपदा उपभ्रस्यन्ते' (सूत्रस्थान ६।२०) 'यस्य वक्रानुक्रमगा ग्रहा, गर्हितस्वान्गता पीडयन्ति जन्मर्षं या' [स विनश्यति] (सूत्र० ३२।४) उपवेदरूप 'सुश्रुत-संहिता' के इस अध्यायमें ग्रहोंकी पीड़ा सूचित की गई है, तब उनकी शान्त्यर्थ उनकी पूजा प्रार्थना आदि स्वयम् अनिवार्य सिद्ध हुई। प्लुतादि मूलको लेकर आयुर्वेदकी पुस्तक 'भैषज्यरत्नावली' के आरम्भिक २८ पद्यमें कहा है—'ग्रहेषु प्रतिकूलेषु मानुषल हि भेषजम्। ते भेषजानां वीर्याणि हरन्ति यत्नवन्वपि। प्रतिवृत्त्य ग्रहान् आदौ परचाक्षुर्याचि-किरिसितम्' इससे ग्रहोंकी प्रतिकूलतासे रोगीको दवाई भी प्रतिकूल पड़ती है—यह कहा गया है। तब उपवेदके मतमें भी ग्रहपूजा सिद्ध हुई।

केवल ग्रहपूजा-प्रार्थना उपवेद-सम्मत ही नहीं; अपितु वेद-सम्मत भी है, तभी तो 'शं नो महाश्चान्द्रमसाः शमादिष्वथ राहुणा। शं नो मृत्युधूमकेतुः। (अथर्ववेदसं० १।१।१०) 'शं नो दिविचरा ग्रहा' (अथर्व० १।१।१०) इत्यादि वेदमन्त्रोंमें सूर्य-चन्द्रमा, राहु-केतु आदि ग्रहोंसे वरपात्रकी प्रार्थना आई है। ग्रहोंके प्रभाव बताने वाला ज्योतिष वेदका अङ्ग है, इससे स्पष्ट है कि वेदाङ्ग-ज्योतिषसे प्रोक्त ग्रहपूजा भी उसके अङ्गी वेदसे ही आई है। जब वेद ग्रहोंसे परिचित है; तब उन ग्रहोंके मन्त्र भी वेदमें होने चाहियें। अपिपाने ग्रहोंके मन्त्र वेदसे

हुदे; जो कि 'कात्यायनी-शान्ति' आदिमें प्रसिद्ध है, परन्तु आजके धर्मार्थी-मतानुयायी उन्हें माननेके लिए तैयार नहीं। वे उन पर उपहास वा आक्षेप करते हैं। हम उनके पूर्वपक्ष उपस्थित करके फिर उन पर अपने विचार रखेंगे।

पूर्वपक्ष—(१) देखो, ग्रहोंका चक्र कैसा चलाया है, जिसने विद्याहीन मनुष्योंको प्रसन्न किया है। 'आकृष्येन—सूर्यका मन्त्र १, इमं देवा—चन्द्रका २, अग्निभूर्धो—मङ्गलका ३, उद्बुध्यस्वाम्ने—धुंधका ४, गृहस्पते धति—गृहस्पतिका ५, शुभ्रमन्धसः—शुक्रका ६, शशो देवी—शनिका ७, कथानश्विन—राहुका ८, केतुं कृण्वन्—९ इसको केतुनी कृण्विका कहते हैं यह मन्त्र ग्रहोंके वाचक नहीं; अर्थ न जाननेसे भ्रम-जालमें पड़े हैं' (स्वा० द० जी 'सत्यायनप्रकाश' ११ समु० २१२ पृष्ठ में)।

पूर्व—(२) 'वेदार्थ और वेदपाठमें कितना अन्तर है, उसके लिए केवल यह एक उदाहरण पर्याप्त होना चाहिये कि—आज घर-घर नवग्रहकी पूजामें शनिके लिए 'शनो देवीरभिष्टे' मन्त्र पढ़ा जाता है, इसमें कहीं शनिका पता नहीं है। 'श नो' का अर्थ है—'हमारा कल्याण', परन्तु 'शनि' से कुछ-कुछ स्वन मिलता है, इसलिये इसे शनिका मन्त्र मान लिया गया है' (वा० सम्पूर्णानन्दजी 'ब्राह्मण, साधन' निबन्ध पृ० ४ में)।

पूर्व—(३) 'स्वा० दयानन्दजीके प्रचार कार्यसे पूर्व भारतमें वेद-रूपी सूर्यको पुराणरूपी यादवोंने ढक दिया था। नाम तो वेदोंका तब भी लिया जाना था, मन्त्र भी वेदके ही बोले जाते थे, पर उच्चारण-मात्र। 'शनो देवी, उद्बुध्यस्वाम्ने, केतुं कृण्वन् केतवे' इत्यादि मन्त्रोंमें

शब्द-सादृश्यको लेकर शनि, बुध और केतुकी पूजामें वे मन्त्र प्रयुक्त होने लगे, ऐसी भारतकी दीन-हीन दशामें उत्पन्न होकर स्वामीजीने पापघट्टग्रहिद्विनी पताका खड़ी की' (श्री पं० चूड़ामणिजी शास्त्री शाण्डिल्य 'मेरी स्वा० द० के प्रति भावना' लेख 'सार्वदेशिक' दिसम्बर १९४८ में)।

उत्तरपक्ष—इन सब आक्षेपार्थोंने शनैश्चरके मन्त्रको विशेष-आक्षेप्य माना है। यह बात सभीने एकस्वरसे कही है कि शब्द-सादृश्यसे इन मन्त्रोंको ग्रहपरक लगाया गया है; पर मेरा विचार है कि यह बात स्वा० दयानन्दजी आदिमें तो घट सकती है; जिन्होंने 'तरंगार' (श्रु० १।१।११।१०) मन्त्रमें 'तारं' देखकर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें 'ताराप्यं यन्त्रं' अर्थ कर डाला। सनातनधर्मियोंमें ऐसी बात नहीं है, वे उसमें कोई-न-कोई मूल या गुण देखकर तब ही वैसा अर्थ कहते हैं। स्वर्णमात्रको लेकर उस-उसका मन्त्र बता देना विद्वान्का काम नहीं होता; उक्त ग्रहमन्त्रोंको पताने वाले ऋषि-मुनि विद्वान् ही थे, उनकी बात असत्य वा अश्वत्थामूलक नहीं हो सकती। वेद 'यं वै सूर्यं स्वर्भानु-स्तमसाविध्यदासुरः' (श्रु० २।४०।१६) इस मन्त्रमें असुरयंशीय राहुमें सूर्यका ग्रहण होना मानते हैं। यहाँ 'स्वर्भानु' से राहु इष्ट है, जैसे कि अमरकोषमें 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' (१।३।२६)। यदि इस पर विश्वास न हो तो प्रतिवादिगण अपने नेता स्वा० द०जीके 'उष्णादिकोप' की ३।३२ सूत्रकी व्याख्यामें 'स्वर्भानु-राहुः' वह शब्द देखें। जब वेदको भी 'यम् आदित्यश्च राहुणा' (अथर्व १।१।१०) में राहु-ग्रह इष्ट है; तो ग्रहोंका चक्र कल्पित कैसे हुआ? स्वा० दयानन्दजीने 'उष्णादिकोप' (१।३) में 'राहुः-ग्रहविशेषः' वह स्वीकार किया है।

इस प्रकार वेदको 'धूमकेतु' का भी जय पता है; तो केतु, शनि,

बुध-आदिका पता न हो—यह असम्भव बात है। स्वा० दयानन्द स्वयं 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम समुल्लासमें इन नौ ग्रहोंका नाम मान गये हैं। केवल उनका अर्थ उन्होंने परमात्मपरक लगा दिया। इस प्रकार तो 'दयानन्द, आर्यसमाज' आदि पदोंका भी व्युत्पत्तिके बलसे परमात्मा-अर्थ लगाया जा सकता है; तब क्या प्रतिवादी इनका अभाव मान लेंगे? 'उणादि-कोष' (१।७४) में स्वा० द०जीने स्वयं 'केतुःग्रहः, पताका वा, धूमकेतु-रूपातः' यह लिखा है, फिर स्वा० दयानन्दजीसे भावित लोग हम पर कैसी शङ्का करते हैं, और बुराई पर उपासम्भ कैसे देते हैं? वेद जब ग्रहोंसे परिचित हैं, तो उसमें उन ग्रहोंके मन्त्र भी अनिवार्य ही हैं। यदि ऊपरके मन्त्र आपको पसन्द नहीं, तो कोई और मन्त्र मानने ही पड़ेंगे। आर्यसमाजके श्रीग्रहसुनिजीने अपने 'वैदिक ज्योतिष-शास्त्र' में शनि-बुध आदिके कई मन्त्र दिखलाये ही तो हैं !

जब प्रतिवादियोंका भी मिद्धान्त है कि वेदमन्त्रोंके आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवम् आधिदैविक अर्थ भी हुआ करते हैं, फिर वे किस मुँहसे कहते हैं कि 'शं नो देवी' मन्त्रमें 'शनैश्चर' ग्रहका अर्थ नहीं? 'सुदेशो असि परुण ! यस्य ते सप्त मिन्धवः' (ऋ० मा६६।१२) यहाँ पर 'मान नदिप्रा' यह स्पष्ट अर्थ होते हुए भी इस मन्त्रका व्याकरण-परक अर्थ लगाने वाले महाभाष्यकारको वे कुछ नहीं कहते। 'द्वादश मथयः चक्रमेः' (ऋ० १।१६४।४८) इस 'संवत्सरात्मा कालः' देवता-बाले (जिसे स्वा०जीने अपने वेदभाष्यमें स्वयं लिखा है, जिसका निरुक्तकार (४।२७।१) ने भी संवत्सर अर्थ किया है) मन्त्रका 'हयार्द-जहाज' यह कल्पित अर्थ करनेवाले स्वा० द०जीकी भी आप लोग डाँट-ढपट नहीं करते, पर 'शं नो देवी' का शनैश्चर अर्थ करने वाले सना-तनधर्मियोंको आप फटकारते हैं—यह कैसा न्याय है? स्वा० दया-नन्दजीने तब उनका अनुयायी आप लोगोंने भी क्या यहाँ "पर उपदेश-

के प्रमत्त वेदमन्त्र यतलाये गये हैं। इनमें शनि, बुध एवं केतुके वही मन्त्र हैं, जो आप लोगोंने आदिष्ठ किये हैं। क्या याज्ञवल्क्य जिन्होंने शुक्ल-यजुर्वेद मन्त्र और ग्राह्यणका समाधि-द्वारा दर्शन किया, इतने वेदानभिज्ञ थे कि जिन्होंने शब्दमाह्वय देखकर इन मन्त्रोंको उन-उन ग्रहोंका मान लिया ?

‘श्रीवात्स्यायनने न्यायदर्शनमें मन्त्र-ग्राह्यण और स्मृतियोंके द्रष्टा-प्रवक्ता समान माने हैं’ (४।१।६२) आर्यसमाजके अनुमन्धानप्रवीण श्रीभगवद्दत्तजीने भी अपने ‘भारतवर्षका घृह-इतिहास’ (प्रथम भाग) में यही माना है—‘जिन ऋषियोंने चरक, काठक आदि संहिताएँ और ग्राह्यण तथा कल्पसूत्र-प्रवचन किए, उन्हीं ऋषि-मुनियोंने इतिहास, धर्मशास्त्र और आयुर्वेदीय ग्रन्थोंकी लोकभाषा-संस्कृतमें रचना की। यही कारण है कि—यत्तमान धर्मसूत्रोंके अनेक वचन तथा याज्ञवल्क्य और महाभारतके अनेक पाठ ठीक ग्राह्यण-सदृश भाषामें हैं’ (पृ० ७२)

फिर वे ही लिखते हैं—‘पं० ईश्वरचन्द्रजी [प्रि० व्यास दोषदेशक विद्यालय, गुरुदत्तभवन लाहौर] ने ‘ग्राह्यण-ग्रन्थोंके द्रष्टा और इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्रके रचयिता ऋषियोंका अभेद’ नामक एक घृह-ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सिद्ध किया है कि—रातपथ शास्त्रकी भाषा वैदिक प्रवचन-शैलीकी भाषा होनेसे, तथा ह, वै आदिके प्रयोगोंकी बहुलता पर भी याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी भाषासे पर्याप्त-सदृशता रखती है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिके अनेक पाठ पाणिनीय व्याकरणके प्रभावसे उत्तरोत्तर बदले गये हैं’ (पृ० ७३) इत्यादि।

श्रीभगवद्दत्तजीने उक्त विषयमें बहुत स्पष्टता की है। तब वे ही याज्ञवल्क्य उन ग्रहोंके मन्त्र लिखते हुए कैसे अनाप्त हो सकते हैं ?

जब ऐसा है तो 'ब्राह्मण-सावधान' की उच्चरमाला ३६ पृष्ठमें श्रीसम्पूर्णानन्दजीका निम्न-लेख समाहित होगया। वह लेख यह है कि—'ऐसा नहीं माना जा सकता है कि—जिस ऋषि द्वारा सतयुगमें मन्त्र-दर्शन हुआ, वेदमन्त्र अवतरित हुए, उसीने लौकिक सस्कृतमें स्मृतिकी रचना की। सतयुगमें स्मृतिनिर्माण करने तक लाखों वर्ष होते हैं, तब तक तो जीते रहे, फिर कुछ ऐसी महामारी आयी कि—सब पुराणक मर गये। 'शतपथ-ब्राह्मण और स्मृतिवाले याज्ञवल्क्य उतने ही भिन्न व्यक्ति हैं, जितने शारीरकभाष्यके रचयिता और गोमर्धन-पीठके वर्तमान अध्यक्ष, यद्यपि वे दोनों याज्ञवल्क्य कहाते थे और वे दोनों शङ्कराचार्य कहलाते हैं। ज्यों-ज्यों समय बदला, त्यों त्यों तपस्वी विद्वानोंने धर्मके मूल-तत्त्वोंकी रक्षा और समाजके कल्याणार्थ नये स्मृति-ग्रन्थोंकी रचना की। ये ग्रन्थ हमारे आदरणीय हैं, परन्तु इन्हें न श्रुतिका दर्जा प्राप्त है, न इनके रचयिताओंको मन्त्रद्रष्टा-ऋषियोंका। " " इनकी मान्यता वहीं तक है, जहाँ तक हम इन्हें वेदानुसूत पाते हैं।'

यादू-महाशयको यह जानना चाहिये कि—श्रुतिकी आदिमें प्रणीत सर्वमान्य-मनुस्मृतिमें लिखा है—'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्' (२।६) 'श्रुतिस्तु वेदो विशेषो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेऽप्यमीमांस्ये ताभ्या धर्मो हि निर्वर्तौ' (२।१६) 'धोमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राध्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्यहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' (२।१३) 'वेद. स्मृति. सदा चारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। पृच्छतुर्विधं प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्' (२।१२) उक्त उद्धरणोंमें श्रुतिके साथ धर्मशास्त्र स्वरूप स्मृतिकी अवश्य-प्रयोजनीयता दिखलाई है। यदि धर्मशास्त्र प्रमाणित न किया जावे, तो लोकव्यवहार न चले। जैसे कि श्रीवात्स्यायनमुनिने कहा

महं यदादित्यादवाप्तवान्' (याज्ञ० स्मृति प्रायश्चित्ताध्याय ४।११०)
 इससे स्पष्ट है कि—याज्ञवल्क्य-स्मृतिके प्रणेता और शतपथके द्रष्टा
 याज्ञवल्क्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं हैं । भाषाभेदका कारण यह है कि
 शतपथ याज्ञवल्क्यकी अपनी भाषा नहीं है, वह तो सूर्यसे सीधा प्राप्त
 ब्राह्मणात्मक-वेद है, अतः उसकी भाषा छान्दस हुई, और याज्ञवल्क्य-
 स्मृति उसकी अपनी भाषा है । यही बात आर्यसम्राज्ञी चतुर्वेद-भाष्य-
 कार श्रीजयदेव-विद्यालंकारने भी 'वेदवाणी' (२।४ पृ० ६) में स्वीकृत
 की है—'वेदकी भाषा सधप्रथम है, लौकिक संस्कृत उससे भिन्न है, वह
 भी वेदकालम प्रचालत रहो; और वेदके जानने वाले ऋषिगण ही वेदके
 विद्वान् होकर जब लौकिक-साहित्यमें ग्रन्थ रचते थे तो वे लोक-प्रसिद्ध
 संस्कृतमें रचते थे । वेदिक भाषासे उनके लौकिक-ग्रन्थोंकी भाषा
 अनेक अंशोंमें भिन्न थी' ।

यह बात ठीक भी है—जैसे ऋषि यज्ञ-समयमें 'यद्वा नः, तद्वा नः'
 यह बोलते थे, और भिन्न समयमें 'पर्वाणः, तर्वाणः' वैसे ही वेद-दर्शनमें
 वे ऋषि-मुनि परमात्मासे प्राप्त शब्दका ही उपयोग करते थे, स्मृतिके
 निर्माण-समयमें लोकभाषाका ही प्रयोग करते थे । फलतः शतपथ-
 ब्राह्मणके कर्ताने ही याज्ञवल्क्यस्मृति बनाई, यह पूर्वोक्त मीमांसासे सिद्ध
 हो चुका है—उन्हीं याज्ञवल्क्यसे अपनी स्मृतिमें प्रोक्त तत्त्वमहोके मन्त्र
 भी प्रामाणिक ही सिद्ध हुए, श्रीसम्पूर्णानन्दजीका एतद्विषयक आक्षेप
 परिहृत हो गया ।

जो कि 'ब्राह्मण सावधान' पृ० ४३में श्री सं० नं० जीने
 लिखा है—'जो मन्त्र जिस प्रसङ्गमें आया है, उससे भिन्न प्रसङ्गमें
 उसका विनियोग तभी ठीक माना जा सकता है, जब इस वाक्यके पक्षमें
 असन्दिग्ध और पुष्ट प्रमाण हों । पीछे की घनी पुस्तकोंका प्रामाण्य न

पुष्ट है, न असन्दिग्ध; क्योंकि—यह अपने समयकी प्रचलित बातोंको लिखती हैं। हां, यदि श्रुति स्वयं कहीं ऐसा सकेत करे या श्रौत-सूत्र-कार श्रुति ऐसा कहते हैं, या कम-से-कम प्रसिद्ध भाष्यकार जिन्होंने उपलब्ध सभी सामग्रीका उपयोग किया होगा—ऐसा उल्लेख करते हों, तब ही मन्त्रका विनियोग अन्यत्र मान्य हो सकता है। 'शं नो देवी' वाला मन्त्र यजुर्वेदके ३६वें अध्यायमें आया है। यहा शनिका कोई प्रसङ्ग नहीं। मन्त्र स्पष्ट रूपसे जल-सम्बन्धी है। जिसी भी वेदमें एक भी मन्त्र शनि नामय किसी देवताके निमित्त नहीं आया है, ऐसी दशामें जोड़ पीछेका रचा प्रत्येक इसको शनि परक नहीं बना सकता। इसका उत्तर पूरा दिया जा चुका है। १३ धर्मशास्त्र-स्मृतियों भिन्न भिन्न कालकी सामयिक-रचना नहीं, किन्तु उन्हीं वेदके दृष्ट-प्रत्यक्ष श्रौत-मुनियोंने वेदतहिताओंके हृदयको टटोलकर दम हैं हैं। गृहसूत्रोंकी सभी वेदमन्त्रोंके विनियोजक मानते हैं, उनमें भी जब ग्रहोंके उक्त मन्त्र बताये गये हैं (यह हम आगे कहने वाले हैं) तब आपका आक्षेप परिहृत हो गया। समय पर आप भाष्यकारोंको भी मान लेते हैं, समय पर आप श्रुतिकी बात भी नहीं मानते। श्रुति नागपूजामें किसी मन्त्रका विनियोग बताती है, आप उसे नहीं मानते। भाष्यकार कई मन्त्रोंको 'गणेश' परक मानते हैं, आप उन्हें माननेसे नकार कर दिया करते हैं। 'यह प्रमाण है, यह अप्रमाण है' यह आपका कथन वाग्विदासमात्र ही है। शेष आपका आक्षेप यह है कि—'शं नो देवी' का देवता जल है, तब शनिका इसमें क्या प्रसंग, इस विषय पर हम आगे स्पष्टता करने वाले हैं, आप ध्यान दे देंगे।

अब 'बृहत्पराशरस्मृति' का खेरा देरिये—१ 'आकृष्येनेति तीव्रांशो', २ 'हमं देवा निशास्त्रम्'। (६६४) १, ३, अग्निमूर्धेति मूसूनोः, ४ उदुभ्यस्व शुधस्य च। ५ बृहस्पते अति गुरोः, ६ अघात् परिस्रुतो

मृगोः (१।६६) । ७ शन्नो देवीः शनैर्गन्तुः (शनैश्चरस्य = काण्डान् काण्डान् परस्य (राहोः) ॥ १ केतुं कृण्वन्नग्निस्नोः (केतोः) इति मन्त्राः प्रकीर्तिताः (१।६६) ॥ वेदमन्त्रैर्विना रुद्धिद् विधिर्नास्ति द्विज-
न्मनाम् (१।६७) । 'बृहत्पराशरस्मृति' के लिङ्ग आर्यसमाजी स्नातक धर्मदेवजी सिद्धान्तालङ्कार 'श्री' पत्रिकांक २।१ अङ्कके ४१वें पृष्ठमें लिखते हैं—'भूलधर्मशास्त्रं तु बृहत्पराशरमहितेति नाम्ना प्रख्यातम्' ।

अथ गृह्यसूत्रोंमें 'बोधायनगृह्यशेषसूत्र' की भी इस विषयमें सम्मति देखिये । प्रहमन्त्रोंको कहते हुए यहां लिखा है—'१ आसत्येन इत्या-
दित्वाय, २ अग्निमूर्ध्ना मिथ्यङ्गारकाय, ३ प्रवश्शुक्लाय इति शुक्लाय, ४ आप्यायस्व इति सोमाय, ५ उदुष्यस्व इति सुधाय, ६ बृहस्पते । अति यदर्यं अर्हाद् इति बृहस्पतये, ७ शन्नो देवीरमिष्टये इति शनैश्चराय, ८ कया नरिचत्र आभुवत् इति राहवे, ९ केतुं कृण्वन्निति केतो' (१।१६।२२) यहां पर भी शनि, बुध, केतुके वही मन्त्र बतलाये गये हैं । क्या बोधायन-मुनिको भी वेदका ज्ञान सर्वथा नहीं था ? इसी प्रकारके ही मन्त्र 'आग्निवेश्यगृह्यसूत्र' के द्वितीयाध्याय पञ्चम प्रश्नमें भी देखे जा सकते हैं ।

अथ 'जैमिनिगृह्यसूत्र' पर दृष्टि डालिये—'१ आसत्येन इति आदि-
त्वाय, २ अग्निमूर्ध्ना दिव इत्यङ्गारकाय, ३ आप्यायस्व इति सोमाय, ४ ब्रह्म जज्ञानमिति सुधाय, ५ बृहस्पते अति यदर्यं इति बृहस्पतये, ६ अस्य प्रानाममुक्तम् इति शुक्लाय । ७ शन्नो देवीरमिष्टये इति शनैश्च-
राय । ८ कया नरिचत्र आभुवदिति राहवे, ९ केतुं कृण्वन्न केतवे इति केतो' (२।१) तो क्या जैमिनि मुनि भी मूर्ख थे ?

अथ आर्यसमाजी-शरोमणि श्रीधर्मदेवजी-सिद्धान्तालङ्कारके प्रिय गृह्यसूत्र 'वैखानसगृह्यसूत्र' में प्रहोके मन्त्र देखिये—'अथ प्रहशन्ति

स्यास्यास्यामः, ग्रहायन्ता लोकेयात्रा... यथा क्रमेण १ चासत्येन, २ सोमो धेनुम्, ३ अग्निमूर्धा, ४ उद्वुध्यस्व, ५ बृहस्पते अति, ६ शुक्रं ते धन्पत्, ७ शन्नो देवीः, ८ कया नश्चित्रा, ९ केतुं कृष्वन्निति (चतुर्थ प्रश्नका १३वां खण्ड) । अब जब वेदाङ्ग 'कृष्व' के अन्तर्गत गृह्यसूत्रों-ने उक्त वेदमन्त्रोंका उक्त ग्रहोंमें विनियोग कर रखा है, तब 'शब्दमा-दयमात्रको लेकर जबर्दस्ती-ग्रहोंके मन्त्र पनाये गये' यह धारण करना धारणाओंको कहाँ तक शोभा देता है इसका भार हम विद्वान् पाठकों पर छोड़ते हैं । गृह्यसूत्रकारोंका भी चतुरतासे मूर्ख पतलाना मेरे विचारमें एक अक्षम्य अपराध है ।

अब 'मत्स्यपुराण' में भी ग्रहोंके मन्त्र देखिये—'१ आकृष्णेने-ति सूर्याय होमः कार्यो द्विजन्मना' (३३।३३) । २ आप्यायस्वेति सोमाय मन्त्रेण जुहुयात् पुनः । ३ अग्निमूर्धा दिवो मन्त्र इति भीमाय कीर्तयेत् (३४) ॥ ४ अग्ने विषस्वदुपस इति सोमसुखाय वै । ५ बृहस्पते परिदीया श्येनेति गुरोर्मतः (३५) ॥ ६ शुक्रं ते धन्यदिति च शुक्रस्यापि निगद्यते । ७ शन्नैश्चरायेति पुनः शन्नो देवीति होमयेत् (३६) ॥ ८ कया नश्चित्रा आमुषदिति राहोस्तदाहवः । ९ केतुं कृष्वन्नपि ध्रुव त केतूनामपि शान्तये (३७) ॥" इस प्रकार 'मत्स्यपुराण' में भी देखिये—

'आकृष्णेनेति' (मध्यमपर्व द्वितीयं भाग २०।६०), 'हमं देवा इति' (२०।६५), 'अग्निमीलेति' मन्त्रेण' (२०।७०), 'उद्वुध्यस्वेति मन्त्रेण' (२०।७४), 'बृहस्पतय इति मन्त्रेण' (७८), 'जपन्नन्नात् परितुतम्' (८४) । 'शन्नो देवीति मन्त्रेण' (८६), 'केतुं कृष्वन्निति' (२०।८२) । क्या ये सब वेदानभिज्ञ थे ? वस्तुतः उक्त धारण धननुसन्धान-प्रवृत्ति-का ही फल है, यह ठीक कहा है—'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दन्ति'

प्रकटते' । 'ग्रहोंका फल मिलता है, आशा है इसमें तो आधेसाओंको कोई आपत्ति न होगी । दृष्टशास्त्र आयुर्वेदका, जिसके दृष्टान्तको लेकर 'न्यायदर्शन' ने वेदको भी प्रमाणभूत सिद्ध किया है, उसके वादिप्रति-
वादिमान्य ग्रन्थ 'सुधृत-सदिता' में कहा है 'यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा
गहितस्थानगता षोडशान्नि जन्मर्चे वा [स वितरयति]' (सूत्रस्थान
३२।४) । इस प्रकारक बहुत प्रमाण दिये जा सकते हैं, पर यहाँ उतना
स्थान नहीं है ।

यदि आधेसाओंका यह अभिप्राय हो कि 'शन्नो देवी' मन्त्रमें
शनैश्चरका अर्थ नहीं घटता, तब यह शनैश्चरका मन्त्र कैसे हो' ? इस
पर उन्हें जानना चाहिए कि कई मन्त्र ऐसे हुआ करते हैं, जिनका
प्रत्यक्षवृत्तिस वैसा अर्थ दिखलायी नहीं देता, परन्तु कहा पर विनियोग
वैसा हो जाता है । यहा पर अर्थ भी विनियोगके अनुसार हुआ करता
ह । उदाहरणार्थ यह वाक्य लीजिये—'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'
इसका यह अर्थ है कि इन्द्रकी ऋचासे गार्हपत्यका उपस्थान करे ।
यहा पर ऋचा इन्द्रकी है, परन्तु विनियोग अग्निके उपस्थानमें होता
ह । वर्णन सूया नामक देवताका होता है, पर विनियोगवश उस
मन्त्रका मानुषी यधूपरक अर्थ भी कहीं हो जाता है । इसीलिप् 'निरुक्त'
में २।८। सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है—'तदेव
मन्त्रेषु शब्दगतिविभुत्वाद् उभयमप्युपपन्न एव । तद् यथा 'दधिक्राव्यो
अकारिणम् इत्येव मन्त्राऽन्युपस्थाने अग्निहोत्रे, अयमेव च अग्निहोत्रे
अग्निं दधिमण्डले, अयमेव अश्वसन्निधौ पत्नी जपने । तत्रैव सति
प्रतिविनियोगमस्य अन्येन अन्येन अर्थेन भिन्नत्वम्' । बात स्पष्ट हो
गयी । तथापि उक्त मन्त्रोंमें उस-उस ग्रहका अर्थ समन्वित भी हो
सकता है । आधेसाओंने पहले पहल शनैश्चरका मन्त्र 'शन्नो देवी' ही

आचेष्टमें रखा है, इससे स्पष्ट है कि यह मन्त्र उन्हें प्रियोपेतः धर्मग्रन्थ जान पड़ा है।

शनैश्चर का मन्त्र

आचेष्टा कह सकते हैं कि 'हो ऐसा हो है। 'शन्नो देवी', (श्र० १०।१।४, यजु० वा० सं० ३६।१२, काण्वसं० ३६।१२, मैत्रायणीसं० ४।१०।४ साम०सं० अग्नेय १।३।१३, अथर्व०शौ० १।६।१, पैप्पलाद-सं० १।१।१) मन्त्रका 'आपो देवता' है, तब जलार्थक मन्त्रमें शनैश्चर का अर्थ कैसे घट सकता है ? आचेष्टा यहाँ तो सन्देह करते हैं, परन्तु उनके श्रद्धेय स्वामी दयानन्दजीने यहाँ 'परमात्मा' अर्थ कर डाला है, उनसे ये 'मनु नय' भी नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि भावनासे सब कार्य होता है। स्वामी-दयानन्दजीके प्रति उनकी श्रद्धा-भावना है अतः उनकी बात उन्होंने मान ली, पर पुराणों पर कदाचित् उनकी अधश्चा है, अतः वे उसे माननेके लिए तैयार नहीं होते।

श्रीसम्पूर्णानन्दजी कल्पसे वेदार्थनिधिकी बड़ी कुञ्जी मानते हैं, और उल्लाहना देते हैं कि—'मो पण्डित है, वे यही कुञ्जियोंमें प्रायः तीन शिखा, कल्प, निरुक्तकी और श्राल उठाकर नहीं देखते' (प्राश्न, सायबान पृ० ३) दूसरे विद्वान् कल्पको वेदाङ्ग मानते हैं। जब ऐसा है; तब कल्पसूत्रान्तर्गत गृह्यसूत्रोंने 'शं नो देवी' आदिका 'शनैश्चर' आदि ग्रहोंमें विनियोग यथा दिया है, जिसका हम उल्लेख कर चुके हैं, तब कल्प पर भी सं० नं० जीका प्रहार क्यों ?। गृह्यपरामर्शमें भी लिख दिया है—'शं नो देवीरिति छत्र शनिदैवतमुच्यते' (६।३।३) 'शं नो देवी रवेः सूनुम्' (६।६२) । इस विषयमें श्रीनारायणजी ज्योतिर्विद् महोदय रियासत जुबलने कई निबन्ध बना रखे हैं। हम भी तदनुसार अपने क्रममें स्पष्टता करते हैं। 'आलो' पाठक सायबानतासे देखें।

‘अथ जल इत्थं मन्त्रमें वर्णयमान विषय (दिवता) जल है, तब ‘शनैश्चर’ का अर्थ कैसे ?’ इस आशेप पर उन्हें जानना चाहिये कि ग्रह पञ्चतत्त्वात्मक होते हैं, उनमें शनैश्चर ‘अपतत्त्वप्रधान’ है, तब मन्त्रस्थित ‘आप’ पदसे शनैश्चर भी गृहीत होता है। जल तथा शनि दोनोंकी सूर्यसे उत्पत्ति हुआ करती है, अतः दोनोंका आपसमें अभेद हुआ करता है। इसी अप्रतपसी प्रधानतासे शनि ‘मन्द’ वा ‘शनैश्चर’ कहा जाता है। ‘शीतस्पर्शवत्य आपः’ यह जल ‘अप्’ का लक्षण है। जिसमें जलका प्राधान्य हो, वह आलसी, ढीला वा टरहा माना जाता है। इसीलिए व्याकरणमें जलके शीत-गुणको धारण करने वाला ‘शीतक’ (आलसी) कहा जाता है। ‘शीतोष्णाभ्यां कारिणि’ (५।३।०३) यह पाणिनिका सूत्र है। इसका उदाहरण—‘शीतं करोति इति शीतक’ (अलस ?) दिखलाया गया है। इसीलिए प्रकृत सूत्र पर ‘तत्त्वयोधिनी’ टीकामें कहा है—‘शीतमिव शीतम्, मन्दमित्यर्थः। शीते सति कार्यकरणे पाटकाऽभावात्’ अर्थात् शीतता होने पर काम करनेमें सामर्थ्य नहीं रहता। शनिमें इसी जलके गुण शीतत्वके होनेसे वह मन्द-शनैश्चर (धीमी गति वाला) होता है। यह एक राशिमें दस साल लगा देता है। यह ठीक भी है, सैजस वस्तुकी अपेक्षा जलीय-वस्तुमें स्वाभाविक मन्दता होती ही है।

शनैश्चरकी मन्दताका कारण कई ज्योतिषी उसकी परिधिका बड़ा होना बतावें, यह प्रकारभेद है, जैसे कि कोई दिन-रात सूर्यकी गतिसे, कोई पृथ्वीकी गतिसे माने, कोई वर्षके ३६५ दिन और १२ महीने माने, कोई वेदानुसार ३६० दिन माने, दस सालके बाद १३६० महीना भी माने, यह सब प्रकार-भेद हैं। तब वेदका शनैश्चरकी मन्दताका कारण अप् तत्त्वको मताना अयुक्त नहीं हो जाता। वेदमें २६० भी परिधिके पदे होनेसे शनैश्चरकी मन्दता नहीं बही गई।

इधर 'अग्नेरापः' (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मसूत्रवल्ली १ अनुवाक) इससे तेज-द्वारा जलकी उत्पत्ति कही गयी है। तभी प्रीष्मन्मनुष्यसे जलरूप वर्षा श्रुत उत्पन्न होती है, जब क्रोधाग्नि आँसुसे निकलती है; तो उसके बाद उसी आँसुसे आँसु रूप जल निकल पड़ता है, तब अग्निरूप सूर्यके द्वारा जलरूप शनैश्चरकी उत्पत्ति सङ्गत ही है। शनैश्चर सूर्यका पुत्र प्रसिद्ध ही है। तब 'शसो देवीः' मन्त्रके 'आपः' पदसे सूर्यसे उत्पन्न, जलके गुणको धारण करने वाले शनैश्चरका ग्रहण युक्तियुक्त ही है। 'एकस्य आत्मनो अग्न्ये देवाः प्रयद्गानि भवन्ति' (७।४।६) यह 'निरुक्त' में स्वीकार किया गया है। तब आप् (जल) देवताका अङ्ग होनेसे शनैश्चर भी आप्-शब्दवाच्य हो सकता है।

'बृहत्पराशरहोराशास्त्र' में श्रुति पराशरने मैत्रेय मुनिसे कहा है 'वृमो भास्करपुत्रस्य' (ग्रहभादुर्भावाध्याय पृष्ठ २६)। यहाँ पर शनिको वृमं (कक्षये) के रूपवाला कहा है। 'के-जले, ऊर्मिः-तत्तिर्यस्य स वृमः' (पृषोदरादिः)। वृमंको 'कमठ' भी कहा जाता है; 'के-जले मठ'-स्थानं यस्य स कमठः'। जिसका जलमें स्थान हो, उसे संस्कृतमें 'कमठ' कहा जाता है। कच्छप जलमें रहता हुआ पृथिवीकी रक्षा करता है। तब वृमरूप शनैश्चरसे भी जलकी द्वारीकृत करके पृथिवीके प्राणियोंकी रक्षाकी प्रार्थना ठीक ही है। 'निरुक्त' में कहा गया है—'तत्र संस्थानैकात्वं सम्भोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्। यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च दृश्यते। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगोऽग्निना च इतरस्य लोकरस्य' (७।१।८) यहाँ पर श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है—'तत्र-तस्मिन्, पृथक्त्वे सति संस्थानैकात्वं, सम्भोगैकत्वं च उपपत्तित ईक्षितव्यम्, तत्र एष्टान्तः, यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशव इत्यादि। सहस्थानतया एकत्वं संस्थानै-

आसे स्तुति करते हैं। अथवा यह आशय है कि पदार्थोंकी बहुविध प्रकृति होनेसे वेदमन्त्र उस प्रकृतिसे भी उस-उस देवताकी स्तुति करते हैं। इस प्रकार अग्नि (जल) और शनिकी भी अनन्यरूपसे स्तुति हो सकती है। 'निरुक्त' में यह भी कहा है—'इत्येतरजन्मानो भवन्ति इत्येतर-प्रकृतयः' (७।१।१२) इस तरह जब एक-दूसरेसे देवताओंका जन्म माना गया है और देवता एक-दूसरेकी प्रकृतिवाले होते हैं, वेदार्थरूप-निधिकी यही कुली 'निरुक्त' भी जब जल और शनिकी एक प्रकृति होनेसे 'शं नो देवीः' को शनैरवर-वाचक साङ्केतिक कर रहा है, तब आपेक्षाओं-का इस पर आलेप कैसा? कलतः जलसे शनैरवरका ग्रहण अनुप-पन्न नहीं।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि प्राह पञ्चभूतप्रधान हुआ करते हैं, तो उस-उस भूतकी स्तुतिसे भी उस-उस ग्रहका ग्रहण हो ही सकता है। इस प्रकार जलभूतसे जलप्रधान-शनैरवरका भी ग्रहण हो सकते से 'आपः' पदसे शनैरवरका भी ग्रहण उपपन्न हो ही सकता है। ज्योतिषी लोग भी 'शं शनिः' कहकर शनिसे 'शं' (कल्याण) की प्रार्थना करते हैं। उक्त मन्त्रमें भी 'शं नः' यह प्रार्थना की जाती है। शनैरवरका आदिम वर्ण भी 'श' है। उक्त मन्त्रका भी आदिम वर्ण 'श' है। 'श' की कुम्भराशि है। ज्योतिषके अनुसार कुम्भराशिका स्वामी शनि है। इस कारण शनैरवरके बीजमन्त्रमें भी 'शं शनैरवराय नमः' यह पढ़ा जाता है। इसीलिष्ट 'श' शब्द उक्त-मन्त्रके पूर्वार्धकी आदि में भी मिलता है, उसके उत्तरार्धकी आदि में भी। जबकि परस्पर उस-उस देवकी प्रतिष्ठा करने पर देवप्रतिमा बन जाता है, तब कल्प-प्रवक्ताओं-द्वारा उक्त मन्त्रमें विनियोगानुसार यदि शनैरवर ग्रह प्रतिष्ठ पित रिया है, तो यह शनैरवरका मन्त्र क्यों न माना जाय?

गृहसूत्रों, स्मृतियों तथा पुराण-आदिमें अन्य ग्रन्थों के मन्त्रों पर कुछ अनैकमत्य भी है, पर इस शनिके मन्त्रमें तो सभी शास्त्रकारोंका मिलत-एकमत दीखता है। समीने शनिका मन्त्र 'शं नो देवीः' ही माना है। पर आश्चर्य है कि आचेष्टाओंने अयुक्तता सिद्ध करनेके लिए सबसे पूर्व शनिका ही मन्त्र उपस्थित किया है ! अब हम इस विषयमें प्राचीन शास्त्रकारोंको मानें या अर्वाचीन आचेष्टाओंको ? इसका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर है। यहाँ पर सब प्राचीनोंका एकमत होनेसे 'भवन्तु' अप्रसन्नगीतस्तथमायन्तु' इस 'महामाध्य' के वचनानुसार सावधानताका वचन होनेसे प्रामाण्य ही है। 'अप्' शब्दके नियमबहुवचनान्त होनेसे ही उक्त मन्त्रमें 'देवीः भवन्तु' इस प्रकार बहुवचन दिया गया है। जल और शनिके अभेद में बहुवचन स्वाभाविक ही है। अथवा शनिपक्षमें 'पूत्रां बहुवचन' भी सन्नत हो सकता है।

इस प्रकार प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा शनिमें विनियुक्त इस मन्त्रमें तो आचेष्टाओंने आक्षेप किया, पर उनकी 'भावनाके देवता' स्वामी दयानन्दजीने 'शं नो देवीः' मन्त्रका 'सत्यार्थप्रकाश' में 'सन्ध्यामें गले-में आये कफको जल-द्वारा फिर भीतर डाल देनेके लिए' जो विनियोग किया है, उस पर उन्होंने उन्हें कोई उपासकर्म नहीं दिया। इसका कारण कदाचित् उनकी स्वामीजीके प्रति अज्ञाभावना हो और प्राच्य शास्त्रकारोंके प्रति श्रद्धाभावना हो !

बुधका मन्त्र

यद्यपि इस प्रकार शनिमन्त्रकी सङ्गतिकें सिद्ध हो जाने पर 'स्थाली-उत्तार' न्यायसे आचेष्टासमूह-द्वारा आक्षेप बुध एवं केतु ग्रहके मन्त्रोंकी भी अन्वितता सिद्ध हो जाती है, तथापि बुध और केतु ग्रह पर भी

संक्षेपसे कुछ खिरना उचित प्रतीत होता है, 'अक्षिपकर्ता कृपया ध्यान दे। जिस प्रकार शनैश्चर अल्पस्थप्रधान है, 'अतः' तदर्थ अर्पवाला मन्त्र समानकार्यतासे निरन्तरानुसार लिया गया है, 'वैसे ही बुध अग्नितत्त्व-प्रधान है, तदर्थ अग्निवाला मन्त्र लिया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति, बृहत्पराशरस्मृति, योधायेनगृह्यशेषसूत्र, वैश्वानरगृह्यसूत्र, अग्निवेश्य-गृह्यसूत्र, भविष्यपुराण आदि बुधका वैदिक-मन्त्र 'उदबुध्यस्याग्ने' (यजु० १२।२४) लिखे हैं। 'मरुत्पराशर' ने 'अग्ने ! विषस्यदुपसः' यह अग्निदेवतावाला ही मन्त्र दिया है, इससे बुधकी अग्नितत्त्व-प्रधानता स्पष्ट है। अग्नितत्त्वकी प्रधानताके कारण ही उसकी शीघ्र-गति होती है। शनि जिस राशिको ढाई वर्षमें पूरा करता है, उसीको बुध प्रायः २१ दिनोंमें पार कर जाता है। बुध और अग्निका सादर्य दोनोंका यज्ञकर्ममें उद्योषक होनेसे भी है। अस्तु।

'पितरेवारप्यक' में कहा है—'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' (२।४।२४) वहाँ अग्निका वाणीरूप होना कहा गया है। तब अग्निरूप बुध भी वाणीका अधिष्ठाता सिद्ध हुआ। 'श्रीमद्भागवत' में कहा है—'वाचां बन्धेसु'त्वं सैत्रम्' अर्थात् मुख वाणी एवं अग्निका उत्पत्तिस्थान है। यहाँ श्री श्रीपराचार्यने लिखा है—'वाचामस्मदादिवाग्निन्द्रियाणां तदधिष्ठातृबन्धेरच मुखं सैत्रम् उत्पत्तिस्थानम्'। यहाँ पर बन्धिकी वाणीका अधिष्ठाता कहा गया है। 'वाच्यग्निः' (मनु० १२।१२१) इस पद्यमें अग्निसे वाणीका सम्बन्ध कहा है। 'बृहत्पराशरहोराशास्त्र' के ग्रह-मातृभावाध्यायके दूसरे पद्यमें 'बुधो वाणीप्रदायकः' इस प्रकार बुधका वाणीसे सम्बन्ध बतलाया गया है। 'बृहज्जातक' में ग्रहयोनिभेदाध्यायके प्रथम पद्यमें 'हो वचः' बुधको वाणीस्वरूप कहा है। इस प्रकार 'अभिमानि-व्यपदेशः' (वेदान्त० २।१।२) के अनुसार अग्नि, वाणीका अधिष्ठाता सिद्ध है। तब अग्निका कार्य वाणी तथा बुधका कार्य भी वाणी

समान होनेसे 'तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं (समानकार्यवत्त्वं) च उपेक्षितव्यम्' (निरु० ७।१।८) दोनोंको अभेदसे निरूपित किया जा सकता है ।

'सद्-बुद्धिं च बुधो गुरुश्च गुरताम्' एतदादि-पद्यांमें बुधकी बुद्धि-प्रदायक भी सूचित किया है । गायत्री भी बुद्धिप्रदायक प्रसिद्ध है । गायत्री भी अग्निस्वरूपा मानी गयी है । सावित्री (गायत्री) का अधिष्ठाता देवता सूर्य भी 'स न मन्येत अयम् (पार्थिव) एव अग्निरिति, अपि एते उत्तरे ज्योतिषी (विद्युत्सूर्यौ अपि) अग्नी उच्येते' (७।१६।२) इस 'निरुक्त' के वचनानुसार 'अग्नि' माना जाता है । उसी अग्निरूप सूर्यसे 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु० ३।३५) बुद्धिकी प्रार्थना की जाती है । तब बुद्धिप्रदायक बुधका भी अग्निदेवता-मन्त्रसे ग्रहण हो ही जाता है । प्रसुप्त अग्निस्वरूप सूर्यके मन्त्रसे भी कहीं-रहीं बुधका ग्रहण देखा गया है । 'ग्रह ज्ञानं' (यजुः वा० स० १३।३) का देवता 'सूर्य' माना गया है । यही मन्त्र 'जैमिनिगृ०' (२।६) में बुधका माना गया है । मरक्यपुराणमें भी 'अग्ने ! विवस्वदुपस. ६३।२५) यह अग्निमन्त्र ही बुधका माना गया है । इस तरह बुधके अग्निरूप होनेसे अग्निदेवता 'उद्बुध्यस्थान्ते' मन्त्रका बुधमें विनियोग निर्मूल नहीं । बुधके विषयमें यह भी जानना चाहिये कि—'अग्निर्यै सर्वा देवताः' (७।१७।४) यह 'निष्क' में तथा ब्राह्मण-भागमें प्रसिद्ध है । 'तासां [देवतानां] माहाभाग्याद् एतैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति' (नि० ७।१।३) इस श्रियास्कके कथनसे अग्निरूपसे बुधकी स्तुति भी की जा सकती है ।

इससे सिद्ध हुआ कि अग्नि तथा बुध दोनों ही बुद्धिके अधिष्ठाता हैं । बुद्धिके अधिष्ठाता 'अग्नि' के होनेसे ही ग्रहधारी बुद्धिप्राप्त्यर्थ

अग्नि की उपासना करता है। उससे वह प्रार्थना करता है कि 'ॐ यां मेधां देवयणा पितरश्चोषामते। तथा मामेव मेधयाऽग्ने मेधाग्निं दुधे स्वाहा' (यजु.० ३२।१४)। इसी प्रकार 'यया त्वमग्ने समिधा ममिष्यसे। ध्रुवमहमायुषा, मेधया, चर्वसा, समिन्धे (पारस्करगृ० २।४) यहा पर भी अग्निसे मेधा की प्रार्थना की जाती है। 'बुध ! एव बुद्धिजननो बोधद-सर्गदा नृणाम्' इस 'भविष्योत्तर' के ध्वननमें भी बुध का बुद्धिदातृत्व प्रसिद्ध है। तो जब बुध एव अग्नि का बुद्धिदातृत्व समान माना गया है, तब 'तत्र संस्थानैकत्वं सम्मोगैकत्वं च' (७।१।८) 'निरक्त' की इस परिभाषा के अनुसार समान कार्यवाले देवताओंको पृथक् पृथक् न गिनकर एक देवता या एक नामसे गिन लिया जाता है। सभी तो ३३ कोटि देवताओंका केवल तीन देवताओंमें अन्तर्भाव कर देना यास्कका सङ्गत हो जाता है। तब फिर 'उद्बुध्यस्वाने' इस आग्निके मन्त्रसे बुधको लोना शब्दमात्रसाध्यहेतुक नहीं, किन्तु यहा पर अर्थमात्रप भी है। आर्यसमाजके वैदिक ग्रन्थालयकी श्रवणेश्वर में 'उद्बुध्यस्व' (१०।१०।११) मन्त्रका श्रुति भी 'सौम्यो बुधः' (सोमका लवका बुध) माना गया है।

अथच 'उद्बुध्यस्वाने !' का 'हे आग्ने ! बुध्यस्व-बुध इत्याख्यायमानो भव' यह अर्थ भी गभित है कि हे अग्नि ! तुम बुध नामवाले कहे जाओ। 'बुध' शब्दको 'तत्करोति तदाचष्टे' से 'आचष्टे' अर्थमें प्रिय करने पर 'बुध्यति' बन जाता है। उसीका कर्मवाच्यमें छोट के मध्यमपुरुषमें यक् तथा णिलोप और आत्मनेपद होकर 'बुध्यस्व' — 'बुध इत्याख्यायमानो भव' इस प्रकार प्रयोग तथा अर्थ होता है। अर्थकी इस प्रकारकी शैली निरक्त-शैली कही जाती है, जहां पर एक ही शब्दको तीन आख्यायोंसे भी निकाला जाता है। तब फिर बुधके 'उद्बुध्यस्वाने' इस मन्त्रके लिखने मात्रसे

पुराणों पर आक्षेप करना आक्षेपार्थको युक्त नहीं। पुराण तो वेदका भाव्य है। पुराणानुसारी वेदका अर्थ युक्त भी होगा है, तभी तो 'महानारत' में भी कहा है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपपृंहयेत्। शिष्येयस्वधृताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' (११।१२६७) इसीलिए मनुने 'धर्मशाधिमतो वैस्तु सपरिवृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा जेयाः धृति-प्रायश्चेतवः' (१२।१०६) यहां 'सपरिवृंहण' वेदके पढ़ने वालेको शिष्ट ब्राह्मण माना है। यहां पर अधिकारलूकने 'सपरिवृंहण' का 'शङ्कामीमांसा-धर्मशास्त्र-पुराणायुपपृंहितो वेदः' यह अर्थ किया है। तब पुराण भी वेदार्थज्ञानार्थ प्रयोजनीय हैं। पर अब तो केवल पुराणने ही नहीं, स्मृति एवं शृङ्खलसूत्रोंने भी उक्त मन्त्रको जब सुधका मान रखा है, तब तो बहुसाक्षी मिल जानेसे सन्देहका अवकाश ही नहीं रहता।

केतुका मन्त्र

शेष रहा 'केतु' का मन्त्र 'केतुं कृण्वन् केतवे' (यजुः २१।२७) इस पर भी अद्यावद्विसे विचार करने पर समाधान प्राप्त किया जा सकता है। आपके अध्येय स्वामी दयानन्दजीने अपने 'उणादिकोष' (१।७४) में 'केतुः' की सिद्धि करते हुए—'केतुः-ग्रहः, पताका का' यह अर्थ किया है देखिये पृष्ठ १८)। उज्ज्वलवृत्तकी 'दशपाद्युणादिपृष्ठिमें' भी लिखा है—'केतुर्ध्वजः, ग्रहश्च' (१।१२६)। तब आयेसा इस मन्त्रमें भी केतुका 'ग्रहविशेष' अर्थ—जैसा कि स्वामीजीने लिखा है—स्वीकार कर लें। यदि वे स्वामीजी पर अध्येय-बुद्धि रखते हैं, तो उन को उन्हींके अनुसार 'केतु' एक 'ग्रह' स्वीकार करना ही पड़ेगा। स्वामीजीने 'उणादिकोष' को 'वेदाङ्गप्रकाश' का भाग माना है। इससे उणादि भी वेदके अङ्ग सिद्ध हुए। जब ऐसा है, तब उणादिस्थ 'केतु' शब्द वैदिक सिद्ध हुआ। 'उणादिकोष' की भूमिका (पृ० ३) में स्वामीजीने स्पष्ट लिखा है—'इसमें सामान्यसे वैदिक-लौकिक दोनों

ही शब्द सिद्ध किये हैं' । अथ योलिये कि यदि वेदमें 'केतु' कृपवन्' यह मन्त्र केतुग्रहाभिधायक नहीं है, तो केतु-ग्रहाभिधायक मन्त्र वेदमें कौनसा है ? फिर उस पर विचार चल सकता है ।

यदि वे कहें कि वेदमें केतुग्रहका निरूपण ही नहीं, तो फिर बतलाइये कि उनके श्रद्धेय श्रीस्वामीजीने 'वेदाङ्गप्रकाश' में ग्रहाभिधायक 'केतु' शब्दको श्रद्धेय क्यों नहीं माना ? अथवा आप्तेसाधोंकी यदि स्वामीजी पर श्रद्धा है, यदि वे 'पापघटकारिणी पताकाको लिये हुपु' थे, यदि स्वामीजीने उनके शब्दोंमें 'वेदरूपी सूर्यको पुराणों रपी बादलोंसे' निराला लिखा, यदि उनके शब्दोंके अनुसार स्वामीजीने 'ईश्वरीय प्रेरणास प्रकाश प्राप्त किया', तो उन्हींसे वेदमें स्वीकृत किये 'केतुग्रह' को माननेमें आप्तेसा नकार क्यों करते हैं ? जबकि वेदमें 'शमादित्यरच राहुणा । राघो भूयुधूमकेतुः शं दद्रास्त्वग्मवेजसः' (अ० ११।१।१०) इस प्रकार राहु-केतु ग्रहकाऽऽ निरूपण आया है, आप्तेसाधोंके श्रद्धेय श्री-स्वामीजीने भी 'इतिजनि रहिम्यो भुण् (१।३) इस 'उत्पादिकोप'स्थ-सूत्रकी टीकामें 'राहु-ग्रहनिर्णयः' (पृ० १), 'केतुः-ग्रहः' (पृ० १८) यह मान लिया है, तब 'राहोरुद्धाया स्मृतः केतु' इत्यादि शास्त्रवचना-नुसार केतुग्रह भी वैदिक सिद्ध हो गया ।' जब तक उस केतुका अन्य

* यहा पर श्रीब्रह्मदेव विद्यालङ्कार (आर्यसमाजी भाष्यकार) ऐसा अर्थ करते हैं—'जनोंके मृत्युके कारण धूमकेतु ग्रह हमारे लिए शान्त रहें । तोत्तु प्रकाशवाले, प्रजाको रलानेवाले बद्रनामक केतुग्रह अथवा ११ रुद्र शान्त रहें ।' श्रीक्षेमकर (आर्यसमाजी भाष्यकार) यह अर्थ करते हैं—सूर्य राहु-ग्रहविशेष-के साथ शान्तिदायक हों, मृत्युरूप धूमकेतु-पुच्छज-ताल-हमे शान्तिदायक हों ।'

मन्त्र वेदसे सिद्ध न किया जाय, तब तक 'केतु' कृत्रवन्' यही मन्त्र ही केतु-ग्रहका रहेगा। तभी हमने कहा था कि यदि अद्वाये उक्त मन्त्रों पर विचार किया जाय, तो उसका समाधान भी प्राप्त हो सकता है। यह ठीक भी है, वेद स्वयं कहता है—'अद्वाया सत्यमाप्यते' (यजु ११।१०), 'अद्वायान् कर्मणे जानम्' (गीता ४।४०)।

वेदमें केतु तो क्या धूमकेतु का भी वर्णन आता है। देखिये—'शतो मृत्युधूमकेतुः' (अथर्व० ११।१।१०)। अथवा स्वामीजीके मतानुसार आप केतुका अर्थ उक्त वेदमन्त्रमें 'पताका' भी मान लें, तब भी उससे केतुग्रहकी मिट्टि हो सकती है। यदि न हो कि कैसे? तो इतना यह भी सुन लीजिये। आप जानते हैं कि कभी कभी लिङ्ग (विन्द) से भी लिङ्गीको बताया जाता वरना ह। लिङ्गसे ही सन्यासी मज्जयारी-आदि जाना जाता है। कभी किसी विशेष-रसतु रखनेवालेका उस पस्तुसे भी बोध हो जाता है। जैसे कि कोई ठकाला या रिक्शेवाला मजदूर हो, तो उसे गुलाया जाता है—'अरे देले! ओ रिक्शे! इधर आ!' आश्चेत्ता यह जानते होंगे कि केतुग्रहका 'कण्डा' (केतु) प्रसिद्ध है, कण्डा (केतु) उसका लिङ्ग है। इमलिङ्ग उस कण्डे (केतु) को धारण करनेसे उस ग्रहका नाम भी 'केतु' पड़ गया है। केतुग्रहकी आकृति भी कण्डेकी बनानी पड़ती है, देखिये 'जैमिनिगृह्यम्' में 'ग्रहग्रहः॥कारा—'केतोर्ध्वजमिति' (२।१)। 'केतये ध्वजमिति' (पोथायन-गृह्यशू० सू० १।१६।१) पञ्चाङ्गमें प्रकाशित केतुग्रहके साथ आश्चेत्ता सहोदयाने 'पताका' देखी ही होगी। उसी कण्डेको 'पताका' अथवा 'ध्वज' अथवा 'केतु' भी कहा जाता है, तब उसी केतु (कण्डे) के वर्णनसे उस कण्डेको धारण करनेवाले केतुग्रहका भी ग्रहण हो जायगा, क्योंकि केतुग्रह तो स्वामीजीके मतानुसार भी 'वैदिक' सिद्ध हो ही चुका। उसका वर्णन वेदमें जिस-जिसी रूपमें आ ही सकता है, तब 'केतु'

‘कृण्वन्’ इस मन्त्रसे केतुग्रहका निरूपण करना भी वेदवाद्य सिद्ध न हुआ। मण्डेकी पूजा कर देनेसे उस मण्डेवालेकी पूजा मानी जाती है। जैसे कि इस राष्ट्रका साव-रज-तम इन तीन गुणोंवाला तिरङ्गा मण्डा है, उसका अभिवादन करनेसे इस राष्ट्रका अभिवादन माना जाता है, वैसे ही केतुग्रहके केतु (मण्डे) की पूजा करनेसे केतुग्रहकी पूजा निष्पन्न हो जाती है। जैसे कि निरुक्त (७ अध्याय) में देवताके वाहन, आयुध आदिकी स्तुतिसे भी उसी देवताकी स्तुति मानी जाती है। -

अथवा—‘केतु’ ‘कृण्वन्’ (यजुः २६।३७) मन्त्रका देवता अग्नि है। बृहत्पराशरस्मृतिकार केतुको ‘केतु’ कृण्वन्नग्निमूनोः’ (६।६६) अग्निसूनु-अग्निपुत्र कहते हैं। तब ‘आत्मा वै पुत्र—नामासि’—इस कथनसे अग्निका मन्त्र भी उसके लिए ठीक ही है; और अग्निका केतु (ग्रहापक) उसका धुर्यो होना है। सभी अग्निको ‘भूमकेतु’ कहते हैं। धुर्यो तमोरूप (काला) होना है। सभी अग्निपुत्र केतुको भी तमोमय वा ‘भूमकेतु’ माना गया है। तब केतुका उक्त मन्त्र इस रीतिसे भी युक्त ही है।

‘केतु राहुकी छायामात्र है, अतएव ठीक उसके सामने सातवीं राशिमें रहता है, अतः उसे पृथक् ग्रह मानना और उसकी पूजाके लिए एक मन्त्र खड़ा करना अमौलिक कल्पना है’ ऐसा कहना भी ठीक नहीं। जबकि उसकी राहुमें भिन्न दिशामें सत्ता मिलती है; तो ६ राशिके व्यवधानसे उसकी सत्ता पृथक् सिद्ध होगई। एक वस्तुमें व्यवधान कभी नहीं हुआ करता। अतः ग्रहण भी कभी राहुसे होता है, कभी केतुसे; यह पञ्चाङ्गमें देखा जा सकता है। पूर्णिमावाले दिन चन्द्रमा सूर्यके ठीक सामने छः राशिके अन्तर पर होता है, उसी सूर्यसे

प्रकाशित होता है, उसका अपेक्षा कोई प्रकाश नहीं; तो क्या सूर्य-चन्द्रमा एक ही मान लिये जाएँगे ? स्वा०द०जीने भी राहुसे केतुको भिन्न माना है । यदि एक ही होता; तो भिन्न नामकी आवश्यकता भी क्या थी ? इतना है कि राहु सिर है, केतु शेष देह है; वह इन दोनों के भिन्न-भिन्न हो जानेसे इनके मन्त्र भी भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक है ।

इस प्रकार उक्त मन्त्रोंका उन-उन गूहोंसे सम्यन्ध सिद्ध हो जानेसे श्रीपरिहृत चूडामणिजी रास्त्रि-महाभागका—‘स्वामीजीके प्रचारकार्यसे पूर्व लगभग पाँच-सहस्र वर्ष पूर्व वेदरूपी सूर्यको पुराणरूपी यादवोंने देव-मा दिया था—’नाम तो तब भी वेदोंका लिया जाता था, मन्त्र भी वेदके ही बोले जाते थे, पर उच्चारणमात्र । ‘शन्नो देवीः’ उद्बुध्यस्वाम्ने, ‘केतुं कृषवन्न केतवे’ इत्यादि मन्त्रोंमें शब्दसादृश्यको लेकर शनि, बुध और केतुकी पूजामें ये मन्त्र प्रयुक्त होने लगे’—यह कथन पूर्णरूपसे समाहित हो गया ।

शेष ग्रहोंके मन्त्र

‘भालोरु’ पाठकोंने देख लिया कि—आज्ञेता लोगोंने शनि, बुध, केतु इन तीन मन्त्रों पर विशेष आक्षेप किया था, हमने भी उन पर विशेष विवेचना दी । यदि शब्दसादृश्यको लेकर ही इन ग्रहोंके उक्त मन्त्र रखे गये होते, तो शेष ‘अग्निमूर्धा’ यह भीमका, ‘कपानदिधर’ यह राहुका, इस प्रकार अन्य मन्त्र भी सदृशशब्दवाले रखे जाते, परन्तु इनमें कोई शब्द-सादृश्य नहीं । इन ग्रहोंके मन्त्रोंमें कहीं तो उन ग्रहोंका मुख देखकर उमे उस ग्रहका मन्त्र माना गया, जैसे—शनि और बुध आदिके मन्त्र । कहीं उस ग्रहका लिङ्ग देखकर वह मन्त्र रखा गया, जैसे—भीम और केतुका । कहीं उनके देवताका लक्षण

गया है, भौमका भी अत्यन्त तेजोरूप और रक्षता होनेसे अग्निही भांति पश्य होता है; तब अत्यक्षका भी अनुग्रह होनेसे अग्निदेवतावाले मन्त्रमें उसका वर्णन संगत है। 'दिवः ककुत्'—आकाशका यह भूपथ है, 'अपां पतिः' भी भौम ठीक है। ज्योतिषमें प्रसिद्ध है—'चलत्यङ्गारके वृष्टिः' यह वृष्टिकर्ता होनेसे 'अग्नेरापः' इस कथनसे 'अपां पतिः' ठीक ही कहा गया है, तब इस मन्त्रका भौमकी पूजामें विनिषेध क्यों न हो ? इस प्रकारके सम्बन्ध भी शास्त्रोक्त होते हैं। जैसे कि निरुक्त (३/११/५) के अनुसार 'कुक्ष' ऋषिमें वधार्थक 'हृत्' धातुकी चरितार्थता उसके सखा इन्द्रके द्वारा शुष्ण असुरका वध करनेसे मानी गई है। मारा था इन्द्रने असुरविशेषको; पर उसके मारनेका सम्बन्ध उस असुरको न मारने वाले भी उस (इन्द्र) के सखा कुक्ष ऋषिके साथ वेदने कर दिया। 'कुक्ष' वैदिक-निघण्टुका शब्द है।

४ 'उद्बुधस्वामे' ! (यजुः १५/५३ इस बुधके मन्त्रके विषयमें पहले कहा ही जा चुका है। ५ 'बृहस्पते ! अति वद्यों यजुः २६/३) इस मन्त्रमें बृहस्पतिकी स्पष्ट ही वर्णन है और नाम भी आया है, तब इस मन्त्रमें भी कोई असंगति नहीं पड़ती; वह बृहत्-पति सब ग्रहोंसे कहा होनेसे माना जाता है, इसीलिए उसे देवगुरु कहते हैं। दूसरा—'वाग् दि बृहवी, तस्या एष पतिः' (छान्दोग्योप० १/२/११) यह पाणीकी अधिष्ठाता भी है। 'कुक्ष्यादीनामयज्ञादिषु' (वा० ६/३/३५) से पुं पञ्चाव हुआ है। इसलिये ज्योतिषमें बृहस्पतिकी विद्याका अधिष्ठाता ग्रह माना गया है, तब इस मन्त्रसे बृहस्पतिके ग्रहणमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं। ६ 'अन्तेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्लम्' (यजुः १६/०५) इन मन्त्रोंके 'ग्रहा देवताः' कहे गये हैं। और 'शुक्ल' शुक्लको कहते हैं, शुक्ल-ग्रहका भी शुक्ल वर्ण है, वह बहुत चमकीला होता है, यह प्रत्यक्ष है। तब इस मन्त्रमें शुक्लका वर्णन भी असंगत नहीं। लिङ्गसे भी लिङ्गीका ज्ञान

करा दिया जाता है । ७ शनिके मन्त्रके विषयमें पूर्ण—विशेषना पूर्व दी ही जा चुकी है । 'वैदिक ज्योतिषशास्त्र' में आर्यसमाजी विद्वान् श्री ब्रह्मसुनिजी लिखते हैं—“शनिको 'असित' भी कहते हैं—'असितः शनिग्रहः' इति हलायुधः । शनिके चारों ओर कुण्डल (घेरा) होनेसे इसे सर्पका रूपक दिया गया है । असित वृषभ-सर्पको भी कहते हैं—
 ऋ० ११४१।१० जय सूर्य उदयते तदा सूर्यः किरण फैलानेके लिए देदीप्यमान यत्ना, तदा शनिग्रह जिह्वके साथ प्रकट हुआ । इस मन्त्रमें शनिग्रहकी प्रकटता सूर्यसे थतलाई है । अतएव शनिको ज्योतिषके ग्रन्थोंमें मौरि, मूर्यपुत्र कहा गया है । ऋ० ११४१।१६ इस मन्त्रमें कहा गया है ।...मन्दगामी होनेसे इसका नाम शनैश्चर भी है ।”

८ राहुके विषयमें दो मन्त्र प्रसिद्ध हैं, एक 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती' (यजुः १३।२०) दूसरा 'कयानश्चित्रः' (यजुः २७।३६) इसमें 'काण्डात् काण्डात्' यह मन्त्र दुर्वाका है । क्योंकि—इसका देवता यही है । 'उदुम्बरः शमी, दूर्वा, कुशश्च समिधः प्रमात्' (याज्ञवल्क्य० आचाराध्याय ३०।१) इस पदके अनुसार राहुकी होमद्रव्य दूर्वा है । तब 'यदैवतः स यज्ञो यजात्' वा तद्-देवता भवति' (७।४।२) श्रिष्टके इस कथनके अनुसार—जिसका अर्थ धीदुर्गाचार्यने यह किया है—'यदैवतः स यज्ञः—यद्देवतप्रधानं हविः' तब दूर्वाके भी राहुकी हवि होनेसे यह मन्त्र भी राहु-दैवत सिद्ध हो गया, और 'कयानश्चित्रः' इस मन्त्रका शिष्टाचार-परम्परासे राहुमें विनियोग है, क्योंकि—'शं नो ग्रहार्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा' (अथर्व० १३।१।१०) इस वेद-मन्त्रमें राहुसे वर्त्तमानकी प्रार्थना स्पष्ट है । 'कयानः' मन्त्रका देवता इन्द्र है और इन्द्रको 'इन्द्रः सर्वा देवताः' (शतपथ३।४।२।२, सर्वदेवतात्मक माना

गया है। 'माहाभार्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते' (निरुक्त ७।४।८) इसके अनुसार उससे राहु भी गृहीत हो सकता है। ६ केतुके मन्त्रके विषयमें पूर्व कहा ही जा चुका है। राहुकी छाया केतु होता है; पर इतने-मात्रसे उसको अभिन्न भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि—इनमें परस्पर छे राशिका अन्तर रहा करता है, यह पूर्व संकेतित किया ही जा चुका है। छायाका भाव है—तदनुसारी।

इस प्रकार इन नवग्रह-मन्त्रोंका ग्रहोंसे अर्थ-सम्बन्ध भी सिद्ध हुआ। शब्द-सम्बन्ध हो तब भी कोई आपेपार्हता नहीं; क्योंकि—वेद भी शब्द-प्रधान होते हैं। तभी तो विवाहादि-संस्कार वेदके शब्दोंसे कराये जाते हैं, वेदके अनुवाद वा अर्थसे नहीं। वेदका एक-एक अक्षर वा शब्द वा स्वर वा स्वन भी निरर्थक नहीं—यह अवश्य स्मरण रखनेकी बात है। तभी तो 'भूतं, भवद्, भविष्यत् सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' (१२।६७) यह मनुजीका वचन सार्थक है। विनियोग तो अर्थ-सम्बन्ध न होने प भी हो जाता है—यह याज्ञिक कर्मकाण्ड-सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है—इसमें वादी लोग अपनी 'संस्कारविधि' भी देख सकते हैं। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीतत्ता-रामशास्त्रीने अपने अध्वंवेदभाष्यकी भूमिकामें लिखा है—'श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रोंमें मन्त्रोंके जो विनियोग बतलाए हैं, उनसे भी मन्त्रोंके अर्थों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है, क्योंकि—विनियोग भी अर्थ-सम्बन्धको देखकर ही किये जाते हैं। पर ऐसे विनियोग भी हैं, जहाँ मन्त्रका मुख्य अर्थ नहीं घटता' (पृ० २२) इससे स्पष्ट है कि—मन्त्रार्थसे असम्बन्धित भी विनियोग हुआ करते हैं, नहीं तो एक मन्त्रके भिन्न भिन्न विनियोग न होते। 'शनिराहुकेतुरगराधो' (७।६) इस मैत्रायणीय-आरण्यकमें भी 'शनि-राहु-केतुका वर्णन आया है।

मुनियोंने किया। उनके गन्ध न होते, तो वेदका अर्थ भी न जाना जाता।

वेदमें जैसे गृहोंसे कल्याणकी प्रार्थना आई है, वैसे नद्योंसे भी। जैसे कि—अथर्ववेद (शौ०) सहितामें—‘मुहवमने ! १ वृत्तिरा ४ रोहिणी चास्तु, मद्र ५ मृगशिर शम् ६ आर्द्रा । ७ पुनर्वसू सूरता, चार ८ पुष्यो भानुराश्लेषा ९ अयन मघा १० मे (१६।७।८) पुष्य ११ पूर्वा १२ फल्गुन्यो चार १३ हस्त, १४ चित्रा शिवा १५ स्वाति सुतो मे अस्तु । राघे १६ मिशासे मुहानुराधा १७, ज्येष्ठा १८ सुनश्चमरिष्ट १९ मूलम्’ (१) अन्न पूर्वा रासता मे २० अपाढा, ऊर्जं देवी २१ उत्तरा आवहन्तु । अभिजिद् २२ मे रासता पुष्यमेव २३ श्रवण श्रविष्ठा (घनिष्ठा २४) कुर्वतां मुपुष्टिम् (४) आ मे महत् २५ रातमिषग् वरीय आ मे २६-२७ द्वया प्रोष्टपदा (पूर्वा उत्तरा भाद्रपदा) सुशर्म । आ २८ रेवती च १ अश्वयुजौ (अरिपनी) भग मे आ मे रयि २ भरण्य आरहन्तु’ (अथर्व० १६।७।८) । तब गृह-नक्षत्रपूजा कभी वेद विरुद्ध अथवा अर्वाचीन नहीं हो सकती, किन्तु वेदानुकूल है, तब उनकी पूजाके मन्त्र भी वेदके ही हो सकते हैं—अपि मुनियोंने उन्हें वेदसे दुहर निकाला—उनका सङ्क्षिप्त रहस्य हम इस निबन्धमें दिखाना ही चुके हैं। समातन हिन्दु-धर्म जब वेद तथा वेदाङ्ग, उपवेदको मानता है, और वेदकी ११३१ सहिता मानता है, उसी वैदिक साहित्यमें वर्णित गृहपूजा आदिको यदि कोई हिन्दु मानने को तैयार नहीं, तो उसका हिन्दुधर्मके मुख्य गन्ध वेद पर तथा हिन्दुधर्म पर भी कोई अधिकार नहीं।

वेदका विषय यज्ञ होता है, जैसे कि—‘यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य’ [वेदस्य] (न्यायदर्शन अ० १।६२) ‘अत्वारो वै वेदास्तैर्यज्ञस्तायते’ (गोपथ-

ब्रा० १।१।२४) 'विदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः' (सिद्धान्त-शिरोमणि
गणिताध्याय मध्यमाधिकार, कालमानाध्याय ६) 'हुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ-
सृग्यजुः-साम-लक्षणम्' (मनु० १।१३) 'एदमगन्म देवयजनम् ऋक्-
सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुभिः' (यजुः वा० सं० ४।१) 'वेदे मन्त्रा अवश्यं
यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः' याज्ञे कर्मणि ॥ वेदप्रोक्तो
नियमः' (महा० धर्मशा०) इत्यादि इस विषयके बहुत प्रमाण हैं,
वेदमें भी यज्ञ-विषय सुस्पष्ट है ।

'यज्ञ' यज्ञधातुसे ब्रूता है, यज्ञधातुका अर्थ है देवपूजा, जैसे कि
वेदमें भी कहा है—'यज्ञे-यज्ञे स मर्त्यो देवान् सपयति
(पूजयति)' (ऋग्वेद १०।६३।२) सूर्य-चन्द्र आदिको वेद देवता
मानता है, तब वेदमें देवपूजाका विषय होनेसे उसमें ग्रहपूजा
भी सिद्ध हो गई । ग्रहपूजाके वेदके प्रत्येक ग्रहोंकी पूजाके मन्त्र
न रखे हों—यह कैसे सम्भव है ? बृहत्पराशरस्मृतिमें कहा है—
'वेदमन्त्रैर्विना कश्चिद् विधिर्नास्ति द्विजम्भनाम्' (१।६७) । गृह्यसूत्रोंमें
ग्रह-यज्ञ भी आये हैं; आहुति देते समय उस-उस देवताका मनसे ध्यान
करना पड़ता है, जैसा कि निहत्त (२।२२।११) और ऐतरेयब्रा० (१।८।२)
में कहा है और तत्तद्देवताका मन्त्र भी अवश्य बोलना पड़ता है; तब
नयग्रह किसी मंत्रके देवता भी सिद्ध होगये, उनकी पूजा भी उस मंत्रसे
सिद्ध हो गई; तब गृहपूजा वैदिक-कालमें स्वतः-सिद्ध हुई । केवल
वेदका ग्रामह आप करें, तो, आर्यावर्त, गुरुकुल आदि शब्द भी वेदमें
न होनेसे आपको छोड़ने पड़ेंगे, आपके अनुसार पांच सहस्र-वर्षके
ग्रन्थोंमें इनका वर्णन होनेसे इन्हें अवैदिक मानना पड़ेगा, इनका प्रचार
बन्द करना पड़ेगा ।

पुराण भी वेदके साथ ही उत्पन्न हुए हैं; इसलिए वेदमें भी उनका
वर्णन आया है—'पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाब्जजिरे' (अथर्व०

१११६ (७) २४ । इत्यादि । केवल उन (पुराणों) की रचना पौरुषेय है, वैसे वे अनादि हैं । व्यासजीन उन्हें बनाया नहीं ; उनका वे प्रतिद्वारपरमें वेद संहिताओंकी भांति सम्पादन करते हैं । ग्रहपूजा जो वैदिक परम्परासे आ रही थी, पुराणोंने भी उसी परम्पराको सरचित करके हमें वैदिक कालके साक्षात् दर्शन करा दिये हैं । 'पुराण' पुरा नव होते हुए भी पुराने ही रहते हैं— क्योंकि वे अनादि हैं । जय यह प्रसूत हुए तब भी 'वैष्णवपुराण' आदि नामसे कहे जाते थे, 'वैष्णवीन' आदि नामसे नहीं । यदि पुराण न होते, तो हम आज वेदोंकी महत्ता भी न जान पाते, और हमारा आज अस्तित्व भी न होता, हमें वैदेशिक जातियों निगल लेतीं । यह उन्हीं पुराणोंका ही प्रभाव है कि हमें कोई भी नवीन-मत अस्तित्वसे व्युत्पन्न न कर सका । तब समाधि समधिगतवेदतत्त्व वाले ऋषि मुनियोंकी बातको पाच हजार वर्षका बताना अपने आपकी अग्रणी-दृष्टिकोणका मानसिक दासमात्र सिद्ध करना है । वेदको एक अर्धं वर्षसे बताना और उनके अर्थोंकी पाच हजार वर्षमें उत्पत्ति मानना यह सद्गोप दृष्टिकोण है । अस्तुतः वेद भी एक अर्धं वर्षक नहीं, किन्तु अनादि हैं, इसी प्रकार उनके अर्थ उपाङ्ग भी अनादि हैं, उन्हींमें प्रोक्त अनादि-ग्रहोंकी पूजा भी अनादि सिद्ध है ।

ग्रहपूजा न होनेसे सती विद्याका परिग्राम अस्मद्वा न दुष्मा, जैसे कि शिवमहापुराण पार्वती खण्डमें पार्वतीने शिवजीको कहा था—'दक्षकन्या यदाऽहं वै पित्रा दत्ता यदा एव । ययोक्तविधिना तत्र विवाहो न कृत इत्यथा । न ग्रहा पूजितास्तेन दक्षेण जनकेन मे । ग्रहाणां विषयस्तेन सच्चिद्रोऽयं महानमूतः' (२६।१२-१३) आदिकाव्य श्रीबालमीकिरामायणमें—'सद्यःप्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः' [यान्तु स्वा पुत्र !]

(अथोभ्याकायड २२।१२) में ग्रहोंसे रक्षाकी प्रार्थना की गई है। प्रार्थना पूजाका ही अङ्ग होता है। इससे ग्रहोंकी प्रतिकूलतामें दुष्फलकी सिद्धि भी होती है। वेदमें 'ग्राह्या गृहाः संसृज्यन्ते शिवा यन्निवर्तते। पतिः' (अ० १२।२।३६) यहाँ पर ग्रहोंके ग्राही (विशेष गृहकी दशा)से मिलने पर खीसा विधवा होना बताया है। इससे ग्रहोंका फल वैदिक सिद्ध होता है। उनको शान्त करनेके लिए ही वेदने 'शं नो दिविचरा गृहाः' (अ० १२।२।३७) ग्रहोंकी पूजा-प्रार्थना बताई है। अन्य उपाय भी शास्त्रोंमें बताये गये हैं। जैसे कि - 'ये चास्य दारुणाः केचिद् गृहाः सूर्यादयो दिवि । ते चास्य सौम्या सायन्ते शिवाः शिवतराः सदा । (१।२००।८२) यहाँ गायत्रीजपसे क्रूरग्रहोंका सौम्य हो जाना बताया है। उपवेद (सुश्रुतसं० शारीर० १०।२०-२१) में भी ग्रह-गृहीत बच्चेका स्तन न पीना, दांत-कटकटाना, निरन्तर रोना आदि कहा है। शतातपस्मृति- (१।२७, १।२०) में भी जप-होमादिसे ग्रहोंकी सौम्यता बताई है। तब 'सप्तार्थ-प्रकाश' ११ समुल्लास २१६ पृष्ठमें ग्रह-फलफल पर उपहास करते हुए स्वा० व० जीका भी वेदोपवेददिसे अपूर्ण परिचय सिद्ध हुआ। यह सब वैदिक एवं शास्त्रीय-सिद्धान्त हैं। आशा है पं० जी भी वैदेशिक एवं अतिपूर्ण दृष्टिकोणसे देखने की अर्थाधीन एवं कृत्रिम दृष्टिको हटाकर शुद्ध भारतीय-दृष्टिको अपनावेंगे।

(२०) ग्रहण और उसका सूतक

ग्रहपूजाके प्रकरणवश ग्रहण तथा उसके अशौच विषय पर भी यहाँ निबन्ध दिया जाता है। सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण असुर राहु-केतु द्वारा हुया करते हैं—यह वेदादि सब शास्त्रों का सिद्धान्त है। आजकलके अर्धाचीन विचार वाले व्यक्ति राहु-केतु गृहों माननेके लिए उद्यत नहीं होते। कारण यह है कि—वे पारचात्योंके अनुगामी हैं। जो यात पारचात्य जिज्ञान कह दें, वे उसे पत्थरकी लकीर मानने लग जाते हैं; पर इस स्वराज्यके अवसरमें यदि वे दास्यमनोवृत्ति नहीं छोड़ना चाहते, तो यह स्वतन्त्र भारतके लिए परित्याग का विषय है। वे लोग केवल चन्द्रको छायासे सूर्यग्रहण तथा पृथिवीकी छायासे चन्द्र-ग्रहण मानते हैं, उसमें राहु केतुका सम्बन्ध सर्वथा नहीं मानते। वे इस विषयमें 'छादयत्यर्कमिन्दुर्विषु' भूमिभा.' (४।४) इस गृहलाघनके वचनको 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के नामसे देकर (देखिये सत्यार्थप्रकाश ११ समु० पृष्ठ २१०) अपने मतकी पुष्ट करना चाहते हैं, और राहु-केतुको पुराणरूपना-प्रसूत मानते हैं। पहले हम इस विषयमें शास्त्रीय तथा वैदिक प्रमाण उपस्थित करते हैं।

जो लोग गृहणमें राहुका संयोग सर्वथा नहीं मानते, वे लोग अपने मान्य प्रसिद्ध ज्योतिष-ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' के निम्न वचनों को स्मरण करें—

दिग्देशकालाग्रणादिभेदात् च्छादको राहुरिति श्रुवन्ति ।
यन्मानिनः वेवल्लगोलविद्यास्तत् संहिता-वेदपुराण ग्राह्यम् ।

(गोलाध्याय गृहण-वासना ६)

‘राहुः कुमामयदलगः शरमष्टं, शशाङ्कगच्छादयतीन (सूर्य) विग्वम् ।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात्, सर्वाणिमानामविरुद्धमेतत् (१०)

यहां पर राहु-ग्रह-द्वारा ग्रहण कहा गया है। पृथिवीकी छायामें स्थित होकर राहु चन्द्र-ग्रहण करता है, चन्द्रमामें स्थित होकर राहु सूर्य-ग्रहण करता है। जो लोग राहुको आच्छादक नहीं मानते, उनको श्रीभास्कराचार्यने ज्योतिष-संहिता तथा वेद-पुराणसे अनभिज्ञ बताया है।

न केवल वेदग्रन्थ (ज्योतिष) ही राहु-ग्रह द्वारा ग्रहण मानता है; प्रस्तुत वेद भी ग्रहणमें कारण ‘राहु’ को मानता है। देखिये—
‘स्वर्मानुर्ह वा आसुरः सूर्यं तमसा विग्राध’ (२।३।२।२) यह शतपथ-ब्राह्मणका वचन है। ऐसा ही गोपय-ब्राह्मण (२।३।१६) तायज्य-ब्राह्मण (४।६।१३) शाङ्खायन-ब्राह्मण (२४।३) में है। ग्रन्थ मन्त्रभागमें भी पाठक देखें—

‘यं वै सूर्यं स्वर्मानुस्तमसाऽविध्यदासुरः’ (ऋग्वेद २।४०।१)।

यहां पर असुर ‘स्वर्मानु’ के द्वारा सूर्यका ग्रहण माना गया है। ‘स्वर्मानु’ राहुको कहते हैं, देखिये—‘अमर-कोष’—‘तमस्तु राहुः स्वर्मानुः’ (१।३।२६) कई आर्यसमाजीगण यदि हमारी बात न मानें; तो वे स्वामी दयानन्दजीकी साक्षी भी देख लें। ‘उणादिकोष’ (१।३२) सूत्रकी व्याख्यामें स्वामीजीने लिखा है—‘स्वर्मानुः-राहुः’ (पृष्ठ २६)। इसमें आर्यसमाजके विद्वान् श्रीप्रियरत्नजी आर्य (अब स्वामी ब्रह्म-सुनिजी) की साक्षी भी देखें। ‘वैदिक-ज्योतिष-शास्त्र’ (पृ० १४०-१४१) में ये लिखते हैं—“वेदमें सूर्य-ग्रहणका वर्णन है। ‘यत् त्वा सूर्यः ! स्वर्मानुस्तमसाविध्यदासुरः’ हे सूर्य ! स्वर्मानु नामक गोघ-सदृश आच्छादकने तुझे अन्धकारसे ढक दिया। मन्त्रमें ‘स्वर्मानु’ शब्द सूर्य-

के छद्मक राहुके लिए आया है। ज्योतिष ग्रन्थोंमें भी सूर्यग्रहण करने वाले राहुको 'स्वर्मानु' कहा है—'स्वर्मानोर्ध्वदक्षार्ष्ट' (सूर्य-सिद्धान्त १२।२६) 'यस्मिन्मिरामायण' ने भी सूर्य-ग्रहण करने वाले छद्मक राहुको 'स्वर्मानु' नाम दिया है—'स्वर्मानुरिष भास्वरम्' (१०।१३)। इस प्रकार महाभारत (वनपर्व ११।२३) में भी है। 'स्वर्मानु' का अर्थ है 'स्वः-स्.भों मानव-किरणा यस्य ननु भूलोके' अर्थात् जिसकी किरणें आकाशादिमें रहती हैं, भूलोकमें नहीं।

जहां पर स्वर्मानु शब्दसे 'राहु' तथा उसके द्वारा ग्रहण आधुनिक-विद्वत्सम्मत है, वहां पर वेदको भी सम्मत है; यह पूर्ण यतारा जा चुका है। अब वेदकी अन्य साक्षी भी देखिये—

'शं नो महाश्वान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा' (अथर्ववेद १२।६।१०)

यहां पर राहुमें ग्रस्त सूर्यका फलदायीकारी होना प्राक्षिप्त किया गया है। 'श्ववेद' के उक्त मन्त्रमें 'स्वर्मानु' तथा 'सूर्य' शब्द आये थे; पर 'अथर्ववेद' के इस मन्त्रमें उनके पर्यायवाचक 'राहु' तथा 'आदित्य' आये हैं। 'उणादिकोष' के 'रश्मिजनि . रहिभ्यो युष्' (१।२) इस सूत्रके अर्थमें स्वा० दधानन्तजीवे 'राहुः ग्रहविशेषः' (५० ५) यह लिखकर राहुको ग्रहविशेष मान लिया है। सूर्यसिद्धान्तमें भी 'पाता राहुः स्वरहसा' (२।६) राहुकी सिद्धि होती है। व्याख्याता रङ्गनाथने यहां लिखा है—'पातस्यानाधिष्ठात्री देवता राहुर्जीवविशेषः, चन्द्रपातस्तु दैत्यत्रिणो राहुः, रहति-त्यजति ग्रहमिति राहुः'।

आर्यसमाजके विद्वान् श्री प्रह्लादमुनिजीने उक्त मन्त्रका अर्थ इस प्रकार किया है—'चन्द्रमाके ग्रहण सुखदायक हों, राहुके साथ सूर्य भी सुखदायक हो। ...सर्व-सूर्यग्रहणका नाम 'स्वर्मानु' है; क्योंकि—सूर्यका संप्रसार्य होनेसे 'स्वः' भूलोकमें 'मानु' अर्थात् सूर्य जिस

छादकसे [छत्र] होता है; यह सर्व सूर्यग्रहण 'स्वर्भानु' कहलाता है, शेष सब प्रकारके सूर्यग्रहण 'राहु' नामसे कहाते हैं । (वैदिक ज्योतिष पृ० १४२) आर्यसमाजी अथर्ववेदभाष्यकार श्री जेमकरणदासजीने इसका अर्थ यों किया है—'सूर्य राहु—ग्रहविशेषके साथ शान्तिदायक हों।' 'पौर्णमासीमित्र निशा राहुग्रस्तनिशाकराम्' (वनपर्व ६८।१४) वहाँ भी राहु द्वारा चन्द्रग्रहणका वर्णन आया है ।

'राहोरद्धाया स्मृतः केतुः यत्र राशौ भवेद्यम् । तस्मात्सप्तमके केतुः राहुः स्याद् यत्र चांशके' (भुवनदीपक २१ श्लोक) इस शास्त्रके प्रमाणसे 'राहु' से 'केतु' ग्रहका भी ग्रहण हो जाता है । स्वामी दयानन्दजीने अपने 'उत्पादिकांश' (१।७४ सूचकी व्याख्या) में लिखा है—'केतुः—ग्रहः' (६।१८) अथर्ववेदके उक्त मन्त्रका उत्तरार्थ यह है—

'शं नो भृशुभं मेकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' , अ० ११।१।१०)

इसका अर्थ आर्यसमाजी भाष्यकार श्री जयदेवजीने यों लिखा है—'जनके भृशुभके कारण धूमकेतु-ग्रह हमारे लिये शान्त रहें । तीक्ष्णप्रकाश वाले प्रजाके रक्ताने वाले केतुग्रह . शान्त रहें ।' इससे 'केतु' ग्रह भी वेदोक्त सिद्ध होता है, तब उससे ग्रहण भी वैदिक सिद्ध हुआ । अन्य भी सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणके विषयमें बहुतसे प्रमाण मिलते हैं, पर प्रधान-ग्रन्थ वेदोंके प्रमाण आजानेसे 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' के अनुसार शेष पुस्तकोंके प्रमाण उपस्थित करना आवश्यक नहीं समझा गया ।

'ग्रहलाघव' के प्रमाणके विषयमें यह जानना चाहिये कि बाढ़ी लोग इसके पूर्व प्रकरणको छिपा देते हैं । 'छादयत्यकंमिन्द्रुः' (४।४) से पहले यह शालिनी छन्दका श्लोक चन्द्रग्रहणाधिकारमें आया है—'पूर्वं पशान्ते वि-रादके-वाहोरिन्द्रात्पांशाः सम्भवश्चेद् ग्रहस्य (४।२) इसमें

‘विराटु’ का अर्थ है—‘विगतो राहुर्धस्मात्, स विराटु अर्धं मयं, तस्य चाहो मुजात्’ अर्थात् सूर्यही राजस राहुही तन्नि घटाघो, शेष व्यभिचर होता है, उसका मुख और उसका अंश बनाओ। १८ अंशम न्यून होने पर ग्रहद्वय सम्भव होता है। तत्र म्वा० ८० जीस प्रमाणित हम पुस्तकस भी ग्रहद्वयमे राहुकी सत्ता सिद्ध हुई। ‘शैला द्वी पगारा अतो’ ७) इस पद्यमें राहुका ७२/१० ध्रुव गायत्रा गया है। ११ पद्यमें मध्यम राहुके आनयनही रीति बड़ी गई है।

प्रकरणवश महा पृथिवीकी स्थिरता भी शास्त्रीय दृष्टिकोणसे दिखलाई जाती है। राहु केतुको न मानने वाले ही भ्रमण भी माना करते हैं, पर यह बात शास्त्र परम्परासे विरुद्ध है। (१) प्राचीन पुस्तक ‘सूर्य सिद्धांत’ के ‘मध्ये समन्तादृष्टस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति। विधाण परमा शक्ति मणयो धामशान्तिमयाम्’ (१२।३२) इस पद्यमें पृथिवीकी स्थिरता ही दिखलाई है, भ्रमण नहीं। आर्यभटीयकी (४।११ पद्यकी) टीकामें श्री उदयनारायण बमाने इस पद्यका अर्थ करते हुए ‘अमण करता हुआ अवस्थित है’ यह अर्थ स्वरूपोलकल्पनामें प्रसिद्ध कर दिया है। इस कारण रत्ननाथजी टीकामें इस पद्यकी अवतरणिकामें लिखा है—‘भूम्यवस्थानमाह’।

(२) कई साहसी ‘सम्यं भ्रमति देवानाम् अपसव्य सुरद्विषाम्। उपनिषद् भूगोलोऽयम्’ (१२।४२) इस सूर्य सिद्धान्तके पद्यसे पृथिवीका भ्रमण सिद्ध करते हैं, पर यह अशुद्ध है, भूगोलका अर्थ ‘नक्षत्रगोल’ है, भूगोल नहीं। ‘भूगोल’ यह पाठ भी सम्भव नहीं, अन्यथा चन्द्रो भक्तका प्रसंग आता है। रत्ननाथने भी ‘नक्षत्राधिष्ठित-मूर्तगोल’ यही अर्थ किया है।

(३) श्री भास्कराचार्य-रचित 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के गोलाध्याय (४) भुवनकोश निरूपणमें 'मरुच्चलो भूरचला स्वभावतः' (१), 'भुमेः पृष्ठः ... नान्याधारः स्वशक्त्यैव धियति नियतं तिष्ठति' (२) पृथ्वीकी स्थिरता की मानी है—'एषा गतिनिवृत्तौ'। (४) पृथिवीके नाम भी 'अचला, स्थिरा' (अमरकोष २।१।१) इसी कारण प्रसिद्ध है। (५) निघण्टुमें जो पृथिवीका नाम 'गौ' है, वहाँ पर 'गच्छति-इति गौः' यह निर्वाचन श्री यास्कने नहीं किया, किन्तु 'दूरं गता भवति' लिखा है—'नहि अस्या अन्त उपलभ्यते' यह श्री दुर्गाचार्यने उसका तात्पर्य दिखलाया है। 'यथास्यां भूतानि मच्छन्ति' (निरुक्त २।१।२) इस निर्वाचन से पृथिवी पर प्राणियोंके गमनमे उसे 'गौ' बताया है, अपने अपनेसे नहीं। इसी प्रकार वहीं 'गतेर्वा' यह धातुभेद है, अर्धगेर नहीं, निर्वाचन पूर्ववत् है। नहीं तो जब 'गच्छतीति गौः', यह सीधी व्युत्पत्ति इसकी हो सकती थी; तब पूर्वोक्त व्युत्पत्तियोंकी क्या आवश्यकता थी? धर्तिक—'गच्छतीति गौः' यह व्युत्पत्ति श्रीयास्कने सूर्य अर्थ वाले 'गौ' शब्दमें रखी है, देखिये निरुक्त (२।१।४)। तब पृथिवी अर्थ वाले 'गौ' शब्दमें 'गम्यते, अथवा गम्यते अनया' यही व्युत्पत्ति सिद्ध हुई। (६) वेदमें भी 'अस्यां पृथिवी' (अथर्व० १।४।१) भुवा [निश्चला] पृथिवी' अ० ६।८।१) 'तस्थतुः [द्यावापृथिवी]' अ० ४।२६।२) 'द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः' (अ० १०।८।२) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें पृथिवीकी स्थिरता बताई है।

(७) जो कि स्वा० द० जीने श्रग्भेदादिभाष्यभूमिकामें 'द्यावे गौः पृथिवीरक्षमीद् अमदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्तस्वः' इस मन्त्रसे पृथिवीका अमण सिद्ध किया है; यह ठीक नहीं—(क) इस मन्त्रका देवता पृथिवी नहीं, तब उसका अर्थ यहाँ कैसे हो सकता है? यजमेरी वैदिक मन्त्रालयकी यजुर्वेद सं० (३।६) में इसका देवता 'अग्नि' लिखा

है, और वहीही अ० १० (१८।१८६।१) में हमका 'सूर्य' देवता लिगा है। जिस मन्त्रमें जो देवता होता है, उसमें उसीकी स्तुति होती है, देखिये निरुक्त (०।१।४); तब यह पृथिवीका वर्णन कैसे हो सकता है ? (स) पृथिवी वाचक 'गौ' स्त्रीलिङ्ग होता है, यह 'अथ गौ' पुलिङ्गमें आया है, भूमील अर्थ करने पर भी 'गो' शब्द स्त्रीलिङ्ग ही रहा करता है, तब यहाँ पुलिङ्ग 'गो' शब्दका 'पृथिवी' अर्थ कैसे हो सकता है ? (ग) 'गो' शब्दका विशेषण उक्त मन्त्रमें 'पृश्नि' है, अतः यह 'सूर्य' ही अर्थ है। निरुक्तमें भी कहा है—'गौगृष्टियो भवति गरुडति प्रन्तरिते' (२।१४४) 'पृश्नि' भी पृथिवीका नाम नहीं होता, किन्तु सूर्यका। जैसे कि 'पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्रुवते एन वर्षा।' (निरु० २।१४२)

(घ) जो कि अ० भा० भू० के १२२ पृष्ठमें स्वा० द० जीने 'पृश्नि' इस 'गौ' के विशेषण प्रथमान्तपदका 'पृश्निम्—अन्नरिषम् आक्रमणं कुर्वन्' इस प्रकार द्वितीयान्तता कर दी है, यह उनका वेद पर धात्रमण्य है। (ङ) फिर 'स्व-सूर्य पितरं पुत्र-पूर्व' यहाँ पर 'सूर्यस्य परितो याति' यह पद स्वामीजीने वेदमें स्वयं 'प्रहित' कर दिये हैं।

(च) 'पूर्व' का 'परित' (चारों ओर अर्थ कैसे हो सकता है ? यह है स्वामीजीके वेदाधका आदर्श। उक्त पाश्चात्य मतको वेद पर स्थापना एक वैदिह्यमन्यको शोभित नहीं होता। (छ) पृथिवी-अर्थ करने पर मातर, पितर, स्व 'यह मन्त्रके पद असम्बद्ध हो जाते हैं। सूर्य अर्थ होने पर तो वे सम्बद्ध रहते हैं, 'मातर' का अर्थ है यहाँ 'पृथिवीम्' और 'पितर' का अर्थ है 'वलोक'। जैसे कि—'द्यौर्वा पिता, पृथिवी माता (अ० १।२८।४) 'भूमिमाता यौ न पिता' अ० ६।१०।१०) 'द्यौर्मित्रः पृथिवि माता' (अ० ६।२१।२) 'द्यौर्न पिता माता पृथिवी' (अ० ६।१२।१२)।

अथ उक्त मंत्रका अर्थ यह हुआ। 'गौः-गमनशीलः, पुरिः-प्रदुर्गो व्यासतेजा अयं सूर्यः, आक्रीत्-आक्रान्तवान् । आकम्य पुरः-पुरस्तात्, पूर्वस्यां दिशि परिदृश्यमानः, मातरं—सर्वभूतजातस्य जननीं भूमिम् असिदत्-न्याप्नोत् । ततः पितरं—वृष्टिलक्षणस्य रेतसो निदेकेण सर्वस्य जगत उत्पादकं स्वः-स्वर्गलोकं, चकारादन्तरिक्षं-च, प्रयन्-गच्छन् । [सूर्यं] एव वृष्ट्युदकलक्षणस्य-अमृतस्य दोहनाद् गौः' । (अथर्व० ६।३।११) (श्र० १०।१८१।१) यह सायणाचार्यका कैसा मन्त्र है ? इससे सूर्यका अमृत ही स्पष्ट सिद्ध हो रहा है । अन्य अर्थ करने पर क्लिष्ट-कल्पना और बेदके गले पर घुरी फेरनी पड़ती है ।

(ज) जो कि-श्री महादत्तजी जिज्ञासुने स्वा० ६० के पञ्चमप्य-विवरणकी योजनाके मंसि विवरण २-३ पृष्ठमें लिखा है—'सम्भवतः सन् १६२६ के दिसम्बर-मासकी रात है, जब मैं अपने आश्रममें बैठा पञ्चमप्यके 'आयं गौः' (यजुः ३।६) मन्त्र पर विचार कर रहा था, तबमें श्री स्वामीजी महाराजने 'गौ' का अर्थ किया—'गौरिति पृथिवी नामसु पठितम्-गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरंगता भवति, यद्यास्यां भूतानि गच्छन्ति (नि० २।६) यहां 'गौ' का अर्थ पृथिवी स्वामीजीने निश्चय तथा निरुक्तके उपयुक्त प्रमाणसे किया और 'पृथिवी घूमती है' इस विषयका प्रतिपादन किया । मैंने स्वयं ही स्वामीजीके उपयुक्त अर्थ पर अपने मनमें प्रबल पूर्वपक्ष उठाये कि—स्वामीजीका यह अर्थ करना ठीक नहीं, क्योंकि उसी निरुक्तमें 'आदित्योपि गौरित्येते' (२।६) सूर्यको भी 'गौ' कहा है, निरुक्त २।१३ में भी वास्तव ऐसा ही मानते हैं—'गच्छत्यन्तरिक्षे', तो फिर यहां इस मन्त्रमें 'गौ' का अर्थ पृथिवी कैसे है ? आदित्य क्यों नहीं ? तबसे जब श्र० सा० अथर्व० तै० सं० आदिमें अनेक स्थलों पर इस मन्त्रका सायणाचार्यका अर्थ देखा तो इन सबमें 'गौ' का अर्थ 'सूर्य' ही मिला और सूर्य पृथिवीके चारों ओर

धूमता है' * सब जगह ऐसा ही अर्थ पाया। अथ इतने प्रयत्न पूर्णपक्षको उठाकर आत्मामें शान्ति कैसे हो सकती थी। निरन्तर सप्ताह भर इसी पर विचार करते-करते बड़ी ही व्याकुलता रही। अन्तमें अथर्ववेदका 'यदेण भूमि पृथिवी वृताऽऽवृता' (१२।१।८२) मन्त्र मिला अर्थात् वर्ष भरमें भूमि चपना चक्र काटकर पूरा करता है जिससे जल निक्षेप स्पष्ट होकर शका निर्मूल हो गई। पाठन श्रुति। मग्न समझें, समाधान आने पर जो अपूर्ण अ नन्द प्राप्त हुआ उसका वर्णन पाणीस नहीं हो सकता'।

श्रीरक्षादत्तनीक हृदयमें जो पूर्वपक्ष उदय हुआ था, उसे आस्तवमें उत्तरपक्ष था, और वेदसम्मत था। पर ब्रह्मा मानने पर स्वा० दयानन्दके पक्षमें आघात पड़ता, श्रद्धामें डेस पड़ती, श्रुतिसे बलात्कार करना पड़े तो कोई घात नहीं, स्वामीका अर्थ किसी प्रकार सिद्ध हो जावे। 'आलोक' पाठकोंने यह अच्छी तरहस भाषा होगी। आस्कके मतस 'गो' का अर्थ 'चलने वाली' जब नहीं है—यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, तब स्वामीनीका पक्ष उससे कैसे सिद्ध हुआ। बदमें सूर्यक चल तथा पृथिवीक अचला हानमें बहुत मन्त्र हैं, कुछ हम दिखावा चुके हैं।

(क), 'यदेण भूमि पृथिवी वृताऽऽवृता' इस मन्त्र मिलनम जो श्रीजिज्ञासु-जीकी अत्यन्त प्रसन्नता हुई, वह भी व्यर्थ है, क्योंकि इस मन्त्रका तात्पर्यमत अर्थ निम्नलता ही नहीं, किन्तु यह अर्थ है—'या भूमि,

* यह अर्थ वेदानुकूल है, जैसेकि 'ययेमे द्यावापृथिवी सत्र ययेति सूर्य' (अथर्व ६।६।३) यदा 'द्यावापृथिवी कर्म हैं, सूर्य 'ययेति' त्रियाका पता है।

वर्षेण-वृष्ट्या, वृता-युक्ता, आवृत-आच्छाद्य च भवति' जो पृथिवी वृष्टिसे युक्त एवम् आच्छाद्य है। 'वर्षा' शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनमें वर्षा-शब्द वाचक होता है, वर्ष वर्षणमत्र अस्ति, अर्शआद्यच् (पा० १।२।१२७) टोप्; देखिये अमरकोष (१।१।१६)। नपुंसकलिङ्ग वाला 'वर्ष' शब्द वृष्टिका वाचक होता है, जैसे कि—'वृष्टिवर्षम्' (अमर० १।३।११) और जैसे निरुक्तके 'वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीम्' (२ अ० २ पा०) इस वाक्यमें। इसकी मित्रि 'भवाद्गोनामुपसंख्यानाम्' (नपुंसके कादिनिष्ठवाच्यम्) (३।३।५६) इस वार्तिकमें होती है। वेदमें उसका प्रयोग सम्भवतः सर्वत्र होता भी वृष्टिवाचक ही है। तब उक्त मन्त्रमें वृष्टिका ही वर्णन सिद्ध हुआ। उपर मन्त्रके पूर्वार्धमें 'यस्यां भूम्याम् अहोरात्रे संहिते कमश आगच्छतः' कहनेका आशय यह है कि भूमिलोखमें वही प्रस है, न्यर्गादिलोखमें नहीं। तब यह स्थायीमें अत्यन्त-अद्वाका ही परिणाम है कि उन्होंने वर्षका अर्थ वहाँ 'साल' कर दिया और पृथिवीकी गति यहाँ बलान् निकाल दी। निरुक्तदिमें कहीं ऐसा नहीं। 'वृता, आवृता' का 'गच्छति-प्रश्यामच्छति' यह उनका किया अर्थ सर्वत्र निर्मूल है। फलतः आर्यशास्त्रोंमें पृथिवीका ग्रहण कहीं भी नहीं। ग्रहनघ्न आदि पश्चिमसे पूर्वमें अपनी गतिसे जा रहे हैं, परन्तु प्रवह-वायुके कारण पूर्वसे पश्चिममें जाते हुए दीखते हैं, यह बात योगदर्शन व्यासभाष्य (३।२६) में सूर्य-मिद्धान्त (१२।७३) तथा आर्यभटीय (४।१०) मिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय मध्यमगतिवासनामें निरूपित है। यदि पृथिवीका भ्रमण हमारे शास्त्रोंसे सिद्ध हो जाए तो हमें वही प्रसङ्गता होगी; परन्तु हमें बहुत अन्वेषण करने पर भी नहीं मिला। आर्यभटीयके मूलमें भी नहीं मिला। जो इतनी बड़ी पृथिवीका आकाशमें उड़ना मानेगा, वह पुराण-प्रोक्त पर्वतोंके उड़नेमें आक्षेप कैसे कर सकता है?

यद्यपि ग्रहणकालके अशौच पर लौकिक-दृष्टिसे विचार किया जाता है। जय गुरु-ग्रहण वा चन्द्रग्रहण होता है, तो उस समय दूरबीन

या अणुवीक्षण आदि यन्त्रोंमें द्रव्या गया है कि कई सूक्ष्म कीटाणु जहाँ-तहाँ फैल जाते हैं। ये आप, मुँह, नासिका आदि द्वारा हम लोगोंके भीतर घुस जाते हैं। इसीसे हम अशुद्ध हो जाते हैं। इसी कारण 'मनुस्मृति' में 'राहोश्च सूतके (४।११०) इस पद्यमें राहु दर्शनका सूतक (अशौच) माना गया है। उस समय यदि भोजन किया जाय, तो उन कीटाणुओंके बाहर भीतर व्याप्त होनेसे उदररोगिणि रिक्त हो जाती है। इधर भोज्य वस्तुओंमें भी कीटाणु स्थित होते हैं। उनसे खानेसे खाने वालके शरीर, मन, बुद्धिकी हानि हुआ करती है। इसी कारण शास्त्रोंमें उस समय भोजनका निषेध किया गया है। जैसेकि—बृहद्विष्णु स्मृतिमें कहा गया है 'चन्द्राऽर्क्षोपराधे नारनीयात् (१८।१) स्मृतिचन्द्रिकाके आह्निककाण्डमें भी कहा है—

सूर्यग्रहे तु नारनीयात् पूर्वं याम चतुष्पथम्।

चन्द्रग्रहे तु यामास्त्रीन् वासवुदातुरैर्विना'।

उसमें प्रमाण यह है कि—बादलोंमें ढकी वर्षा-जलमें सूर्यमण्डलके बादलोंसे ढके होनेसे उसमें भी कीटाणु फैल जाते हैं, जिन्हें सूर्य नष्ट किया करता था। तेज 'उष्ण स्पर्श' वाला हुआ करता है, उससे कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, पर उस तेजमें आवरण पड़नेसे जप्पाकी वसीक कारण कीटाणुओंकी व्यापकता अनिवार्य हो जाती है। इसी कारण वर्षाजलमें भी हमारी उदररोगिणमें विकृति हो जानेक कारण परिपाकशक्तिकी न्यूनतावश भोजनादि करनेसे मलेरिया रोग फैल जाता है। इसीलिए ही हमारे संस्कृत-साहित्यमें बादलोंसे ढके दिनका नाम 'दुर्दिन' मिलता है। 'दुष्प दिनम्' यह इसका विग्रह है। दुष्टता यही है कि—मेघों द्वारा सूर्यके ढके होनेसे कीटाणु उत्पन्न होकर हमें हानि पहुँचाते हैं। इसा कारण उन दिनों हमारे शास्त्रकारोंन चातु

मांस्य-प्रतोंका आयोजन किया है। प्रत्योपवासोंसे हमारे शरीरमें ऊष्मा बढ़ जाती है; जिसमें भीतर पहुँचे हुए कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए कई हमारी वृद्धा माताएँ जब तक सूर्य दर्शन नहीं कर लेतीं; तब तक भोजन नहीं करतीं।

इसी प्रकार ग्रहणमें भी सूर्यके तेजके ठक जानेसे सूक्ष्म कीटाणु फैलकर हमारे शरीरको काटते हैं; जिससे हमारे शारीरिक या मानसिक रोगकी आशङ्का रहती है। इसीलिए हमारे वैज्ञानिक शास्त्रकारोंने उस समय भोजन निषिद्ध कर दिया है। इसी कारण जो हमारी धर्मनिष्ठ स्त्रियाँ रातको दीपककी साक्षीमें भोजन कर रहे होने पर वायुसे दीपक धुम्र जाने पर भोजनको तत्काल छोड़ देती हैं। उसमें भी यही रहस्य है कि दीपकका प्रकाश भी 'तेज' है, यह भी उष्णस्पर्श-वाला होनेसे कीटाणुओंको नष्ट करता है। दिया धुम्र जाने पर उष्णस्पर्श तेज बढ़ जाने पर कीटाणुओंकी उत्पत्ति हो जानेसे वह धूम भक्षण-योग्य नहीं रहता। इसीलिए ही जिस घरमें न कभी अग्नि जली हो, न सूर्यका प्रकाश आदि पहुँचता हो, न दीपक जलता हो, उस घरमें भूत-प्रेतोंका प्रवेश होनेसे रहना भी इच्छित नहीं समझा जाता है। यह स्थूल ग्रहणका फल है; वेधमें वे ही भाते सुखमकरा होती हैं।

ग्रहणके बाद शास्त्रकारोंने स्नानकी भी आज्ञा दी है, क्योंकि इससे बाहर-भीतरकी शुद्धि हो जाती है। 'अद्भिर्गात्राणि शुष्यन्ति, (मनु० २।१६०) इसमें कारण यह है कि—स्नान करनेसे हमारे अन्दर गर्मी का उद्भवन होता है, जिससे शरीरके बाहर-भीतर पहुँचे हुए कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए जो लोग सर्दियों में प्रातः-स्नान नहीं करते, उनको सर्दी बहुत खगती है, क्योंकि रात्रिमें उष्णताभाववशसे उत्पन्न कीटाणु हमारे शरीरको काटकर सर्दी खगवाते हैं। स्नान करनेमें अन्दर

गर्मीका उद्गम हो जानेसे ये कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। गर्मीमें यद्यपि स्नान करनेमें बाहर शीतजलवा प्रतीत होती है परन्तु उस समय भी भीतर गर्मीका ही उपजन होता है, हमीलिण ही गर्मीमें जो लोग अधिक नहाते हैं, उनको तापकी व्याधि हो जाती है।

यह भी सोचना चाहिए कि रातको हमें मूर्धारूप नींद क्यों आती है ? उसमें कारण यही है कि सूर्यके अदर्शनसे इस प्रकारके कीटाणु निरन्तर उत्पन्न होते जाते हैं, जिनसे हमारे शरीरकी दंशन-क्रिया होनेसे सूर्य मूलक बुद्धिरूप-चेतनाके हासवश उस विषयसे हम मूर्छित हो जाते हैं जिसकी परिभाषा 'निद्रा' होती है। सूर्योदय निकट होने पर उन कीटाणुओंकी शक्ति प्रमशः क्षीण होने लगती है, जिससे हमारी मूर्छा प्रमशः हट जाया करती है इसको परिभाषा 'जागरण' है। सूर्य निकलने पर बाहरके कीटाणु नष्ट होने पर भी शरीरान्त स्थित कीटाणुओंको ऊष्मासे नष्ट करनेके लिए प्रातः-स्नान करना पड़ता है। मूर्छा होती है चेतना लुप्त होने पर। बुद्धिरूप चेतनाको देने वाला सूर्य होता है, इसलिये सूर्यके तेजसे—'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु ३।३१)—बुद्धिकी प्राप्ति की जाती है। 'इमो विश्वस्य सुवनस्य गोपा स मा धीरः' (शं० १।११४।२६) इस मन्त्रमें सूर्यको 'धीर' (धिय राति-ददाति) बुद्धिप्रद माना जाता है। इस प्रकार ग्रहणके समय भी भोजन नहीं किया जाता और स्नान किया जाता है। परन्तु इस स्नानकी ऊष्मासे सूक्ष्म-शरीरसे शुद्धोंकी ही अशुद्धि दूर होती है, सूक्ष्मशरीरकी अशुद्धिवाले अन्त्यजोंकी शुद्धि स्नानसे नहीं होती। सूर्यग्रहण रात्रिके परिमाणका बहुत समय तक तो नहीं होता, अब वहां पर स्थूल-मूर्छा तो नहीं हो सकती, पर बुद्धिप्रद सूर्य तथा हमारी बुद्धिमें राहुका आवरण पड़ जानेसे मानसिक मूर्छा आशसित होती है। अतः उस समय अतः स्नानादि करना पड़ता है।

इसमें हिन्दुओंका विज्ञान-ज्ञान ही कारण है कि वे तब भोजन नहीं करते और स्नान करते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण अन्य लोजिये। किसीका कोई पक्षीसी मर जाय, जब तक उसका शव घरमें पड़ा है, तब तक कोई भी हिन्दु भोजन नहीं सकता तथा खाता, चाहे रात भी हो जाय। शवके निकल जाने पर गलीकी जलसे शुद्धी जाती है। इसमें क्या कारण है? इसमें कारण है हिन्दुओंको विज्ञानका ज्ञान। शवमें आत्मा न होनेसे भीतर ऊष्मा न होनेसे कीटाणु उस शवपर आक्रमण करते हैं। वहांसे इधर-उधर फैल जाते हैं, इसलिए सुर्दे पड़े रहने तक कोई भोजन नहीं करता। जैसे शवसे कीटाणुओंका फैलाव हो जाता है, वैसे ही ग्रहणके समय सूर्यके ठके होनेसे कीटाणुओंके जहां-तहां फैल जानेसे शासकारोंने भोजन करना भी निषिद्ध कर दिया है। उसके बाद अपनी शुद्धि भी आवश्यक की है।

शवके गलीसे निकल जानेपर लोग जलसे गलीकी शुद्धि क्यों करते हैं इसमें भी रहस्य है। पृथ्वीके अन्दर भी ऊष्मा होती है। उसके ऊपर जल डालनेसे पृथ्वीसे भाषका उद्गम होता है, उस गर्मीसे उस पर स्थित शवके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, इस प्रकार पृथ्वीकी शुद्धि हो जाती है। इसी कारण ही रात्रिकी समाप्तिके बाद पाकशालाकी शुद्ध्यर्थ जलयुक्त मिट्टीसे लेप किया जाता है, जलयुक्त मिट्टीके लेपसे पृथ्वीसे निकली हुई गर्मी फैल जाती है, जिससे पाकशालाकी भूमिपर उहो हुए रात्रि-मूलक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसलिए यह भूमि पाकयोग्य हो जाती है। नहीं तो वहां कीटाणुओंके प्रेमसे, मक्षिपण बहुत घटती है। सनातनधर्मकी सन्ध्यामें जोकि गायत्री-मन्त्रसे अभि-मन्त्रित करके जलका घेष्टन किया जाता है और जोकि प्रत्येक वस्तुके स्पर्शके समय हाथ धोए जाते हैं, जोकि सन्ध्यामें मार्जन तथा जलसे अङ्गस्पर्श या हन्दिमादि-स्पर्श किया जाता है। सन्ध्या आदिके आरम्भमें जोकि

पादप्रक्षालन किया जाता है. उन सबका रहस्य वही है जो यतलाया जा चुका है कि घेसा करनेमें भीतरसे ऊष्माका उद्गम होता है। जिसमें यहाँ ठहरे हुए कीटाणु मर जाते हैं। हमारे मुलतानकी म्रिया जब अपने छाटे लडके को अमृश्य अन्यन १ से छुआ हुआ देखती है, तो उसकी शुद्धि की प्रयोजनीयता होने पर भी उससे शीतादि-जन्य-हानिका विचार कर अपने कानके सुनने भूपणमें जलको छूँकर उस लडके पर डालती है, और उसे पवित्र समझ लेती है; वहा भी रहस्य यही है कि सुनने आभ्रज (गानसे उत्पन्न होने वाला) होनेमें तेजका विषय है, उस तेजसे तथा कभी अर्पावित्र न होने वाले आकाशके अंश-भूत दाहिना कान जिसमें शास्त्रानुसार देवताओंका निवास माना जाता है—से स्पष्ट जल, पवित्र होनेसे उस लडकेक अमृश्यसे प्राप्त कीटाणुओंको पूर्णरितसे ऊष्मा द्वारा मर कर देता है। फलतः ग्रहणके बाद शुद्ध्यर्थ स्नान करनेका यही रहस्य है।

रात प्रतिदिन आती है। उसमें असुर-राहुका कोई सम्बन्ध नहीं इस प्रकार वर्षा ऋतु भी अपने समय पर आती है, अतः उसमें अप्राकृतिकता नहीं। तब उसमें लम्बा समय होनेसे निरंतर भोजन निषेध न भी किया जा सके, पर सूर्य आदिका ग्रहण तो सदा नहीं होता। इधर उसमें असुर-राहुका सम्बन्ध भी है, अतः वहाँ अप्राकृतिकतावश कीटाणु बहुत प्रादुर्भूत हो जाते हैं, अतः उसमें भोजन सर्वथा निषिद्ध है। प्राकृतिक मैथुनमें उतनी हानि नहीं होती, जैसी अप्राकृतिक मैथुनमें। अतः ग्रहणके थोड़ेसे समयमें भोजन छोड़नेसे कुछ कष्ट भी अनुभूत नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि 'सुधारक लोग ग्रहणके समय भोजन कर लेते हैं, स्नान भी ग्रहणके बाद नहीं करते, उनको तो हानि कुछ भी नहीं

होती, इस पर जानना चाहिये कि उस समयके कीटाणु उनके शरीर या मन पर भी अवश्य दुष्प्रभाव करते हैं। तभी तो उनमें अश्रद्धा, हठ, कुविचार-आदिका आधिक्य होता है। भोजनका सम्यन्ध मनसे होता है। तभी तो कहा जाता है 'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन'। इसलिए 'द्वान्दोग्य-उपनिषद्' में कहा गया है—'योऽखिष्टः [अन्नस्य भागः] तन्मनः' (६।१।१) 'अन्नमयं हि सोम्य ! मनः' (६।१।४) 'अन्नस्य अश्नमानस्य योऽखिमा, स ऊर्ध्वं समुदीपति, तन्मनो भवति' (६।६।२) 'यो मध्यमस्तन्मांसम्' (६।१।१)।

यहां पर अन्नके स्थूल भागसे मांस तथा सूक्ष्म भागसे मनका निर्माण कहा गया है। तब सुधारक लोग ग्रहणादिमें भोजन कर लेनेसे मन तथा शरीरमें मालिन्य हो जानेसे छल, अश्रद्धा तथा असत्य-ग्रहणके स्वभाव वाले हो जाते हैं; तभी वेदादि-शास्त्रोंके सार्य अर्थको छोड़कर छल-कल्पित असत् अर्थ करने लग जाते हैं।

यदि कहा जावे कि—'ग्रहणके समय स्नान न करने वाले प्रत्युत स्वाते हुए सुधारकोंसे भिन्न पुरुषोंकी भी तो कुछ हाबि नहीं देखी जाती; तब उम्र समय स्नान और अन्नशन आदिष्ट करने वाले शास्त्रको अप्रमाण क्यों न माना जाए' ? इस पर यह जानना चाहिये कि—आयुर्वेदमें कई सन्निधियोंके खानेका निषेध किया है और कई व्यवस्थाओंके पालनकी आज्ञा है, जैसे कि—भोजन करके तेज़ चलना निषिद्ध है, आलु आदि खानेमें दोष बताया है; परन्तु आज्ञाकारके द्वारा एवं अध्यापक शीतकालमें प्रायः भोजन करके ही शीघ्रगतिसे विद्यालयके प्रति दौड़ते देखते हैं, त्रिमये देर न हो जावे। इस प्रकार आयुर्वेद निषिद्ध सन्निधियोंके खाने वाले भी बहुतसे दीखते हैं, तब क्या यह लोग आयुर्वेदके सम्यन्ध-युक्तके सेवन न करनेमें प्रतिदिन बीमार ही रहते हैं ? यदि

नहीं, तब क्या शङ्काकर्ता दृष्टशास्त्र आयुर्वेदको ही असत्य मानेगा ? यदि नहीं, तब यहाँ नी वैसा क्या नहीं सोचा जाता ?

जैसे आयुर्वेदकी पूजाच घाह्याआके पालान करी पर उस समय स्थूलरूपसे तो हानि नहीं दीएती, पर अग्रिम ममयम वह मध्यमपथ हो ही जाती है, अर्थात् वह दोष अग्नेलापरताम धन्नेर मज्जिन हा जाता ह । इस प्रकार प्रमश आयुर्वेद नियमोंक अतिप्रमश करन पर ये दोष उभय सखि होकर शक्ति हास होवे होत, समय पर 'र आदि रूपस प्रमश हा जाते ह, रम हो ग्रहसादिक समय शास्त्रात्मक ध्वनि प्रमश सूक्ष्मरूपस मज्जिन दोष कमश इकट्ठे होकर कालान्तरम धार्मिक शक्तिका हान र आचार विचार भ्रष्टता, बुद्धिमन्दता, अन्ध श्रुत पुन पुन ध्यायि होना—इत्यादिरूपस प्रमश हा गया करत ह । इसी लिए मनुजीने भी कहा है—धर्मातिप्रमशका फल मद्य नहीं मिल जाता, किन्तु कालान्तरमें प्रकट हाकर सब कसर पूरी कर लता ह—
'नाधमध्वरितो लोके सद्य फलति गोवि । शनैराग्नमानस्तु कतु मूर्खानि कृन्तति' (४।१७२) यदि नामवि पुत्रेषु, न चेत पुत्रेषु नप्तपु । न चेत तु कृतोऽधर्मं कतुर्भवति निष्फल (१७३) अधर्मेरेधते तावत् ततो भद्राणि परयति । तत सपत्नान् जयति समूहस्तु विनश्यति' (४।१७४) ।

ग्रहणके समय कुश आदि रखने तथा गुमाल धूपदिके धुए तथा रेशमी वस्त्रोंके पहननेका यही रहस्य है कि जहाँ इनकी स्थापना होती है, वहाँ इस प्रकारके बीटाणु नहीं बैठ पाते । इनमे दूसरेकी विद्युत्का सक्रमण भी एक जाता है । इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने ध्यानके समय 'वैलाजिनकुशोत्तरम्' (गीता ६।११) ऐसा आसन माना है । इनमें दूसरेकी विद्युत् तथा बीटाणुओंके रोकनेमें अपूर्व शक्ति है, इसलिये

बिजलीकी तार पर रेशम लपेटा जाता है। उस समय गोबरसे लेपन भी करना पड़ता है; गोबरसे भी कीटाणुओंका विनाश प्रसिद्ध है।

पीतल आदि धातुके पात्रोंमें ग्रहणादिके समय अग्नि हमें कारण डाली जाती है जिससे तापवश कीटाणु वहाँसे हट जाते हैं। इसीलिए वेदादिमें अग्निको भूत-प्रेत आदिको हटाने वाला माना गया है। मिट्टीके जूटे पात्रोंमें कीटाणुओंका अतिशय प्रभाव होता है; इस कारण अस्पृश्यतामें उन्हें गिरा दिया जाता है। उनकी अपेक्षा पीतल आदिके पात्रोंमें न्यून प्रभाव पड़ता है, इसलिए उनको भस्म तथा अग्निसे शुद्ध किया जाता है। सुवर्ण आदिके पात्रमें उन कीटाणुओंका प्रभाव पड़ता नहीं। उसका प्रमाण यही है कि—शेरबीका दूध अन्य पात्रोंमें कीटाणुओंके प्रभाववश शीघ्र विकृत हो जाता है; परन्तु सुवर्णपात्रमें वह नहीं पड़ता, क्योंकि—उस पर कीटाणुओंका प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए सुवर्ण धारण करने वाले पुरुषकी आयु दीर्घ मानी गई है। देखिये इस पर 'अथर्ववेद'—

‘नैनं रक्षामि न पिशाचाः महन्ते...यो विभर्ति दाढायणं हिरण्यम्’
(१।१६।२) । ‘आयुष्मान् भवति यो विभर्ति’ । अ० १६।२६।२) ।
इसका कारण यह है कि वह सुवर्ण किसी आग्नेय द्रव्य हुआ होता है; अतः वह कीटाणुओंको दूर करता रहता है। स्थियों पर इन अणुस्वरूप भूत-प्रेतादियोंका प्रसवादि-समयोंमें प्रभाव बहुत पड़ता है; अतः उसमें बचावके लिए सनातनधर्मानुसार उन्हें सुवर्ण-भूषणोंके पहिरनेका अधिक अधिकार दिया गया है। यही लक्ष्य करके ‘आपस्तम्बगृह्यसूत्र’ में—
‘विदे सुवर्णम् उत्तरयाऽन्तर्धाय उत्तराभिः पद्भभिः स्नापयित्वा’
(२।४।८) इस प्रकार वधूका स्नान भी सुवर्णसंस्पर्श जलमें बनाया गया है। यही सुवर्ण-जैसा प्रभाव कई मणियोंका भी हुआ करता है।

हमीलिया 'अथर्ववेद' में कई मणियों का बहुत महत्त्व बताया गया है। इन्हीं कारणोंसे सुवर्ण तथा मणिया बहुतमूल्य द्रव्या करती हैं। कहा भी है—'अमेध्यादपि च काञ्चनम्' (मनु० २।२३६) यही धातु-पात्रोंकी शुद्धिमें तारतम्य है।

इन प्रसार कीटाणुओंका प्रभाव चन्द्रग्रहणमें भी जानना चाहिए। रातको यद्यपि सूर्यके न होनेमें कीटाणु हो जाते हैं, तथापि बहुतसे कीटाणुओंका चन्द्रमा भी हटाता है, क्योंकि चन्द्रमा भी सूर्यकी एक निरणमें प्रकाशित होता है। कीटाणुओंका प्रसार चन्द्रेमें होता है। बहुतसे कीटाणु प्रकाशमात्रको देखकर मर जाते हैं चाहे वह प्रकाश सूर्यका हो, चाहे चन्द्रमाका, चाहे अग्निका, चाहे दीपक वा बिजलीका। जब चन्द्रमाना ही स्वयं ग्रहण हो, तो कीटाणुओंका क्या कहना! जब पूर्ण चन्द्रग्रहण होता है तब ६८ प्रतिशत उसकी ऊष्मा हट जाती है। शेष दो भागोंकी ऊष्मा पूर्णग्रहणकी अन्तिम कोटिमें नष्ट हो जाती है। तब कीटाणु खूब बढ़ जाते हैं। ज्यों ही चन्द्रमा राहु-केतुकी छायासे बाहर आता है, त्यों ही उसकी ऊष्मा बढ़ जाती है। तब बाहरके कुछ कीटाणु तो नष्ट हो जाते हैं; शेष भीतर-बाहरके कीटाणु नष्ट करनेके लिए स्नान करना पड़ता है।

चन्द्रग्रहणके लिए यह जानना चाहिये कि 'चन्द्रमा मनसो जातः' (यजु ३। १०) 'चन्द्रमा पातु ते मनः' (सुध्रुतसंहिता सूत्रस्थान २।२७) 'मनसि नृपते चन्द्रमास्तृप्यति' (गोपयन्त्रा० १।२।२२) किमसुभिर्गल्पितर्जडः' (चन्द्र!) मन्यसे मयि (चन्द्रे) निमज्जतु भीमसुतामनः' (नेपथीयचरित ४।२२) इन प्रमाणोंसे मनका चन्द्रमासे सम्बन्ध सिद्ध होता है। सूर्यमें बुद्धिका सम्बन्ध होता है, यह पहले संकेतित किया जा चुका है। ग्रहण समयमें सूर्य-चन्द्रमासे बुद्धि पूर्व मानसिक शक्तिके

आदान-प्रदानमें कुछ व्यवधान हो जानेसे हानिकी आशंकाका लक्ष्य करके शास्त्रकारोंने उस समयमें दान-ध्यानकी ओर प्रवृत्ति कराई है, जिसमें आसुरी माया नष्ट हो जावे।

जिसकी जैसी प्रकृति हो, वहां वैसी विकृति हानि नहीं पहुँचाती। जैसे कि हम दुर्गन्ध प्राप्त करते हैं, तो नासिकाको घृणासे सिकोड़ लेते हैं। उसके कीटाणु हमारे मस्तिष्कको विधुर्यित कर देते हैं; पर भंगी आदि पिछाकी, चमार चमड़ेकी, मुसलमान मांस पकनेके समयकी गन्ध से वैसी हानि प्राप्त नहीं करते; जैसे कि हम, क्योंकि विपका कीड़ा विपसे नहीं मरता। इसलिये 'श्रीमद्भागवत' में भी कहा है—

‘समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम्।

घोःपत्तिको गुणः सङ्गो न शमानः पतत्यधः’ (१।१२।१७)।

अतः हम कृप्यपक्षकी रात्रिमें वैसी प्रकृति वाले होनेसे वैसी हानि प्राप्त नहीं कर सकते; जैसे कि ग्रहणके समय प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि राहु-केतुके मध्यन्धसे ही कीटाणुओंकी हानिजनकता विशेष हुआ करती है। स्वाभाविक अन्धकार अन्ध होता है; राहु-केतुकृत अन्ध। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो कभी भी स्नानादि नहीं किया करते, और दुर्गन्ध आदिसे ओठ-मोठ हैं, वे पहलेसे ही ऐसे कीटाणुओंकी स्थितिवश ग्रहण-जन्य कीटाणुओंसे नयी हानि प्राप्त नहीं करते; जैसे कि हम।

ग्रहणमें बाल, छूद, आतुरोंकी जो कि अस्पृश्यताओप नहीं लगाया जाता; उसमें भी रहस्य है। ग्रहण-कीटाणु रक्त-द्वारा ही शरीरको दूषित करते हैं। बच्चों और बूढ़ोंमें रक्ताणु अत्यन्त न्यून होते हैं; इस कारण वहाँ कीटाणु अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। आतुर (बीमार)

के अन्दर भी उज्ज्वा होती है, कीगण उस पर भी प्रभाव नहीं कर सकते। अथवा उस स्नान कराया जाय, तो उसकी हानि आशंकित होती है, उपवास वह कर ही रहा होता है। स्वास्थ्यमें उसने स्नान करना ही होता है। 'शरीरमात्रं खलु धर्मसाधनम्' इससे पूर्वका उसका विधिभ्यतिष्ठत सदा होता है।

जो स्त्री सदा गर्भिणी हो, उसे भी ग्रहणदर्शनका निषेध होता है, उसमें कारण यह है कि—स्त्रीके गर्भाशयमें इस प्रकारकी आकर्षण-शक्ति होती है जो कोटोप्राकके शीशोंमें होती है। इसीसे आयुर्वेदमें गर्भिणीकी सर्वविध रक्षाके लिए विविध उपाय बताये गये हैं। ग्रहण दर्शनमें भी गर्भमें उसका आक्रमण सम्भ्रमण न हो जाय, अतः उसका दर्शन निषिद्ध किया जाता है। इसमें एक अंग्रेजके काले लड़केका उदाहरण प्रसिद्ध ही है। उसने अपने काले लड़केको पैदा हुआ वेत्तकर अपनी स्त्रीको व्यवहारिणी समझा, पर पीछे देखा गया कि—उस स्त्रीके शय्यास्थलमें एक काले हथेलीका चित्र लटका हुआ था। उसी पर सतत दृष्टि पड़नेसे उसका संस्कार-सम्प्रभणवश, पैदा होने वाल लड़केका भी वैसा आकार हो गया। उस समय परमात्माक प्यानक अतिरिक्त पति पत्नीको कोई बात नहीं करनी पड़ती। ये स्थिर होकर बैठें, यहाँ तक कि लुगलें भी नहीं, जुड़ बिलें भी नहीं। आनन्द प्रहणके चिन्ह उत्पन्न होते हुए बाह्यकर्मों कभी देखे भी जाते हैं—उसमें दम्पतिकी असावधानता ही कारण होती है।

जैसे ग्रहण-समयके अशौचमें तत्प है, वैसे सभी अशौचोंमें तत्प जान लेना चाहिये। भस्माशौच तब होता है, जबकि मिमीसी मृदु हो। आजकल आर्यसमाजी इस अशुद्धिसे नहीं मानव, परन्तु उनके स्वामीजी मान गये हैं। उन्होंने लिखा है—'तय कुर्यात् आशान्त हो,

तब मृतक-शरीर जिसका नाम श्रेत है, उसका दाह करने द्वारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतकको उठाने वालोंके साथ दशवें दिन शुद्ध होता है, (स० प्र० २ समु० पृष्ठ १५) यहाँ वे दशवें दिन मरणाशौचकी शुद्धि मानते हैं; अतः यह पक्ष स्वामीजीके मतमें प्रचलित नहीं। परन्तु आज-कल ग्रामसमाजी इतने-दिनकी अशुद्धि नहीं मानते। 'विज्ञायते, तस्य द्वौ अनध्यायौ यद्-ध्यामा अशुचिः, यद्-देशः' (आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४।१) यहाँ सूतक आदिकी अशुद्धिसे ग्रहणशर्मा भी निषिद्ध किया गया है।

मृत्यु-समयमें भीतर गर्मी न होनेसे कीटाणु शव पर आक्रमण करते हैं; तब शवके स्पर्श तथा उसके कीटाणुओंके इतस्ततः फैलनेसे जीवितोंका शरीर भी अशुद्ध हो जाता है—इसलिये शव उठाने वाले शव-दाहके बाद स्नान करते हैं, परन्तु सन्ध्यायोंकी तो अशुद्धि 'दशाहं सपिण्डेषु' (आश्व० गृ० ३।४।१८) कई दिन तक रहती है। उसमें कारण यह होता है कि—सन्ध्यायोंमें सदृश-रुधिर होनेसे उन कीटाणुओंका उन पर विशेष आक्रमण होता है और नियत समय उनमें स्थिति रहा करती है। इसीलिये बोधायन-धर्मसूत्रमें कहा है—'सपिण्डेषु आदशाहमाशौचमिति जनन-मरणादोरधिकृत्य यजन्ति' (१।१।११)। वैखानसगृह्यसूत्रमें भी कहा है—'कुमारस्य कुमार्याश्च जनने सपिण्डानां दशाहमाशौचं विधीयते, पुष्पस्य सपिण्डता षट्-पुष्पावधिः, कन्यायास्त्रिपुष्पावधिर्भवति। स्वाध्यायदानप्रतिग्रहाणि च यजंयति' (६।४) यहाँ पर इस अशौचके समय सन्ध्या-आदिका न करना भी कहा है।

उसमें भी जो कि ब्राह्मणादिकी अशुद्धिके हटनेमें वर्षोंका दिन-भेद बताया है, उसमें भी विज्ञान है। ब्राह्मण प्रायः जन्मसे ही पवित्र होते हैं, क्योंकि सात्विक भोजनादिसे उत्पन्न शुद्ध रजोवीर्यसे उनकी

उत्पत्ति होती है। उनका सूक्ष्मशरीर तथा भोजन भी अपेक्षा-
शून्य शुद्ध होता है। आचार-विचार-विहार भी शुद्ध होते हैं,
अतः उनसे अपवित्रताके कीटाणु स्व-सदृश व्यापकी प्राप्ति न होनेमें
हृत्प्रिय आदिकी अपेक्षा शीघ्र ही हट जाते हैं; इस कारण उनकी
शुद्धि भी अधिकतम दस दिन तक, चत्रियोंकी १२ दिन तक, वैश्योंकी १५
दिन तक, और शूद्रोंकी २० दिन तक शुद्धि कही गई है। जैसे
कि—‘शुष्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः। वैश्यः पञ्चदशाहेन
शूद्रो मासेन शुष्यति’ (१५-१६) उसमें यही कारण है कि—निम्नजाति-
जातमें उत्तरोत्तर अधिक अशुद्ध परमाणु रहते हैं; क्योंकि उनका अशुद्ध
भोजन होता है, और सत्वगुण नहीं होता। अधिक-अशुद्ध परमाणुओं
में स्थित अशुद्ध कीटाणु सदाशावश अपने व्यापकी प्राप्तिसे उन्हें
छोड़ना नहीं चाहते। इसी कारण वे बाण्डालोंके मध्यमें जाना भी
निषिद्ध हुआ करता है; क्योंकि—दोनोंके कीटाणु वा विजलियाँ दोनोंके
मध्यम गर्तों में सदाशावश व्याप्त हो जाते हैं, इस कारण मास तक
क्रमशः शुद्धि करने पर सभी वे शव-कीटाणु शूद्रसे हटते हैं, तथा उसके
अपने ही कीटाणु बच जाते हैं, वे स्नानसे भी नहीं जाते, स्नानके पीछे
किर शुरु हो जाते हैं।

विदेशमें होते पर भी पिताकी मृत्युमें पुत्रकी अशुद्धिका कारण
यह है कि पिताके मरने पर उसके कीटाणु वा विजली विदेशमें स्थित
भी उसके पुत्रमें व्याप्त हो जाते हैं। जैसेकि आवश्यक बाले पिताके
मरने पर भी उसके अग्रिम सात पुरपोंकी वे आतशकके परमाणु नहीं
छोड़ते। अथवा बिच्छू काटकर हमें अपना रक्षित दे जाता है, जितना-
जितना वह भिन्न देशमें भी दीड़ता है, उतना उतना ही उसका रक्षित
भी हममें चलता है जिससे नियत समय तक हमें उसकी पीड़ा रहा
करती है। जैसेकि—पिताकी लाश-दानिमें विदेश-स्थित पुत्रका भी

दाहिना-बायां ब्रह्म पदक उठता है, वैसे विदेश-स्थित युग्मों भी नियत समय तक अशुद्धि संक्रान्त रहती है। अथवा-इसमें यह जानना चाहिये कि—कोई रेदियो-यन्त्र पर बोल रहा है, वंचेपि उसके भाषणके परमाणु सर्वत्र व्याप्त हो जाया करते हैं, तथापि उनका आकर्षण बहुत दूर विदेशोंमें भी ठहरे उस जातिवाले रेडियो-यन्त्रमें ही जाता है, अन्यत्र नहीं। चाहे उसमें टेलीफोनकी तरह तारका सम्बन्ध नहीं भी होता। इस प्रकार मृत्युके समयके परमाणु भी यद्यपि सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं, तथापि उनका आकर्षण उस जाति वालोंमें ही होता है—चाहे वे दूर देशोंमें भी हों, क्योंकि उनके कर्मोंका परस्पर सम्बन्ध सर्वत्र रहता है। यदि दूरस्थित उन जाति वाले सम्बन्धियोंका पारस्परिक परमाणु-सम्बन्ध विच्छिन्न माना जावे, तब तो भ्राता अपनी बहिनसे दूर-देशमें स्थित होने पर अपनी बहिनके विवाहमें अधिकृत भी हो जावे ! पर नहीं होता, क्योंकि—दूर स्थित होने पर भी उसमें बहिनसदृश ही परमाणु रहा करते हैं, अथवा उन दोनोंके परमाणुओंका परस्पर आदान-प्रदान रहा करता है, वैसे ही धरातलके परमाणुओंका भी। पर फिर इसका अपवाद यह होता है कि—जब उस बहिनका वेदमन्त्रों द्वारा विवाह हो जाता है, तब मंत्र-शक्तिसे भ्राताका गोत्र-सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब समीपमें स्थित भी उसे हमारी मृतकादि-अशुद्धि प्राप्त नहीं होती। यदि विशिष्ट-विज्ञानवश हमारे रेदियोमें किसी देशके अंशके साथ सम्बन्धसूत्रं शुद्धित हो जावे; तो उस देशके शब्दको हमारा यन्त्र नहीं खींच सकेगा। उस समय दूसरेकी खड़कीसे विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर उससे हमारा

स्पृष्टयाऽस्पृश्यता-सम्बन्ध शुरू हो जाता है। इस प्रकार अस्पृश्यता-विज्ञान समूलक सिद्ध हो गया।

सृष्टिकी भांति प्रसवमें भी अशौचका रहस्य जान लेना चाहिये। तब प्रसव-समयमें निकले हुए अशुद्ध रधिरके कौटाणुओंका भी आश्रमण विशेषतः माता पिता पर होता है, अतः अधिक-अशुद्धि भी उन्हींमें रहती है, अतः श्रीमनुजीने कहा है—‘सर्वेषां शायमाशौचं, माता-पित्रोस्तु सूतकम्’ (१।६२)। बोधायन-धर्मसूत्रमें भी कहा है—‘जनने तावन्मातापित्रोर्दंशाहमाशौचम्’ (१।१।१७) उसमें भी कौटाणुओंका जितना माता पर आश्रमण होता है, उतना पिता पर नहीं। इसीलिए मनुजीने कहा है—‘सूतकं मातुरेव स्याद् उपस्पृश्य पिता शुचिः’ (१।६२) परन्तु समान-रधिरवत उन कौटाणुओंका साधारण आश्रमण सम्य-न्धियोंपर भी हुआ करता है—जैसाकि ‘मनुजीने कहा है—‘अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते (१।६८)। यदि वे सम्बन्धी अपनी पूर्ण शुद्धि चाहें; तो वे जननी-जनककी भांति सूतक रखें, मर्यादाके बाद अपनी शुद्धि करें। इसलिये मनुजीने कहा है—‘यथेदं शायमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते। जननेऽप्येवमेव स्याद् निपुणं शुद्धिमिच्छताम्’ (१।६१)। इसलिये स्वा० ८० जीने भी उल्लेख हुए लवकेका ११वें दिन नामकरण कहा है (संस्कार विधि ५० ६३) उसमें सूतकाऽशुद्धि ही कारण है अन्य नहीं। इसीलिए १।१०।१ पारस्कर-गृह्यसूत्रके हरिहर-भाष्यमें कहा है—‘अत्र दशम्यामिति सूतकान्तोपलक्षणार्थम्। ततश्च यस्य [यशंस्य] यावन्ति दिनानि सूतकम्, तदन्तदिने सूतकोत्थापन-मित्यर्थः, अपरदिने च नामकरणम्।’ इस प्रकार श्रीमेधातिथिने भी ‘नामधेयं दशम्यां तु’ (२।३०) इस अनुवचनमें लिखा है—‘इह केचिद् दशमी-ग्रहणमशौचनिवृत्तिरित्युपलक्षणार्थं यशंस्यन्ति, अतीतायामिति च अभ्याहारः। दशम्याम् अतीतायां ग्राहणस्य, द्वादश्यां सप्रियस्य,

पञ्चदश्यां वैश्यस्येति' । श्रीकुल्लुकभट्टने भी लिखा है—'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शब्दस्वचनाद् दशमेऽहनि अतीते एकादशेऽहनि' । राघवानन्दने भी लिखा है—'दशम्यामिति पूर्वाशौच-निवृत्तिपरम्' । असङ्ग होनेसे हमने यहां यह वर्णन किया है ।

अब ग्रहण-समयमें दान-पुण्यकी कथा सुनिये—उस समय हमः के आवरणसे पापका साम्राज्य बड़ रहा होता है; हमें उसे हटानेके लिए पुण्यका साम्राज्य घटाना पड़ता है, जिससे पाप-राज्यका दमन हो जाय । दान-पुण्य आदिसे पुण्यका राज्य बढ़ता है—यह सर्वसम्मत है । उसका प्रमाण यह है कि रातको पापराज्यके बढ़नेसे हम प्रातःकाल उठकर स्नान करते हैं, फिर सन्ध्या करते हैं । इस प्रकार देवपूजनसे रात्रि-स्थित पापराज्यका निराकरण होतूँ; वैसे ग्रहणान्तमें भी जानना चाहिये । शीतकालके अन्त तथा गर्मके आरम्भमें, ग्रीष्मके अन्त तथा शीतके आरम्भमें दोनोंकी सन्धि होनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार दिनके अन्त तथा रात्रिके आरम्भमें, रात्रिके अन्त तथा दिनके आरम्भमें भी दोनों कालोंकी सन्धि होती है । उसमें स्थूल रोग तो नहीं, परन्तु सूक्ष्म मानसिक रोगोंकी आशङ्का रहती है । इस प्रकार प्रातःकी शीतलताके अन्त तथा मध्याह्नकी उष्णताके आरम्भमें दोनोंकी सन्धि होती है । इन तीनों कालोंकी सन्धिसे उत्पन्न होने वाली मानसिक विषमताके दूरीकरणार्थ जैसे त्रिकालसन्ध्या की जाती है, वैसे ही ग्रहणके समयमें भी प्रकाश एवम् अन्धकारकी सन्धिके समय आशङ्कित मानसिक-विषमताके दूरीकरणार्थ जप-तप आदि किया जाता है । तभी सिद्धान्तशिरोमणिके गणिताध्याय (चन्द्रग्रहणविकार) प्रथम-पद्यमें कहा गया है—

'यदुक्तं जपदानहुतादिके स्मृतिपुराणविदः प्रवदन्ति हि' । यहां स्मृति एवं पुराणके वचन ये दिये गये हैं—'स्नानं स्वप्न उपरागादी

मये होमसुरार्चने । सर्वस्वेनापि कर्तव्यं धादं वै राहुदर्शने । अङ्गु-
 लस्तु नास्तिव्यात् पद्मे गौरिव सीदति । स्नानं दानं तपः धादमन्ते
 राहुदर्शने । श्रीवराहमिहिरकी 'बृहत्संहिता' में भी कहा है—'योऽभी
 असुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणाऽयमाक्षयः । आप्यायनमुपरतो दत्तहुतां-
 शेत ते भविता' । इस प्रकार ग्रहण-समयमें दान, हवन, स्नान आदि
 शास्त्रीय सिद्ध हुए । इसलिये ग्रहणके समयकेलिपु, प्रामाणिक, प्रत्य
 'सूर्यसिद्धान्त' में भी कहा है—'स्नानदानजपधादयतहोमादि-कर्मभिः ।
 प्राप्यते सुनहर्षो यस्तत्काल-ज्ञानतस्तथा' (११।१८) । ग्रहणके समयमें जो
 दान दिया जाता है; यह अशुद्ध होता है अतः उस समय शुद्ध-ब्राह्मण
 तो नहीं लेते । या तो उसे शनिदानोपग्रीवी-ब्राह्मण लेते हैं; या
 अन्त्यज लिखा करते हैं । इससे उनकी सहायता भी हो जाती है ।

इधर ग्रहण-समयमें कभी ग्रहोंके परस्पर आकर्षण-विकर्षणके समय
 आकर्षणकी शक्तिके सामंजस्य हट जानेसे ग्रहोंके पवनसे प्रलयकी
 आशंका भी उपस्थित हो जाती है । बहुतसे आकाशस्थ ग्रह हमारी
 पृथिवीसे भी बड़े होते हैं, यह बात निर्विवाद है । ग्रहण-समयमें
 आकर्षण-विकर्षण स्वाभाविक होनेसे यदि उसमें असामंजस्य उपस्थित
 हो जाय; तो ग्रहके एक अंशके गिरनेसे भी पृथिवीमें खण्डप्रलय हो
 सकता है । सब ग्रह तथा पात आदि, भगणोंको पूर्ण करते हुए, एक
 बिन्दुमें जप मिल जाते हैं तब सृष्टिका अन्त या प्रलय होता है, अतः
 ग्रहणमें भी वैसी शंका उपस्थित होनेसे, धर्ममें बुद्धि लगाकर जप, यज्ञ
 आदि किया जाता है । कन्त-समयकी आशाङ्कमें सभी इष्टदेवका स्मरण
 किया-कराया करते ही हैं । गत वर्षोंमें सात-ग्रहोंके एक-रश्मिमें जानेसे ही
 विहारका मूकम्प हुआ—यह कौन नहीं जानता । इस प्रकार ग्रहणमें भी
 सम्भव है । ग्रहणका अर्थ भी आकर्षण है, वैसी आशंकामें अपने इष्टदेव
 को स्मरण करना ठीक ही है । सभी वेदमें-

समादिपश्य राहुणा' (अथर्व० १३।१।१०) राहु-द्वारा (चान्द्रमत्स्य
ग्रहाः चन्द्रग्रहणानि) चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहणकी शान्त्यर्थ प्रार्थना
की गई है। 'सूर्यसिद्धान्त' में भी ग्रहणके समयकी द्वादन कही गयी
है—'आद्यन्तकालयोर्मध्यः कालो ज्ञेयोऽविदारणः। प्रज्वलज्ज्वलनाकारः
सर्वकर्मसु गर्हितः' (११।१६)। ऐसे अथावह कालमें थोड़ा किया हुआ भी
दान-ध्यानादि मातृलिक हो जाता है। दुर्जनतोषन्यायसे ग्रहण हानि-
कारक न भी माना जाय; तो भी उस समयका किया हुआ स्नान, दान,
ध्यान कभी व्यर्थ तो नहीं हो सकता; क्या किये हुए पुण्यकर्म कभी
निष्फल भी हो सकते हैं? तब इससे सुधारकोंकी श्वाकुलता क्यों
होती है?

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि—ग्रहण और भूकम्पके समय
पृथिवीकी समान दशा हुआ करती है। भूकम्पके समय भी पृथिवीस्थ
सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी शक्तिको खोज देती हैं। ग्रहणकी आकर्षण-
शक्तिका भी बड़ा प्रभाव होता है। जैसे चुम्बक-मणिको देखिये।
जहाँ भूकम्प अधिक हुआ करते हैं, वहाँ चुम्बकके साथ एक सुईको
रखते हैं। वह सदा उससे मिली रहती है, परन्तु भूकम्पसे कुछ पहले
ही चुम्बक अपनी शक्तिको खोज बैठता है, सुई उससे अलग होकर गिर
जाती है। शास्त्रानुसार भूकम्प पृथिवीमें पाप-राशिके इकट्ठे होने पर
पृथिवीके तेजकी शीघ्रतासे होता है। आधुनिक विज्ञान यह कहता है
कि—भीतरी अन्याय (ऊष्मा) से पृथिवीमें भूकम्प होता है, जब पाँच
अँगुलियाँ मिल जाती हैं; तो मुक्ता-महार प्रवली हो उठता है, पर
एक-एक अँगुलि वैसा कार्य नहीं कर सकती। भूकम्पका अनुभव हमें
पीछे होता है, पर उसका प्रभाव उक्त सूची-द्वारा पहलेसे ही बताया
जाता है। इस प्रकार जैसे भूकम्पमें पृथिवीकी शक्ति शीघ्र हो जाती है,
वैसे ही ग्रहणमें भी। और उसका सूक्ष्म-प्रभाव ग्रहणके वेध (धारा)

में ही होने लग जाता है, पर स्थूल दृष्टिवाले उसे नहीं जान पाते; शास्त्ररूपी सुई ही हमें बताती है। उस समय यलकी प्राप्त्यर्थ ईश्वरकी उपासना दान आदि, पुरुषोंके कल्याणार्थ तथा यलकी उत्पत्त्यर्थ समर्थ सिद्ध होते हैं—इसी कारण शास्त्रकार तदर्थ प्रेरणा करते हैं। जो यहाँ 'पोपलीला' समझत है, वे विज्ञानके ज्ञानसे हीन हैं। हमारे महान् वैज्ञानिक शास्त्रकार इन विषयोंमें अत्यन्त साप्रतिष्ठ थें।

केतुका ही एक भेद भूमकेतु होता है, उसके दुष्प्रल तो प्रत्यक्ष है। अथर्ववेद (१६।६।१०) मन्त्रमें भूमकेतुका 'मृत्यु' विशेषण आया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि—भूमकेतु मृत्यु तक भी दे देता है। तभी तो सन् १८३१ में जब यूरोपमें 'भूमकेतु' दिखाई पड़ा, तो उसके फलस्वरूप वहाँ पर दाम धाला ज्वर फैला, उसके बाद प्लेग फैला, जिससे बहुत मृत्युएँ हुईं। इसी तरह १९८२ तथा १९८८ में भी वहाँ भूमकेतु दिखाई पड़ा, उसके फलस्वरूप समस्त यूरोपमें महामारी फैलनेसे बहुत सी मृत्युएँ हुईं। जब इस विषयमें वेदका तथा प्रत्यक्षका अनुग्रह हुआ, तब उसके फलका अपवाद कैसे किया जा सकता है? इसीलिए स्वा०६०जीने भी अपने 'उत्थादि-कोष' (१।७३ सूत्रकी व्याख्या) में 'भूमकेतु उत्पात' (शृष्ठ १८) इस प्रकार भूमकेतुको उत्पात (उपद्रवजनक) माना है। 'मनुस्मृति' (१।३८) में भी केतुओंकी सृष्टि कही है। इस पर वृत्तलूक मृदने लिखा है—'केतव-मिस्तावन्ति ज्योतीषि उत्पातस्पाणि'। यह ठीक भी है। भूमकेतुओंकी शिखारथोंके मर जानेसे जहाँ जहाँ उसकी भस्म गिरती है, वा उसकी वायु प्रभाव डालती है, वहाँ वहाँ बहुत समय तक बीमारी फैली रहती है, क्योंकि—भूमकेतुमें हानिकारक गैसोंका सम्मिश्रण पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं।

आर्यसमाजी विद्वान् श्रीप्रियदर्शनजी आर्य भी अपने 'वैदिक-ज्योतिष-शास्त्र' पृष्ठ १७३-१७४ में लिखते हैं—“वेदमें धूमकेतु नामक पुच्छवाले ज्योतिषियडोंका वर्णन आता है। ‘सं नो मृयुधूमकेतुः’ मन्त्रमें धूमकेतुका मृत्यु-मारक विशेषण इसलिय है कि—इसमें विपैले पदार्थ होते हैं। ‘सौर-परिवार’ (पृष्ठ ६८१) में लिखा है—‘उनकी पुच्छोंमें कार्बन एकीपिद् विपैले गैस अवश्य होते हैं। हमारा वायुमण्डल इतना कलुषित हो जावे कि—हम सब मर जावें’। (पृष्ठ १७३) ‘स नो महान् अनिमानो (अपरिमित आकारवाला) धूमकेतुः (पुच्छल-तीरा) दुरध्वन्दः। धिमे वाजाय हिन्यतु’ (अ० १।२७।११) (पृष्ठ १७६) ‘नक्षत्रमुल्काभि-हत्तं शमस्तु भः’ (अ० १।६।६।६) वहाँ उल्काग्रोसे धिरे हुए जड़-नक्षत्र-को कहा गया है। ऐसा नक्षत्र धूमकेतु ही हो सकता है, धूमकेतु-उल्काग्रोंको छोड़ते हैं”।

इसी तरह राहु-केतु द्वारा सूर्य-चन्द्रके ग्रहणमें भी दुष्फल हुआ करता है—यह हमारे पौरस्त्य ज्योतिषी जानते थे, अतः उस विपाक-समयकी अस्थिरयता तथा उसके बाद अपनी शुद्धि यदि हमारे उन पूर्वजोंने लिखी है—उसे निमूर्ख मानना या उसकी हँसी उड़ाना अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है, अथवा अपनेको लाई मैकालेका मानसिक दास सूचित करना है।

जो वे हमारे पौरस्त्य ज्योतिषी दूरस्थ आकाशकी बात बता देते हैं; तो वे यहाँकी सूक्ष्म बात बता देनेमें समर्थ क्यों न हों? जिस दिन

विशेष सूचना

हिन्दुधर्म-सनातनधर्मका निरूपक यह भाग बड़ा हो जानेसे यहीं समाप्त किया जाता है शेष सनातनधर्मके विषयोंको अग्रिम पुष्पमें प्रकाशित किया जायगा, पर यह जनताके सहयोग पर निर्भर है। इस प्रकारके एक पुष्पको प्रकाशित करनेमें एक सहस्र रुपयेसे अधिक ही व्यय बैठता है, यदि कोई महोदय न्यून-से न्यून एक हजार रुपये दे, तो अग्रिम भागमें पर्याप्त विषय आ सकता है। और इससे वे महोदय हमारी इस 'श्रीसनातनधर्मालोक' - ग्रन्थमालाके सरक्षक भी माने जायेंगे, उनका चित्र भी छपेगा। उनका प्रत्येक प्रशसनमें नाम भी प्रकाशित होता रहेगा। इस बार श्रीमान् ५० मुरारीलालजी मेहता महोदय (७०, विवेकानन्द रोड कलकत्ता) एक सहस्र रुपये दकर इस ग्रन्थमालाके सर्वप्रथम सरक्षक बने हैं, यह चतुर्थ पुष्प उन्हींके रुपये से प्रकाशित हुआ है—इससे हिन्दु जनताका तथा सनातनधर्मियोंका कितना उपकार होगा—यह अनुभवो विद्वान् ही जान सकते हैं। इस प्रकार दस महोदय भी एक-एक सहस्र रुपये अर्पण कर दें, तो हमारा दस सहस्र पृष्ठका 'श्रीसनातनधर्मालोक' नामक महाग्रन्थ इस प्रकार ग्रन्थमालाके रूपमें अधिप्राप्त प्रकाशित हो सकता है। इसमें जो महोदय स्वयं भाग नहीं ले सकते, वे प्रेरक बनकर समर्थ पुरुषोंसे एक सहस्र रुपयेका सहायता दिलवायें, तो यह ग्रन्थमाला शीघ्र प्रकाशित हो सकती है। जो यह भी नहीं कर सकते, वे एक-एक सौ रुपयेके सहायक तो बहुत बनवा सकते हैं—उससे भी ग्रन्थमालाको शीघ्र निरालनेकी सहायता प्राप्त होगी। यह बात पादक अवश्य याद रखें कि हमें जो कुछ भी धन इस ग्रन्थमालाके लिए तथा मालासे मिलता है वा

मिलेगा, वह सभी इसी ग्रन्थमालामें व्यय किया जावेगा। हमारे निजी कार्यमें उसका उपयोग नहीं होगा। अतः कोई भी पाठक इस ग्रन्थमालाको अमूल्य न लें। प्रत्युत इसका प्रचार करवा कर प्रचुर-मात्रामें द्रव्य-साहाय्य दिलवायें।

अन्तमें हम सनातनधर्मके दृढमतो 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्' इस कथनको पूरा चरितार्थ करने वाले, अन्तर्ग्रहि-निश्छल श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठि-महाभाग (भूतपूर्व 'सिद्धान्त' 'सन्मार्ग' के सम्पादक) का यदि यहाँ नाम न लें, तो यह हमारी कृतघ्नताकी परा-काण्डा होगी। वे हमारे प्रत्येक कार्यमें जो सहयोग दिया करते हैं, उसका ध्यान करनेमें हमारी चाखी वा स्नेहनीमें समता नहीं। केवल हृदयमें कृतज्ञता-स्वीकार तथा उनको सुखी रखनेकी परमात्मासे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त हम अन्य कर ही क्या सकते हैं? यह अतुल्य पुण्य यहाँ समाप्त किया जाता है—अग्रिम पुण्यके प्रकाशनमें सहायता करनेके लिए पाठकों, अनुभादकों एवं हिन्दुधर्म-प्रेमियोंको अनुरोध करके हम पाठकोंके पुनर्दर्शनार्थ अथ विदा लेते हैं।

मिलेगा, वह सभी इसी ग्रन्थमालामें व्यय किया जावेगा। हमारे निजी कार्यमें उसका उपयोग नहीं होगा। अतः कोई भी पाठक इस ग्रन्थमालाको अमूल्य न लें। प्रत्युत इसका प्रचार करवा कर प्रचुर-मात्रामें द्रव्य-साहाय्य दिलवावें।

अन्तमें हम सनातनधर्मके दृढमतों 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महारमनाम्' इस कथनको पूरा चरितार्थ करने वाले, अन्तर्बहिः-निश्चल श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठि-महाभाग (भूतपूर्व 'सिद्धान्त' 'सन्मार्ग' के सम्पादक) का यदि यहाँ नाम न लें, तो यह हमारी कृतज्ञताकी परा-काष्ठा होगी। वे हमारे प्रत्येक कार्यमें जो सहयोग दिया करते हैं, उसका धर्खन करनेमें हमारी वाणी वा लेखनीमें समता नहीं। केवल हृदयमें कृतज्ञता-स्वीकार तथा उनको सुखी रखनेकी परमात्मासे प्रार्थना करनेके अतिरिक्त हम अन्य कर भी क्या सकते हैं? यह चतुर्थ पुष्प यहाँ समाप्त किया जाता है—अग्रेम पुष्पके प्रकाशनमें सहायता करनेके लिए पाठकों, अनुमाहकों एवं हिन्दुधर्म-प्रेमियोंको अनुरोध करके हम पाठकोंके पुनर्दर्शनार्थ अथ विदा लेते हैं।